आचार्य श्रीअमृतचन्द्र विरचित

पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय

(मङ्गला टीका)

मङ्गला संस्कृत टीका एवं दोहानुवाद

मुनि श्री प्रणम्यसागर जी

हिन्दी अनुवाद

ब्र. पवन जैन, ब्र. कमल जैन

सम्पादन

डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर

प्रकाशक

आचार्य अकलंक देव जैन विद्या शोधालय समिति

109, शिवाजी पार्क देवास रोड़, उज्जैन (476010)

मूलग्रन्थ	-	पुरुषार्थ सिद्धयुपाय
प्रणेता	-	आचार्य अमृतचन्द्र सूरि
शुभाशीष	-	आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज
मङ्गला टीका संस्कृत एवं दोहानुवाद	-	मुनि श्री प्रणम्यसागर जी महाराज
हिन्दी अनुवाद	-	ब्र. पवन जैन साहित्यरत्न, न्यायरत्न (वर्तमान में मुनि श्री निर्दोष सागर जी महाराज) ब्र. कमल जैन साहित्यरत्न, न्यायरत्न (वर्तमान में मुनि श्री निर्लोभ सागर जी महाराज)
अधिकार	-	सर्वाधिकार सुरक्षित किसी को भी प्रकाशित करने का अधिकार है। किताब का स्वरूप, ग्रन्थ नाम, लेखक, सम्पादक एवं स्तर परिवर्तन न करें। प्रकाशन के पहले लिखित अनुमति आवश्यक है।
सम्पादक	-	डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर
सहयोग राशि	-	स्वाध्याय एवं आत्मचिन्तन (लागत व्यय)
संस्करण	-	द्वितीय, 1100 प्रतियाँ
प्रकाशनवर्ष	-	वर्षायोग-2021, वीर नि. संवत्- 2547
प्राप्ति स्थान	-	प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान **आर्हत विद्या प्रकाशन, गोटेगांव** **नवीन जैन, मो.** 9425837476 **आचार्य अकलंकदेव जैन विद्या शोधालय समिति** 109, शिवाजी पार्क देवास रोड़, उज्जैन (476010) **मो.** 9425092483
पुण्यार्जक परिवार	-	स्व. श्री आप्पासो दादासो चौगुले धर्मपत्नी विमल आप्पासो चौगुले पुत्र : दिपक आप्पासो चौगुले-धर्मपत्नी रुपाली चौगुले सुपौत्र : आयुष, जयराज चौगुले वाकड थेरगाव लिंक रोड, वेणु नगर के पास वाकड, पुणे, फोन नं.: 9158882182
प्रकाशक	-	आचार्य अकलंक देव जैन विद्या शोधालय समिति 109, शिवाजी पार्क देवास रोड़, उज्जैन (476010)
आइएसबीएन	-	**978-81-953579-6-3**
मुद्रक	-	**विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिसर्स** प्लाट नं. ४५, सेक्टर एफ, इन्डस्ट्रीयल एरिया गोविन्दपुरा, भोपाल (म॰ प्र॰) ९४२५००५६२४

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की मौलिक कृति पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में आत्मोन्नति के रत्नत्रय रूप तीनों सोपान गर्भित हैं। साथ अध्यायों में विभाजित है।

श्रावकाचार के रूप में पहचान रखने वाला यह ग्रन्थ आध्यात्मिक अभिरूचि को भी बढ़ाता है।

मुनि श्री प्रणम्यसागर कृत मङ्गला टीका मूलग्रंथ के विषय को अतिस्पष्ट करती हुई मूलाम्नाय को पुष्ट करती है।

मूलनायक श्री 1008 शान्तिनाथ भगवान

श्री 1008 शान्तिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर

अर्हंविद्या निलय, प्लाट नं. 126,
पॉकेट-16, सेक्टर-20, रोहिणी, दिल्ली

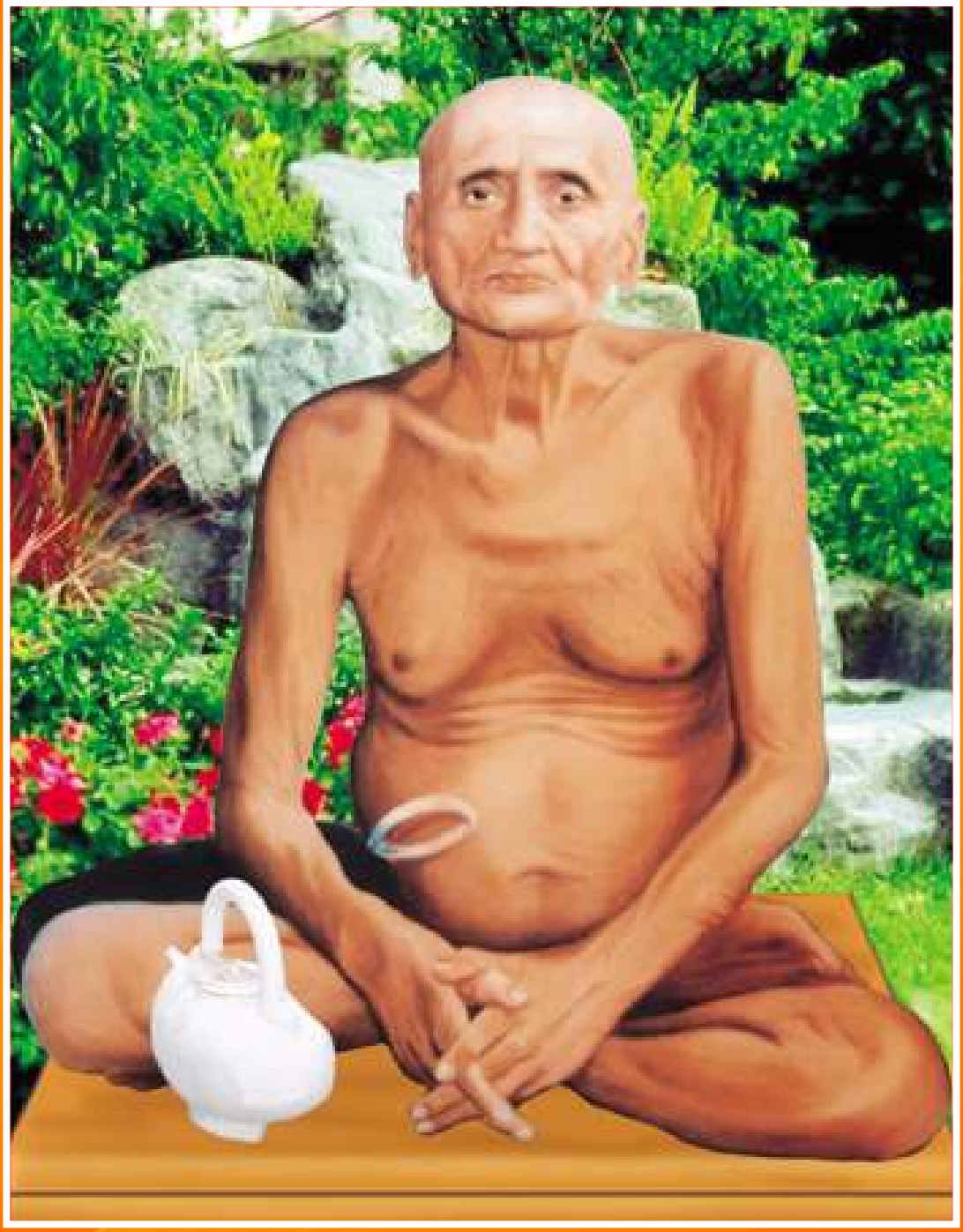

बीसवीं सदी के प्रथम दिगम्बराचार्य
चारित्र चक्रवर्ती श्री 108 शांतिसागर जी महाराज

जन्म	मुनि दीक्षा	आचार्य पद	समाधिस्थ
25 जुलाई 1872	2 मार्च 1920	8 अक्टूबर 1924	18 सितम्बर 1955

महाकवि आचार्य प्रवर
श्री १०८ ज्ञानसागर जी महामुनिराज
1891-1973

अनासक्त महायोगी संत शिरोमणि आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महामुनिराज

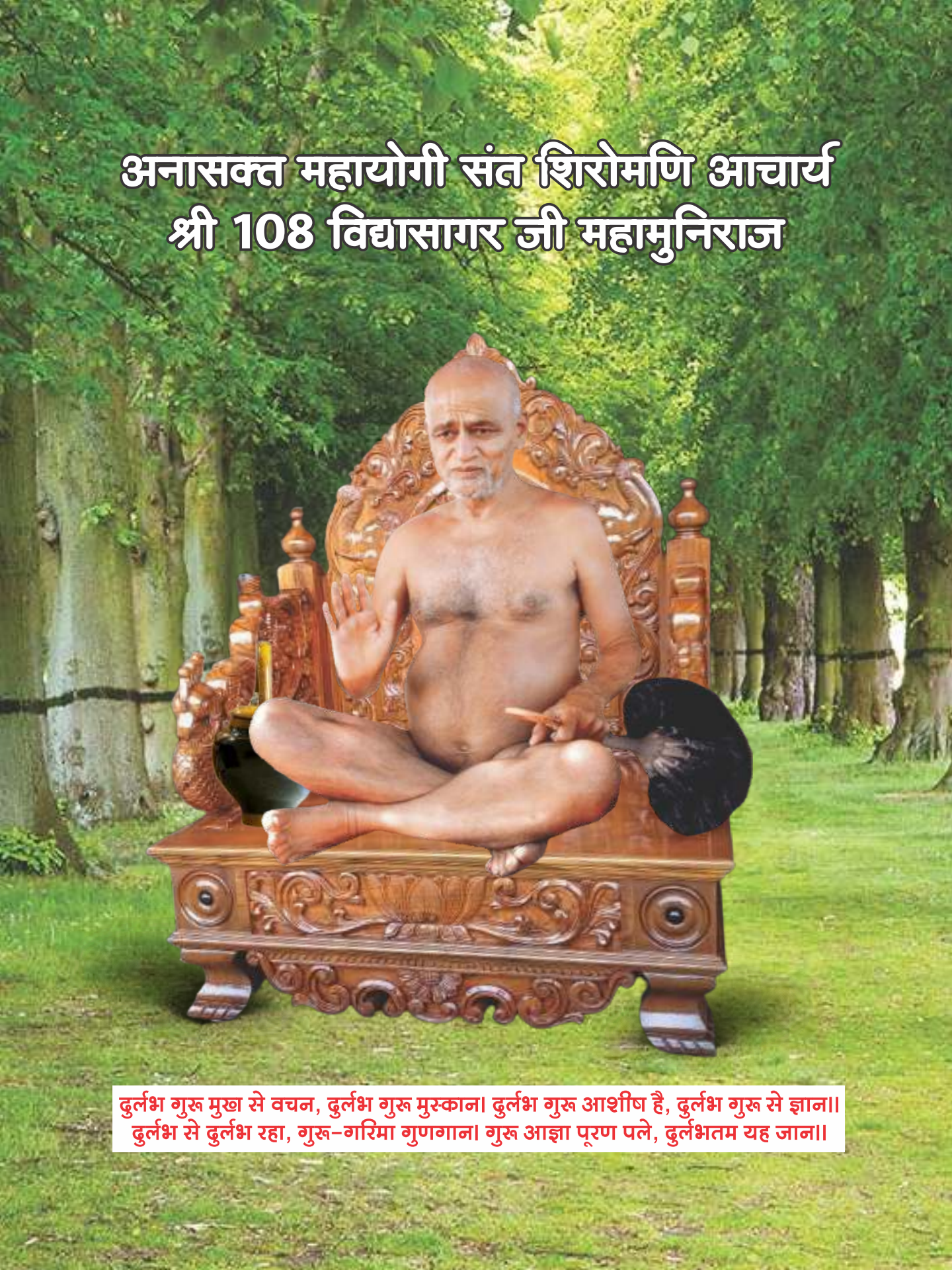

दुर्लभ गुरू मुख से वचन, दुर्लभ गुरू मुस्कान। दुर्लभ गुरू आशीष है, दुर्लभ गुरू से ज्ञान।।
दुर्लभ से दुर्लभ रहा, गुरू-गरिमा गुणगान। गुरू आज्ञा पूरण पले, दुर्लभतम यह जान।।

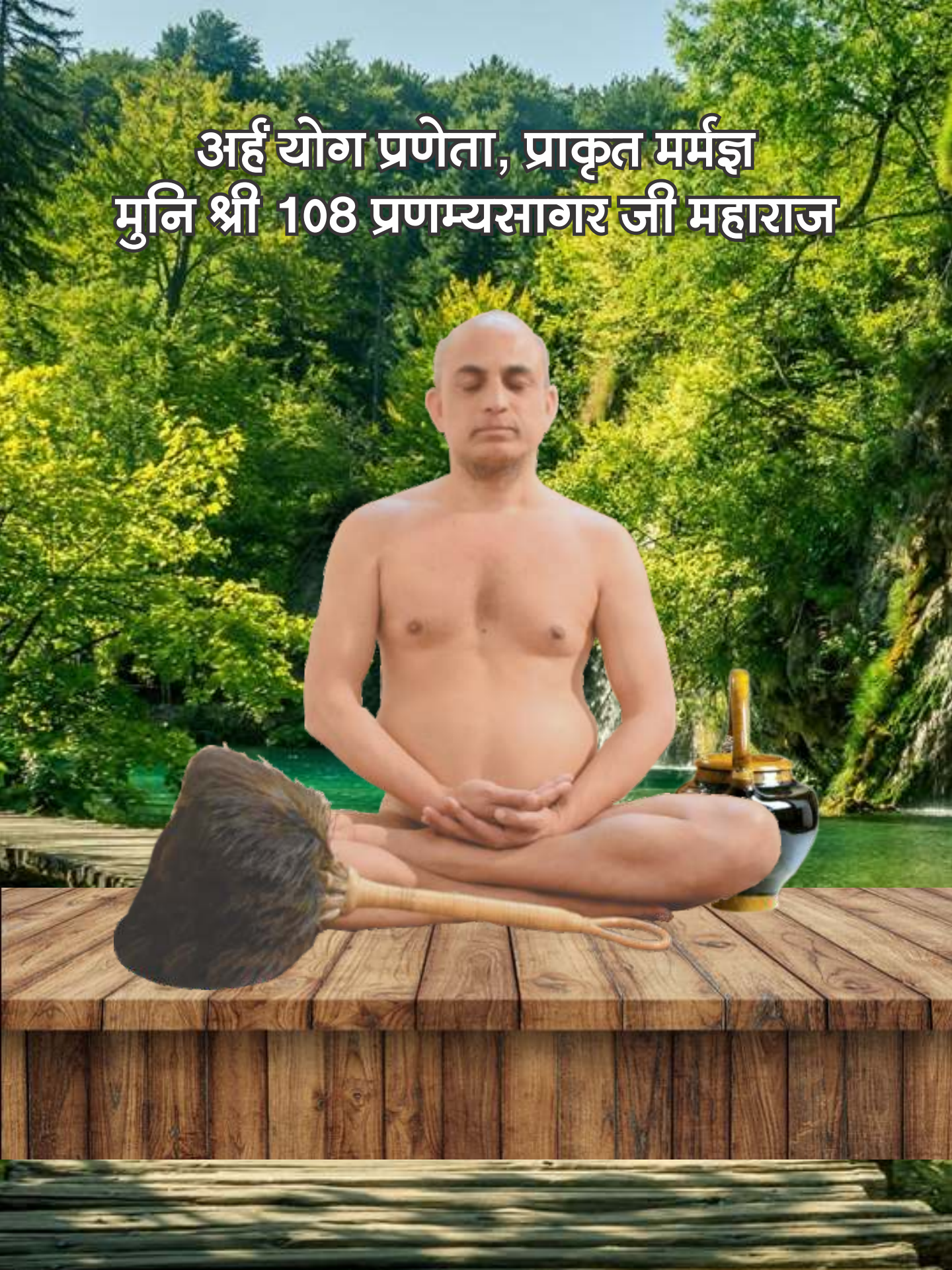
अर्हं योग प्रणेता, प्राकृत मर्मज्ञ
मुनि श्री 108 प्रणम्यसागर जी महाराज

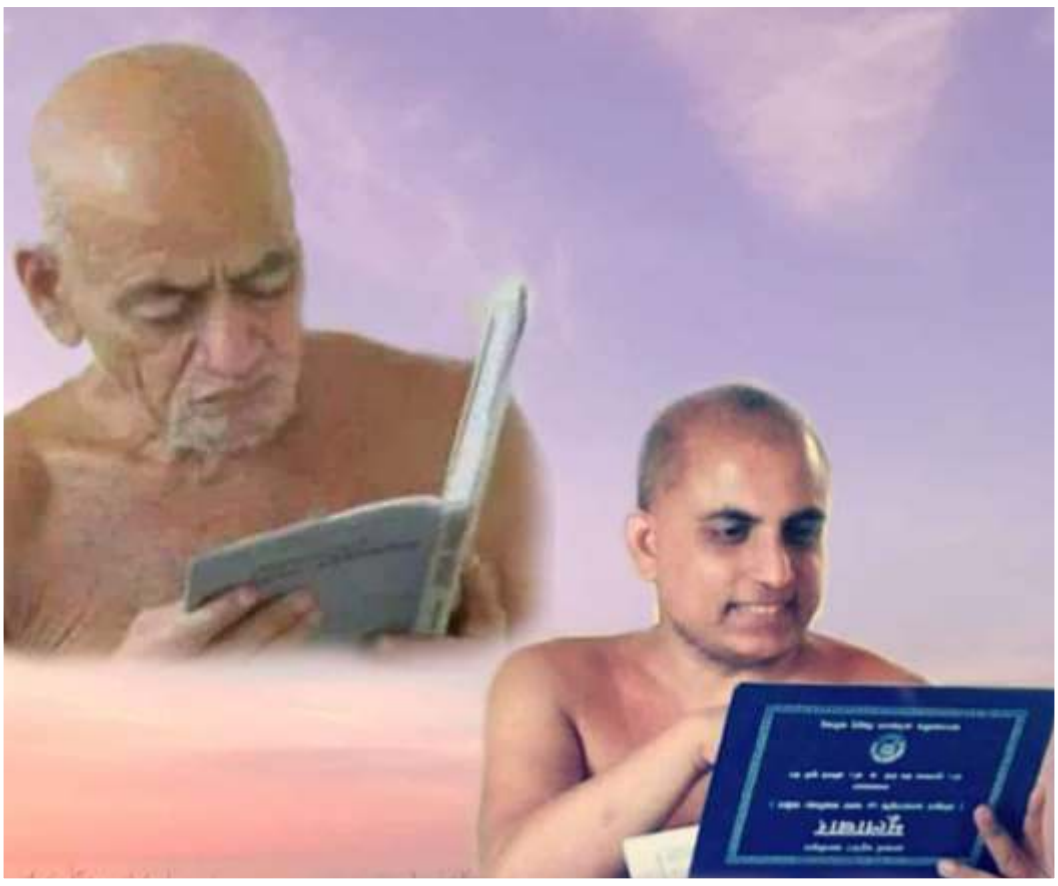

गुरु आशीष से ही शिष्य का सिंचित कण-कण है।
शिष्य का मन अपने गुरु के मन का ही दर्पण है।।

हाथी के द्वारा अनेकान्त का दृष्टान्त

श्रावक धर्म

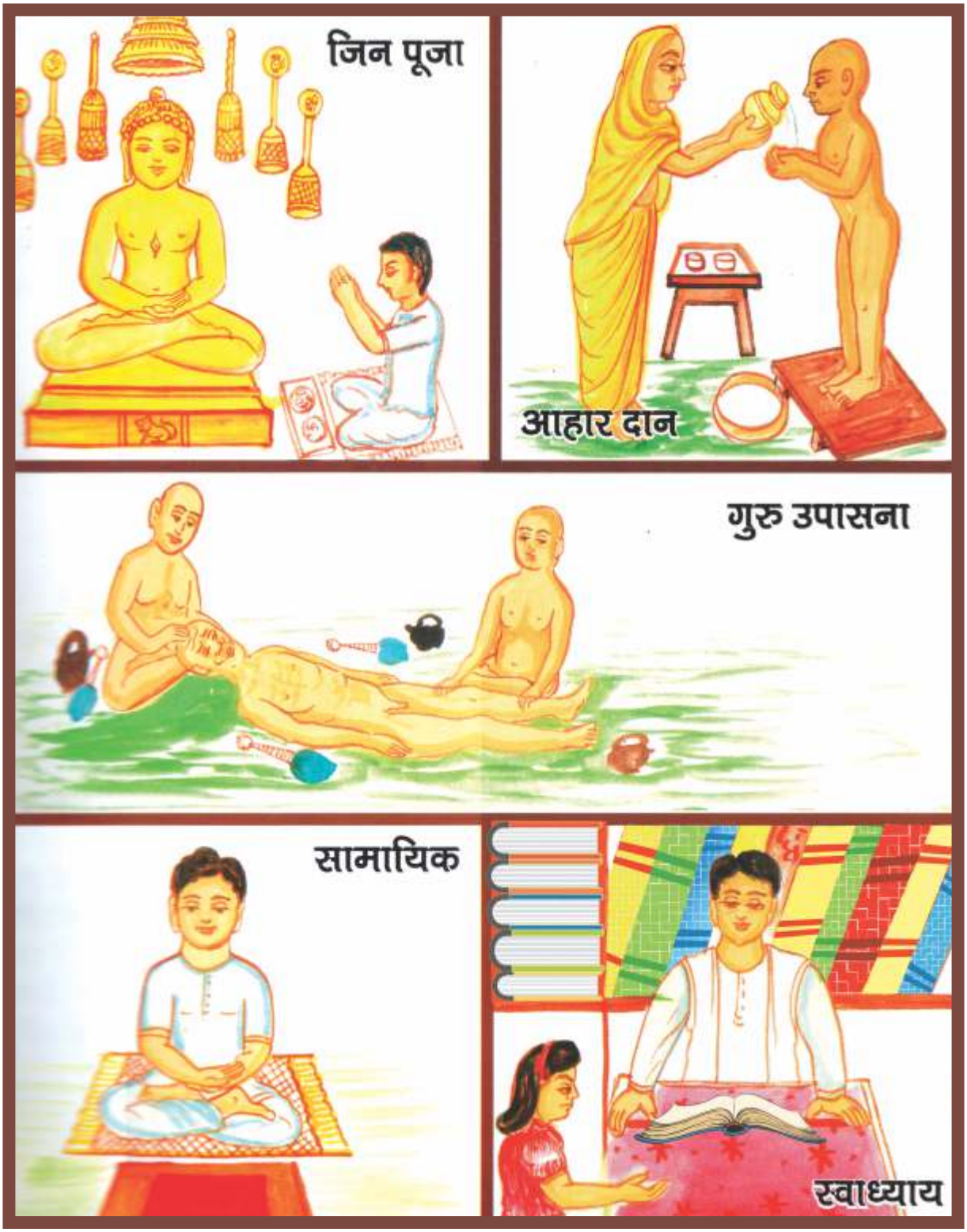

सम्यग्दर्शन के आठ अंग (मनुष्य के शरीर में)

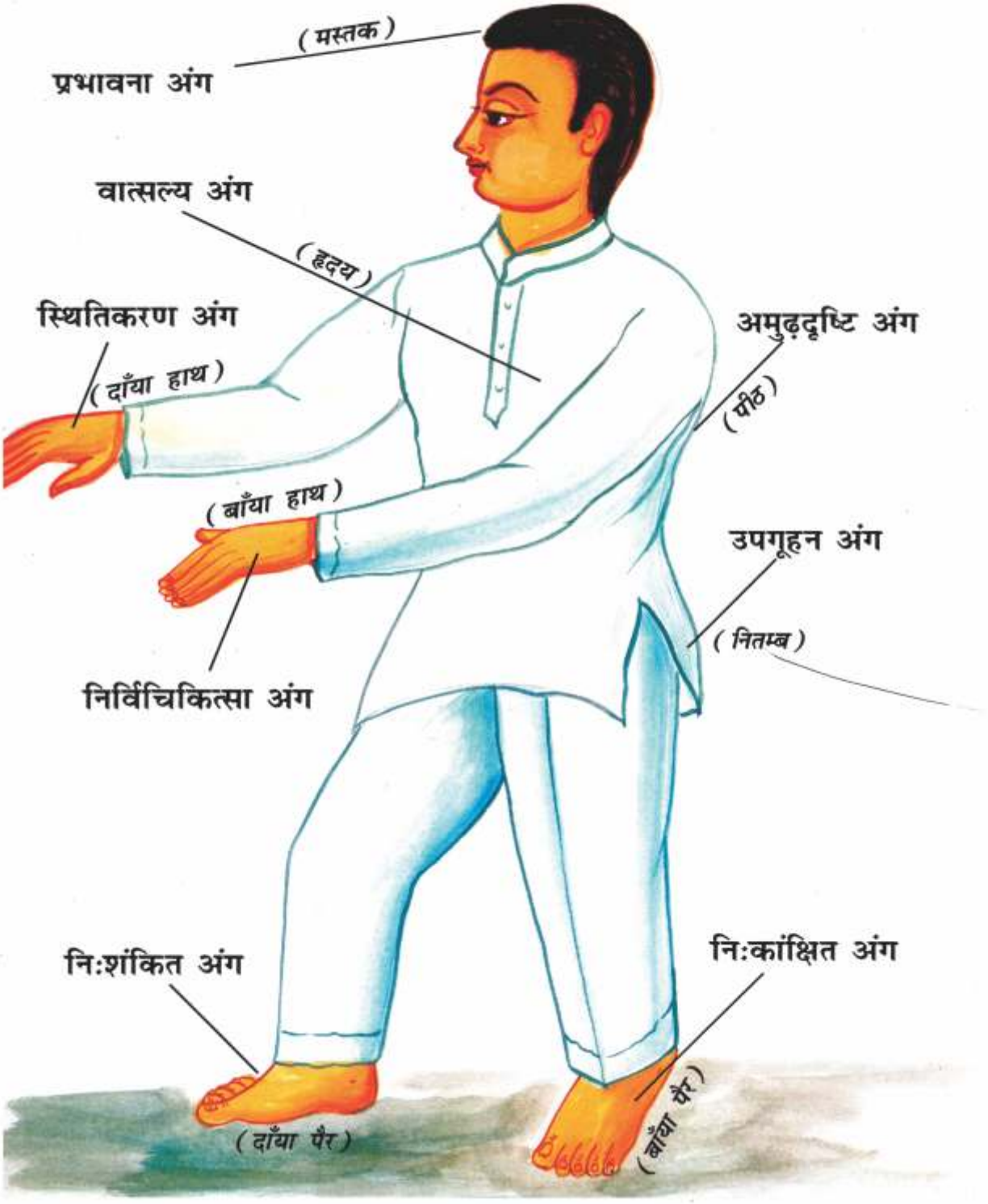

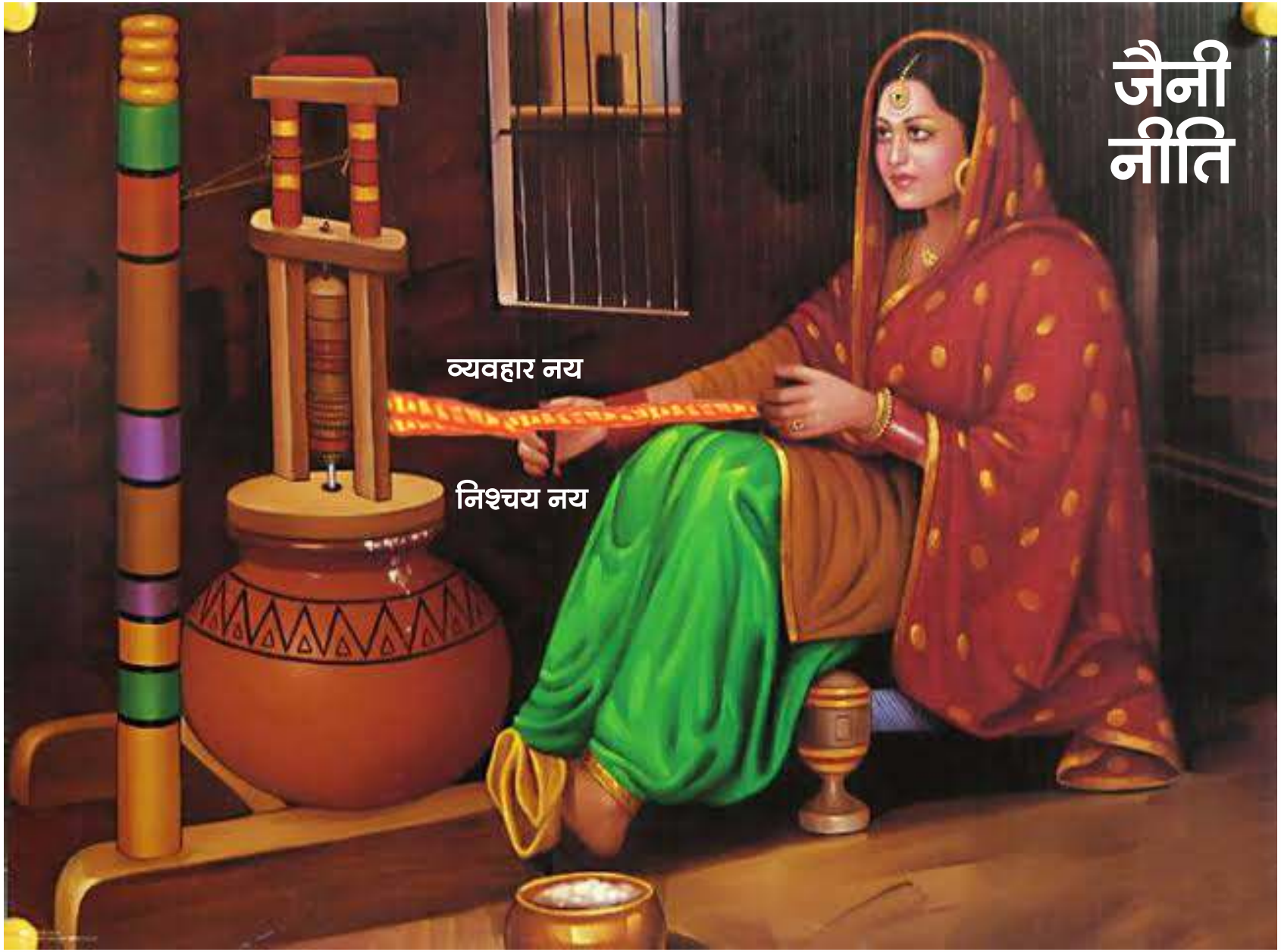
जैनी
नीति
व्यवहार नय
निश्चय नय

अन्तर्बोध

'बोध से शोध हो तो, शोध से फिर बोध होता है। पहले जो बोध है, वह शोध के लिए आवश्यक ज्ञान है और शोध के उपरान्त, जो बोध होता है, वह अनुभव में ढला अमूल्य खजाना है। आचार्य श्री अमृतचन्द्र जी के ग्रंथ की टीका लिखना किसी शोध से कम नहीं है और लिखते समय जो अनुभूति हुई वह लेखनी का विषय नहीं है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र जी ने श्रीकुन्दकुन्द देव के प्राभृत ग्रन्थों पर जो टीकाएँ लिखी हैं, वे अध्यात्म प्रधान और साक्षात् आत्म-आनन्द में लीन करने वाली हैं। उनके स्वतंत्र मौलिक ग्रंथों में 'लघुतत्त्वस्फोट' और '**पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**' जैसे महनीय ग्रन्थ उपलब्ध हैं। '**आचार्य अमृतचन्द्र जी, मात्र निश्चय धर्म से ओत-प्रोत, शुद्धात्म तत्त्व के ही रसिक थे, इसलिए वे तीर्थंकर की भक्ति आदि क्रियाओं को हेय मानते थे**' इस एकान्त धारणा का खण्डन '**लघुतत्त्वस्फोट**' नामक ग्रन्थ से होता है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है, जो चौबीस तीर्थंकरों की चेतना की, पच्चीस-पच्चीस काव्यों में, आध्यात्मिक स्तुति प्रस्तुत करता है। चेतना के अनन्त गुणों की स्तुति की विविध विधाएँ, जैसी यहाँ परिलक्षित होती हैं, वैसी अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होतीं ।'**उनके व्यक्तित्व में ज्ञाननय ही मुख्य है**' ऐसी एकान्त धारणा का खण्डन करने वाला यह '**पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**' ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का अपरनाम '**जिनप्रवचनरहस्यकोश**' है। श्रावक और श्रमण के आचरण को दिखाने वाला यह अद्भुत ग्रन्थ है। वैसे तो आपने, अपनी अध्यात्म प्रधान टीकाओं में भी ज्ञाननय और क्रियानय में परस्पर मैत्री भाव स्थापित करने पर जोर दिया है। जैसे कि-

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः।

ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री-पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः॥

नाटक स.सार.क.११/२१

फिर भी श्रावक और श्रमण का आचरण ज्ञानपूर्वक आत्मवैभव को प्रकट करने के लिए हो इसलिए आपने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' जैसे ग्रन्थ की रचना भी की है।

जैसा इस ग्रंथ के नाम से स्पष्ट है कि यह पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय बताने वाला ग्रंथ है। आत्मा ने अनादिकाल से मुक्ति के लिए कभी कोई पुरुषार्थ न किया हो, ऐसी बात नहीं है। पर उस पुरुषार्थ की सिद्धि का सही समीचीन उपाय/ तरीका/मेथड़ नहीं अपनाया, यह अवश्य कहना होगा। आचरण, व्रत, क्रियाएँ जब तक परमार्थ से, आत्मभावों से, नहीं जुड़ते हैं, तब तक वे बोझ प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि प्रत्येक व्रताचरण को परमार्थ से जोड़कर निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का कथन साथ-साथ किया है ताकि साधक मात्र व्यवहार मोक्षमार्ग में ही अटक कर न रह जाय। अहिंसा को केन्द्र बनाकर अन्य सत्य आदि व्रतों को इसी अहिंसा की रक्षा के लिए प्रतिपादित किया है। हिंस्य, हिंसक, द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा का कथन, श्री कुन्दकुन्द देव द्वारा कथित अहिंसा की आध्यात्मिक परिभाषा के अनुरूप किया है। जैसा कि कहा भी है-

रागादीणमणुप्पा अहिंसकत्तेति देसिदं समये।

तेसिं चेदुपपत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा।।

तथा

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः। पु.सि.उ. ४४॥

इस ग्रंथ को श्रावकाचार की श्रेणी में रखा गया है, यह ठीक है, पर अहिंसा आदि व्रतों को धारण करने का सहेतुक वर्णन मुनियों के चित्त को भी बरवस खींच लेता है। इसे मात्र श्रावकाचार कहना इस ग्रन्थ का सही मूल्यांकन नहीं है। जैसा कि इस ग्रंथ का नाम है पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय अर्थात् यह ग्रन्थ मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय बताने वाला है। दूसरे शब्दों में यह मोक्षमार्ग का निरूपण करने वाला है। ''**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**'' इस सूत्र पर आधारित यह शास्त्र एक अपर मोक्षशास्त्र है। श्रावकाचार में तो मात्र श्रावक के ही आचरण का कथन किया जाता है जैसा कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार आदि ग्रंथों में है। परन्तु इस ग्रन्थ में सकल चारित्र का व्याख्यान परीषह आदि का कथन भी किया है। मुनिव्रत के साथ रत्नत्रय का फल दिखाकर अशेष मोक्षमार्ग का निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के क्रमबद्ध व्याख्यान में सप्त तत्त्वों को भी इस तरह पिरोया गया है कि आस्रव, बन्ध आदि तत्त्वों का व्याख्यान हो जाता है, जिससे मोक्षशास्त्र की तरह यह भी एक सम्पूर्ण ग्रन्थ हो जाने से मुनि और श्रावक सभी के लिए उपयोगी सिद्ध है। अन्तर इतना है कि तत्त्वार्थ सूत्र/मोक्षशास्त्र में सप्त तत्त्वा की मुख्यता के साथ सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र का वर्णन किया है तो इस ग्रन्थ में सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र की मुख्यता के साथ सप्त तत्त्वों का वर्णन किया गया है।

मिलाते हैं तो एक शंका और निर्मूल हो जाती है कि, तत्त्वार्थ सूत्र में भाण्ड पाठ छूट गया है। ''कुप्यस्यभेदयोरपि'' इस पाठ से कुप्य के ही दो भेद किये हैं जिससे कुप्य के साथ भाण्ड शब्द का जोड़ा न बनाकर मात्र कुप्य कहना ही पर्याप्त होता है। एक कुप्य शब्द ही अपने आप में कुप्य और भाण्ड इन दोनों शब्दों की सूचना देता है।

तत्त्वार्थ सूत्र को आधार बनाकर श्लोकों में ''**तत्त्वार्थसार**'' ग्रंथ की रचना भी आपने की है। इसमें भी आपने कुप्यस्य इतना मात्र कहा है। अतः कुप्य के ही दो भेद हैं यह रहस्य पु.सि.उपाय ग्रंथ से ही ज्ञात होता है। सिद्ध होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र जी के समय तक तत्त्वार्थ सूत्र में भाण्ड पाठ नहीं था।

इसी तरह की अन्य विशेषताओं को लिये हुए यह ग्रंथ जहाँ पूर्वाचार्य प्रणीत चिन्तनधारा का पोषक है वहीं अपनी कुछ मौलिकताओं को भी समाविष्ट किये है। शोधार्थी पाठकों के लिए इसमें अपूर्व विषय उपलब्ध है। ऐसे आचार्य मनीषी की मौलिक कृति पु.सि.उपाय की संस्कृत टीका लिखी जाए ऐसी भावना सतना निवासी पं. **सिद्धार्थ जी** ने एक बार कटनी में अल्प प्रवास के समय व्यक्त की थी। उन्हीं की भावनाओं को मूर्त रूप इस

मङ्गला टीका के नाम से मिला है ताकि इसके अध्ययन से प्रत्येक आत्मा मङ्गलमय बन जाय। **मुनि श्री अभिनन्दनसागर जी** का सहयोग सदा स्मरणीय है। इस टीका की एक और प्रतिलिपि शीघ्र ही संघस्थ **मुनि श्री सौम्य सागर जी** एवं **मुनि श्री अनुभव सागर जी** ने अपनी स्वतः भावना से कर दी, जिस कारण इसका हिन्दी अनुवाद भी सुलभता से हो गया। **ब्र.पवन जी** और **ब्र.कमल जी** ने इसका हिन्दी अनुवाद करके श्रुत भक्ति का लाभ तो लिया ही है, साथ ही उन्हें आशीर्वाद है कि वे इसी प्रकार मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ते हुए निर्ग्रन्थ पद धारण करें। निःस्पृह जिनवाणीभक्त **डॉ.चेतनप्रकाश पाटनी जी** ने सम्पादन के इस महत् कार्य को सहर्ष किया है। जिनेन्द्र प्रभु से प्रार्थना है कि उनका यह कार्य उन्हें बोधि-समाधि की श्रेष्ठता दे। परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप से सहयोगी अन्य अनेक भव्य आत्माओं को साधुवाद। परम पूज्य आचार्य श्रेष्ठ-ज्येष्ठ गुरुवर्य श्री विद्यासागर जी के कर कमलों में सादर समर्पण, जिनकी महती वात्सल्यमयी अनुकम्पा से मुझ जैसा अल्पज्ञ यह कार्य कर पाया। इत्यलम्।

मुनि प्रणम्यसागर

अनुवादक के दो शब्द

वर्तमान शासन नायक भगवान महावीर के मुखारविन्द से निःसृत दिव्यवाणी का ग्रन्थन गणधरदेव ने बारह अंगों में किया है। इन अंगों में प्रथम अंग आचारांग है, जो अठारह हजार पद प्रमाण है। आचार्यों की अक्षुण्ण परंपरा से प्रवाहित यह अनुपम श्रुत अद्यावधि उपलब्ध है। अनेक श्रावकाचारों में एक अनूठी कृति पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय है, जिसके लेखक अध्यात्म विद्या से ओतप्रोत आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने २२६ श्लोक प्रमाण यह ग्रन्थ सात अधिकारों में विभक्त किया है । इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद तो अनेक विद्वानों ने किया, किन्तु अभी तक इस ग्रन्थ की कोई भी संस्कृत टीका नहीं थी। कई बार यह भाव आता था कि **आचार्यअमृतचन्द्र स्वामी** ने कुन्दकुन्द देव के अनेक ग्रन्थों की संस्कृत टीका की किन्तु अमृतचन्द्र स्वामी की कृतियों पर किसी ने संस्कृत टीका नहीं की । इस अभाव को दूर करने हेतु महाकवि **आचार्य विद्यासागर जी** के परम शिष्य अभीक्ष्णय ज्ञानोपयोगी **मुनि श्री १०८ प्रणम्यसागर जी महाराज** ने इस ग्रन्थ की मंगलाटीका की है , जिसका वैशिष्टय देखकर ऐसा अनुभव होता है कि जैसे स्वयं अमृत चन्द्र स्वामी ने टीका लिखी हो । वर्तमान में ऐसी पाण्डित्य पूर्ण टीका लिखने की प्रतिभा **पूज्य प्रणम्यसागर जी** के अलावा अन्यत्र देखने में नहीं आयी।

पूज्य मुनि श्री ने मंगला टीका पूर्ण करके सन् २००४ में तिलवारा घाट जबलपुर में इसका भाषानुवाद करने का अवसर हम लोगों को प्रदान किया , इसके लिए हम आभारी हैं। मंगला टीका में पूज्य मुनि श्री ने अनेक स्थलों पर आगम सम्मत नया विषय उपस्थित किया है जिसको देखकर एक अनुभूति प्राप्त होती है।

ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में कुल सात अधिकार हैं; इन अधिकारों में २२६ श्लोक हैं। जिनमें श्रावकाचार का सांगोपांग वर्णन है। आचार्यदेव ने मंगलाचरण में दो श्लोक लिखें है जिनमें प्रथम श्लोक में केवलज्ञान रूपी परं ज्योति को नमस्कार किया है और द्वितीय श्लोक में जैनागम के प्राणस्वरूप अनेकान्त को नमस्कार किया है।

अमृतचन्द्र स्वामी की यह विशेषता है कि आप चाहे मौलिक ग्रन्थ लिखें या टीकाग्रन्थ लिखें, उनमें पहले और अन्त में क्रमशः अनेकान्त का स्मरणपूर्वक स्थापन और निष्ठापन करते हैं। इस ग्रन्थ के आरम्भ में निश्चयनय और व्यवहारनय की चर्चा की है तथा अन्त में रत्नत्रय को ही मोक्ष का उपाय बताया है, यह सब कथन अन्य श्रावकाचारों से विशिष्ट है । इस ग्रन्थ में कुछ ऐसे श्लोक हैं जो सैद्धांतिक विवादों को सुलझाने में सहायक हैं। जैसे –

मुख्योपचार- विवरण - निरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्त्तयन्ते जगति तीर्थम् ।।४।।

मुख्य और उपचार के विवेचन द्वारा शिष्यों के दुर्निवार अज्ञान भाव को नष्ट करने वाले तथा निश्चय व्यवहार के ज्ञाता आचार्य ही जगत् में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ।।५।।

यहाँ निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा है । प्रायः सारा संसार भूतार्थ के ज्ञान से विमुख है। अथवा भूतार्थ के ज्ञान से विमुख जो अभिप्राय है वह सभी संसाररूप है।

मुनीश्वर अज्ञानी जीवों को ज्ञान कराने के लिये व्यवहारनय का उपदेश देते हैं। जो जीव मात्र व्यवहारनय को ही जानता है उसके लिए उपदेश नहीं है।

इस विषय में टीकाकार ने लिखा है कि – **अत्राज्ञानी मिथ्यादृष्टिरिति विज्ञेयः। अ शब्द ईषदर्थस्तेन ईषज्ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरिति। सम्यग्दृष्टेर्मिथ्यादृष्टेश्च बोधनार्थं व्यवहारनयो हि समर्थः।** इस प्रकार टीकाकार ने यहाँ पर अज्ञानी के अर्थ में चमत्कार कर दिया । अ का अर्थ ईषत् ज्ञानी करके सम्यग्दृष्टि को ग्रहण किया है । इस अधिकार के अन्त में लिखा है कि जो निश्चय और व्यवहारनय को जानकर माध्यस्थ भाव को प्राप्त होता है वही शिष्य सम्पूर्ण देशना के फल को प्राप्त होता है। इसी प्रकार निश्चय शब्द की व्याख्या भी द्रष्टव्य है।

नि-निर्गतश्चयोवृद्धिः यत्र स निश्चयोऽवगन्तव्योऽखण्डैकाभेदविषयत्वात् ।

जिसमें अब वृद्धि न हो, अर्थात् जो अपने स्वरूप को प्राप्त किया है वह निश्चयनय है क्योंकि उसका विषय अखण्ड, एक और अभेद होता है । इसी प्रकार व्यवहार शब्द की व्याख्या भी द्रष्टव्य है। अन्यत्र भी अनेक स्थलों पर इस टीका में इस प्रकार का अर्थ वैशिष्ट्य है जो मूल ग्रन्थ से ही पठनीय है।

द्वितीय अधिकार में बताया है कि पुरुष याने आत्मा, अनादि काल से अज्ञानी आत्मा अपने ही परिणामों का कर्त्ता भोक्ता है। विपरीत अभिप्राय को त्याग कर अच्छी तरह से आत्म तत्त्व को जानकर फिर कभी उससे विचलित नहीं होना यही पुरुष की सिद्धि का उपाय है।

तृतीय अधिकार में – सम्यग्दर्शन का स्वरूप और उसके आठ अंगों का विशद वर्णन है । इनका वर्णन निश्चय और व्यवहार नय की मुख्यता से किया है।

चतुर्थ अधिकार में – सम्यग्ज्ञान का लक्षण, कारण कार्य व्यवस्था के साथ इसके आठ अंगों का वर्णन किया है। इस अधिकार के अन्त में टीकाकार ने एक मार्मिक गाथा उद्धृत की है। ''जो विनय पूर्वक श्रुतज्ञान का अध्ययन करता है वह यदि प्रमादवश कालान्तर में भूल जाये तो भी परभव में उस श्रुत को पुनः प्राप्त कर लेता है और परम्परा से केवलज्ञान को प्राप्त करता है।''

पाँचवें अधिकार में – देशचारित्र और सकलचारित्र को परिभाषित करते हुए पाँच अणुव्रतों में अहिंसाणुव्रत और सत्याणुव्रत का बेजोड़ वर्णन किया है । इसके साथ रात्रिभोजनत्याग का अनेक दृष्टान्तों के साथ कथन किया है, सात शील व्रतों का सल्लेखना का और अधिकार के अन्त में ७० अतिचारों का वर्णन किया है।

छठे -सातवें अधिकार में – अन्तरंग बहिरंग तपों का , ३ गुप्ति, ५ समितियों का १० धर्म, १२ भावना और २२ परीषहों का वर्णन किया है । अन्त में आचार्य महाराज अपनी लघुता प्रकट करते हुए लिखते हैं कि – ''वर्णों के द्वारा नाना प्रकार के पद बने हैं, उन पदों से वाक्य बने हैं और उन वाक्यों से यह पवित्र ग्रन्थ बना है हमने कुछ नहीं किया है।''

मङ्गला टीका का भाषानुवाद करने की शक्ति परम पूज्य महाकवि **आचार्य विद्यासागर जी महाराज** और **पूज्य प्रणम्यसागर जी महाराज** के आशीर्वाद से प्राप्त हुयी है। इन परमोपकारी गुरुजनों के पावन चरणों में शत-शत वन्दन करते हैं।

अनुवाद के बाद पूज्य मुनिश्री प्रणम्यसागर जी ने उचित संशोधन किये, विषय और भाषा को सम्हाला । इसलिए पूज्य मुनिश्री का हार्दिक आभार मानते हैं।

जिनवाणी के परमभक्त पण्डित **डॉ. चेतनप्रकाश जी पाटनी** ने बड़ी तत्परता के साथ इस ग्रन्थ का सम्पादन कार्य किया है। श्रेष्ठी **सिद्धार्थ** जी सतना वालों ने भी अनेक प्रकार से सहयोग प्रदान किया है।

उदासीन आश्रम ईसरी बाजार गिरीडीह (झार.)
दिनांक २०.०८.०९

ब्र.पवन जैन साहित्यरत्न, न्यायरत्न (वर्तमान में मुनि श्री निर्दोष सागर जी महाराज)
ब्र.कमल जैन साहित्यरत्न, न्यायरत्न (वर्तमान में मुनि श्री निर्लोभ सागर जी महाराज)

सम्पादकीय

कुन्दकुन्दाचार्य की कृतियों के व्याख्याता सारस्वताचार्य अध्यात्मवेत्ता अमृतचन्द्र सूरि मौलिक ग्रन्थ रचयिता के रूप में भी जैन परम्परा में परम समादरणीय हैं। समयसार पर आत्मख्याति टीका, प्रवचनसार पर तत्त्वदीपिका टीका और पंचास्तिकाय पर भी तत्त्वदीपिका आपके टीकाग्रन्थ हैं तो लघुतत्त्वस्फोट, परमाध्यात्मतरंगिणी (समयसार कलश) तत्त्वार्थसार और पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय संस्कृत भाषा में आपकी महत्त्वपूर्ण मौलिक कृतियाँ हैं। इन निस्पृह आध्यात्मिक आचार्य ने कहीं किसी कृति में अपना परिचय नहीं लिखा है। अद्यावधि किसी भी स्रोत से इनके जीवन के बारे में कोई जानकारी नहीं मिल सकी है। अन्य कृतियों में आपकी रचनाओं के उद्धृत अंशों के आधार पर आपका समय ई.सन् की दसवीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश में आपका समय ई. ९६२-१०१५ उल्लिखित है।

'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' २२६ आर्यावृत्तों में स्याद्वाद शैली में लिखा गया श्रावकाचार सम्बन्धी एक लघुकाय ग्रन्थ है जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र एवं सल्लेखना धर्म का व्याख्यान है। प्रसंगवश सकलचारित्र भी व्याख्यायित हुआ है।

नयज्ञ आचार्य श्री की यह रचना स्वाध्यायियों में लोकप्रिय है क्योंकि निश्चय और व्यवहार का सन्तुलन रखती हुई इसकी स्थापनाएँ सहजग्राह्य लगती हैं। आचार्य श्री अपने पूर्वाचार्यों से प्रभावित हैं और इसका वर्ण्य विषय पूर्णतः आगमसम्मत है। अध्यात्म में तो कुन्दकुन्द ही इनके आदर्श हैं और 'उपाय' खोजने व 'सार' उपस्थित करने में आचार्य श्री उमास्वामी इनके मार्गदर्शक प्रतीत होते हैं।

आचार्यश्री ने ग्रन्थ में व्रतों के अन्तर्गत हिंसा और अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। उनके अनुसार आत्मघात तथा परघात दोनों ही हिंसा हैं। आत्मघात तो कषायों की उत्पत्ति होते ही हो जाता है, परघात हो न भी हो। आचार्यश्री ने अनेक भंगों द्वारा हिंसा का अल्पबहुत्व बताया है। हिंसा सम्बन्धी ऐसा सूक्ष्म विवेचन अन्यत्र पढ़ने में नहीं आता।

पूज्य अमृतचन्द्र सूरि के इस मौलिक संस्कृत ग्रन्थ की संस्कृत मङ्गला टीका स्व-पर मङ्गलार्थ **पूज्य मुनिश्री प्रणम्यसागर जी महाराज** ने लिखी है। आप इससे पूर्व 'समाधितंत्र' पर 'आर्हतभाष्य' और आचार्य कुन्दकुन्द के लिङ्गप्राभृत और शीलप्राभृत पर 'नन्दिनी टीका' का प्रणयन कर चुके हैं। 'श्रायस पथ' में आपने १८ विषयों पर १७ तरह के छन्दों में २२५ श्लोकों की रम्य रचना की है। इस तरह संस्कृत गद्य और पद्य दोनों में आपकी लेखनी कुशल है।

प्रस्तुत संस्करण में पृष्ठ के अर्धभाग में मूल आर्या और उसकी मुनिश्री प्रणीत मङ्गला टीका है। शेष अर्ध भाग में इनका हिन्दी अनुवाद है जो उत्थानिका, अन्वय, अन्वयार्थ, टीकार्थ शीर्षकों में समाहित है। प्रत्येक आर्या की व्याख्या का यही क्रम है। कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार 'विशेषार्थ' भी लिखा गया है। अपेक्षित शंका - समाधान टीकार्थ में ही सम्मिलित हैं। हिन्दी अनुवाद के गुरुतर उत्तरदायित्व का निर्वहन ब्र.पवन जैन और ब्र.कमल जैन ने किया है। पृष्ठ के अधोभाग में मूलगाथा का मुनिश्री द्वारा अनूदित हिन्दी दोहा रूप है। परिशिष्ट में व्याकरणिक सूत्र सूची, उद्धृतगाथा सूची और श्लोकानुक्रमणिका भी संकलित हैं।

प्रस्तुत मङ्गला टीका मुनिश्री की बहुज्ञता की निदर्शक है। साहित्य, व्याकरण सिद्धान्त, दर्शन, न्याय,

शब्दकोश आदि विविध क्षेत्रों में आपकी समान रूप से गति है। संस्कृत टीका में उद्धृत अन्य आचार्यों व ग्रन्थों के उद्धरण आपकी अध्ययनशीलता के परिचायक हैं। यथावश्यक व्याकरणिक सूत्रों के माध्यम से आपने शब्दों की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डाला है तो शब्दों के विविध अर्थों के लिए एकाधिक कोशों से प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। सामासिकता संस्कृतभाषा की अद्वितीय विशेषता है और मङ्गला टीका इस विशिष्टता से ओतप्रोत है। आनुप्रासिकता लिए हुए सामासिक शैली में अभिव्यक्त विचार पाठक को प्रसाद और माधुर्य गुण से अभिभूत कर देते हैं और पाठक मानो भावप्रवाह में बहता हुआ उन्हें आत्मसात् करता चलता है। श्रुतिमधुर शब्दावली का चयन मुनिश्री की गद्यशैली की विशेषता है। कर्णकटु वर्णों का प्रयोग बहुत खोजने पर ही मिलता है। टीकाप्रणेता मुनिश्री ने अमृतचन्द्रसूरि के भावों को हृदयङ्गम कर उनके हार्द को बड़े सहज भाव से विश्वसनीयता प्रदान की है।

विशेष – २१वीं आर्या की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है – **'आत्मनि त्रयोऽपि गुणाः भिन्नाः सन्ति। सम्यग्दर्शनपर्यायः श्रद्धानगुणस्य, सम्यग्ज्ञानपर्यायो ज्ञानगुणस्य, सम्यक्चारित्र-पर्यायश्चारित्रगुणस्य। ज्ञानमेव चैतन्यगुणस्त्रितयेषु। तथाप्यचेतनभूतेन श्रद्धानगुणेन विद्यावृत्तस्य सम्यक्त्वमित्यभ्यर्हितत्वं सुष्ठु प्रोक्तम्'।।**

'आत्मा में ये तीनों गुण भिन्न-भिन्न हैं। श्रद्धानगुण की पर्याय सम्यग्दर्शन है, ज्ञानगुण की पर्याय सम्यग्ज्ञान है तथा चारित्र गुण की पर्याय सम्यक्चारित्र है। इन तीनों में ज्ञान ही चैतन्यगुण है, तो भी अचेतनभूत श्रद्धानगुण के द्वारा ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं, इसलिए वह पूज्य है, ऐसा ठीक ही कहा है।

अपेक्षाभेद से यह कथन भी ग्राह्य है पर सर्वथा ऐसा नहीं है। आचार्य श्रीविद्यानन्द जी ने तत्त्वार्थश्लोक वार्तिकालंकार खण्ड २ (पृ.४९ कौन्देयजी कृत टीका) में इसे कापिलों का कथन मान कर खण्डन किया है –

'चिदात्मकत्वमसिद्धं श्रद्धानस्येति चेन्न, तस्य स्वसंवेदनतः प्रसिद्धेर्ज्ञानवत् साधितं ज्ञानादीनां चेतनात्मकत्वं पुरस्तात्।' 'श्रद्धान को चैतन्यस्वरूपपना असिद्ध है, इस प्रकार कापिलों का कहना ठीक नहीं है क्योंकि उस श्रद्धान को स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से चेतनात्मकपने की प्रसिद्धि हो रही है, जैसे कि ज्ञान चेतनस्वरूप है। आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान, दर्शन आदि का चेतनस्वरूपपना हम पहले प्रकरण में प्रसिद्ध कर चुके हैं।' आत्मा के सम्पूर्ण गुणों में चैतन्य से अन्वितपना पाया जाता है। अखण्ड आत्मा के गुणों पर परस्पर तदात्मक एकरस हो रहा है।

देशव्रती श्रावक जीवन के अन्त समय में विधिपूर्वक सल्लेखना धारण करता है और मरण के काल में सभी आरम्भ और परिग्रह को छोड़कर अपने में निर्ग्रन्थपने की भावना भी करता है। मुनिसंघ के सान्निध्य में अथवा घर में समाधि के लिए प्रयत्नशील देशव्रती को मुनि की तरह कहा जाता है, न कि वह मुनि ही है। अतः नग्न होकर मरण में और महाव्रतों को धारण करने के बाद मरण करने में अन्तर जानना चाहिए। अकलंकदेव तो स्पष्ट कहते हैं कि- 'घर का त्याग कर देने पर भी उस गृहस्थ की श्रावक व्रतरूप से ही सल्लेखना होती है।'

यह निर्विवाद मान्यता है कि रत्नत्रय से मोक्ष होता है। फिर भी यह जिज्ञासा बनी रहती है कि क्या सम्यग्दर्शन से वा रत्नत्रय से बन्ध भी होता है ? आचार्य अमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के अन्त में (श्लोक २०० से २२५ तक) नयविवक्षा पूर्वक इस प्रश्न पर गम्भीर विचार किया है।

यद्यपि शुद्ध निश्चय नय से सम्यग्दर्शन – ज्ञान – चारित्र संवर व निर्जरा के कारण हैं और राग बन्ध का

कारण है तथापि तीर्थङ्कर आदि कुछ ऐसी विशिष्ट कर्मप्रकृतियाँ हैं जिनके बन्ध में सम्यक्त्व अथवा सम्यक्त्व व चारित्र कारण होते हैं। महाबन्ध के वे सूत्र इस प्रकार हैं –

आहारदुगं संजमपच्चयं । तित्थयरं सम्मत्तपच्चयं । (म.बं. पु. ४ पृ. १८६)

श्री कुन्द कुन्दाचार्य ने भी कहा है –

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।

णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२।। समयसार

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी जब तक जघन्यभाव से परिणमते हैं अर्थात् अपनी उत्कृष्ट दशा को प्राप्त नहीं होते हैं तब तक उनसे भी बन्ध होता है।

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।

साधूहिं इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा ॥१६४॥ पंचास्तिकाय

दर्शन, ज्ञान, चारित्र मोक्षमार्ग हैं। इसलिए वे सेवन योग्य हैं, ऐसा साधुओं ने कहा है। उन दर्शन, ज्ञान, चारित्र से बन्ध भी होता है और मोक्ष भी होता है।

इस प्रकार एक कारण से दो कार्य बतलायें हैं ।

इस गाथा के सम्बन्ध में पूज्य आचार्य विद्यासागरजी महाराज ने अपने एक प्रवचन में बताया है कि **'यह जो एकान्त बात कही जाती है कि उसके साथ जो कषाय होती है या उसके साथ जो कुछ भी है उसके द्वारा बन्ध होता है । यह कुन्दकुन्द का आशय तो है ही नहीं और ना ही अमृतचन्द्र जी का।'**[१]

जब तक वे रत्नत्रयेण रूप रहते हैं तब तक तो वह बन्ध भी करता रहता है और संवर तथा निर्जरा इन दोनों तत्त्वों का भी सम्पादन करता रहता है और जब वह निर्विकल्प अभेददशा तक पहुंच जाता है तो बन्ध और आस्रव उसके द्वारा रुक जाता है। केवल 'सकलकर्मक्षयं प्रारभ्यते', वह रत्नत्रय सभी प्रकार के कर्मों के क्षय को प्रारम्भ कर देता है, यह उस सम्पन्नदशा की बात है।'[२]

स्वयं श्री अमृतचन्द्र सूरि ने – तत्त्वार्थसार में कहा है –

सरागसंयमश्चैव सम्यक्त्वं देशसंयमः।

इति देवायुषो ह्येते, भवन्त्यास्त्रवहेतवः ।।४/४३।।

विशुद्धिर्दर्शनस्योच्चैस्तपस्त्यागौ च शक्तितः।

नाम्नस्तीर्थङ्करत्वस्य भवन्त्यास्त्रवहेतवः ॥४-४९-५२।।

यहाँ पर आचार्यश्री ने सम्यग्दर्शन के साथ या सम्यग्दर्शन की उत्कृष्ट विशुद्धता तथा तप व त्याग के साथ सराग विशेषण नहीं जोड़ा है।

---

१. देखिए प्रकरण 'क्या रत्नत्रय बन्ध का कारण है ? पृष्ठ ७६ से ८३, श्रुताराधना २००८ (प्रवचन संकलन)।

२. वही, पृष्ठ ७९ ।

तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध सम्यग्दर्शन के सद्भाव में होता है, अभाव में नहीं। अतः सम्यक्त्व के साथ इसका अन्वय व्यतिरेक सुघटित हो जाने से कार्यकारण भाव सिद्ध हो जाता है । इसी दृष्टि से श्री अमृतचन्द्राचार्य को पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक २१८ में सम्यक्त्व और चारित्र को तीर्थंकर व आहारक शरीर के बन्ध के लिए उदासीन कारण स्वीकार करना पड़ा और कहना पड़ा कि यह उपदेश भी नयवेत्ताओं को दोष के लिए नहीं है –

सम्यक्त्वचारित्राभ्यां तीर्थङ्कराहारकर्मणो बन्धः।

योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय ॥२१७॥

जिस वीतराग निर्विकल्प शुद्ध (पूर्ण) रत्नत्रय कथन श्लोक २१६ में है उसी शुद्ध दृष्टि से श्लोक २१२-२१४ में कथन है। श्लोक २११ का कथन अशुद्धनिश्चय नय की दृष्टि से है। विकल रत्नत्रय से जो पुण्यबन्ध होता है वह मोक्ष का कारण है, संसार का कारण नहीं।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।

स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

श्लोक २२० का अर्थ भी विचारणीय है –

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।

आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः ॥२२०॥

पूर्ण शुद्धरत्नत्रय निर्वाण का ही कारण है, अन्य का कारण नहीं है। जो पुण्य का आस्रव होता है, वह शुभोपयोग अर्थात् असमग्र रत्नत्रय का अपराध है। पूर्वार्ध में शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा कथन है और उत्तरार्ध में अशुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा।

एकदेशपरित्याग, अपहृतसंयम, सरागचारित्र और शुभोपयोग ये एकार्थवाची हैं। सर्वपरित्याग, परमोपेक्षासंयम, वीतरागचारित्र और शुद्धोपयोग ये एकार्थवाची शब्द हैं। वीतराग निर्विकल्प समाधिकाल का रत्नत्रय शुद्धोपयोग है और सविकल्पावस्था का रत्नत्रय शुभोपयोग है। शुद्धोपयोग रूप रत्नत्रय की उत्तम दशा है और शुभोपयोग रूप जघन्य रत्नत्रय है जिससे बन्ध होना बतलाया है, अतः बन्ध को शुभोपयोग का अपराध कहा है।[३]

शुभोपयोग चतुर्थगुणस्थान से प्रारम्भ होता है, उससे पूर्व अशुभोपयोग होता है, किन्तु शुभराग प्रथमादि गुणस्थानों में भी सम्भव है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए श्लोक २२० में शुभराग नहीं कहा है, किन्तु शुभोपयोग कहा है। यद्यपि शद्ध घी जलाने में असमर्थ है किन्तु अग्नि के संसर्ग से उष्ण हो जाने पर घी से जलने का व्यवहार देखा जाता है। इस प्रकार संसर्ग के कारण एक ही घी में विरुद्ध कार्य होना सम्भव है, उसी प्रकार पूर्ण रत्नत्रय कर्मबन्ध कराने में असमर्थ हैं तथापि राग के संसर्ग से वह रत्नत्रय असमग्रता को प्राप्त हो जाने के कारण कर्मबन्ध का कार्य करने में समर्थ हो जाता है। पर वह पुण्यबन्ध भी मोक्ष का कारण है, संसार का कारण नहीं है।

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।

मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणई ॥ भावसंग्रह ४०४ देवसेन ।।

इस प्रकार अशुद्धनिश्चय नय से सम्यक्त्वादि रत्नत्रय से बन्ध सिद्ध हो जाने पर और शुद्ध निश्चय नय से बन्ध नहीं होने से किसी को एकान्तपक्ष नहीं ग्रहण करना चाहिए। गोपी की मथानी का दृष्टान्त देते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि एकान्तपक्ष ग्रहण करने पर मोक्षप्राप्त नहीं होगा। इस प्रकार रत्नत्रय से बन्ध व मोक्ष दोनों कार्य होते हैं।

[४] **'श्री वीरसेन आचार्य भी कहते हैं कि** -

स्वर्गापवर्गमार्गत्वाद्रत्नत्रयं प्रवरः । स उद्यते निरूप्यते अनेनेति प्रवरवादः । (ध.१३/२८७)

नमन - नतमस्तक हूँ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी, महामनीषी, आगम और अध्यात्म के मर्मज्ञ महाकवि आचार्य परमपूज्य ज्ञानसागर जी महाराज के चरण कमलों में, जिन्होंने अपनी संस्कृत हिन्दी रचनाओं से माँ जिनवाणी के भण्डार को समृद्ध किया और योग्यतम शिष्य ब्र. विद्याधर को अपनी सभी विशेषताएँ निर्दोष मुनिचर्या एवं अप्रतिम ज्ञानकोष प्रदान कर '**आचार्य विद्यासागर**' बना दिया।

पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के चरण कमलों में शत-शत नमोऽस्तु निवेदन करता हूँ, जिन्होंने अपने गुरु की भांति संस्कृत और हिन्दी में अनेक ग्रन्थों का सृजन तो किया ही है, साथ ही आज के भोगप्रधान युग में २५० से भी अधिक, अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त युवक-युवतियों को मनुष्य पर्याय का सर्वोच्च संयम प्रदान किया है, फलस्वरूप आज हमें आगमनानुकूल चर्या वाले मुनि-आर्यिकाओं के दर्शन सुलभ हो रहे हैं। इन्हीं शिष्यों में से एक हैं - **मुनि श्री प्रणम्यसागर जी महाराज** जिनकी सधी लेखनी से अब तक लिखित हिन्दी और संस्कृत (गद्य और पद्य) में श्रुत निकुञ्ज की शोभा बढ़ाने वाली आठ कृतियाँ अपनी सौरभ विकीर्ण कर रही हैं । प्रस्तुत मङ्गला टीका उनमें से एक है। आशा है, स्वाध्यायी बन्धु इससे अवश्य लाभान्वित होंगे।

मैं पूज्य मुनिश्री के श्रीचरणों से सश्रद्ध नमोस्तु निवेदन करता हूँ। आपने इस कृति का सम्पादन दायित्व मुझे दे कर माँ जिनवाणी की सेवा का जो अवसर मुझे प्रदान किया है, एतदर्थ मैं आपका अतिशय आभारी हूँ।

प्रेरक पं.सिद्धार्थ जी (सतना), अनुवादक ब्र. पवन जैन और ब्र. कमल जैन (ईसरी) तथा अन्य भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से सहयोग प्रदान करने वाले सभी जिनवाणी भक्तों एवं प्रकाशक संस्था का हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

कृति के प्रस्तुतीकरण में रही भूलों के लिए अपने प्रिय पाठकों से सविनय क्षमायाचना करता हूँ।

जैंन जयति शासनम्। जैनधर्म जयवन्त रहे।

५४-५५, इन्द्र विहार न्यू पावर हाऊस रोड,

जोधपुर (राज.)

सम्पादक

डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी

०१.०६.२००९

---

३. पुण्य का विवेचन : पं. रतन चन्द मुख्तार, प्रकरण : रत्नत्रय से बन्ध।

४. वहीं, प्रकरण - एक ही परिणाम से दो कार्य।

प्रकाशकीय

तीर्थंकर भगवन्तों की अनक्षरी दिव्यवाणी को आचार्य -ऋषि-यतियों द्वारा चार अनुयोगों में निबद्ध किया है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग ये चार अनुयोग हैं। तीर्थंकर आदि १६९ महापुरुषों के चरित्र को दर्शाने वाला प्रथमानुयोग है। कर्म सिद्धान्त के फल पुण्य-पाप का दिग्दर्शन कराने वाला करणानुयोग है। श्रमण और श्रावक के आचरण का वर्णन कराने वाला चरणानुयोग है। द्रव्य के अस्तित्व को प्रकट करने वाला द्रव्यानुयोग है।

आचार्य भगवन्त श्री धरसेन महाराज जी ने करणानुयोग का आश्रय ले उपर आचार्य वीरसेन महाराज जी ने धवला टीका लिखी। इसी प्रकार गुणधर महाराज जी ने कषायपाहुड ग्रंथ लिखा। जिसके उपर आचार्य यतिवृषभ महाराज जी ने चूणी सूत्र लिखा और उसी पर आचार्य धरसेन महाराज जी ने जयधवला टीका लिखी। इस प्रकार सैद्धान्तिक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा अध्यात्मपरक द्रव्यानुयोग को ध्यान में रखते हुए समयसार- प्रवचनसार - नियमसार आदि ग्रन्थों का सृजन किया तथा अष्टपाहुड नामक ग्रन्थ में चरणानुयोग का संक्षिप्त वर्णन किया। आचार्य श्री जिनसेन आदि महाराजों ने प्रथमानुयोग का आश्रय ले महापुराण- आदिपुराण आदि ग्रन्थों की रचना की।

चरणानुयोग के अन्तर्गत मुनिचर्या का वर्णन करने वाले मूलाचार आदि ग्रन्थ आचार्य वट्टकेरस्वामी आदि आचार्यों के द्वारा रचे गये हैं।

श्रावकाचार संग्रह नामक ग्रन्थ में रत्नकरण्ड-श्रावकाचार आदि चवालीस ग्रन्थों का संग्रह कर पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के द्वारा श्रावक धर्म को परिलक्षित किया है।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र महाराज द्वारा २२६ श्लोक प्रमाण '**पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय**' नामक ग्रन्थ का सृजन किया गया। विद्वानों के मध्य '**पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय**' नामक ग्रन्थ को श्रावकाचार का ग्रन्थ है ऐसा प्रमाणित किया गया। इसीलिए श्रावकाचार संग्रह में इस ग्रन्थ का उल्लेख है । परन्तु यह ग्रन्थ चरणानुयोग के साथ द्रव्यानुयोग तथा करणानुयोग का भी प्रतिपादन करता है। यथा-

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु ।

दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ।।२१५॥

अर्थात् योग से प्रदेशबन्ध होता है तथा कषाय से स्थिति बन्ध होता है किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र न योग रूप हैं और न कषाय रूप। इस गाथा में करणानुयोग के साथ द्रव्यानुयोग का कथन है। इत्यादि अनेक स्थलों पर संयुक्त रूप से या पृथक्-पथक् रूप से करणानुयोग एवं द्रव्यानुयोग का उल्लेख किया है।

ग्रन्थ की विशेषता - पुरुषार्थसिद्ध्युपाय यानी-पुरुष-आत्मा, अर्थ - पदार्थ या द्रव्य, सिद्धि-प्राप्ति या उपलब्धि, उपाय-कारण या निमित्त अर्थात् आत्मद्रव्य की प्राप्ति का कारण ही पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय है। यानी आत्म-द्रव्य की प्राप्ति, प्रयत्न से होती है, अपने आप नहीं।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र जी महाराज जिनागम को तीनों लोकों का एक अनुपम-अद्वितीय नेत्र कहते हैं। यथा- 'लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन' । आचार्य महाराज में, आचार्य श्री कुन्दकुन्द जी महाराज की देशना स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होती है। इसीलिए श्लोक नं. ४ से१५ तक आचार्य कुन्दकुन्द के मन्तव्य को ही स्पष्ट किया है, परन्तु श्लोक नं.१६ में 'मुनीनामलौकिकीवृत्ति) कहकर अपने हृदय की संवेदना को प्रकट कर दिया है। अर्थात् श्लोक नं. ४ से श्लोक नं. १५ तक की देशना को धारण करने वाला कोई अद्वितीय मुनि ही होता है। यानी उपर्युक्त चर्या को धारण करने वाला मुनि ही है, गृहस्थ श्रावक नहीं। इसीलिए श्लोक नं.१७ में सर्वप्रथम मुनिधर्म का उपदेश देने की बात कही है। जो गृहस्थ शारीरिक दृष्टि से मुनि-धर्म को धारण करने में अशक्य है उसे श्रावक धर्म का उपदेश देना चाहिये । यथा -

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति ।

तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन ।।

अर्थात् आचार्य श्री अमृत चन्द्र जी महाराज आचार्यों को आदेशित करते हुये कह रहे हैं। कि, जो बहुत बार दिखलाई हुई सकल पाप रहित मुनिवृत्ति को कदाचित् ग्रहण न करे तो उसे इस हेतु से एकदेश पापक्रिया रहित गृहस्थ धर्म का कथन करें यानी उपदेश दें।

आचार्य श्री गृहस्थ धर्म का उल्लेख करने के पश्चात् लिखते हैं कि इस प्रकार इन अतिचारों को अच्छी तरह विचार कर और इन्हें छोड़कर निर्मल सम्यग्दर्शन, पाँच व्रतों और सात शीलों के द्वारा देशव्रती शीघ्र ही पुरुषार्थ की सिद्धि अर्थात् मोक्ष सुख को प्राप्त होता है।

आचार्य श्री ग्रन्थ के उपान्त में लिखते हैं - सम्यक्चारित्र में गर्भित होने से तप भी आगम में मोक्ष का अंग कहा है इसलिए वह तप भी अपनी शक्ति को नहीं छिपाने वाले और मन को वश में रखने वाले गृहस्थों के द्वारा सेवन करने योग्य है। यथा-

चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम् ।

अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ।।१९७।।

अर्थात् गृहस्थों को चारित्र धारण करने के पश्चात् तप को भी ग्रहण करना चाहिये । और तप मुनि-धर्म के विना हो नहीं सकता है। क्योंकि तप आचार्य परमेष्ठी के मूलगुण हैं।

अन्त में आचार्य श्री मुनि के छह आवश्यकों का उल्लेख कर मुनि-धर्म का भी उल्लेख कर रहे हैं। यथा-

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम् ।

प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्तव्यम् ।।२०१॥

ग्रन्थ का एक-एक श्लोक अन्तःकरण को जागृत करने वाला है, परन्तु दुर्भाग्य है कि, सहस्त्रवर्ष से अधिक समय व्यतीत होने पर भी इन श्लोकों की संस्कृत टीका, किसी के द्वारा नहीं लिखी गई। सम्प्रति

सन्तशिरोमणि आचार्य श्रेष्ठ गुरुवर श्री विद्यासागर जी महाराज के सुयोग्य शिष्य मुनि श्री प्रणम्यसागर जी महाराज ने इस पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ की संस्कृत मङ्गला टीका की।

वर्तमान मुनि परम्परा में **आचार्य श्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज (आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के गुरु)** ने स्वतन्त्र रूप से संस्कृत भाषा में साहित्य का सृजन किया गया। **आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज** ने भी संस्कृत भाषा में शतकों का सृजन किया है। उसी परम्परा को जीवन्त रखते हुए मुनिश्री प्रणम्यसागर जी महाराज ने इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका लिखी है। इसके अतिरिक्त मुनि श्री द्वारा लिङ्गप्राभृत, शीलप्राभृत, समाधि-तन्त्र आदि ग्रन्थों की भी संस्कृत टीका लिखी गयी हैं। मुनि श्री का यह सम्यक् पुरुषार्थ स्तुत्य है।

'**पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**' नामक इस ग्रन्थ की संस्कृत टीका का नामकरण मुनिश्री द्वारा मङ्गला- टीका रखा गया है। संस्कृत भाषा सुबोध व सरल है। सामान्य संस्कृत को जानने वाला भी इस टीका को पढ़ सकता है। या कहें कि सामान्य संस्कृतज्ञ को संस्कृत टीका पढ़ने के लिये यह कुञ्जी स्वरूप है। **ब्र.पवन जी, ब्र.कमल जी** ने इसका हिन्दी अनुवाद कर तथा **डॉ. चेतन प्रकाश पाटनी जी** द्वारा सम्पादित कर कृति को नई ऊर्जा प्रदान की है। दी है।

-प्रकाशक

विषयानुक्रमणिका

श्लोक संख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
प्रथम अधिकार		
१.	मङ्गलाचरण	४८
२.	अनेकान्त को नमस्कार	५१
३.	पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय की प्रतिज्ञा	५४
४.	व्यवहार और निश्चय दोनों नयों के ज्ञाता ही तीर्थ के प्रवर्तक	५६
५.	निश्चयनय की उपादेयता	५८
६.	केवल व्यवहारनय का ज्ञाता देशना का पात्र नहीं	६०
७.	बालक और सिंह का दृष्टान्त	६१
८.	देशना के फल को कौन प्राप्त करता है ?	६३
द्वितीय अधिकार		
९.	पुरुष शब्द का अर्थ	६५
१०.	जीव ही अपने परिणामों का कर्ता तथा भोक्ता है	६८
११.	पुरुषार्थ सिद्धि को कौन प्राप्त होता है	६९
१२.	कर्मबन्ध में जीव कृत परिणाम का निमित्त है	७०
१३.	कर्मबन्ध में पुद्गल कर्म निमित्त हैं	७४
१४.	अज्ञानियों को क्या भासता है	७७
१५.	पुरुषार्थ सिद्धि क्या है ?	७९
१६.	मुनियों की अलौकिक वृत्ति	८०
१७.	उपदेश देने का क्रम	८२
१८.	अक्रम उपदेशप्रदाता दण्ड का पात्र है	८३
१९.	अक्रम उपदेश से हानि	८४
तृतीय अधिकार		
२०.	श्रावक को भी मोक्षमार्ग आचरणीय है	८६
२१.	सम्यग्दर्शन की आराधना पहले क्यों ?	९०
२२.	सम्यग्दर्शन का लक्षण	९२
२३.	निः शंकित अङ्ग का स्वरूप	९७
२४.	निः कांक्षित अङ्ग का स्वरूप	९८
२५.	निर्विचिकित्सा अङ्ग का स्वरूप	१०२
२६.	अमूढ़दृष्टि अङ्ग का स्वरूप	१०३
२७.	उपगूहन अङ्ग का स्वरूप	१०५
२८.	स्थितीकरण अङ्ग का स्वरूप	१०६

२९.	वात्सल्य अङ्ग का स्वरूप	१०८
३०.	प्रभावना अङ्ग का स्वरूप	१०९

चतुर्थ अधिकार

३१.	सम्यग्ज्ञान की उपासना	१११
३२.	सम्यग्ज्ञान की पृथक् आराधना इष्ट है।	११२
३३.	सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में कारण - कार्य व्यवस्था	११३
३४.	एक साथ होते हुए भी कारण - कार्य भाव का दृष्टान्त	११४
३५.	सम्यग्ज्ञान का लक्षण	११६
३६.	सम्यग्ज्ञान के आठ अङ्ग	११७

पंचम अधिकार

३७.	सम्यक् चारित्र ग्रहण की प्रेरणा	१२०
३८.	सम्यक् चारित्र अन्त में क्यों	१२१
३९.	सम्यक् चारित्र का स्वरूप	१२२
४०.	चारित्र के दो भेद	१२३
४१.	चारित्र के स्वामी कौन	१२४
४२.-५७.	अहिंसा का सविस्तार वर्णन	१२५-१४२
५८.	गुरु ही शरण हैं	१४३
५९.	नय चक्र की विशेषता	१४४
६०.	हिंसात्याग का उपदेश	१४५
६१.	अष्ट मूलगुण का कथन	१४६
६२-६४.	मदिरा दोष का कथन	१४७-१५९
६५-६८.	मांस दोष का वर्णन	१५०-१५४
६९-७०.	शहद दोष का कथन	१५५-१५६
७१.	महाविकृतियाँ त्याज्य हैं	१५७
७२.	पंच उदुम्बर फलों के नाम	१५८
७३.	सुखाकर भी उदुम्बर फल खाने योग्य नहीं	१५९
७४.	जिनधर्म की देशना का पात्र	१६०
७५.	कम-से-कम त्रसहिंसा को छोड़ने का उपदेश	१६१
७६.	उत्सर्ग और अपवाद निवृत्ति का लक्षण	१६२
७७.	अप्रयोजन स्थावर हिंसा निषिद्ध है	१६३
७८.	अहिंसा ही परम रसायन है	१६४
७९-८९.	अन्य मत में प्रचलित हिंसा का निरसन	१६५-१७६
९०.	अहिंसा का रहस्य गुरु जानते हैं	१७७

९१.	असत्य का लक्षण	१७८
९२-९८.	असत्य पाप के भेद	१७९-१८४
९९-१००	असत्य बोलने में अन्तरंग हेतु	१८५-१८६
१०१.	एकदेश सत्यव्रत धारण की प्रेरणा	१८७
१०२-१०६.	अचौर्याणुव्रत का कथन	१८८-१९३
१०७-११०.	ब्रह्मचर्य अणुव्रत का कथन	१९४-१९७
१११-१२३.	अपरिग्रह अणुव्रत का कथन	१९८-२१०
१२४.	सम्यग्दर्शन को चुराने वाली कषायें हैं	२११
१२५.	अप्रत्याख्यानावरण कषाय का कार्य	२१३
१२६.	अन्तरंग परिग्रहत्याग की प्रेरणा	२१४
१२७.	बाह्य परिग्रह त्याग भी आवश्यक है	२१५
१२८.	यथाशक्ति त्याग की प्रेरणा	२१६
१२९-१३४.	रात्रिभुक्तित्याग का कथन	२१७-२२१
१३५.	मोक्षमार्ग पर चलने का फल	२२२
१३६.	सप्त शील की अनिवार्यता	२२३
१३७.	दिग्व्रत का स्वरूप	२२३
१३८.	दिग्व्रत का फल	२२४
१३९.	देशव्रत का स्वरूप	२२५
१४०.	देशव्रत का फल	२२५
१४१-१४७.	अनर्थदण्ड त्याग का कथन	२२६-२३१
१४८-१५०.	सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप	२३२-२३५
१५१-१६०.	प्रोषधोपवास व्रत का स्वरूप	२३५-२४३
१६१-१६६.	भोग-उपभोग व्रत का स्वरूप	२४४-२५०
१६७-१७४.	अतिथि संविभाग व्रत का स्वरूप	२५१-२५८
१७५-१८०.	सल्लेखना का स्वरूप	२५९-२६५
१८१.	अतिचारों की संख्या	२६६
१८२.	सम्यग्दर्शन के अतिचार	२६७
१८३.	अहिंसाणुव्रत के अतिचार	२६९
१८४.	सत्याणुव्रत के अतिचार	२६९
१८५.	अचौर्याणुव्रत के अतिचार	२७०
१८६.	ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार	२७१
१८७.	अपरिग्रह अणुव्रत के अतिचार	२७२
१८८.	दिग्व्रत के अतिचार	२७४
१८९.	देशव्रत के अतिचार	२७४

१९०. अनर्थदण्डत्याग के अतिचार २७५
१९१. सामायिक के अतिचार २७६
१९२. प्रोषधोपवास के अतिचार २७७
१९३. भोगोपभोगपरिमाण व्रत के अतिचार २७८
१९४. अतिथिसंविभाग व्रत के अतिचार २७९
१९५. सल्लेखना व्रत के अतिचार २८०
१९६. अतिचार रहित व्रतशील आदि की महिमा २८२

षष्ठ अधिकार

१९७. सकल चारित्र का वर्णन २८३
१९८. बाह्य तप के भेद २८४
१९९. अन्तरंग तप के भेद २८६
२००. सकल चारित्र पालन की प्रेरणा २८७
२०१. षट् आवश्यक का कथन २८७
२०२. तीन गुप्ति का कथन २८८
२०३. पाँच समिति का कथन २८९
२०४. दश धर्म का कथन २९०
२०५. बारह अनुप्रेक्षा का कथन २९२
२०६-२०८. बाईस परीषह का कथन २९३
२०९-२१०. मुमुक्षु को उपदेश २९५

सप्तम् अधिकार

२११-२२०. बन्ध और मोक्ष के कारण का स्पष्टीकरण २९७-३०८
२२१ निश्चय व्यवहार नय की अपेक्षा कथन ३०९
२२२. मुख्य उपचार रूप मोक्षमार्ग दो प्रकार का है ३१०
२२३. आत्मा का शुद्ध स्वरूप ३११
२२४. शुद्ध आत्मा की अन्य विशेषतायें ३१२
२२५. अन्तिम शिक्षा ३१३
२२६. ग्रन्थ कर्तृत्व का निषेध ३१४

परिशिष्ट

टीकाकार की प्रशस्ति ३१६
व्याकरण सम्बन्धी कोश ३१९
मङ्गला टीका में उद्धृत श्लोक अकारादि क्रमसे ३२२
ग्रन्थ श्लोक संग्रह ३२९
जिनवाणी स्तुति ३४८

आलेख

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की मङ्गला टीका में सम्यग्ज्ञान के निरूपण का वैशिष्ट्य

डॉ० रमेशचन्द जैन, डी. लिट्.
निदेशक-जैन विद्या अध्ययन एवं अनुसंधान केन्द्र
वर्द्धमान कॉलेज, बिजनौर (उ०प्र०)

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २२६ आर्या छन्दों में ग्रथित श्रावकाचार सम्बन्धी ग्रन्थ है, जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र एवं सल्लेखना धर्म का व्याख्यान है। अन्त में सकलचारित्र का भी व्याख्यान किया गया है। सम्यग्ज्ञान के प्रकरण को ३१ से ३६ वें तक की क्रमिक आर्याओं में मात्र ६ श्लोकों में कथन किया है, जिसमें निम्नलिखित विषय समाहित हुए हैं-

❑ सम्यग्ज्ञान की आराधना किन्हें और कैसे करना चाहिए?

❑ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहभावी होने पर भी इनमें लक्षण की अपेक्षा नानात्व है।

❑ सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। अतः सम्यक्त्व के अनन्तर सम्यग्ज्ञान की आराधना इष्ट है।

❑ समकाल में उत्पन्न होने पर भी दीप और प्रकाश की तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में कारण और कार्य का विधान है।

❑ अनेकान्त स्वरूप तत्त्वों में यथार्थ बोध प्राप्त करना चाहिए। वह सम्यग्ज्ञान संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित आत्मा का स्वरूप है।

❑ अष्टाङ्ग सम्यग्ज्ञान की आराधना करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान के उपर्युक्त अभिप्राय वाले श्लोकों की मुनिश्री १०८ प्रणम्यसागर जी महाराज ने संस्कृत टीका की है, जो कि अनेक विशेषताओं से संवलित है-

आगम के आलोक में शब्दों की व्युत्पत्ति और व्याख्या-

जैसे-

सम्यग्ज्ञानं- व्यवहारणे चतुरनुयोगशास्त्रं निश्चयेन पुनरात्मज्ञानमात्रम्।

आम्नायः- जिनागमस्य परम्परा रीतिः। अथवा आम्नायः आगमः।

युक्तिः- आगम निकषः। युक्तिः प्रमाण नयात्मिकः।

योगः- संकलनं। योगः स्वानुभवप्रत्यक्षज्ञानम।

यत्नेन- पौरुषेण

निरूप्य- संविचार्य

आत्महितैः- आत्मनः हितं कल्याणं इच्छितं तैः।

बोधस्य- सम्यग्ज्ञानस्य।

दर्शन सहभाविनोऽपि- दर्शनं सम्यग्दर्शनं तस्य साहचर्येण भवनात् मति श्रुतज्ञानवत् तस्यापि।

पृथगाराधनं- पृथक्तवेन व्याख्यानं।

इष्टं-शिष्टेन स्वीकृतम् । उचितं।

ज्ञानाराधनं- सम्यग्ज्ञानस्य प्ररूपणा।

समकालं- यौगपद्यम्।

इव- उपमार्थे।

दीपः- प्रज्वलितपात्र विशेषः। यदप्रज्वलितोऽपि दीपसंज्ञयोच्यते लोक व्यवहारे तन्नात्र युक्तं परमार्थविषयत्वात्।

सत् - समीचीनं। सद् द्रव्यस्य लक्षणं उत्पादव्ययध्रौव्यत्वात्।

अध्यवसायो- नानाध्यवसायस्याभावो वा तर्कादिना वस्तुपरीक्षणम्।

कर्त्तव्यः- कर्त्तु योग्यः।

संशय- उभयकोटिस्पर्शितं ज्ञानं।

विपर्ययो- विपरीतावधारणम्।

अनध्यवसायः- अनवबोधः।

कालाचारः- दिग्दाहोल्कापातेन्द्रधनूरविचन्द्रग्रहणभूकम्पातिवृष्टिदेशापत्तिराजमरणादिवेलामावर्ज्य प्रदोषकाल गोसर्गकाल विरात्र्यादिकातो द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धितया विषयकषायवञ्चनार्थमपूर्ववैराग्य तत्त्वज्ञानादि वर्धनार्थमापृच्छनावाचनादिकरणं कालज्ञाः कालाचारमाकलयन्ति।

विनयाचारः- विनयेन विशेषरूपेण ज्ञानतपोमाहात्म्यादिसम्भवेऽपि मान एव संसृतिकारणमिति मत्वा आत्मानमति मार्दवादिभावनोपेतः सन्गुर्वादिसमीपे बद्धाञ्जलिर्भूत्वा भावशुद्धया नयनं विनयः। तेन विनयेन ज्ञानं आराधनीयं इति विनयाचारः।

उपधानाचारः- सोपधानं उपधानेन सहितम। उप सामीप्येन आत्मनि सूत्रग्रन्थादि धारणमुपधानम- विस्मरणमित्यर्थ। अथवा रसादिपरित्यजनमप्युपधानम। इति उपधानाचारः।

बहुमानाचारः- बहुमानेन समन्वितं दुरासदमिह ज्ञानाराधन-मित्यवधार्यागमगुरुजनादृति सहित वर्तनं बहुमानाचारः।

अनिह्नवाचारः- अनिन्वहं मात्सर्यादिप्रामुख्येन परेषां ग्रन्थादि लोपनञ्च सम्पृष्टेऽपि न जानेऽहं स्वशिक्षागुरोर्नाम गोपनमयशोभयाच्च ग्रन्थकर्तृणामप्रकटनं वा दुराशयादित्यादिना स्वज्ञान हननं निह्नवं/न निह्नवं अनिह्नवमिति पञ्चमाचारः।

ग्रन्थाचारः- ग्रन्थं व्यञ्जनं शब्दो वातस्य पूर्णं पूर्णता दोषविरहितं ग्रन्थाचारः।

अर्थाचारः- अर्थो भावस्तस्य पूर्णमविकलबोधनमर्थाचारः।

उभयाचारः- ग्रन्थार्थरूपोभयपूर्णं ज्ञानमुभयाचारो विचार्यते।

इसी प्रकार समस्त टीका शब्दार्थ, भावार्थ, व्युत्पत्त्यर्थ तथा परिभाषाओं से भरी हुई है। पारिभाषित शब्दों के लक्षण आगम के आलोक में कथित हैं। इनका एक अलग से कोशग्रन्थ बन सकता है और छात्र अपना शब्दकोश का ज्ञान बढ़ा सकता है। इस टीका को पढ़कर पुराने आचार्यों के टीकाग्रन्थों की याद आती है। मुनिश्री ने प्रायः प्रत्येक शब्द का अर्थ लिखने की चेष्टा की है, इससे श्लोक के हार्द को सरलता से समझा जा सकता है। यह टीका पूर्वाचार्यों के टीकाग्रन्थों की अपेक्षा किञ्चित् भी न्यून नहीं है।

समास-विग्रहादि का प्रयोग-

पूज्य मुनि श्री प्रणम्यसागर जी महाराज ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आगत समस्त पदों का विग्रह भी दिया है। इससे शब्दों के अर्थ को समझने में सरलता होती है। उदाहरणार्थ-

पृथक्त्वेन आराधनं पृथगाराधनं।

कारणं च कार्यं च तयोर्विधानं कारणकार्य विधानं।

सम्यक्त्वं च ज्ञानं च तयोरिति।

दीपश्च प्रकाशश्च तयोः दीपप्रकाशयोः।

उपधानेन सहितं सोपधानं।

सत् समीचीनं च तदनेकान्तात्मकं तेषु सदनेकान्तात्मकेषु।

पूर्वाचार्यों की रचनाओं का स्मरण–

पूज्य मुनि श्री प्रणम्यसागर जी महाराज ने अपने कथनों की पुष्टि हेतु पूर्वाचार्यों का स्मरण कहीं उनके ग्रन्थों का नाम लेकर, कहीं आचार्य का नाम लेकर तथा कहीं उक्तञ्च कहकर किया है। सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, आचार्यश्री विद्यानन्द स्वामी तथा धवला के उद्धरण दिए हैं। जैसे–

''बन्ध्श्चास्रवकार्यत्वात्तदनन्तरमीरितः'', इति श्लोकवार्तिकाद् बन्धनस्य कार्यत्वं चास्रवस्य कारणत्त्वं सिद्ध्यति।

श्लोकवार्तिक में कहा है कि बन्ध आस्रव का कार्य होने से अनन्तर समय में कहा गया हैग इससे बन्ध कार्य है और आस्रव कारण है, यह बात सिद्ध होती है।

कार्य–कारण भाव की सम समय की वृत्ति क्वचित् स्वीकार करने के प्रसंग में तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तथा धवला को उद्धृत किया गया है–

उक्तं च श्लोकवार्तिके– ''ततो दर्शनकार्यत्वाद् दर्शनस्य ज्ञापकाः प्रशमादयः सहचरकार्यत्वात्तु ज्ञानस्येत्यनत्येत्यनवद्यम।''

श्लोकवार्त्तिक में भी कहा है– ''इसलिए सम्यग्दर्शन के ज्ञापक प्रशमादि गुण सहचारी कार्य होने से ज्ञान भी ज्ञापक है, यह कारण निर्दोष है।''

''समकालेणुपज्जमाणच्छायांकुराणं कज्जकारणभावदंसणादो'' इति श्री धवला।

धवला में भी कहा है– एक समय में उत्पन्न होने वाले छाया और अंकुर में कार्य कारण भाव देखा जाता है।

संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय के लक्षण देने हेतु मुनिश्री ने मङ्गलाटीका में पूज्य आचार्य विद्यानन्द स्वामी को उद्धृत किया है–

''तत्त्वार्थ कस्यचिदव्युत्पत्तिर्मोहोध्यवसायापाय इति यावत्। चलिताप्रतिपत्तिरेका, किमयं जीवादिः। किमित्थमिति वा धर्मिणि धर्मे वा क्वचिदवस्थानाभावात्। अतस्मिंस्तदध्यवसायोविपर्यासः। इति विद्यानन्द स्वामी।

अर्थात् तत्त्वार्थ में किसी विषय की व्युत्पत्ति नहीं होना मोह है और वहीं अध्यवसाय का अभाव है, जो अनध्यवसाय कहलाता है। जीवादि पदार्थों के विषय में ये क्या हैं? कैसे हैं? अथवा धर्म और धर्मी के विषय में स्थिरता का अभाव या ज्ञान का स्थिर नहीं होना संशय कहलाता है। जो वस्तु जैसी नहीं है, उसको वैसा मानना विपर्यय कहलाता है, ऐसा विद्यानन्द स्वामी का वचन है।

एक स्थान पर उक्तञ्च कहकर ग्रंथ या ग्रन्थकार का नाम लिए बिना ही मूलाचार की एक गाथा उद्धृत की है–

विणयेण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि।।

अर्थात् विनयपूर्वक पढ़े गए श्रुत को यदि प्रमाद से भूल भी जाता है तो परभव में वह श्रुत पुनः उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञान को प्राप्त कराता है।

हिन्दी टीकाकार ने मूलाचार को आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की रचना माना है, जो कि सर्वथा निर्विवाद नहीं है। जब तक कोई पुष्ट प्रमाण न हो, तब तक मूलाचार के कर्त्ता आचार्य वट्टकेर ही माने जाने चाहिए।

अनेकान्त से सिद्धि- मङ्गला टीका में अनेक स्थान पर अनेकान्त शैली से सिद्धि की गई है। उदाहरणार्थ कार्य सम्बन्ध सर्वथा पूर्वोत्तरचारी होता है ऐसा नहीं जानना चाहिए; क्योंकि इस विषय में अनेकान्त है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने पर सम्यग्ज्ञान के साथ प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य आदि गुण भी प्रकट होते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है। वे प्रशमादि गुण सम्यग्दर्शन के ज्ञापक हेतु हैं और सम्यग्ज्ञान के भी। इस प्रकार सम्यग्दर्शन और ज्ञान में सहचारी कार्य होने से यहाँ कारण-कार्य होने से यहाँ कारण-कार्यवृत्ति सहचारी है।[१]

अनेकान्त के विषय में मुनिश्री का कथन है कि सत् का अर्थ समीचीन है और वह सत् अनेकान्तात्मक है; क्योंकि वस्तु की उपलब्धि अनेकान्त स्वरूप ही होती है। अथवा समीचीन और अनेकान्तात्मक तत्त्वों में विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध से यहाँ पर सत् विशेषण और अनेकान्तात्मक विशेष्य है। अथवा सत्, असत् आदि सभी वस्तुयें अनेकान्त स्वरूप हैं, उनमें अथवा सत् द्रव्य का लक्षण है और वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य से युक्त होने से अनेकान्तस्वरूप है। उसमें अध्यवसाय करना चाहिए।[२]

सम्यग्दर्शन के होने पर स्वयं ही सम्यग्ज्ञान हो जाता है तो फिर उसका अलग कथन क्यों किया, इसका समाधान करने के लिए भिन्नता और अभिन्नता में अनेकान्त घटाया है। मति-श्रुतज्ञान की तरह सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन के साथ होने पर भी ज्ञानियों ने सम्यग्ज्ञान की आराधना अलग से स्वीकार की है; क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भिन्नता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का लक्षण अलग-अलग है, इसलिए इन दोनों की आराधना अलग-अलग की जानी चाहिए, यह कथन का तात्पर्य है। श्रद्धान और ज्ञान के ये दोनों भिन्न गुण प्रत्येक आत्मा में होते हैं। लक्षण का ग्रहण उपलक्षण के लिए है; जैसे- चित्रपट (दूरदर्शन) से बालक को हटाया जाय, यहाँ कुसंस्कार के उपलक्षण मात्र के लिए चित्रपट का ग्रहण है। इसलिए इन दोनों का लक्षण संख्या, आवरणीय कर्म, क्षयोपशम की विधि का विधान और अंग, कार्य आदि की विवक्षा में भी भिन्नता है और गुणस्थान, मोक्ष के कारण आदि की विवक्षा में अभिन्नता है। अनेकान्त की अपेक्षा; यह कथन उचित ही है।

जैसे सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण तत्त्वार्थो का याथात्म्य ज्ञान है। सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं- निसर्गज सम्यग्दर्शन और अधिगमज सम्यग्दर्शन। मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय और केवलज्ञान के भेद से सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का है। सम्यग्दर्शन का विनाश करने वाला दर्शनमोहनीय कर्म है और सम्यग्ज्ञान का घात करने वाला दर्शनमोहनीय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय कर्म है। सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम की विधि से उत्पन्न होता है और सम्यग्ज्ञान दर्शनमोहनीय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। सम्यग्दर्शन का कार्य तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना है और सम्यग्ज्ञान का कार्य सम्यग्दर्शन और सम्यकचारित्र को स्थिर रखना है, इत्यादि भेद की अपेक्षा भिन्नता है। आत्मा के ये दोनों गुण सहभावी होने से समान गुणस्थान वाले हैं। दोनों मोक्ष के कारण हैं, अतः अभिन्नता है।[३]

संदर्भ-

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय : मङ्गलाटीका, ३४

२. वही, ३५

३. वही, ३२

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की मङ्गला टीका का भाषात्मक वैशिष्ट्य

डॉ० जयकुमार जैन
अध्यक्ष-सस्कृत विभाग,
एस.डी. (पी.जी.) कॉलेज, मुजफ्फरनगर, (उ.प्र.)

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आचार्य श्री अमृतचन्द्र जी की कृति है, जो विषय प्रतिपादन की दृष्टि से सात अधिकारों में विभक्त है तथा इन अधिकारों में कुल २२६ पद्य हैं। आत्मा के प्रयोजन अथवा धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थों की सिद्धि का उपाय वर्णित होने से ग्रन्थ की पुरुषार्थसिद्ध्युपाय संज्ञा अन्वर्थ है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ पर अब तक किसी संस्कृत टीका का न होना अत्यन्त विस्मयजनक है। इस विषम स्थित को जानकर परमपूज्य मुनि प्रणम्यसागर जी महाराज ने इस ग्रंथ पर 'मङ्गला' नामक संस्कृत टीका की रचना की है।

टीका शब्द भ्वादिगणी आत्मनेपदी टीक् धातु से क प्रत्यय तथा स्त्रीत्व विवक्षा में टाप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ व्याख्या है। कषायपाहुड में वृत्तिसूत्र के विशद व्याख्यान को टीका कहा गया है- 'वित्तिसुत्तविवरणाए टीकाववएसादो।[१] टीकाकार ने अपनी टीका का नाम 'मङ्गला' रखा है, जो स्वपर को मङ्गलकारी होने से यथा नाम तथा गुणवती है। जैन परम्परा में अर्हत् भगवान सिद्ध और साधु परमेष्ठियों को मङ्गल स्वरूप स्वीकार किया गया है। पूज्यश्री ने अपने मङ्गलाचरण के रूप में लिखित प्रारंभिक चार श्लोकों में सर्वप्रथम अर्हन्त, सिद्ध एवं साधुसंघ के चरणों में भक्तिपूर्वक प्रणाम निवेदन किया है। तदनन्तर अपने दीक्षा गुरु परमपूज्य आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज एवं ग्रंथकार आचार्य अमृतचन्द्र जी के प्रति विनय प्रकट करते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की मङ्गला नामक टीका करने की प्रतिज्ञा की है। इस कारण भी टीका का नामकरण 'मङ्गला' सर्वथा समीचीन है। टीकाकार ने प्रतिज्ञाश्लोक के उत्तरार्द्ध से यह भी सूचित कर दिया है कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की संस्कृत भाषा में लिखित यह आद्य टीका है- 'श्रुतभक्तिभरेणाद्या टीका मङ्गलाख्या ख्याता।[२] प्राकृत आलेख में मङ्गला टीका के भाषात्मक वैशिष्ट्य पर विचार अपेक्षित है।

भाषा का महत्त्व-

मानव जीवन में भाषा का महत्त्व सर्वविदित है। भाषा भावों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। आचार्य दण्डी का कथन है-

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न विद्यते।।[३]

अर्थात् यदि शब्दात्मक भाषा रूपी ज्योति उपलब्ध नहीं होती तो तीनों लोक पूरी तरह अज्ञानान्धकार में डूबे रहते।

सुप्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि ने शब्द को ब्रह्म मानते हुए कहा है-

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यथा।।[४]

अर्थात् अविनाशी शब्दतत्त्व अनादिनिधन ब्रह्म है। क्योंकि संसार की प्रक्रिया अर्थभाव से प्रवृत्ति करती है। यद्यपि जैन परम्परा में इस प्रकार की धारणा नहीं रही है और न ही सिद्धान्ततः संभव है क्योंकि जैन दर्शन शब्द की नित्यता का निरसन करते है; तथापि सर्वप्रथम आचार्य अमृतचन्द्र जी ने समयसार की टीका में शब्द को ब्रह्म कहा है। वे लिखते हैं-

सकलोद्भासि स्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्ममोपासनजन्मा.....यः कश्चनापि ममात्मनः स्वोविभवः, तेन समस्तेनापि अयं तमेकत्वविभक्तमात्मानंदर्शयेऽहमिति बद्धव्यवसायोऽस्मि।[५]

कदाचित् अन्य अनेक स्थलों पर वेदान्त के अप्रतिम प्रभाव की तरह ही अमृतचन्द्राचार्य पर इस प्रसंग में भी वेदान्त का प्रभाव प्रतीत होता है। श्री अमृतचन्द्राचार्य के पूर्व किसी भी आचार्य ने शब्द को ब्रह्म कहा हो; ऐसा मुझे दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। हाँ, बाद में नियमसार के टीकाकार ने अवश्य शास्त्र स्वाध्याय का फल बताते हुए कहा है कि इससे अध्येता शब्दब्रह्मसम्बन्धी शाश्वत सुख प्राप्त करेंगे- 'शब्द ब्रह्मफलस्य शाश्वतसुखस्य भोक्तारो भवन्ति।'

सुस्पष्ट अर्थाभिव्यक्ति-

मुनिवर श्री प्रणम्यसागर जी महाराज द्वारा लिखित मङ्गला टीका में अर्थाभिव्यक्ति की स्पष्टता पदे-पदे दृष्टिगोचर होती है। एक व्यक्ति हिंसा को करके भी हिंसा के फल का भोक्ता नहीं होता है और एक व्यक्ति हिंसा को न करके भी हिंसा के फल का भोक्ता होता है। इसके प्रतिपादन के लिए अमृतचन्द्राचार्य ने एक आर्या लिखी है-

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसा हिंसाफलभाजनं न स्वात।।[६]

इस आर्या की मङ्गला टीका दृष्टव्य है, जिसमें अभिव्यक्ति की सुस्पष्टता तो है ही, उसे एक उदाहरण द्वारा और अधिक स्पष्ट कर दिया है। यथा-

एकः कश्चित् पुमान्। हि निश्चयेन। हिंसा हिंसनक्रियाम् अविधायापि न कृत्वापि। हिंसाफलभाजनं हिंसायाः फलं नरकतिर्यगादिगतिगमनं तस्य भाजनं पात्रं भवति। अपरोऽन्यजनः। हिंसा कृत्वापि जीवघातविधायिनीं क्रियां सम्पाद्यपि। हिंसाफलभाजनम् उपरिकथितम्। न स्यान्नासति। तत्कथमित्याह-कश्चिद्धीवरो मत्स्यादिग्रहणाशयः सरः उपवसन्नग्रहीतजीवोऽपि जालं प्रसार्य मुहुर्मुहुः प्रयतते पश्चाच्च स्वगृहेऽनाकुलतया संतिष्ठन्नापि हिंसाफलभाक् स्यादनवरतहिंसाशयपरिणामात्। अन्यस्तु कश्चित् कृषको लाङ्गलपरिचालनादिकार्ये जीवहिंसां संविधियापि हिंसाफलभाक् न स्याद् हिंसापरिणामाभावात्। तथा चोक्तम्-

अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्।
परिणामविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ।।[७]

अन्यत्र भी इसी प्रकार उदाहरण देकर टीका में कथ्य के भाव को स्पष्ट किया गया है।

खण्डान्वय शैली का आश्रय-

मुनिवर ने श्री अमृतचन्द्राचार्य के समान दण्डान्वय शैली को न अपनाकर खण्डान्वय शैली का आश्रय लिया है। दण्डान्वय शैली में जहाँ पद्य की सीधी व्याख्या करना प्रारंभ कर दी जाती है, वहाँ खण्डान्वय शैली में पद्य के प्रत्येक पद का अर्थ बताकर अन्त में पद्य का हार्द स्पष्ट किया जाता है। दण्डान्वय शैली में मूल से कुछ छूटने की तथा जो मूल में नहीं है, उसके कहने की संभावना बनी रहती है, किन्तु खण्डान्वय शैली की टीका में जो मूल में है न तो वह छूट सकता है और न ही वह कहा जा सकता है, जो मूल से असम्बद्ध है।

मङ्गला टीका में शब्दशः अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया है।

सरलता एवं प्रसादगुण समन्वितता-

मङ्गला टीका अत्यन्त सरल सुबोध एवं प्रसादगुण से समन्वित है। चित्त में सहसा व्याप्त हो जाने वाला

गुण प्रसाद गुण कहलाता है। इसमें सुनने मात्र से अर्थ का ज्ञान हो जाता है। समासहीन या अल्पसमासवाली रचना प्रसाद गुण की व्यंजक होती है। मङ्गला टीका में प्रसाद गुण सर्वत्र विद्यमान है। इस संदर्भ में उपवास के अगले दिन की क्रिया का वर्णन करने वाले एक पद्य की टीका दृष्टव्य है-

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निवर्तयेद् यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकैर्द्रव्यैः।।

मङ्गलाटीका-ततः एवं विधिना। प्रातः प्रोत्थाय सवितुरुदये शय्यामुत्सृज्य तात्कालिकं तत्र काले भवम्। क्रियाकल्पं सामायिकादिकं कृत्वा विधिना विधाय। किं कुर्यात् निवर्तयेत्। 'वृतूङ् वर्तने' णिजन्तात् विधिलिङ् सम्पादयेदिति। काम् जिनपूजां जिनेन्द्रार्चनाम्। कया रीत्या? यथोक्तमार्षे यथा कथितं तया कैरिति चेत् द्रव्यैरष्टप्रकारैः। किंविशिष्टः? प्रासुकैः प्रगता असवः प्राण। यस्मात् ते प्रासवः तैः प्रासुकैः स्वार्थे क प्रत्ययः।

प्रश्नोत्तर शैली में सरल एवं सुबोध भाषा में लिखित इस टीका में प्रसादगुण की स्थिति दृष्टव्य है। यह चित्त में वैसे ही व्याप्त हो रहा है, जैसे सूखे ईंधन में अग्नि या निर्मल जल में अन्य द्रव्य की शीघ्र व्यापकता देखी जाती है।

क्वचित् न्याय शैली-

जब टीकाकार अपनी बात को तार्किक ढंग से प्रस्तुत करना चाहते हैं तो वे न्याय की उस शैली का आश्रय लेते हैं, जिसमें कारण को पञ्चमी विभक्त्यन्त प्रस्तुत किया जाता है। इस संदर्भ में कतिपय स्थल दृष्टव्य हैं-

ततो हि चिल्लक्षणवान् जीवोऽव्याप्त्यतिव्याप्त्यसंभवदोषापेतत्त्वात।[१०]

(जीव के अनेक गुण होने पर भी) जीव चैतन्य लक्षण वाला है। क्योंकि इस लक्षण में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव दोष का अभाव है।

सकलचारित्रं व्यवहारसम्यग्दर्शने सति भवेन्न वा व्याप्तेरभावात।[११]

सकलचारित्र व्यवहार सम्यग्दर्शन के होने पर भी हो सकता है, नहीं भी हो सकता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र की व्याप्ति का अभाव है।

व्याकरणसम्मतता-

व्याकरण भाषा को विशृंखलित होने से बचाता तो है ही, साथ ही प्रयोगों में शिष्टानुरूपता भी लाता है। मुनिश्री ने मङ्गला टीका में व्याकरण के अनुरूप शब्दों के प्रयोग में पूर्ण सावधानी बरतने का प्रयास किया है। उन्होंने पाणिनीय व्याकरण के साथ-साथ पातञ्जल महाभाष्य, जैनेन्द्र प्रक्रिया, कातन्त्र रूपमाला आदि व्याकरण के सूत्रों के निर्देशपूर्वक प्रयुक्त शब्दों की सिद्धि स्पष्ट की है। वे स्थान-स्थान पर धात्वर्थ का निर्देश भी करते हैं। विशेष रूप से तब, जब किसी धातु का बहु प्रचलन नहीं होता है। यथा-दिशाति दत्रे। दिशौञ् अतिसर्जने लट्।[१२]

शब्दों की व्युत्पत्तियाँ उनके व्याकरण ज्ञान को प्रकट करने में समर्थ तो हैं ही, वे यह भी स्पष्ट करने में समर्थ हैं कि कैसे सिद्धान्त के रक्षण में उनका उपयोग किया जा सकता हैं इस संदर्भ में अज्ञानी और निश्चय शब्दों की व्युत्पत्तियाँ देखी जा सकती हैं।

अज्ञानी- 'अत्राज्ञानी' मिथ्यादृष्टिरिति विज्ञेयः। अशब्दः ईषदर्थः तेन ईषज्ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरिति। सम्यग्दृष्टेः मिथ्यादृष्टेश्च बोधनार्थं व्यवहारनयो हि समर्थः।[१३]

निश्चयः- निर्गतश्चयों वृद्धिः यत्र स निश्चयोऽवगन्तव्योऽखण्डैकाभेद-विषयात्वात्।[१४]

इसी प्रकार अन्य शब्दों की व्युत्पत्तियाँ भी देखी जा सकती हैं-[१५]

पदार्थाः- पदेन द्वादशांगवर्णितमध्यमपदेन ये अर्थाः अर्यन्ते परिच्छिद्यन्ते ते पदार्थाः कथ्यन्ते।

पुद्गलः- पूर्यन्ते गल्यन्ते चेति पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः।

शिष्यः- शिष्योऽनुशासितुं योग्यः, अनुशिष्टौ शास् घातोः क्यप्।

अन्यत्र

शिष्यः शासितुं योग्यः, ''शास् अनुशिष्टौ' तेन वृञ्वृजुषीणशासुस्वुगुहां क्यप्। इत्यनेन शिष्यः।

वात्सल्यमः- वत्सं लाति आह्वयतीति वत्सलं प्रेम स्नेही वा तस्य भावो वात्सल्यं ष्यञ्प्रत्ययात्।

आत्माः- अतति व्याप्नोति सकलगुणपर्यायेषु स (आत्मा) स्वतत्त्वमित्यर्थः।

बालिशः- बाडिं श्यति इति बाडिशः डलयोरभेदात् वालिशः।

इत्वरिकाः- परान् पुरुषान् एति गच्छति इत्येवं शीला इत्वरी मता।..... कुत्सायां के कृते इत्वरिका।

सामायिकम्:- समाः समता प्रयोजनं यस्येति वा सामायिकम्। 'प्रयोजनम्' इति सूत्रात् प्रयोजनार्थे ठञ् प्रत्ययात्।

शब्दों की ये व्युत्पत्तियाँ दिग्दर्शन मात्र हैं। सम्पूर्ण टीका में इसी प्रकार की व्युत्पत्तियाँ सर्वत्र विद्यमान हैं।

कृत अर्थ का विविध कोषग्रन्थों से समर्थन-

मङ्गलाटीका की विशेषता है कि टीकाकार ने मल्लिनाथ का अनुकरण करते हुए अपने द्वारा किये गये अर्थ का अनेकार्थ नाममाला, अमरकोष, धनञ्जय नाममाला, विश्वलोचनकोश आदि के उद्धरण देकर समर्थन किया है। यथा-

'माला पुष्पदामिनी इति विश्वलोचनः।'- १

'हेतुर्वा कारणं बीजमित्यमरः।'-२, ७

'करेणुः सिन्धुरस्तेषु इति धनञ्जयः'-२

'बालस्तु स्यामन्माणवको इत्यमरः।'-७

'हि हेतावववधारणे इत्यमरः।'-१३

'शिवः श्रेयः शिवं सुखम् इति धनञ्जयः।'-२९

नैत्रं विलोचने वृक्षमूले वस्त्रे गुणे मथि इति विश्वलोचनः।-२२५

पाटकस्तु महाकिष्कौ इति धरसेनः।-१३९ (पाटको हस्तप्रमाणम्) आदि उदाहरणों को देखा जा सकता है।

दार्शनिक विषयों का स्पष्टीकरण-

मङ्गला टीका में जैनदर्शन एवं जैनेतर दर्शनों के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का संक्षिप्त एवं सरल प्रतिपादन किया गया है। इससे दर्शन के गूढ़ विषय भी हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगते हैं। टीकाकार ने प्रमेयों को समझाने में नयों का अवलम्बन लेकर प्रश्नोत्तर पद्धति को अपनाया है। अन्य मान्यताओं के निरसन में वे समन्वय के प्रति भी सावधान रहते हैं।

द्रव्य में रहने वाली उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक शक्ति का विवेचन करते हुए जब वे कहते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश कोई ऐसा नहीं है जो लोक की रचना, रक्षा और विनाश करते हों, तो साथ ही उत्पाद शक्ति को ब्रह्मा, व्यय शक्ति को महेश तथा ध्रौव्य शक्ति को विष्णु कहने में भी नहीं चूकते हैं। यथा- न कोऽपि ब्रह्मा वा

विष्णुर्वा महेशो वात्र सत्तिष्ठते येनोत्पादयः सम्पद्यन्ते। उत्पादशक्तिर्हि ब्रह्मशक्तिः, व्ययशक्तिपरिच्छेदकः किल महेशः ध्रौव्यशक्तिमावो नाम विष्णुः।[१६]

एकेनाकर्षन्ती.... आदि आर्या को समझाने में उन्होंने जिस प्रश्नोत्तर शैली में अनेकान्त को समझाया है, वह न केवल प्रशंसार्ह है अपितु अनुकरणीय भी है।

यथा-

''जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। कासौ? जैनी नीतिः कर्मारिजेतारो जिनास्तेषा सम्बन्धिनी नीतिर्न्यायमार्गः स्याद्वादः इत्यर्थ। किंविशिष्टा सती ? आकर्षन्ती आकर्षणं कुर्वन्ती। केन? एकेन केनापि विशिष्टेन धर्मेण। तथा च कथंभूता सती? श्लथयती श्लथं कुर्वन्ती। केन? इतरेणान्येन। अन्तेन धर्मेण। कं? कर्मतापन्नम्। वस्तुतत्त्वं वस्तु पदार्थस्तस्य तत्त्वं स्वभावो नित्यानित्यैकादिविपरीतलक्षणम्। अत्र दृष्टान्तमाह-गोपी वल्लवयोषित्। इव औपम्यार्थे मन्थाननेत्रं मन्थानो मन्थदण्डकस्तस्य नेत्रं रज्जु।..... यथा मन्थानस्य गुणः परस्परसोपेक्षोमिथः साह्यय्यं कुर्वन् नवनीतमाविष्कुरुते तथा हि वस्तुनो धर्मा विरुद्धप्रतिभासिनोऽपि परस्परापेक्षकत्वेन वस्तु निरूपयन्त्यन्यथाशून्यत्वप्रसङ्गात्''

पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों का ससम्मान उल्लेख-

मुनिवर श्री प्रणम्यसागर जी महाराज ने अपने द्वारा प्रयुक्त भावानुकूल भाषा की समीचीनता तथा कथ्य के समर्थन में साठ से अधिक पूर्व जैनाचार्यों वैयाकरणों/कोशकारों तथा लगभग आठ-दस जैनेतर विद्वानों के नामों या उनके ग्रंथों का सम्मानपूर्वक उल्लेख किया है। इसमें समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, इष्टोपदेश, आत्मानुशासन, तत्त्वार्थसूत्र, सवार्थसिद्धि, द्रव्यसंग्रह, गोम्मटसार, परीक्षामुखसूत्र, प्रमेयरत्नमाला, आलापपद्धति न्यायदीपिका, आप्तमीमांसा, पद्मपुराण, भगवती आराधना, रतनकरण्डश्रावकाचार, सावयधम्मदोहा, मूलाचार, यशस्तिलकचम्पू, एकीभाव स्तोत्र, स्वयंभूस्तोत्र, जयोदय महाकाव्य आदि जैन ग्रंथ तथा मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, महाभारत, योगसूत्र आदि प्रमुख हैं।

भाषा में सहज आकर्षण-

मङ्गलटीका में कहीं-कहीं अलंकारिकता की छटा के कारण भाषा में सहज रूप में आकर्षण दृष्टिगोचर होता है। नैमित्तिक भाव के द्वारा पुद्गल कर्मों का बन्ध कैसे अविरुद्ध है; इस सम्बन्ध में अनेक उपमाओं की शोभा पाठक के हृदय में सहज ही आकर्षण उत्पन्न करने में समर्थ है। यथा-

सवितुरुदये कमलविलसितमिव, जीमूताटोपे शिखिनर्तनमिव, कुमुदबन्धोरुदये कुमुदिनीमोद इव, मधौ कोकिलालापव्, मेघाडम्बरार्कादियोग्यकाले शक्र चापवत्, अर्हद्बिम्बदर्शिते भव्यलोकहर्षवत्, चमूजिते राजनि हर्षवत् निमित्तनैमित्तकभावेनात्मनि पुद्गलकर्मबन्धोऽविरुद्धः।[१८]

सन्दर्भ-

१. कषायपाहुड, २. १, २२

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपायः मङ्गलाटीका, मङ्गलाचरण श्लोक-४

३. काव्यदर्श, १.४

४. वाक्यपदीय, १.१

५. समयसार, आत्मख्याति, १.५

६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ५१

७. पुरुषार्थसिद्ध्युपायः मङ्गलाटीका, पृ. ११५

८. काव्यानुशासन, ४.७-८

९. पुरुषार्थसिद्ध्युपायः मङ्गलाटीका, ५५

१०. वही, ९

११. वही, २०

१२. वही, ५३

१३. वही, ६

१४. वही, ६

१५. द्रष्टव्य वही, श्लोक संख्या-१, १३, ११ एव १४२, २९, ३०, ७८, १८६, १४८

१६. पुरुषार्थसिद्ध्युपायः मङ्गलाटीका, पद्य-९

१७. वही, २२५

१८. वही, २

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (मङ्गला टीका) में प्रतिपादित रत्नत्रय और वैशिष्ट्य

स्व० पं० रतन लाल बैनाड़ा
अधिष्ठाता-श्री दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान
सांगानेर-जयपुर (राज.)

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ चरणायोग का प्रसिद्ध ग्रन्थ कहा जाता है। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें चरणानुयोग के साथ-साथ द्रव्यानुयोग के विषयों का भी विभिन्न स्थलों पर उल्लेख किया गया है। रत्नत्रय और बंध-मुक्ति भी द्रव्यानुयोग से संबंधित विषय है। पूज्य मुनि श्री प्रणम्यसागर जी द्वारा लिखित मंगला टीका में इस विषय का बड़ा मार्मिक विवेचन किया गया है कि रत्नत्रय बंध में कारण है या मोक्ष में? तथा किस प्रकार? बंध के सम्बन्ध में तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ८/०१ का निम्नलिखित सूत्र सर्व विदित है-

मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।

अर्थात् मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रसाद, कषाय और योग ये बंध के हेतु हैं अर्थात् इनके कारण बन्ध होता है। इस सूत्र में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र अथवा रत्नत्रय को नहीं लिया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि रत्नत्रय बन्ध कारण नहीं है। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या रत्नत्रय धारी जीव के कर्मबन्ध नहीं होता? रत्नत्रय धारी जीव से तात्पर्य षष्टम गुणस्थान और उससे ऊपर के गुणस्थानों में स्थित मुनिराजों से है। इस संबंध में यदि हम कर्मकाण्ड आदि कर्मबन्ध विषयक ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि संयतासंयत के ६७ प्रकृतियों का प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का सप्तम गुणस्थान में ५८ प्रकृतियों का बंध होता है। तब यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि इन प्रकृतियों का बंध किस कारण से होता है? इनके बंध में रत्नत्रय कारण है या नहीं? इस सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक उपयोगी है-

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबंधो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः।। (पु. सि.२११)

अर्थात् एकदेश रत्नत्रय का पालन करने वाले जीव के जो कर्मबन्ध होता है वह रत्नत्रय के विपक्ष-भूत राग-द्वेष से होता है क्योंकि वह रत्नत्रय मोक्ष का उपाय है, कर्मबन्ध का उपाय नहीं है।

इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि रत्नत्रय धारी जीव के जो कर्मबन्ध हो रहा है वह उस अवस्था में होने वाली कषायों के कारण है। मंगलाटीका के अनुसार ''प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ जनित राग-द्वेषादिना विपक्षेण कृता कर्मबन्ध अस्ति'' अर्थात् वह कर्मबन्ध उन व्रती के प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभरूप विपक्ष के कारण है। इसी टीका में आगे कहा है-

''निरतिचारव्रतपालनेन बद्धपुण्येनासंख्येयगुण-निर्जरा पूर्वेण मोक्षमार्गोपयोगसाधनानि समुपलब्धानि भवन्ति।''

अर्थात् व्रत का निरतिचार पालन करने से असंख्यातगुणी निर्जरा पूर्वक पुण्य कर्म का बन्ध होता है जिससे मोक्षमार्ग के साधन उपलब्ध होते हैं। हम इसको संक्षेप में इस प्रकार भी कह सकते हैं कि व्रती के कर्मबन्ध होता है परन्तु व्रतों से कर्मबंध नहीं होता। समयसार में भी इस संबंध में इस प्रकार कहा है-

दंसणणाणचरित्तं, जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि, पुग्गलकम्मेण विविहेण।।१७१।।

अर्थात् सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, ये तीन जब तक जघन्य अवस्था में रहते हैं अर्थात् यथाख्यात अवस्था को प्राप्त नहीं होते, तब तक ज्ञानी जीव भी नाना प्रकार के पौद्गलिक कर्मों से बँधता रहता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि उपरोक्त कर्मबन्ध होने का निमित्त क्या है? इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है–

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।२१२।।
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।२१३।।
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति।।२१४।।

अर्थात् आत्मा में जिस अंश से सम्यग्दर्शन है उस अंश से कर्मबन्ध नहीं है किन्तु जिस अंश में राग है उस अंश से कर्मबन्ध होता है। २१२।। आत्मा में जिस अंश से ज्ञान है उस अंश से कर्मबन्धन नहीं है किन्तु जिस अंश में राग है उस अंश से कर्मबन्ध होता है।।२१३।। आत्मा में जिस अंश से चारित्र है उस अंश से बन्ध नहीं है किन्तु जिस अंश में राग है उस अंश से कर्मबन्ध होता है।।२१४।।

उपर्युक्त तीनों श्लोकों की मंगला टीका बहुत उपयोगी लिखी गई है। टीका में स्पष्ट किया गया है कि व्रती के प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाती स्पद्र्धकों का तथा संज्वलन कषाय के देशघाती स्पर्द्धकों का उदय रहता है। इस कषायचतुष्क का सद्भाव होने से देशव्रती पंचमगुणस्थानवर्ती के ६७ प्रकृतियों का बन्ध होता है, और अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी रागादि कषायों का अभाव होने से ५३ प्रकृतियों के बंध का अभाव अर्थात् संवर होता है। इससे स्पष्ट होता है कि देशव्रतों के कारण बन्ध नहीं है, ५३ प्रकृतियों का संवर होता है। इससे स्पष्ट होता है कि देशव्रतों के कारण बन्ध नहीं है, ५३ प्रकृतियों का संवर है और उस व्रती के जो प्रत्याख्यानावरण आदि कषायों का उदय है उनके कारण ६७ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया हैं।

मंगलटीका में इन श्लोकों की टीका करते हुए पूज्य मुनिश्री ने दो विषयों को अच्छी तरह से स्पष्ट किया है; जो इस प्रकार हैं–

१. वर्तमान में कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि व्रती के मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव से जो रत्नत्रय के अंशरूप विशुद्धि उत्पन्न हुई है वह शुद्धोपयोग है और वही आत्मा में ज्ञानधारा रूप से सदा प्रवाहमान होता है। उस व्रती के प्रत्याख्यानावरण के उदय से जो परिणाम होते हैं वे औदयिक भाव हैं और वे परिणाम शुभोपयोग में कारण हैं। उन लोगों के अनुसार पंचम गुणस्थानवर्ती के शुभोपयोग और शुद्धोपयोग दोनों रहते हैं तथा क्षायोपशमिक एवं औदयिक दोनों भाव पाये जाते हैं। ऐसे लोगों का यह कथन है आगम सम्मत नहीं है। क्योंकि संयतासंयत जीवों के पंचम गुणस्थान में हमेशा एक क्षायोपशमिक भाव ही होता है। जो अनन्तानुबंधी ओर अप्रत्याख्यानवरण कषायों के अनुदय तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से होने वाले औदयिक भाव के द्वारा बन्ध मानेंगे तो आगम से विरोध आयेगा। आगम में व्रती के क्षायोपशमिक भाव स्वीकार किया गया है। औदयिक भाव नहीं। व्रती के उदय होने वाली प्रत्याख्यानावरण कषाय संयम की विरोधी है, अतः उसका उदय संयमासंयम का विरोध नहीं करता है, जिसके फलस्वरूप संयमासंयमी के प्रतिसमय अंसख्यातगुणी निर्जरा पायी ही जाती है। जो स्वाध्यायी लोग इस कषाय की हानि होने को शुद्धपयोग या वीतरागता कहते हैं, उनको समझना चाहिये कि यहाँ राग की हानि तो हुई है परन्तु वीतरागता प्रगट नहीं हुई है। यदि ऐसा न माना जायेगा तो मिश्र गुणस्थान में भी अनन्तानुबंधी कषाय का अनुदय होने से, वहाँ भी

वीतरागता माननी पड़ेगी, जो कथन आगमविरुद्ध हो जायेगा इसलिये आत्मगुणघाती सर्वघाती कषायों का उदय जब तक है तब तक तो राग की हानि क्रम से होती है, तदुपरान्त वीतरागता प्रगट होती है।

२. कुछ तथाकथित स्वाध्यायी लोग विशुद्धि को शुद्धिपयोग कहते हैं। उनके कथनानुसार शुद्धोपयोग के बिना निर्जरा हो ही नहीं सकती क्योंकि शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों माने जाते हैं। यह कथन आगम सम्मत नहीं है। ऐसा मानने पर मंगलटीका के अनुसार निम्नलिखित दोष आते हैं-

१. परमागम में एक समय में एक ही उपयोग कहा गया है। एक समय में दो उपयोग कहीं भी नहीं कहे गये हैं।

२. यदि विशुद्धि मात्र को शुद्धोपयोग मान लिया जायेगा तो मिथ्यादृष्टि में भी विशुद्धि होने से, मिथ्यादृष्टि में भी शुद्धोपयोग मानना पड़ेगा।

३. शुद्धोपयोग का काल उत्कृष्टता से अन्तर्मुहूर्त कहा गया है। यदि व्रती के निर्जरा का निमित्त शुद्धोपयोग को ही माना जायेगा, तो उस व्रती के जीवन पर्यन्त, कोई भी कार्य करते हुये प्रत्येक अवस्था में, असंख्यातगुणी निर्जरा कैसे सिद्ध हो पायेगी?

४. शुद्धोपयोग तो गुप्तिरूप निवृत्ति दशा में ही होता है। व्रती के तो प्रवृत्ति के काल में भी प्रतिसमय असंख्यातगुणी निर्जरा कही गई है। फिर यह कैसे घटित हो पायेगी?

५. किसी भी शास्त्र में संयमासंयमी के शुद्धोपयोग नहीं कहा गया हैं शुद्धोपयोग तो भेदाभेद रत्नत्रयधारी मुनिराजों के सप्तम गुणस्थान से ही कहा गया है। फिर व्रती के शुद्धोपयोग मानना किस प्रकार उचित होगा?

६. आप जो ज्ञानधारा और कर्मधारा मानते हैं, इसका वर्णन किसी भी आगम ग्रन्थ में नहीं पाया जाता। अतः इस मान्यता को कैसे स्वीकार किया जाये?

पंचम गुणस्थान में जो स्वाध्यायी लोग औदयिक भाव मानते हैं उनको प्रवचनसार गाथा १५७ की निम्न टीका द्रष्टव्य है-

विशिष्ट-क्षयोपशमदशाविश्रान्त-दर्शनचारित्र-मोहनीय-पुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीतशोभनो-परागत्वात् - परमभट्टारकमहादेवाधिदेव - परमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्तभूताग्रमानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभः उपयोगः।।१५७।।

अर्थात् विशिष्ट क्षयोपशम दशा में रहने वाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय रूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से शुभ उपगम का ग्रहण करने से, जो (उपयोग) परमभट्टारक महादेवाधिदेव, परमेश्वर अरहन्त, सिद्ध और साधु की श्रद्धा करने में तथा समस्त जीव समूह की अनुकम्पा का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है।

भाव यह है कि उपर्युक्त टीका में आ. अमृतचन्द्र स्वामी ने शुभोपयोग को विशिष्ट क्षयोपशमदशा में रहने वाला कहा है जबकि अशुभोपयोग को प्रवचनसार गाथा क्र. १५८ की टीका में 'विशिष्टोदयदशाविश्रान्त' अर्थात् विशिष्ट उदय दशा में रहने वाला कहा है। व्रती के निरन्तर शुभोपयोग रहता है अतः उसके क्षायोपशमिक भाव ही आगमोक्त है, अशुभोपयोग न होने से औदयिक भाव नहीं है।

आचार्यों ने क्षायोपशमिक भाव को मोक्ष का कारण कहा है जबकि औदयिक भाव को बंध का कारण कहा है-

ओदइया बंधयरा उवसमखयमिस्सया य मोक्खयरा।
भावो दु परिणामिओ करणोभय वज्जियो होंति।।

(धवला पुस्तक, ७२९)

इससे भी स्पष्ट है कि व्रती के क्षायोपशमिक भाव मोक्ष का कारण है, बंध का नहीं। आगम में बंध के चार भेद कहे गये हैं-

१. प्रकृतिबंध २. प्रदेशबंध ३. स्थितिबंध ४. अनुभागबंध

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक २१५ की टीका में कहा गया है कि योग से प्रदेश बंध होता है और कषाय रूप भी नहीं है क्योंकि आत्मा के गुणों को ढँकना कषाय है। इससे सिद्ध होता है कि रत्नत्रय चारों प्रकार के बंध में से एक भी प्रकार के बंध का करण नहीं है।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यदि सम्यग्दर्शनादि बंध में कारण नहीं हैं फिर १. देवायु के आस्रव में सम्यक्त्व को कारण क्यों कहा गया है जैसा कि तत्त्वार्थसूत्र ६/२१ से स्पष्ट है- 'सम्यक्त्वं च।' अर्थात् - सम्यक्त्व भी देवायु के आस्रव में कारण है। २. तीर्थंकर प्रकृति का आहारक शरीर नामकर्म के बंध में सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र को कारण कहा गया है। जैसा कर्मकाण्ड गाथा-५२५ से स्पष्ट है-

णरगइणामरगइणा तित्थं देवेण हारमुभयं च।
संजदबंधट्ठाणं इदराहि गईहि णत्थित्ति।।५२४।।

अर्थ- तीर्थंकर प्रकृति को असंयतदेव या नारकी मनुष्यगति सहित ही बाँधते हैं और असंयतादि पंच गुणस्थानवर्ती (चौथे गुणस्थान से आठवें गुणस्थान के छठे भाग पर्यन्त) मनुष्य देवगति सहित ही बाँधते हैं। अप्रमत्त और अपूर्वकरण के छठे भाग पर्यन्त आहारकद्विक अथवा तीर्थंकर सहित आहारकद्विक का बंध संयत मनुष्य ही करते हैं, अन्य गति सहित नहीं बाँधते हैं।

इस प्रश्न का समाधान मंगलाटीका में किया गया है कि उपर्युक्त कथन सत्य होते हुये भी नय के जानने वालों को दोष के लिये नहीं हैं क्योंकि सम्यक्चारित्र के होने पर ही तद् योग्य योग और कषाय, आहारक शरीर नामकर्म के बंध के कारण होते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर नामकर्म की प्रकृति सम्यक्त्व के होने पर ही योग और कषाय के बन्ध को प्राप्त होती है। इसीलिये आहार और तीर्थंकर प्रकृति का बंध, चारित्र और सम्यक्त्व के साथ, अन्वय व्यतिरेक की सिद्धि को प्राप्त होने पर बन्ध के कारण में प्रसिद्ध है। यदि योग और कषाय से ही तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो जाता हो तो मिथ्यादृष्टि जीवों को भी तीर्थंकर और आहारक प्रकृति का बंध हो जाना चाहिये। इस प्रसंग के निवारण के लिये, इन प्रकृतियों का बन्ध, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के होने पर ही होता है, ऐसा कहा है अर्थात् सम्यग्दर्शन की उपस्थिति होने पर तीर्थंकर प्रकृति का और सम्यक्चारित्र की उपस्थिति होने पर आहारक प्रकृति का बंध होता है। जैसे धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलों की गति में निमित्त है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र भी इन प्रकृतियों के बन्ध के विषय में उदासीन निमित्त है। सम्यक्त्व और चारित्र की उपस्थिति मात्र होने पर तीर्थंकर और आहारक शरीर का बंध होता है, और उनके नहीं होने पर नहीं होता, इसलिये वे उदासीन निमित्त हैं। यहाँ यह भी समझना चाहिए कि इन गुणस्थानों के अतिरिक्त अन्य गुणस्थानों में इन प्रकृतियों के बंध योग्य प्रशस्त रागभाव नहीं होता। अतः साहचर्य से ऐसा कहा जाता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ही तीर्थंकर और आहारक प्रकृति के बंध के कारण हैं।

जहाँ तक सम्यक्त्व को देवायु के बन्ध में कारण कहा गया है, वहाँ भी समझना चाहिये कि वास्तव में देवायु के बंध का कारण, सम्यग्दृष्टि जीव के होने वाला शुभराग ही है, सम्यक्त्व नहीं। यदि सम्यक्त्व ही आस्रव व बंध का कारण हो जाये तो फिर जीव को संवर, निर्जरा व मोक्ष कैसे हो सकेगा? अतः यह निश्चित करना उपयुक्त होगा कि सम्यक्त्वी जीव के सम्यक्त्व के साथ जो शुभ परिणाम हैं वे ही देवायु के आस्रव के कारण हैं, न कि सम्यक्त्व। परन्तु साहचर्य के कारण व्यवहार से सम्यक्त्व देवायु का आस्रव कहा गया है।

सर्वार्थसिद्धि टीका में इस सूत्र के लिखने का कारण बताते हुए कहा है कि यह सूत्र इसलिये पृथक् कहा

गया है कि सम्यग्दृष्टि जीव वैमानिक देवों की ही आयु बाँधता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के आयु बंध काल में होने वाले शुभयोग और मंद कषाय से वैमानिक देवों की आयु का ही आस्रव होता है।

रत्नत्रयधारी जीव के जो पुण्य प्रकृतियों का आस्रव हो रहा है, यह यथार्थ में शुभोपयोग का अपराध है। अध्यात्म के कथन से शुभोपयोग मुख्यता से पुण्य का कारण है और संवर-निर्जरा का गौण रूप से कारण है। आगम की विविक्षा में शुद्धोपयोग के होने पर बहुत पुण्य बन्ध होता है ओर शुभोपयोग में भी असंख्यातगुणी निर्जरा होती है। आगम की भाषा में शुक्लध्यान के काल में पूर्ण संवर पूर्वक निर्जरा होती है और अध्यात्म की भाषा में निश्चय रत्नत्रय के काल में शुद्धोपयोग में निर्जरा होती है। पुण्य के विषय में कर्तृत्व का अभाव होने से पुण्य का बंधक होने पर भी, पुण्य का अबंधक है, इस प्रकार अध्यात्म में कहा जाता है, सिद्धान्त में नहीं। अतः पुण्य का आस्रव शुभोपयोग का अपराध है, यह कथन अध्यात्म भाषा का है जो उचित ही है।

इसी संबंध में मंगल टीका में 'पंचास्तिकाय' की निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण गाथा का भी उल्लेख किया गया है-

दंसण णाण चरित्ताणि मोक्खमग्गोत्ति सेविदव्वाणि।
साधूहिं इदं भणिदं तेहि दु बन्धो व मोक्खो वा।।१६४।।

अर्थ- सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं, इसलिये इनका सेवन करना चाहिये, इनके द्वारा बन्ध भी होता है और मोक्ष भी होता है।

साध्य-साधक सम्बन्ध होने से व्यवहारनय का विषय झूठा है; ऐसा कहे जाने पर निश्चय नय का विषय उपलब्ध ही नहीं हो पायेगा। इसलिये यद्यपि निश्चयनय से रत्नत्रय तो मोक्ष का का ही कारण है, परन्तु व्यवहारनय से सरागसंयम, संयमासंयम, बालतप, अकामनिर्जरा आदि तथा सम्यग्दर्शन को भी देवायु के आस्रव का कारण कहना सिद्धान्त विरुद्ध नहीं है। इसलिये दोनों नयों की मैत्री का अनुसरण करके दुराग्रह का त्याग करना चाहिये। जैसा कि इस श्लोक से स्पष्ट है-

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुद्ध तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।।

(पुरुषार्थसिद्ध्युपाय-८)

अर्थात् जो जीव व्यवहार और निश्चय नय को वस्तु स्वरूप के द्वारा यथार्थरूप से जानकर मध्यस्थ होता है अर्थात् किसी एक नय को न मानकर अपेक्षा से दोनों को स्वीकार करता है वही शिष्य उपदेश के सम्पूर्ण फल को प्राप्त होता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी समयसार में इस प्रकार कहा है-

दोण्हवि णयाण भणियं, जाणदिण वरिं तु समयपडिबद्धो।
ण दुणयपक्खं गिण्हदि, किंचविणयपक्खपरिहीणो।।१५०।।

अर्थात् जो समयसार का अनुभव करने वाला दोनों नयों के कथन को जानता अवश्य है किन्तु वह किसी भी एक नय के पक्ष को स्वीकार नहीं करता, दोनों नयों के पक्षपात से दूर होकर रहता है।

अतः विज्ञ पुरुषों को ऐसी मान्यता बनानी चाहिये कि निश्चय से रत्नत्रय मोक्ष का ही कारण है, बंध का कारण नहीं। शास्त्रों में जो रत्नत्रय को तीर्थंकर और आहारक प्रकृति का बंध करने वाला कहा गया है वह व्यवहार नय का विषय है तथा रत्नत्रय के कारण जिन प्रकृतियों का बंध होता है, वे भी संसार के कारण नहीं, परम्परा से मोक्ष के ही कारण हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (मङ्गला टीका) में प्रतिपादित अहिंसा एवं उसकी प्रासंगिकता

डॉ० शीतलचन्द जैन
प्राचार्य-श्री दि. जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर (राज.)

पूज्य सन्त शिरोमणि आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज के प्रियाग्र शिष्य मुनिश्री १०८ प्रणम्यसागर जी महाराज ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय पर संस्कृत में मङ्गला टीका लिखकर अध्यात्म एवं संस्कृत प्रेमियों पर महान् उपकार किया है। यद्यपि इस कृति पर टीका संक्षिप्त में है। पूज्य मुनिश्री द्वारा लिखी गयी टीका मूलग्रन्थकार के हृदयस्थित भावों को हृदयंगम कर भावों को ज्यों का त्यों संप्रेषण करती है। इस टीका में विषय का पूर्ण विवेचन किया गया है। प्रस्तुत आलेख मङ्गला टीका के विशिष्ट बिन्दुओं को ध्यान में रखकर लिखा जा रहा है।

मूलग्रन्थकार का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने से पूर्व यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि 'अहिंसा परमो धर्मः' अहिंसा को परम धर्म घोषित करने वाली यह सूक्ति आज भी बहुप्रचलित है। यह तो स्वीकृत तथ्य है कि अहिंसा परम धर्म है; पर प्रश्न है कि अहिंसा क्या है? साधारण भाषा में अहिंसा शब्द का अर्थ होता है- हिंसा न करना किन्तु जब भी हिंसा- अहिंसा की चर्चा होती है तो हमार ध्यान प्रायः दूसरे जीवों को मारना, सताना या उनकी रक्षा करना आदि की ओर जाता है। हिंसा - अहिंसा का सम्बन्ध प्रायः दूसरों से ही जोड़ा जाता है। दूसरों की हिंसा मत करो, बस यही अहिंसा है, ऐसा ही सर्वाधिक लोग मानते हैं किन्तु यह दृष्टिकोण एकांगी है।

अपनी भी हिंसा होती है। इस ओर लोगों का ध्यान जाता ही नहीं जिनका जाता भी है तो वे भी आत्महिंसा का अर्थ विष भक्षण द्वारा आत्महिंसा (आत्महत्या) मानते हैं। उसकी गहरायी तक कोई पहुँचने का प्रयत्न नहीं करता है। अन्तरंग में राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति होना भी हिंसा है, यह बहुत कम लोग जानते हैं। रागादि की उत्पत्ति हिंसा है। इसकी चर्चा यद्यपि 'कषाय पाहुड' में प्राप्त होती है जैसा कि कहा गया है-

रागादीण मणुप्पा अहिंसा कत्तेति देसिदं समये।
तेसिं चेदुपपत्ती हिंसेति जिणेहि विद्दिट्ठा।।

उत्तम हिंसा-अहिंसा की परिभाषा को ध्यान में रखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने भी कहा है कि-

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।।

पूज्यवर आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है कि वास्तव में रागादिभावों का उत्पन्न नहीं होना, यह अहिंसा है। उन्हीं रागादिभावों की उत्पत्ति हिंसा होती है, वस्तुतः देखा जाय तो यह स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा-अहिंसा की परिभाषा को बहुत व्यापक रूप दिया है। उन्होंने इसी कृति में आगे कहा है कि असत्य आदि शेष सभी जाप भी हिंसा में ही गर्भित है। इस बात को सिद्ध करते हुए कहा है कि रागभाव हिंसा है; अतः असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह भी रागादिभाव होने से हिंसा ही है। पाँच पापों का भेद कथन तो मात्र समझाने के लिये है। कहा भी है-

आत्म परिणामहिंसन हेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अमृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय।।

अतः उक्त श्लोक से स्पष्ट है कि हिंसा-अहिंसा का सीधा सम्बन्ध आत्म परिणामों से है। ये दोनों ही आत्मा के विकारी-अविकारी परिभाग है। हिंसा-अहिंसा न तो जड़ में होती है और न जड़ वस्तु के कारण ही। उनकी उत्पत्ति स्थान व कारण दोनों ही चेतन हैं। अतः सिद्ध है हिंसा-अहिंसा का सम्बन्ध परजीवों के जीवन-मरण, सुख-दुःख से मात्र न होकर आत्मा में उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष-मोह परिणामों से है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि जब आत्मा में उत्पन्न होने से राग-द्वेष मोह परिणामों से हिंसा होती है तो जिनके राग-द्वेष नहीं है ऐसे वीतरागी संतों के गमनागमन से फिर हिंसा नहीं होना चाहिए? टीकाकार ने इस प्रश्न का समाधान दिया कि जो संत समिति में तत्पर होकर आचरण करते हैं तो प्राणों का व्यापरोपण होने पर ही हिंसा का भागी नहीं होता है। उदाहरण जल कमल का दिया गया। वस्तुतः टीकाकार ने यहाँ समिति का माहात्म्य दिखाकर अतिव्याप्ति से रहित होकर अहिंसा का लक्षण प्रतिपादित किया है।

इसी प्रकार टीकाकार पूज्य मुनिवर प्रणम्यसागर जी महाराज ने अहिंसा का लक्षण अव्याप्ति दोष से रहित है; इस को सिद्ध करते हुए व्याकरण के द्वारा शब्दों की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए न्याय पद्धति से सुन्दर प्रतिपादन किया जैसा कहा है कि रागी जीवों को बन्ध अवश्य ही होता है। यह नियम आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार बताया है कि-

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायां।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा।।

उक्त श्लोक की टीका में टीकाकार ने व्युत्थान, म्रियतां, मा, वा धावति इत्यादि शब्दों की टीका करके शब्दों का अभिप्राय मूल ग्रन्थाकार का क्या है? बिल्कुल स्पष्ट कर दिया। 'धावति' और 'अग्रे' शब्द का अभिप्राय मूल ग्रंथकार का क्या? बिल्कुल स्पष्ट कर दिया। 'धावति' और 'अग्रे' शब्द का अभिप्राय टीकाकार बताते हैं कि 'अग्र धावति' अर्थात् आगे दौड़ती है, अग्रे यह शब्द क्रिया विशेषण है, किसी भी तरह प्रमादी जीव हिंसा से बचता नहीं है। 'धावति' में 'सृ गतौ' धातु से लट् लकार से सृ के स्थान में धाव का आदेश होता है। टीकाकार ने स्पष्ट किया कि 'अग्रे धावति' का अर्थ यहाँ ऐसा नहीं लगाना कि घोड़े की तरह हिंसा दौड़ती है किन्तु रागादि के वश में प्रवर्तमान जीव के कर्मबन्ध अवश्य ही होता है, उस क्रिया को करो या न करो जीव मरे अथवा न मरे हिंसा होती ही है। यहाँ पर टीकाकार ने अहिंसा का लक्षण अव्याप्ति दोष से रहित है। यह स्पष्ट कर दिया। टीकाकार की विशेषता है कि उन्होंने अपनी बात पुष्ट करने के लिये पूर्वाचार्यों की गाथाओं को प्रस्तुत किया है।

पूज्य मुनिवर प्रणम्यसागर जी ने संस्कृत टीका में न्याय का अवलम्बन लेकर विषय को अच्छी तरह से स्पष्ट किया है। टीका पढ़कर हृदय कपाट खुल जाते हैं। टीकाकार ने अव्यक्त हिंसा और व्यक्त हिंसा को किस प्रकार से समझाया है और श्लोक में से 'भवति' क्रिया बताकर यह कहना कि 'जिस प्रकार देहली पर दीपक रखने पर अन्दर वह बाहर दोनों जगह प्रकाश होता है उसी प्रकार 'भवति' क्रिया हिंसा से विरक्त नहीं होना और हिंसा में परिणमन करना दोनों जगह लगानी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अहिंसा व्रत के बिना होने वाली हिंसा में और हिंसा रूप से परिणमन करने वाली हिंसा में समानता है क्योंकि हिंसा जनित पाप में समानता है। तो भी जो बुद्धिपूर्वक हिंसा करता है वह संसार वृद्धि के कारणभूत हिंसा पाप से जैसे अतितीव्र दुःखों का उपार्जन करता है वैसे हिंसा को नहीं करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव नहीं करता है। यह विशेषता है। इस कारण से यह सिद्ध होता है कि प्रमाद का योग होने पर मिथ्यादृष्टि से लेकर छठे गुणस्थान तक अनवरत यथासंभव त्रस-स्थावर जीवों के प्राणों का घात होता है; ऐसा जानना चाहिये। टीकाकार ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के ४८ वें श्लोक की टीका में

प्रमुत्तगुणस्थान तक हिंसा हो सकती है। इसी प्रकार वह बन्धक और अबन्धक किस प्रकार है? इसका खुलासा कर टीकाकार ने भरपूर नया प्रमेय पाठकों को दिया है।

इसी प्रकार ४९ वें श्लोक की टीका में अन्वय व्याप्ति और विषम व्याप्ति के माध्यम से टीकाकार ने श्लोक के अभिप्राय को तो स्पष्ट किया ही है परन्तु यह भी स्पष्ट किया कि परवस्तु में हिंसा के कारण का अभाव होने पर भी हिंसा के अधिकरण होने से उनका बुद्धिपूर्वक त्याग करना चाहिये। क्योंकि इससे परिणामों में विशुद्धि आयेगी और धर्म ध्यान में वृद्धि होगी।

इसी प्रकार हिंसा-अहिंसा के तीव्र-मंदफल को बताने में धीवर-किसान का उदाहरण लेकर समझाना, परिणाम विशेष के आधार पर फल प्राप्त करने में तन्दुलमत्स्य और राघवमत्स्य का उदाहरण; हिंसा के विचित्र फल को चोर और कोतवाल का उदाहरण आदि उदाहरणों द्वारा समझाकर टीका को अतयन्त उपयोगी बना दिया है। वर्तमान में मनुष्य वक्र स्वभाव के ज्यादा दिखाई पड़ते हैं अतः वाचनिक और कायिक हिंसा की अपेक्षा मानसिक हिंसा ज्यादा देखने में/अनुभव में आ रही है। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय में भाव हिंसा को ज्यादा हानिकारक माना है बल्कि पापबन्ध भाव हिंसा में ही है। अतः भाव हिंसा से बचने के लिये व्यक्ति को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धि करना चाहिये क्योंकि महाभारत में भी कहा है कि व्यक्ति को ऐसे क्षेत्र में रहना चाहिये जहाँ अहिंसा धर्म का पालन होता है। इस दृष्टि से अहिंसा की त्रैकालिक उपयोगिता ही नहीं अपितु विश्व में शान्ति और सौहार्द के लिये अनिवार्य है। जैनाचार्यों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा को अपनाये बिना परिवार, समाज, देश और विश्व में शान्ति असंभव है। अतः इस ग्रन्थ में अहिंसा की जो विवेचना है वह धार्मिक ही नहीं अपितु विश्वशान्ति का फार्मूला है।

उपर्युक्त विषय विवेचन से स्पष्ट है कि पूज्यमुनि श्री प्रतिभा परिपक्व है। मैंने अभी आपके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं किया परन्तु आपकी इस प्रतिपाद्य संस्कृत टीका एवं अन्य अध्यात्मपरक सैद्धान्तिक ग्रंथों की टीकाओं का अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतिफलित होता है कि आपको आध्यात्मिक ग्रन्थों का सूक्ष्म अध्ययन तो है ही; साथ में न्याय व्याकरण में भी आपकी सूक्ष्म पकड़ है।

सम्प्रति अनेक ग्रन्थों की संस्कृत टीकायें अपेक्षित हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की समग्र टीका का अध्ययन करने से ऐसा अनुभव हुआ कि पूज्य मुनिश्री पूर्वाचार्यों के मत का अनुसरण करते हुए भी नया प्रमेय विद्वानों के चिन्तन को दे रहे हैं। मुझे आशा है कि प्रौढ़ पाण्डित्य का अनुसरण करते हुए पूज्य मुनिश्री की लेखनी से अनेक टीकायें निसृत होंगी।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का दोहानुवाद और उसका वैशिष्ट्य

डॉ० वीरेन्द्र 'निर्झर'
अध्यक्ष- हिन्दी विभाग,
सेवा सदन महाविद्यालय, बुरहानपुर (म.प्र.)

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की कृति 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' श्रावकाचार का अद्भुत ग्रंथ है। इसमें आत्मोन्नति के रत्नत्रय रूप तीनों सोपानों का सांगोपांग वर्णन है। विलक्षण प्रतिभा समपन्न मुनि श्री प्रणम्यसागर महाराज ने इस मूलग्रंथ को सहज और सरल रूप में स्पष्ट करते हुए इसकी 'मङ्गला टीका' लिखी है, जो उनका प्रेय है किन्तु साथ ही मुनि श्री की सृजनात्मकता भी काव्यानुवाद के रूप में साकार हुई है।

एक भाषा में व्यक्त विचारों को यथासम्भव समान ओर सहज अभिव्यक्ति द्वारा दूसरी भाषा में व्यक्त करना बहुत कठिन कार्य है। इसके लिए एक विशिष्ट मनोभूमि अभीष्ट होती है। यों तो अनुवाद चाहे गद्य में किया जाये अथवा पद्य में सबका अपना सौन्दर्य है, पर छन्दबद्ध अनुवाद की अपनी प्रभाविता ही अलग है। यह एक प्रकार का सृजन है, बल्कि सृजन का भी सृजन, एक नया संस्करण। मुनि श्री ने इस अर्थ में मूल ग्रंथ को दोहा छन्द में एक सुन्दर और सफल अनुवाद प्रस्तुत किया है।

प्राकृत ओर अपभ्रंश की परम्परा में दोहा प्राचीनतम और लोकप्रिय छन्द है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी इसे अपभ्रंश का प्रतीक मानते हैं [१]। महाकवि कालिदास के विक्रमोर्वशीय त्रोटक में एक पद्य अपभ्रंश भाषा में आया है-

मई जाणिअ मिअलोअणि, णिसिअरू कोई हरेइ।
जावणु णवतडि सामलि, धाराहरु बरिसेइ।।[२]

इस पद्य में विषम पादों में १२ तथा समपादों में ११ मात्राएँ हैं। यह दोहा के भेद अवदोहअ, उपदोहक या दोहरा छन्द के लक्षणों से युक्त है। इससे परिलक्षित होता है कि पाँचवी-छठी शताब्दी में अपभ्रंश के दोहा का यह लोकरूप प्रचलित रहा होगा।

अपभ्रंश काव्य में दोहा छन्द का प्रयोग और उसके प्रवर्तन का श्रेय सरहपा (सरहपाद ८ वीं शताब्दी ई.) को दिया जाता है जिन्होंने मुक्तक उपदेशावली के लिए, दोहा छन्द का प्रयोग किया है।[३] बाद के काल में दोहा-रूप को कवियों, सिद्ध-नाथों, श्रावक-धर्म-उपदेशक आचार्यों ने भरपूर अपनाया है। नवीं शती में कन्हपा ने 'दोहा कोष' लिखा, देवसेन (९९० वि.) ने 'सावय धम्म दोहा' ग्रंथ लिखा।[४] मगध के सिद्ध कवि तिलोपा (१०१७ वि.) ने 'दोहा कोष'[५], जोइन्दु कवि ने १०५७ वि. में 'परमात्म प्रकाश दोहा' और 'योगसार दोहा' ग्रंथों की रचना की।[६] आचार्य हेमचन्द्र के 'कुमारपाल चरित्र' में भी दोहा छन्द का प्रयोग हुआ है।[७] प्रबंध चिंतामणि में भी मुंज के दोहे संग्रहीत हैं।

वीरगाथा काव्यों में यह मुक्तक और प्रगाथ दोनों रूपों में प्रयुक्त हुआ है। मध्यकालीन कविता में चरितकाव्यों में कड़वकान्त घत्ता के रूप में जहाँ यह विशेष लोकप्रिय रहा है वहीं मुक्तक-शैली में धर्मोपदेश, सम्प्रदाय सिद्धान्त-प्रचार, शास्त्र-विवेचन और नीतिवर्णन आदि का यह श्रेष्ठ साधन रहा है। आज भी यह अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। दोहा की दो पंक्तियों में बहुत बड़ा अर्थ समोया जा सकता है, किन्तु इसके लिए बड़ी कला-कुशलता की अपेक्षा होती है। दोहा की इस विशेषता को लक्ष्य करके अब्दुल रहीम ने कहा है-

दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे माँहिं।
ज्यों रहीम नट कुंडली, सिमिट कूद चढ़ि जाहिं।।[९]

जिस प्रकार रेखाचित्रों में कुछ ही लकीरों द्वारा चित्रकार चित्र को व्यापक और अर्थपूर्ण बना देता है उसी प्रकार मुनि श्री ने भी पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के सिद्धान्तों और गूढ़ अर्थों को अपनी कला-कुशलता तथा उपयुक्त शब्द-चयन द्वारा दोहा जैसे छोटे छंद में अनुवादित किया है। उनका यह प्रयास स्तुत्य है।

सामान्यतः शैली और अर्थ दोनों ही दृष्टियों से मूल का अनुगामी अनुवाद करना बहुत कठिन है और फिर जब किसी छन्द विशेष की सीमा में बँधकर अनुवाद करना हो तो छन्द का विधान उसकी यति-गति आदि सभी बातें अनुवादों में अवरोध रूप उपस्थित होती हैं। उन सब स्थितियों की मर्यादाओं का अनुपालन करते हुए मूलभाव, विचार और उसके अर्थ को अक्षुण्ण रखना अथवा उसे अभीप्सित अर्थ तक पहुँचाना बहुत कठिन होता है। फिर भी महाराज श्री ने दोहा में अनुवाद को सरल और सहज बनाने के लिए आवश्यकतानुसार अनुवाद की विभिन्न प्रकृतियों का सहारा लिया है। कहीं मूलनिष्ठ अनुवाद हुआ है, तो कहीं मूलभिप्रेत भावानुवाद और कहीं व्याख्यानुवाद।

शब्दानुवाद में यथासाध्य मूल के हर शब्द पर अनुवादक का ध्यान जाता है। वह उसके प्रत्येक शब्द, अभिव्यक्त इकाई-पद, पदबंध, वाक्यादि-के लक्ष्यभाषा में प्राप्त पर्याय के आधार पर मूल के भाव को लक्ष्यभाषा में पूरी तरह अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है। मुनिश्री ने प्रस्तुत ग्रंथ के अनेक श्लोकों के मूलशब्द वाक्यांश आदि का यथासाध्य शब्दशः अनुवाद किया है। एक-दो उदाहरण देखें-

यदपि किल भवति मांसं, स्वयंमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्।।६६।।

इस श्लोक का दोहानुवाद है-

स्वयं मरे महिषादि का, होता यद्यपि मांस।
फिर भी उसमें पाप है, जीव निगोद विनास।।६६।।

इस अनुवाद में 'यदपि' के लिए 'यद्यपि', 'मांस' के लिए 'मांस', 'स्वयं एव मृतस्य' के लिए 'स्वयं मरे', 'महिषवृषभादे' के लिए 'महिषादि', 'अपि भवति' के लिए 'का होता', 'तत्रापि' के लिए 'फिर भी उसमें', 'भवति हिंसा' के लिए 'पाप है', 'तदा श्रितनिगोतनिर्मथनात्' के लिए 'जीव निगोद विनास' शब्दों का प्रयोग हुआ है। यहाँ पर मूल का भाव विचार शब्दशः यथावत् अंकित हुआ है। इसमें शब्द साम्य के साथ - साथ मूल का कोई अंश छूटने नहीं पाया है। एक दूसरा श्लोक देखें-

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रत्यत्नेन।
अस्माभिरुपोदिध्रयते विदुषां पुरुषार्थ सिद्ध्युपायोऽयम्।।३।।

इसका दोहानुवाद है-

तीन लोक दिखता जहाँ, परमागम वह ज्ञान।
पुरुष अर्थ की सिद्धि का, करता सुनो बखान।।३।।

उक्त दोहा में शब्दानुवाद से छूट लेते हुए मुनि श्री ने लक्ष्यभाषा की सुविधा और उद्देश्य को ध्यान में रखकर अनुवाद प्रस्तुत किया है। इसमें 'लोकत्रयैकनेत्रं' के लिए लक्ष्य भाषा में 'तीन लोक' दिखता जहाँ, 'परमागम' के लिए 'परमागम', 'अस्माभिरूपोदिध्रयते' के लिए 'करता सुनो बखान', 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' के लिए

'पुरुष अर्थ की सिद्धि का' समतुल्य अभिव्यक्ति को चुना है। साथ ही विदुषां, प्रयत्नेन, विरुप्य आदि शब्दों का समानार्थी शब्द लक्ष्य भाषा में नहीं दिया गया है। 'अयं' के लिए यहाँ वह शब्द रखा गया है जो लक्ष्य - भाषा के कथ्य के अनुरूप और अधिक उचित है।

भावानुवाद में भाव, विचार या अर्थ पर ध्यान संकेन्द्रित कर अनुवाद प्रस्तुत किया जाता है। इसमें मुनि श्री ने मूल शब्दों पर जोर न देते हुए कथ्य की आत्मा पर जोर दिया है।

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोध-पिप्पलफ लानि
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा।।७२।।

का महाराज श्री ने दोहानुवाद निम्न प्रकार किया है-

बड़ पीपल पाकर तथा, ऊमर कठुमर जान।
पंच उदुम्बर फल कहे, त्रस जीवों की खान।।७२।।

यहाँ 'उदुम्बर युग्मं' के लिए 'ऊमर और कठुमर', 'प्लक्ष' के लिए 'पाकर' 'न्यग्रोध' के लिए 'बड़', 'पिप्पल' के लिए पीपल तथा 'त्रसजीवानां योनि' के लिए 'त्रस जीवों की खान' शब्दानुवाद किया है किन्तु 'तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा' का कोई अनुवाद प्रस्तुत नहीं किया गया बल्कि पंच उदुंबर फल कहे; ये पाँच उदुम्बर फल कहे गये हैं; ऐसा कहकर भावात्मक रूप से उनके खाने से हिंसा होती है यह संकेतार्थ प्रगट किया गया है।

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र।।७१।।

का अनुवाद इस प्रकार किया है-

मधु मदिरा माखन तथा, मांस मकार हि चार।
जो खाए चउ गति फिरे, जीव अगार विकार।।७१।।

इसमें मधु, मद्यं, नवनीतं, पिशितं के लिए क्रमशः मधु, मदिरा, मक्खन और मांस को शब्दशः ग्रहण किया गया है तथा 'जन्तवः' (जीव उत्पन्न होते हैं) के लिए 'जीव अगार' अनुवाद मुनि श्री ने किया है किन्तु शेष शब्दों का अनुवाद न करके व्याख्या रूप में विकार रूप चारों मकारों के सेवन से होने वाली महाविकृतियों- गृद्धि, प्रसंग दर्प और असंयम को चउ गति फिरे के रूप में अनूदित किया है।

भोगोपभोग मूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावापि त्याज्यौ।।१६१।।

का अनुवाद इस प्रकार किया है-

भोग और उपभोग की, हिंसा बची विशेष।
उसका भी तू त्याग कर, लख निजशक्ति अशेष।।

इस दोहे में मुनि श्री ने मूल का भावानुवाद किया है। इसमें 'विरताविरतस्य', 'अन्यतः न' तथा 'अधिगम्य वस्तुतत्त्वं' का समानक शब्द नहीं रखा गया और जिनको लिया गया है उनमें 'भोगोपभोग मूला हिंसा' के लिए 'भोग और उपभोग की हिंसा बची विशेष', 'तो अपि त्याज्यौ' के लिए 'उसका भी तू त्याग कर' तथा 'स्वशक्ति अपि' (अपनी शक्ति के अनुसार) के लिए 'लख निज शक्ति अशेष' अनुवाद किया गया है। मुनि श्री

ने यहाँ कथ्य के भाव को ही वरीयता दी है। वस्तुतः श्लोक के सभी शब्दों को पूरी तरह शब्दशः दोहा छन्द में अनुवादित करना सम्भव भी नहीं था। लेकिन कथ्य का समूचा सार दोहे की दो पंक्तियों में महाराज श्री ने अभिव्यक्त कर दिया है जो अपने में काव्यानुवाद की विशेषता कहा जा सकता है।

एक और श्लोक तथा उसका अनुवाद प्रस्तुत है-

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्र मोहे लभते तु न संयमस्थानम्।।१६०।।

दोहा इस प्रकार है-

हिंसा त्यागी पूर्ण है, पर संयम नहिं ठान।
चरितमोह के उदय में, महाव्रती सा मान।।१६०।।

इस अनुवाद में 'अशोषित हिंस' के लिए 'हिंसा त्यागी पूर्ण है' अर्थात् जिसने सभी प्रकार की हिंसा त्याग दी है, 'महाव्रतित्वं प्रयाति' के लिए 'महाव्रती सा मान', 'चरित्र मोहे उदयति' के लिए 'चरित्र मोह के उदय में' तथा 'संयम स्थान न लभते' के लिए 'संयम नहिं ठान' शब्दानुवाद किया गया है, जो शब्दार्थ और वाक्यादि की दृष्टि से बहुत समान है। इसमें मूल सामग्री की हर शब्दाभिव्यक्ति को स्थान दिया गया है किन्तु चरणों का क्रम बदल गया है, जो कुछ इस प्रकार होना चाहिए-

हिंसा त्यागी पूर्ण है, महाव्रती सा मान।
चरितमोह के उदय में, पर संयम नहिं ठान।।१६०।।

तात्पर्य सब प्रकार की हिंसा का त्याग करने वाला महाव्रती सा मान पाता है, किन्तु चरितमोह के उदय होने पर संयम नहीं रख पाता। इस प्रकार पूरे ग्रंथ में दोहे के कलेवर और मूल के कथ्य को दृष्टि में रखकर मुनि श्री ने उसका सम्यक् अनुवाद प्रस्तुत किया है। जो प्रभावोत्पादक भी है और पाठकों को तृप्त भी करता है।

अब जरा दोहा के रचना-विधान के आधार पर भी इस अनुवाद पर विचार कर लिया जाय।

प्राकृत-अपभ्रंश के छंदोग्रंथों में विरहांक के 'वृत्त जाति समुदाय' में द्विपथक छन्द का उल्लेख है। इसे उन्होंने द्विपदी माना है और इसके विषम पादों में १४ तथा सम पादों में १२ मात्रायें कही हैं-

तिण्णि तुरंगा णेउरओ, पिप्पाइक्का कण्णु।
द्रुवहअपच्छद्धेवि तह, लक्खणउ ण अण्णु।।[१०]

डॉ. शिवनंदन प्रसाद ने अपभ्रंश भाषा की प्रकृति और उसके व्याकरण की उदारता के प्रभाव स्वरूप कालान्तर में द्विपथक के समपादांत गुरु के लघु होने तथा विषम पाद में तृतीय चतुष्कल के स्थान पर त्रिकल के प्रयोग से दोहा के १३, ११ वाले रूप का विकास माना है।[११] विकास की यह एक स्थिति हो सकती है। किन्तु गणविधान को निर्दिष्ट करने के लिए ऊपर जिस छन्द को उद्धृत किया गया है, वह उस छन्द का उदाहरण भी है। इस छन्द में पहले पाद में १४, तीसरे में १३ तथा समपादों में ११, ११ मात्राएँ हें जो इस छन्द को स्वयं में दोहे के ही लक्षणों से बँधा हुआ निरूपित करती है। इसलिए यदि हम डॉ. शिवनंदन प्रसाद के तर्क को भी स्वीकार करें तो भी दोहे का विकास द्विपथक से मानना सर्वथा उचित और समीचीन है।

दोहा छन्द का वास्तविक रूप में प्रथमोल्लेख 'प्राकृतपैगलम्' में हुआ है। इस ग्रंथ में दोहा के लिए दोहा शब्द का पहली बार प्रयोग हुआ है तथा दोहा के २३ भेद कहे गये हैं।[१२]

वास्तव में दोहा लोक से उद्भूत छन्द है। इसका विकास लोक के नृत्य-गायन आदि की तालबद्ध परम्परा

से हुआ है। ताल संगीत में चतुर्मात्रिक गण का प्रयोग समत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है । ताल संगीत में सममात्रिक चतुष्पादी छन्दों के बीच १६ मात्राओं के पाद वाले छन्द अधिक लोकप्रिय रहे हैं जिसका कारण इनकी ताल सांगीतिक उपयुक्तता रही है। ये छन्द अष्टमात्रिक या चतुर्मात्रिक ताल गणों के सहारे गाये जा सकते हैं। जनसाधारण की तालगत लयबद्धता से तालवृत्त का जन्म हुआ है। तालगणों में लगने वाले समय का परिणाम निश्चित होता है, किन्तु इसमें मात्रिक स्वरूप का हिसाब सम्भव नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए अष्टमात्रिक ताल गण में भले ही वर्ण संख्या ४ से ८ तक या अधिक हो पर उसकी लघु-गुरु योजना ८ तालमात्राओं का ही समय लेगी। यदि मात्रायें अधिक या कम हैं तो गायक उन्हें मौलिक रूप में न उच्चरित करते हुए विराम या प्लुत के सहारे अपेक्षित समय की पूर्ति कर लेता है और काल मात्रिक विधान के प्रति सचेत रहता है। इसीलिए वर्णउच्चार की शुद्धता और तालमात्राओं की आवश्यकता के चलते मात्रिक छन्दों का आविर्भाव हुआ। तात्पर्य यह है कि वार्णिक छन्दों के लघु गुरु क्रम से छन्द जहाँ एक ओर मुक्त हुआ वहीं तालगणों से अलग लयविधान के लिए मात्रिक गण की कल्पना हुई जो वर्ण मात्राओं पर आधारित थी। इसमें मौखिक और लिखित दोनों रूपों में वर्णमात्राएँ समान रहीं। दोहा भी एक ऐसा ही मात्रिक वृत्त है जो अष्टमात्रिक तालगणों से उद्भूत हुआ है। लक्षण ग्रंथों में दोहा से मिलते जुलते उसके उपभेदों का भी वर्णन किया गया हैं। इनमें प्रमुख हैं- अवदोहक, उपदोहक, संदोहय और चूड़ाल दोहक।[१३]

दोहा का आविर्भाव वार्णिक वृत्त तथा तालवृत्तों के समन्वय से हुआ है इसलिए इसमें आज भी वर्णवृत्त के कुछ नियम - निषेध लागू होते हैं। इसका रचना विधान उतना सरल नहीं है जितना और मात्रिक छन्दों का है। दोहा समाष्टक लय प्रवाही छन्द है, इसलिए लयप्रवाह के अनुसार इसका मानिक गणविधान विषम चरणों में ४+४+३+२ तथा समचरणों में ४+४+३ होता है, बल्कि सम चरणों में इसे ४+४+ऽ । ही कहा जाना चाहिए। सम के पादान्त में ऽ। का त्रिकल आना आवश्यक है।

समाष्टक का निर्माण सममात्राओं के योग से होता है, अर्थात दो चौकल या दो द्विकल एक चौकल अथवा चार द्विकलों के योग से। विषम + विषम + सम के योग से समाष्टक (३+३+२) का निर्माण होता है। इसे विषमकला समाष्टक कहते हैं। इस समाष्टक के बाद के त्रिकल के लिए आचार्य पं. जगन्नाथप्रसाद भानु ने लघु गुरु से बने (।ऽ) त्रिकल का निषेध किया है।[१४] उनका मानना है कि यह त्रिकल दोहा की लय में व्याघात पहुँचाता है। किन्तु यह कथन उनके दिये हुए उदाहरण से भिन्न है और इससे बने तृतीय त्रिकल के प्रयोग से छन्द में कहीं कोई व्यवधान नहीं पड़ता। यद्यपि मुनिश्री के दोहानुवाद में समकलात्मक दोहों और विषमकलात्मक दोहों में इस प्रकार के मात्र एक - एक प्रयोग ही प्राप्त हुये हैं।

विषमकलात्मक दोहा-

रागादिक का उदय ही, हिंसा निश्चय जान
अनुदय से ही अहिंसा, श्रुत संक्षिप्त बखान।।१४४।।

समकलात्मक दोहा -

इस विध उस उस देश की, हिंसा का नहिं दोष।
विमल बुद्धि उस व्रती का, बढ़े अहिंसा कोष।।१४०।।

इस विषय में रत्नाकर जी द्वारा दोहा रचना विधान पर लिखा दोहा अधिक स्पष्ट व्यवस्था देता है।

आचार्य पं. जगन्नाथप्रसाद भानु ने विषम चरणों के आदि में जगण का निषेध किया है जो समकलात्मक दोहे के लिए उपयुक्त है।[१६] समकलात्मक दोहे में 'जगण' अर्थात् लघु गुरु लघु के योग से बनने वाले चौकल

को एक शब्द के रूप में नहीं आना चाहिए, इससे लय विखंडित होती है। महाराज की कृत दोहों समकलात्मक दोहे के रूप में इस प्रकार का मुझे मात्र एक दोहा मिला है, देखें–

सचित्त भोज मिश्रित रखा, वृष्य दुपक्वहार।
भोग और उपभोग के, दोष पंच परिहार।।१९३।।

दोहे में 'संचित' चतुर्मात्रिक शब्द जगण (।ऽ ।) का प्रयोग दोहे की लय के लिये तो व्याघात है ही, मात्रिक रूप से भी पंक्ति में १४ मात्राएँ हैं। दोहा के अष्टक में सम के साथ सम शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए। मुझे यह मुद्रणगत दोष अधिक लगता है यों कि सचित्त शब्द से भी अर्थ की पूर्ति हो जाती है और महाराज श्री ने यही रखा होगा।

विषमकलात्मक दोहे में जगण के प्रयोग के लगभग २० उदाहरण मुझे मिले हैं, किन्तु विषम कलात्मक दोहे में एक शब्द के रूप में जगण का प्रयोग न होने से यहाँ यह निषेध मान्य नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे दोहा की गति प्रभावित नहीं होती। एक उदाहरण देखें–

निज पद का निश्चय किया, पर पद विमुख त्रिकाल।
सदा विरति मुनि मन बसै, यही अलौकिक चाल।।१६।।

इस प्रकार मुनिश्री के दोहानुवाद में प्रारंभ में कहीं जगण तथा पंचक अर्थात् पंचमात्रिक शब्दों का भी प्रयोग नहीं हुआ। इसके प्रयोग से बनने वाला अष्टक विष्माष्टक होता है, जो दोहा में वर्जित है। इस प्रकार मुनिश्री द्वारा सृजित दोहे रचनाविधान के अनुकूल और सुन्दर बन पड़े हैं। यदि दोहानुवाद में कहीं कुछ अलग – सा दिखाई पड़ता है तो वह अनुवादगत समस्या से उत्पन्न हुआ है या विशिष्ट प्रयोग का परिणाम है।

आचार्य भानु ने छंद प्रभाकर में गुरु लघु की संख्या के आधार पर दोहों के २३ भेद बताये हैं।[७] जिनके नाम रूप हैं भ्रमर (२२ ग+४ ल) , भामर (२१ ग+६ ल), शरभ (२० ग+४ ल), श्येन (१९ ग+ १० ल), मंडूक (१९ ग+१२ ल), मर्कट (१६ ग+१४ ल), करभ (१६ ग+१६ ल), नर (१५ग+१८ल) , हंस (१४ग+२०ल), गयंद वा मदुकल (१३अ+२२ ल), पयोधर (१२ ग+२४ ल), चल वा बल (११ ग+२६ ल), बानर (१० ग+२८ ल), त्रिकल (७ ग+३० ल), कच्छप (८ ग+३२ ल), मच्छ (७ ग+३४ ल), शार्दूल (६ग+३६ ल), अहिवर (५ग+३८ ल), व्याल (४ग+४० ल), विडाल (३ ग+४२ ल), श्वान (२ ग+४४ ल), उदर (१ ग+४६ ल) और सर्प (४८ ल) इनमें से सर्प और उदर भेद को प्राचीन परिपाटी की मर्यादा के आदर से आचार्य भानु ने प्रस्तुत किया है। इन दोनों भेदों को निकाल दिया जाये तो २१ भेद ही शेष बचते हैं, जो स्वीकार्य और उचित है।

मुनिश्री के दोहों को यदि इन भेदों की दृष्टि से परखें तो उनके दोहानुवाद में कुल ११ प्रकार के दोहों का ही प्रयोग हुआ है। ग्रंथ में दोहों की कुल संख्या २२६ है। इनमें दोहा के प्रारंभिक विभेद भ्रमर, भ्रामर तथा श्येन दोहा का एक भी उदाहरण इसमें नहीं मिलता ।शरभ (२० ग+८ ल) लक्षण का केवल एक दोहा ग्रंथ में प्राप्त होता है।

कच्चा पक्का मांस जो, खाए रहा पिशाच।
छू लेता जो मांस को, कोटि जीव को आंच।।६८।।

ग्रंथ में सबसे अधिक ५१ दोहे नर लक्षण से युक्त हैं, नर दोहे में १५ गुरु और १८ लघु मात्राएँ होती हैं। एक उदाहरण देखें–

जिसने सिंह देखा नहीं, बालक माने शेर।
निश्चय को जाने बिना, जग में फिर फिर फेर।।७।।

तदोपरांत हंस (१४ल+२० ल) लक्षण से युक्त ३९ दोहे संख्या में दूसरे स्थान पर हैं-

अनेकान्त को नमन हो, परमागम का बीज।
सब नय से हाथी लखो, द्वेष मिटे मत खीज।।२।।

ग्रंथ में करभ (१६ ग+१६ ल) लक्षण से युक्त दोहे तीसरे स्थान और संख्या में ३५ हैं।

निश्चय तो भूतार्थ है, अभूतार्थ व्यवहार।
लक्ष्य ज्ञान बिन जी रहा, यह सारा संसार।।५।।

दूसरे और दोहे जिनकी संख्या अधिक है उनमें गयंद वा मदुकल (१३ ग+२२ ल) के ३१ दोहे-

तीन लोक दिखता जहाँ, परम्परागत वह ज्ञान।
पुरुष अर्थ की सिद्धि का, करता सुना बखान।।३।।

मर्कट (१७ ग+१४ ल) के २४ दोहे-

काल अनादी से रहा, ज्ञान रूप परिणाम।
कर्ता भी परिणाम का, भोगे भी परिणाम।।१०।।

और पयोधर के २२ दोहे हैं-

दर्पण सम जिसमें दिखें, सब पदार्थ पर्याय।
ज्योतिर्मय उस ज्ञान की, जय जय शीश नमाय।।१।।

ग्रंथ में मंडूक (१८ ग+१२ ल) लक्षण से युक्त १० दोहे, वानर (१० ग+२८ ल) के ६ दोहे, चल वा बल (११ ग+२६ ल) के ५ दोहे तथा त्रिकल के (९ग+३० ल) के दो दोहे सम्मिलित हैं। इनके उदाहरण क्रमशः निम्नवत् हैं-

मंडूक-

दोनों नय को जान के, जो होता मध्यस्थ।
वही शिष्य पाता यहाँ, श्रुत का फल आत्मस्थ।।८।।

बारत-

फरस गंध रस वर्ण से, रहित चिदातम देव।
गुण पर्यायों सहित वो, ध्रुव व्यय उदय सदेव।।९।।

चल-

सकल विरति के ग्रहण में, रहता जो असमर्थ।
देश विरति उस भव्य को, कहें जान कर अर्थ।।१७।।

त्रिकल-

निज पद का निश्चय किया, पर पद विमुख त्रिकाल।
सदा विरति मुनि मन बसे, यही अलौकिक चाल।।१६।।

इस प्रकार परम पूज्य मुनि श्री ने दोहों के रचना विधान का पूरी तरह पालन करते हुए लक्ष्य भाषा की प्रकृति को ध्यान में रखकर पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रंथ का जो सम्यक् अनुवाद प्रस्तुत किया है। यह मूल रचना की

विषयवस्तु तथा अभिव्यक्ति सौन्दर्य के बहुत निकट है और अपने अर्थवलय के साथ एक पुनरर्चना ही नहीं एक आदर्श कृति है।

संदर्भ-

१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल : डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. ९८

२. कालिदास : विक्रमोर्वशीयम् ४/८ (निर्णयसागर प्रेस सं. १९६६ वि.)

३. मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ. शिवनंदन प्रसाद, पृ. ३९०

४. वही, पृ. ३९२

५. वही, पृ. ३९२

६. वही, पृ. ३९३

७. वही, पृ. ३९४

८. हिन्दी मुक्तक काव्य का विकास : जितेन्द्रनाथ पाठक, पृ. ४८

९. रहीम ग्रंथावली : सं. डॉ. विद्यानिवास मिश्र, पृ. ७९

१०. मात्रिक छन्दों का विकास : डॉ. शिवनंदन प्रसाद, पृ. २०६ (वृ. ज. स. ४/२७)

११. वहीं, पृ. २०७

१२. वही, पृ. २०७ (प्रा. पै. १/८०-८१)

१३. वही, २०८, २०९ (कविदर्पण २/१५, २/१६)

१४. छन्द प्रभाकर : पं. जगन्नाथ प्रसाद भानु, पृ. ८१

१५. बिहारी संपादक डॉ. ओमप्रकाश (बच्चनसिंह का लेख मुक्तक दोहा) पृ. ८१

आठ तीन द्वै प्रथम पद, दूजे पद बसु ताल।
वसु मैं त्रय पर द्वै न गुरु, यह दोहा की चाल।।

१६. छन्द प्रभाकर : पं. जगन्नाथ प्रसाद भानु, पृ. ८२

१७. वही, पृ. ८४

१८. वही, ८६

ॐ नमः

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

रचयिता - श्रीअमृतचन्द्राचार्य

मङ्गला संस्कृत टीका

टीका कर्त्ता - मुनि प्रणम्यसागर (संघस्थ : आचार्य विद्यासागर)

टीकाकारस्य मङ्गलाचरणम्

चामर छन्द

प्रणम्यतेऽरिहन् सुसिद्ध-साधुसङ्घ - पादयोस्
सुदुस्तरार्तभाववार्धितारणे समर्थयोः॥१॥
मयातिभक्तिनिर्भराशयेन मुक्तिकामिना
विनेच्छया समीहितार्थदायकश्च सद्रजः॥२॥

उपजाति छन्द

तव प्रसादादवनौ विमुक्ति - प्रासादचूलस्य सहाय - पङ्क्तिः।
दीक्षाऽर्चिता कामितदायिकाऽऽसा विद्यागुरोऽवेत् किल मां कलौ सा॥३॥

इन्द्रवज्रा

वक्त्राम्बुजान्निःसृतवाक्यमाला दामायते सा विदुषां सुकण्ठे।
यद्वाग्मिता वा जगति प्रसिद्धा जीयात्सदा सोऽमृतचन्द्रसूरिः॥४॥

आर्या

पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं ग्रन्थोऽस्ति पुरुषार्थसिद्धिकरः।
श्रुतभक्तिभरेणाद्या टीका मङ्गलाख्या ख्याता॥५॥

१. जो बिना इच्छा ही (भक्त को) अभीष्ट देने वाली है (ऐसी) अति दुस्तर दुःख रूप समुद्र से तारने में समर्थ, अरिहन्त-सिद्ध और साधु समुदाय के चरणों की श्रेष्ठरत्न अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक मुझ मुक्तिकामी द्वारा प्रणम्य है अर्थात् मैं अरिहन्त, सिद्ध और साधुसंघ के चरणों में सभक्ति प्रणाम करता हूँ॥१॥

२. हे विद्यागुरो! मैंने आपकी कृपा से इस पृथ्वीतल पर मोक्षमहल के शिखर की सहायक पंक्ति स्वरूप पूजित और मनोरथों को देने वाली (जैनेश्वरी) दीक्षा प्राप्त की है, वह (दीक्षा) इस कलि-काल में मेरी अवश्य रक्षा करे॥२॥

३. (जिनके) मुख रूपी कमल से निस्सृत वचन रूपी वह माला जो विद्वानों के सुकण्ठ में हार की तरह सुशोभित होती है और जिनकी विद्वत्ता लोक में प्रसिद्ध है ऐसे अमृतचन्द्र आचार्य सदा जयवन्त हों॥३॥

४. यह पुरूषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ परम पुरूषार्थ मोक्ष की सिद्धि करने वाला है। इसलिए श्रुतभक्ति पूर्वक मङ्गला नामक प्रथम टीका प्रारंभ की जाती है।

॥ श्रीवीतरागाय नमः॥

_ शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण _

ॐ नमः सिद्धेभ्यः। ॐ नमः सिद्धेभ्यः। ॐ नमः सिद्धेभ्यः।

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव, काराय नमोनमः।।

अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकल-भूतलकलङ्का।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम्।।

अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नः।।

❋

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः। सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धक, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनः प्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' नामधेयं अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्त्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषा वचोऽनुसारतामासाद्य पूज्य अमृतचन्द्राचार्येण प्रणीतं एतस्य आचार्य विद्यासागर शिष्येण मुनि प्रणम्यसागरेण मङ्गला टीकाकृता च।

❋

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्।।

सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारकम्।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयतु शासनम्।।

इह हि भारत देशे निरुद्धमनोमोहनवाजपेयप्रचारचारोद्यमेन महाराष्ट्रप्रान्तसंस्थितेषु रामगिर्याश्रमेषु गगनचुम्बित-प्रोत्तुंगशिखरबद्धजिनालयेषु पञ्चमचक्रेश्वरश्रीशांतिनाथभगवन्मनोज्ञबिम्बदर्शनसञ्जातदर्शनविशुद्धिबलेन सिद्धान्तन्याय-व्याकरणाध्यात्मपारङ्गतविद्यावारिधिनिमज्जन विधिनोपलब्धाचिन्त्यान्तरङ्गबहिरङ्ग ज्ञानसहयथाजातरूप - दुर्लभसम्पत्तिसारेण पुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थस्येयं मङ्गला टीका प्रकीर्त्यते।

तत्रादौ ''तज्जयतीत्यादि'' मङ्गलार्यामारभ्यार्याष्टकपर्यन्तं पूर्वपीठिकाबन्धमुख्यतया **प्रथमोऽधिकारः**। तदनन्तरं ''अस्ति पुरुषश्चिदात्मा'' इत्यार्यात एकोनविंशत्यार्यापर्यन्तं सम्यक्पुरुषार्थसिद्धेरुपायकथनमुख्यत्वेन **द्वितीयोऽधिकारः**। ततः परं ''एवं सम्यग्दर्शन'' इत्यादि त्रिंशदार्यापर्यन्तं सम्यग्दर्शनव्याख्यानार्पणतया **तृतीयोऽधिकारः**। पश्चात् ''इत्याश्रितसम्यक्त्वै'' इत्यादि षट्त्रिंशदार्यापर्यन्तं सम्यग्ज्ञानकथनोपनीतत्वेन **चतुरीयोऽधिकारः**। तदनन्तरं ''विगलितदर्शनमोहैः'' इत्यार्यामारभ्य षण्णवत्यधिकशतार्यापर्यन्तं देशचारित्राख्यानप्रधानतया **पञ्चमोऽधिकारः**। तत्पश्चाद् देशव्रतिनां परिपूर्णचारित्रपालनाय प्रोत्साहयन्दशाधिकशतद्वयार्यापर्यन्तं सकलचारित्राभिधानो **षष्ठोऽधिकारः**। ततः परमुत्तरपीठिकाबन्धमुख्यतया नयद्वयमाश्रित्य चूलिकाऽभिधेयः षड्विंशत्यधिकशतद्वयार्यापर्यन्तं **सप्तमोऽधिकारः**। इति ग्रन्थस्य संक्षेपेण समुदाययोजनिका ज्ञातव्या।

इस भारत देश के महाराष्ट्र प्रान्त में स्थित रामगिरि (रामटेक-अतिशय क्षेत्र) आश्रम के गगनचुम्बी उन्नत शिखरबद्ध जिनालयों में पंचम चक्रेश्वर श्री शान्तिनाथ भगवान के मनोज्ञ बिम्ब के दर्शन से उत्पन्न विशुद्धि के बल से, मन को मोहन करने वाले पक्षी के प्रचार का उद्यम रूक जाने से सिद्धान्त, न्याय, व्याकरण, अध्यात्म में पारंगत विद्यारूप सागर में तैरने (आलोडन) की विधि से उपलब्ध ज्ञान के साथ अचिन्त्य अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग यथाजात (सकल संयम) रूप दुर्लभ श्रेष्ठ सम्पत्ति (आत्म वैभव) से मेरे द्वारा यह **पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ** की 'मङ्गला' नाम की टीका प्रारम्भ की जाती है।

विशेषः - श्री १०८ मुनि प्रणम्यसागर जी ने अतिशय क्षेत्र रामटेक में शान्तिनाथ भगवान की भक्ति की विशुद्धि से और आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज से न्याय, व्याकरण, सिद्धांत और अध्यात्म की शिक्षा प्राप्त कर उन्हीं से त्रैलोक्य पूज्य परम दिगम्बर मुनि दीक्षा ग्रहण कर मानव जीवन को सफल करते हुए संसार समुद्र में पड़े हुए प्राणियों का उद्धार करने के लिए यह टीका ग्रन्थ लिखा है। यहाँ टीकाकार ने 'निरुद्ध मनमोहन वाजपेयी प्रचारचारोद्यमेन' इस पद के द्वारा उस समय की राजनीतिक परिस्थिति का चित्रण किया है। उस समय श्री अटल बिहारी वाजपेयी के प्रधानमंत्री पद से हटने और श्री मनमोहन सिंह के प्रधानमंत्री बनने की सूचना हुई थी, यह भाव इसमें समाविष्ट किया है।

सर्व प्रथम 'तज्जयतीत्यादि' इस प्रकार मंगलाचरण से लेकर आठ श्लोक पर्यन्त पूर्व पीठिका बंध की मुख्यता से **प्रथम अधिकार** है। उसके बाद ''अस्ति पुरुषश्चिदात्मा'' इस नौवें श्लोक से लेकर उन्नीस श्लोक तक समीचीन पुरुषार्थ की सिद्धि के उपाय के कथन की मुख्यता से **द्वितीय अधिकार** है। इसके बाद 'एवं सम्यग्दर्शनं' इत्यादि ३० गाथा पर्यन्त सम्यग्दर्शन के व्याख्यान की मुख्यता से **तृतीय अधिकार** है। तत्पश्चात् 'इत्याश्रित सम्यक्त्वैः' इत्यादि इकतीसवें श्लोक से छत्तीसवें श्लोक पर्यन्त सम्यग्ज्ञान के कथन की मुख्यता से चतुर्थ अधिकार है। इसके बाद 'विगलित दर्शन मोहैः' इस प्रकार सैंतीसवें श्लोक से लेकर एक सौ छयानवे श्लोक तक देशचारित्र की मुख्यता से **पञ्चम अधिकार** है। तदनन्तर देशव्रतियों को परिपूर्ण चारित्र का पालन करने के लिए प्रोत्साहित करते हुए दो सौ दश श्लोक पर्यन्त सकल चारित्र नामक **छठा अधिकार** है। इसके बाद अन्त में पीठिका बन्ध की मुख्यता से निश्चय और व्यवहार नय का आश्रय करके चूलिका में दो सौ छब्बीस श्लोक पर्यन्त **सप्तम अधिकार** है। यह संक्षेप में पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थ की रूपरेखा जाननी चाहिए।

अथ खलु पञ्चास्तिकायप्रवचनसमयप्राभृताख्यपरमागमत्रयाणां तत्त्वप्रदीपिकातत्त्वदीपिकावृत्त्यात्मख्यात्याख्य लब्धप्रतिष्ठा-भिर्वृत्तिभिस्तत्त्वार्थसार्थसारं संगृह्य लघुतत्त्वस्फुटनप्रकटितभेदविज्ञानकलाभिर्निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्वरूप-प्रतिपत्त्यर्थमल्प-मेघसामल्पायुर्वीर्यबलानां जनानामुपकारार्थं धर्ममोक्षपुरुषार्थसंसिद्धयर्थममृतचन्द्रसूरिभिः सकलविमल केवलज्ञानगुणस्तवनपुरस्सरेण मुख्यमङ्गलमुख्यत्वेनामुख्यमङ्गलभूता समङ्गलसूत्रिताऽऽर्यावर्येव मनोमलगालनसमर्था मङ्गलार्याऽत्र समीर्यते -

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥१॥

मं.टी. - तज्जयतीत्यादि - यत्र यस्मिन् ज्ञान-ज्योतिषि। पदार्थमालिका पदार्थानां आली। पदेनद्वादशाङ्गवर्णितमध्यमपदेन ये अर्थाः अर्यन्ते परिच्छिद्यन्ते ते पदार्थाः कथ्यन्ते। ते हि जीवाजीवास्रवपुण्यपापबन्धसंवरनिर्जरामोक्षरूपा नवसङ्ख्यका भवन्ति। सप्ततत्त्वषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायप्रपञ्चोऽपि पदार्थपरिज्ञाने सति समायाति। ''माला पुष्पदामिनी'' इति विश्वलोचनः। माला एव मालिका ''के प्रत्यये

उत्थानिका - पञ्चास्तिकाय की तत्त्वप्रदीपिका टीका, प्रवचनसार की तत्त्वदीपिका वृत्ति और समयसार की आत्मख्याति टीका लिखने से प्रसिद्धि को प्राप्त, तत्त्वार्थसार की रचना कर, लघुतत्त्व स्फोट से प्रकटित भेद विज्ञान की किरणों द्वारा निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग का ज्ञान कराने के लिए अथवा अल्प बुद्धि, अल्पायु, हीन शक्ति वाले जीवों का उपकार करने के लिए और धर्म पुरुषार्थ व मोक्ष पुरुषार्थ को सिद्ध करने के लिए सकल विमल केवलज्ञान गुण के स्तवन पूर्वक अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा मुख्य मंगल की मुख्यता से और गौण मंगलभूता, मंगल सूत्र के सहित श्रेष्ठ आर्या के समान यहाँ मानसिक विकारों को नष्ट करने में समर्थ ऐसी मङ्गलाचरण रूप आर्या अवतरित की जाती है -

अन्वय : - दर्पण तल इव सकला पदार्थमालिका समस्तैरनन्तपर्यायैः समं यत्र प्रतिफलति तत् परं ज्योतिः जयति।

अन्वयार्थ :- (दर्पण तल इव) दर्पण के पृष्ठ भाग के समान (सकला) सम्पूर्ण (पदार्थमालिका) पदार्थों का समूह (समस्तैरनन्तपर्यायैः समं) भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल की समस्त अनन्त पर्यायों के साथ (यत्र) जहाँ (प्रतिफलति) प्रतिबिम्बित होता है (तत्) वह (परं ज्योतिः) केवलज्ञान रूप ज्योति (जयति) जयवन्त हो।

टीकार्थ - उस केवलज्ञान ज्योति में अलोकाकाश के साथ तीनों लोकों के समस्त पदार्थ एक साथ प्रतिबिम्बित होते हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष पुण्य और पाप के भेद से पदार्थ नौ प्रकार के होते हैं। इन पदार्थों का वास्तविक ज्ञान होने पर सात तत्त्व, छह द्रव्य और पञ्चास्तिकाय के स्वरूप का ज्ञान विस्तार से हो जाता है। जिस प्रकार माला में गुंथा हुआ एक-एक मोती स्पष्ट प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार चैतन्य ज्योति में सम्पूर्ण पदार्थों के गुण और पर्यायों का समूह स्पष्ट झलकता है, इसीलिए माला की उपमा दी गई है। समस्त अर्थात् वह

दर्पण सम जिसमें दिखे, सब पदार्थ पयार्य।
ज्योतिर्मय उस ज्ञान की, जय-जय शीश नमाय॥१॥

स्त्रीकृताकारपरे पूर्वोऽकार इकारमि'' ति सूत्रेण यत्र पदार्था मालिकेवाचरन्तीति रूपको वेत्यर्थः। यथा मौक्तिकमालायां मुक्तागुम्फनं स्फुटं भाति तथा चिज्ज्योतिषि पदार्थानां गुणपर्ययकदम्बकमसङ्कीर्णतया तेन मालिकयोपमीयते। सा किं विशिष्टा ? सकला कलया भागेन गुणेन सहितेति 'कला तु षोडशांशे' इत्यभिधानात्। एतावता गुणौघाः समादिष्टाः। ''समस्तं सकलं सर्वमि'' ति वचनाद्वा सकला समस्ता इत्यर्थः। समस्तैरनन्तपर्यायैः सममिति सर्वपर्यायनिबन्धनत्वात्। समं साकं सार्धमित्यनर्थान्तरत्वात्। अथवा सममिति विशेषणं स्वतन्त्रं विज्ञेयं यौगपद्यख्यापनार्थम्। ननु चानन्तपर्यायैरित्यलं भवति; समस्तैरिति पदमपार्थकं भाति तयोरविशेषात्। तन्न युक्तं, विशेषणविशेष्यसम्बन्धात्। तेनानन्तपर्यायाणां सामस्त्यं ख्यापितम्। अशेषद्रव्याणां त्रिकालभुवां पर्यायाणाञ्च समस्तानां परिज्ञाताऽनन्तानन्तानां केवली भगवानित्युक्तं भवति।

प्रतिफलति स्वयमेवापततीत्यर्थः। किमिव ? दर्पणतल इव दर्पणतले यथा हि पदार्थाः स्पष्टमाभासन्ते प्रतिबिम्बतया तथा हि क्षायिकज्ञाने। इव इत्युपमार्थः। दर्पणतले पदार्थस्याग्रवर्तिभागो हि विशदयतीति नाभिशङ्कनीयं दृष्टान्तस्यैकदेशत्वात्। तत्परं ज्योतिः जयति। तदिति सर्वनामपदम्। अत्रात्यन्तपरोक्षता ज्ञापनार्थमुक्तम्। ''तदितिपरोक्षे विजानीयादि'' त्युक्तेः। परमुत्कृष्टम्। ज्योतिरिति ख्यातिरुत्कृष्टात्मनेऽस्ति। अथवा ज्योतिरिव

चैतन्य ज्योति अनन्त पर्यायों को एक साथ प्रकाशित करने वाली है। 'समं, साकं, सार्धं' ये सभी शब्द एकार्थवाची हैं। अथवा गाथा में आया हुआ 'समं' विशेषण स्वतंत्र है, क्योंकि वह 'युगपत्' इस अर्थ को बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

शंका – सूत्र में समस्त और अनन्त ये दोनों पद न देकर केवल एक अनन्त पद ही देना चाहिए, क्योंकि दोनों पद एकार्थवाची है।

समाधान – ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, क्योंकि उन दोनों में विशेषण विशेष्य संबंध है, अतः दोनों पद अनर्थक नहीं हैं। अनन्त पर्यायों की पूर्णता बताने के लिए 'समस्तैः' पद दिया है। तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण द्रव्यों और तीनों कालों में होने वाली समस्त अनन्तानन्त पर्यायों को केवली भगवान एक साथ जानते हैं।

उस क्षायिक केवलज्ञान में वे पदार्थ स्वयं ही दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित होते हैं। जिस प्रकार दर्पणतल में सभी पदार्थ स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं उसी प्रकार क्षायिक ज्ञान में सभी पदार्थ स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। यहाँ 'इव' शब्द उपमा अर्थ में प्रयुक्त है।

शंका – दर्पण में पदार्थ का मात्र अग्रवर्ती भाग दिखाई देता है, पृष्ठवर्ती भाग नहीं। क्या उसी प्रकार केवलज्ञान में भी सभी पदार्थों के मात्र अग्रवर्ती भाग झलकते हैं ?

समाधान – ऐसी शंका करना उचित नहीं है क्योंकि दृष्टांत एकदेश होता है, सर्वदेश नहीं।

सूत्र में तत् पद सर्वनाम है, जो परोक्ष की ओर संकेत करता है अतः तत् पद के द्वारा केवलज्ञान की अत्यन्त परोक्षता बतायी गयी है।

ज्योति इस शब्द की प्रसिद्धि उत्कृष्ट आत्मा के लिए है।

अथवा ज्योति की तरह केवलज्ञान भी ज्योति है क्योंकि वह पदार्थों के प्रकाशन का कारण है। जैसा कि **एकीभाव स्तोत्र** में कहा है – **पाप समूह रूप अन्धकार को नष्ट करने का कारण है इसीलिए उस ज्ञान**

ज्योतिः केवलज्ञानं पदार्थप्रकाशनकारणत्वात्। यथा हि ''ज्योतीरूपं दुरितनिवहध्वान्तविध्वंसहेतुमि'' ति वचनात्। जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते सदाऽनपायात्। मङ्गलानि मनोवाक्कायभेदेन बहुधा भवन्ति। तत्र मानसिकमङ्गलं पञ्चपरमेष्ठिपदसंस्मरणं विश्वकल्याणसौख्यभावनात्मकं वा। वचसा पूज्यपुरुषाणां गुणकीर्तनं वाचनिकमङ्गलम्। निबद्धानिबद्धभेदेन तद्द्विविधं भवति। उभयमपि क्वचिज्जयवादरूपम्। यथाऽत्र तज्जयति इत्यादि। क्वचिच्चाशीर्वादात्मकम्। यथा –

श्रियं जगद्बोधविधौ विहायसि व्यदीपि नक्षत्रमिवैकमुद्गतम्।
स यस्य वस्तीर्थरथस्य सुव्रतः प्रवर्तको नेमिरनश्वरीं क्रियात्॥

क्वचिच्च वस्तुव्यावर्णनात्मकम्। यथा –

पुव्वम्मि पंचमम्हि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिये।
पेज्जं तु पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम॥

क्वचिच्च गुणस्तवनात्मकम्। यथा – ''मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे

को ज्योति रूप कहा है। ऐसी वह केवलज्ञान ज्योति जयवन्त हो। वह ज्योति सर्वोत्कृष्ट है क्योंकि उसका कभी विनाश नहीं होता है। मन, वचन, काय के भेद से मङ्गल अनेक प्रकार के होते हैं। उनमें से पञ्च परमेष्ठी के पदों का स्मरण करना अथवा विश्व के कल्याण या सुख की भावना करना मानसिक मङ्गल कहलाता है। वचनों से पूज्य पुरुषों के गुणों का कीर्तन करना वाचनिक मङ्गल कहलाता है। निबद्ध और अनिबद्ध के भेद से वाचनिक मङ्गल दो प्रकार के हैं। दोनों ही कहीं पर जयवाद के रूप में माने जाते हैं जैसे इसी ग्रन्थ में तज्जयति परं ज्योतीत्यादि के रूप में तो कहीं पर आशीर्वाद के रूप में कहा जाता है जैसे – ''**श्रियं जगद्बोधविधौ विहायसि व्यदीपि नक्षत्रमिवैकमुद्गतम्। स यस्य वस्तीर्थरथस्य सुव्रतः प्रवर्तको नेमिरनश्वरीं क्रियात्**'' जिस तीर्थरथ के प्रवर्तक मुनिसुव्रतनाथ और नेमिनाथ भगवान इस संसार को ज्ञान देने के लिए आकाश में नक्षत्र के समान प्रकाशमान हुए थे वे भगवान हम लोगों का अविनश्वर कल्याण करें। कहीं पर वस्तु व्यावर्णनात्मक मङ्गल होता है। जैसे –

'पुव्वम्मि पंचमम्हि दु दसमे वत्थुम्मि पाहुडे तदिये।
पेज्जं तु पाहुडम्मि दु हवदि कसायाण पाहुडं णाम॥

पञ्चम पूर्व की दशम वस्तु के तृतीय पाहुड से पेय दोष पाहुड की उत्पत्ति होती है, इसी का नाम कषाय प्राभृत है। इस आर्या में वस्तु व्यावर्णनात्मक मङ्गल किया गया है। कहीं पर गुणों के स्तवन रूप मङ्गल होता है। जैसे – **मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये॥** इस अनुष्टुप् में व्यक्ति विशेष को नहीं बल्कि गुणों को नमस्कार किया गया है। कायिक मङ्गल भी लौकिक और अलौकिक मङ्गल के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें – भरा हुआ घड़ा, बछड़े को दूध पिलाती गाय, विवाहित स्त्री इत्यादि का दिखना लौकिक कायिक मङ्गल माने जाते हैं। नग्न दिगम्बर मुनिराज का दर्शन अलौकिक कायिक मङ्गल माना जाता है। इसलिए इस ग्रन्थ में जयवाद रूप निबद्ध वाचिक मङ्गल प्रसिद्ध ही है॥१॥

तद्गुणलब्धये॥'' क्वचिच्च नमस्कारात्मकम्। यथा – ''नमः श्रीवर्धमानाय'' इत्यादि। कायिकमङ्गलं द्विविधं लौकिकालौकिकभेदात्। तत्र पूर्णकुम्भगोदुग्धपीतवत्ससधवास्त्रीत्यादि लौकिककायिकमङ्गलम्। यथाजातरूपदर्शनमलौकिककायिकमङ्गलम्। तेनात्र निबद्धवाचिकजयवादरूपमङ्गलं सुप्रसिद्धम्। इति प्रथमार्या-वृत्तम्॥१॥

अथ परमागमस्य स्मरणमेतत् –

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्ध - सिन्धुरविधानम्।

सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥२॥

मं.टी. - परमागमस्येति। अनेकान्तं नमामि इति क्रियाकर्मसम्बन्धः। अनेकान्तः स्याद्वादश्रुतलक्षणोपेतं सिद्धान्तम्। न एकोऽन्तो धर्मो वस्तुनो यत्र ख्याप्यते स अनेकान्तस्तम्। अन्ये तु वस्तुनि एकधर्मात्मकतामभ्युप - गच्छन्त इतराशेषधर्मानवमन्य स्वाभिप्रेतमेव धर्मं स्वीकुर्वते तस्मात्ते एकान्तवादिनोऽभिलप्यन्ते।

विशेषार्थ - टीका में आया हुआ 'पद' शब्द दो प्रकार का है। व्याकरण शास्त्र से जाना जाने वाला पद और सिद्धान्त शास्त्र से जाना जाने वाला पद। यहाँ पर सिद्धान्त शास्त्र सम्मत पद ग्राह्य है। वह पद तीन प्रकार का है : (१) प्रमाण पद (२) मध्यम पद (३) अर्थ पद।

शंका - प्रमाण पद किसे कहते है ?

समाधान - आठ अक्षर या इससे अधिक अक्षरों के समुदाय को प्रमाण पद कहते हैं। इससे अंगबाह्य श्रुत की संख्या कही जाती है। जैसे अनुष्टुप श्लोक के प्रत्येक चरण में आठ-आठ अक्षर होते हैं।

शंका - मध्यम पद किसे कहते हैं ?

समाधान - जो अंगप्रविष्ट श्रुत की संख्या के निरूपण करने वाले पद हैं उनको मध्यम पद कहते हैं। आगम में मध्यम पद के वर्णों की संख्या सोलह सौ चौंतीस करोड़ तेरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी है (१६,३४,८३,७,८८८)(गो.जी.गा.३३६) पदार्थ में रहने वाला पद द्वादशांग में वर्णित मध्यम पद ग्रहण करना चाहिए।

शंका - अर्थ पद किसे कहते हैं ?

समाधान - जितने अक्षरों के कहने से अभिप्राय पूर्ण हो जाए उतने अक्षरों का एक अर्थ पद होता हैं। इस पद के अक्षर नियत नहीं होते हैं। इससे अंगप्रविष्ट श्रुतज्ञान का विवेचन मध्यम पदों के द्वारा किया गया है। संपूर्ण अङ्गप्रविष्ट श्रुत (द्वादशांग) के पदों की संख्या एक सौ बारह करोड़, तेरासी लाख अट्ठावन हजार पाँच पद हैं। (गो.जी.गा. ३५०)

शंका - अर्थ किसे कहते हैं ?

समाधान - उपर्युक्त पदों को जानने वाले ज्ञान को अर्थ कहते हैं।

अनेकान्त को नमन हो, परमागम का बीज।
सब नय से हाथी लखो, द्वेष मिटे मत खीज ॥२॥

नित्यानित्यसामान्यविशेषैकानेकसापेक्षनिरपेक्षप्रभृतयो धर्माः प्रत्येकवस्तुनि स्वभावादेवावलोक्यन्ते। ''अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्त स्वरूपानुपलब्धेः'' इति सूत्रात्। स्याद्वादस्तु कथनपद्धतिः। स्याच्छब्दपुरस्सरं वादः प्रज्ञापनं स्याद्वादः। यथा स्यात्सत् स्यादसदित्यादि। स्यात् कथञ्चित् सद्वस्तु असद् वेत्यर्थः। स्यादिति अव्ययपदं निपातनात् सिद्धम्। विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गानाकलय्यार्पितानर्पितधर्मकथनप्रवणः स्याद्वादः स्यात्। उक्तञ्च –

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः।
सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेय – विशेषकः॥

किं विशिष्टम् ? परमागमस्य बीजं परमः श्रेष्ठः स चासौ आगमस्तस्य बीजं योनिरुत्पत्तिस्थानम्। अथवा बीजं कारणं ''हेतुर्वा कारणं बीजमि'' त्यमरः। अनेकान्ताध्यासेन विनाऽऽगमः परमागमो न स्यादित्यर्थः। अन्येषामपि निगमागमपरिकल्पना विद्यते तन्नात्र गृह्यताम्। ''आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः'' इति सूत्रात्। क्वचित् परमागमस्य जीवमिति पाठोऽपि परिपठ्यते। तदपि न विरुद्धमर्थाविशेषात्। परमागमस्य प्राणभूतमित्यर्थो

उस परम ज्योति की ऐसी महिमा है कि उसमें सम्पूर्ण पदार्थ अपने-अपने स्वभाव से प्रतिबिम्बित होते हैं और उन पदार्थों की जितनी त्रैकालिक पर्यायें है वे सभी प्रतिभासित होती हैं, जैसे दर्पण के तलभाग में घट पटादिक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। दर्पण की ऐसी कोई इच्छा नहीं होती है कि वह इन पदार्थों को प्रकाशित करे और दर्पण अपने स्वरूप को छोड़कर पदार्थों को प्रतिबिम्बित करने के लिए उनके पास भी नहीं जाता है उसी प्रकार वे पदार्थ भी अपने स्वरूप को छोड़कर उस दर्पण में प्रवेश नहीं करते हैं। तथा अपने आपको प्रकाशित कराने के लिए दर्पण के पास भी नहीं जाते हैं, किन्तु ज्ञान और ज्ञेय का ऐसा सहज सम्बन्ध है कि जैसा उन पदार्थों का आकार है या स्वभाव है वैसा ही दर्पण में प्रतिभासित होता है। उसी प्रकार ज्ञान रूपी दर्पण में समस्त जीवादि पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं। लोक में ऐसा कोई द्रव्य या पर्याय शेष नहीं है जो ज्ञान में न आया हो, इसलिए वह परम ज्योति (केवलज्ञान) स्तुति करने के योग्य हैं।

उत्थानिका – अब इष्टदेवता को नमस्कार करने के बाद जिनागम को स्मरण करते हुए द्वितीय आर्या लिखते हैं –

अन्वय :– निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानं, सकलनयविलसितानां विरोधमथनं परमागमस्य बीजं अनेकान्तं नमामि (अहम्)।

अन्वयार्थ – (निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्) जन्मान्ध पुरुषों की हाथी की अवधारणा को दूर करने वाले (सकलनयविलसितानां) समस्त नयों से प्रकाशित (विरोधमथनं) विरोध को नष्ट करने वाले (परमागमस्य बीजं) परमागम उत्कृष्ट जैन सिद्धांत के बीजभूत (अनेकान्तम्) अनेकान्त को, एकपक्ष रहित स्याद्वाद को मैं (अमृतचन्द्राचार्य) (नमामि) नमस्कार करता हूँ।

टीकार्थ – जहाँ वस्तु के एक अन्त अर्थात् धर्म को नहीं कहा जाता है वह अनेकान्त है।

अथवा – स्याद्वाद श्रुत रूप लक्षण से युक्त सिद्धान्त को अनेकान्त कहते हैं। ऐसे अनेकान्त स्वरूप परमागम को मैं (अमृतचन्द्राचार्य) नमस्कार करता हूँ। वस्तु में अनेक विरोधी धर्म रहते हैं। जो अपनी इच्छानुसार वस्तु में मात्र एक धर्म को स्वीकार करते हैं, अन्य समस्त धर्मों को न मान कर अपने इष्ट धर्म को

वा। पुनश्च निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम् जातिर्जन्म आजन्मतोऽन्धा जात्यन्धास्तेषां सिन्धुरविषये विधानं धारणा येन निषिद्धं स्थगितं तमिति। ''करेणुः सिन्धुरस्तेषु'' इति धनञ्जयः। तद्यथा एकदा सप्त निमीलितनयना हस्तिस्वरूपमवबोद्धुमुत्कण्ठिता बभूवुः। हस्तिनं पार्श्वे समागते सति ते तदङ्गं हस्ततो स्पर्शनद्वारेणावबुध्य कथयाञ्चक्रुः परस्परे। येन हस्तिनः पदं गृहीतं तेन स्तम्भवद्भाषितम्। कर्णमादायाऽन्येन सूपाकारवत् कीर्तितः। दशनं गृहीतवान् यः स तं मूसलमिव कथितवान्। अन्यः शुण्डिशुण्डामाश्लिष्य भुजदण्डामिवालापितवान्। उदरभागमुद्दिश्यैको गोमयाकृतिमिवोद्दिष्टवान्। हस्तिपुच्छमादायैको रज्जुवदवदत् अन्यस्तु मस्तकं संस्पृश्य नारिकेलवत्तमुवाच। एवं भूरिविवादः सञ्जातश्चक्षुर्भ्यामृते। परमागमनेत्रविद्धि वस्तुस्वरूपविवादमपहर्तुं समर्थो न चान्य इति भावः। सकलनयविलसितानामित्यस्मिन्-पदे। पदार्थानामिति वाक्यशेषः। सकलैः सम्पूर्णैर्नयैर्विलसितानां शोभितानामिति। यावन्तो वस्तुनो धर्मास्तावन्तो हि नयाः। नया अप्यनन्ताः अनन्तधर्मत्वात् वस्तुनः। यावन्तो नयास्तावन्तो हि वचनपथाः वक्तुरभिप्रायापेक्षत्वात्। अथवा यावन्तो वचनमार्गास्तावन्तो हि नया अविरोधात्। उक्तञ्च -

---

ही स्वीकार करते हैं उनको एकान्तवादी कहते हैं। प्रत्येक वस्तु में नित्य, अनित्य, सामान्य, विशेष, एक, अनेक, सापेक्ष, निरपेक्ष आदि अनेक धर्म स्वभाव से ही देखे जाते हैं। **परीक्षामुख** में कहा है - ''**अनेकान्तात्मक वस्तु में एकान्त स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती है।**'' स्याद्वाद - कथन पद्धति है। जैसे 'स्यात्' शब्द पूर्वक बाद अर्थात् कहना उसे स्याद्वाद कहते हैं। स्यात् सत् अर्थात् कथञ्चित् वस्तु है। स्यात् असत् अर्थात् कथञ्चित् वस्तु नहीं है। स्यात् शब्द यह अव्यय पद निपातन से सिद्ध है।

विधि और प्रतिषेध के द्वारा सप्त भङ्गों को जानकर विवक्षित और अविवक्षित धर्मों के कथन करने में जो प्रवण है उसे स्याद्वाद कहते हैं। ''**स्यात् शब्द सर्वथा एकान्त का त्यागी होने से 'किं' शब्द निष्पन्न चित्-प्रकार के रूप में कथञ्चित्, कथञ्चन आदि का वाचक है और इसलिए कथञ्चित् आदि शब्द स्याद्वाद के पर्यायवाची नाम हैं। यह स्याद्वाद सप्त भङ्गों और नयों की अपेक्षा को लिए रहता है, तथा हेय-उपादेय का विशेषक (भेदक) होता है। स्याद्वाद के बिना हेय और उपादेय की विशेष रूप से व्यवस्था नहीं बनती।**'' (आप्त मीमांसा १०४)

शंका - वह अनेकान्त किस विशेषता वाला है ?

समाधान - अनेकान्त परमागम का बीज है। परमागम अर्थात् उत्कृष्ट आगम उसका बीज अर्थात् उत्पत्ति स्थान अथवा कारण है। अनेकान्त के निश्चय बिना आगम, परमागम नहीं कहा जा सकता है। अन्य मतावलंबियों ने भी निगम और आगम की कल्पना की है, किन्तु उस आगम का यहाँ ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि **परीक्षामुख** में कहा है - **आप्त के वचन आदि के निमित्त से होने वाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।** कहीं-कहीं पर 'बीजं' के स्थान पर 'जीवं' ऐसा पाठ भी देखा जाता है। यहाँ पर दोनों के अर्थ में कोई विशेषता न होने से विरोध नहीं आता हैं। परमागम का जीव अर्थात् अनेकान्त परमागम के प्राण स्वरूप है, ऐसा अर्थ होता है।

जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवादा।
जावइया णयवादा तावइया चेव होंति परसमया॥

तथापि आरातीयाचार्यैः सप्तनयाः सम्पाद्यन्ते तेषु हि सर्वाभिप्रायाणामन्तर्भावात्। ते च नैगमसङ्ग्रहव्यवहारर्जुसूत्र – शब्दसमभिरूढैवम्भूता इति। अथवा सकल इति प्रमाणस्याभिधेयो गम्यतां वाक्यैकदेशेनाप्यशेषार्थभ्युपगमात्। भीमो भीमसेनो यथा तथा हि ''सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः'' इति वचनात्। तेन प्रमाणनयैर्विलसितानामित्यर्थः। विरोधमथनं द्वन्द्वविनाशकं परस्परविरुद्धधर्मं धार्यमाणमपि वस्तु क्वचिदपि विरोधाय न जायते विवक्षितनयार्पणादितिभावः। तमेतद्विशेषणविशिष्टमनेकान्तं नमामि अभिनौमि॥२॥

अथ तत्परमागस्य स्वरूपं प्ररूप्येदानीमात्मविषयसम्बन्धिनीं प्रतिज्ञामाविष्कुर्वन्नाह-

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्रिध्रयते विदुषां पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम्॥३॥

पुनः अनेकान्त की विशेषता बताते हैं – जन्मान्ध पुरुषों ने हाथी के विधान का निषेध कर दिया – यहाँ अनेकान्त को समझाने के लिए कथानक उपस्थित किया जाता है।

एक बार एक नगर में सात जन्मान्धों को हाथी देखने की उत्कण्ठा हुई। वे लोग हाथी के पास जाकर अपने हाथ से हाथी के विभिन्न अङ्गों को स्पर्श करके परस्पर चर्चा करने लगे। जिसने हाथी का पैर पकड़ा, उसने कहा 'हाथी खम्भे के समान होता है।' जिसने हाथी का कान पकड़ा उसने कहा 'हाथी सूपा के समान होता है'। जिसने हाथी का दाँत पकड़ा उसने कहा 'हाथी मूसल के समान होता है।' जिसने हाथी की सूँड पकड़ी उसने कहा 'हाथी भुजा के समान होता है।' जिसने हाथी का पेट पकड़ा उसने कहा 'हाथी गोमय (कुठिया) के समान होता है।' जिसने हाथी की पूँछ पकड़ी उसने कहा 'हाथी रस्सी के समान होता है।' जिसने हाथी का मस्तक पकड़ा उसने कहा 'हाथी तो नारियल के समान होता है।' इस प्रकार नेत्र के बिना हाथी के देखे जाने पर बहुत बड़ा विवाद खड़ा हो जाता है। वास्तव में परमागम रूपी नेत्र ही वस्तु स्वरूप के विवाद को दूर करने में समर्थ है दूसरा कोई नहीं, यह कथन का तात्पर्य हैं। 'सकलनयविलसितानाम्' इस पद में 'पदार्थानाम्' यह वाक्यशेष है। अर्थात् सम्पूर्ण नयों से शोभित पदार्थों के विरोध को दूर करने वाला अनेकान्त है।

जितने वस्तु के धर्म हैं उतने ही नय है। चूँकि वस्तु स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है अतः नय भी अनन्त हैं। वक्ता के अभिप्राय की अपेक्षा से जितने नय हैं, उतने ही वचन के मार्ग हैं। अथवा जितने वचन हैं उतने नय हैं, इनमें कोई विरोध नहीं। कहा भी है – ''**जितने वचन के मार्ग हैं उतने ही नयवाद है और जितने नयवाद हैं उतने ही पर समय हैं।**''

तीन लोक दिखता जहाँ, परमागम वह ज्ञान।
पुरुष अर्थ की सिद्धि का, करता सुनो बखान॥३॥

मं.टी. – लोकेत्यादि – परमागमं प्रागुक्तस्वरूपम्। किं विशिष्टम् ? लोकत्रयैकनेत्रं त्रयाणां लोकानां एकं प्रधानभूतं नेत्रं चक्षुस्तम् लोकत्रयस्य यथार्थस्वरूपमवलोकयितुमवबोधयितुञ्च परमागमो हि नेत्रवदाचरतीतिभावः। तं प्रयत्नेन निरूप्य सावधानतया निदर्शनं कृत्वा, एतावता पूर्वाचार्यस्य प्रामाण्यमावेदितम्। तेन किं करिष्यामीत्युत्तरार्धेन सूचयन्नाह – अयं अतिनैकट्यं प्राप्तः ''इदमस्तु सन्निकृष्टमि'' ति वचनात्। स च किम् ? पुरुषार्थसिद्ध्युपायः एतन्नामधेयो ग्रन्थः, को नाम पुरुषः कश्च तस्यार्थः को वा तस्य सिद्धेरुपाय इत्यादिसप्रपञ्चोऽग्रे अस्माभिः श्री अमृतचन्द्रसूरिभिः उपोद्ध्रियते निरूप्यते। केषाम् ? विदुषां विपश्चितां न च मूर्खाणाम्। प्रागेवाधीतानां पुंसां पुनरप्युपदेशेन किं प्रयोजनं स्यात् ?

यदि बालिशा भवेयुस्तर्हि कार्यकारितोपदेशस्यान्यथा व्यर्थतैवेति। तन्न युक्तम्। उपदेशस्तु सर्वजनानुग्रहाय सर्वेषामस्ति तथापि लाभो विदुषां हिताहितविचारणकुशलानामेवोपदेष्टुर्निमित्तमात्रत्वात्। किञ्चास्मिन्ग्रन्थे प्रत्येकव्रतस्वरूपं नयपरिज्ञानादि युक्त्याऽभिहितम्। युक्तिश्च प्रेक्षावतामेवोपयोगिनी। तस्मादेवोक्तम् –

फिर भी पूर्वाचार्यों ने सप्त नय कहे हैं। उन्हीं में सभी अभिप्रायों का अन्तर्भाव हो जाता है। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत ये सात नय हैं। अथवा सूत्र में सकलनय पर दिया है। जिससे सकल अर्थात् प्रमाण और नय शब्द से सप्तनय लेना चाहिए, क्योंकि वाक्य के एकदेश के उच्चारण से पूरे वाक्य का अर्थ ग्रहण हो जाता है। जैसे – भीमसेन को अकेला भीम भी कहा जा सकता है अथवा अकेला सेन भी कहा जा सकता है। इससे पूरे भीमसेन का ज्ञान हो जाता है। ''**सकलादेशः प्रमाणाधीनो, विकलादेशो नयाधीनः**'' कहा है इसलिए वस्तु का स्वरूप प्रमाण और नयों से सुशोभित है। विवक्षित नय की अपेक्षा वस्तु परस्पर विरुद्ध धर्म धारण करने पर भी कभी विरोध को प्राप्त नहीं होती है। इस प्रकार इन विशेषणों से विशिष्ट अनेकान्त को मैं नमस्कार करता हूँ॥२॥

उत्थानिका – अब अमृतचन्द्राचार्य परमागम के स्वरूप का प्ररूपण करके अपने अभिप्राय को प्रकट करते हैं

अन्वय – लोकत्रयैकनेत्रं परमागमं प्रयत्नेन निरूप्य अस्माभिः विदुषां अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपायः उपोद्ध्रियते।

अन्वयार्थ – (लोकत्रयैकनेत्रं) तीन लोक सम्बन्धी पदार्थों को प्रकाशित करने के लिए अद्वितीय नेत्र स्वरूप (परमागमं) उत्कृष्ट जैनागम का (प्रयत्नेन) प्रयत्नपूर्वक (निरूप्य) निर्णय करके (अस्माभिः) हमारे द्वारा अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा (विदुषां) विद्वानों के लिए (अयं) यह (पुरुषार्थसिद्ध्युपायः) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ (उपोद्ध्रियते) प्रकट किया जाता है अर्थात् उपस्थित किया जाता है।

टीकार्थ – परमागम का स्वरूप कहा जा चुका है। तीनों लोकों के यथार्थ स्वरूप को देखने – जानने के लिए परमागम को एक अद्वितीय नेत्र कहा है, इसलिए उस परमागम का विवेकपूर्वक निर्णय करके मैं इस ग्रन्थ की रचना करूँगा। इस कथन से अमृतचन्द्राचार्य की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। पुरुष कौन है ? उसका प्रयोजन क्या है ? और उस प्रयोजन की सिद्धि का उपाय क्या है ? आचार्य महाराज स्वयं इन सबका आगे विस्तार से वर्णन करेंगे।

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत्॥

इति प्रतिज्ञार्या गता ॥३॥

अथास्मिन्जगति धर्मतीर्थप्रवर्तनप्रवणाः के भवन्तीति व्याचिख्यासुराह -

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्॥४॥

मं. टी. - मुख्योपचारेति - मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः - अनेकान्तवादे द्वितयी पद्धतिःस्यात्। प्रथमा तु मुख्या निश्चयनयात्मिका द्वितीया च उपचारविधिर्व्यवहारनयात्मिका। तयोर्विवरणं स्थूलसूक्ष्मतया प्ररूपणं तेन निरस्तो दूरीकृतः विनेयानां शिष्याणां दुस्तरोऽतिगहनः स चासौ दुर्बोधो दूषितज्ञानं ते तथोक्ताः। पुनश्च किं विशिष्टाः ? व्यवहारनिश्चयज्ञाः व्यवहारश्च परापेक्षिको भेदात्मको वा। निश्चयो निरापेक्षी अभेदात्मको वा। व्यवहारश्च निश्चयश्च तौ जानन्ति ते व्यवहारनिश्चयज्ञाः भवन्ति। एतेन नयद्वयस्य महत्त्वं

यह ग्रन्थ विद्वानों के लिए है, व्यवहार और निश्चय से अनभिज्ञ लोगों के लिए नहीं है।

शंका - यह ग्रन्थ विद्वानों के लिए है तो जो पहले से ही विद्वान् हैं उनके लिए उपदेश की क्या आवश्यकता है, यदि अज्ञानी पुरुष ज्ञानी होते तो यह उपदेश कार्यकारी है अन्यथा व्यर्थ है ?

समाधान - उपदेश तो सब जीवों का उपकार करने के लिए होता है तो भी हिताहित का विचार करने में कुशल विद्वानों को ही इसका लाभ होता है। क्योंकि उपदेशक तो निमित्त मात्र होते हैं। दूसरी बात यह भी है कि इस ग्रन्थ में प्रत्येक व्रत का स्वरूप और नयों का परिज्ञान आदि युक्ति के द्वारा कहा गया है और युक्ति बुद्धिमानों के लिए उपयोगी हुआ करती है। इसलिए कहा भी है कि ''**गुरु आदि के उपदेश से अज्ञानी ज्ञान दशा को प्राप्त नहीं होता और ज्ञानी अज्ञानता को प्राप्त नहीं होता। अन्य (अध्यापक, गुरु आदि) तो ज्ञानप्राप्ति में निमित्त मात्र हैं, जैसे जीव और पुद्गलों को चलने में धर्मास्तिकाय उदासीन निमित्त है।**'' इस प्रकार प्रतिज्ञा रूप आर्याछन्द पूर्ण हुआ॥३॥

उत्थानिका -इस संसार में धर्म तीर्थ के प्रवर्तन में कौन कुशल होते हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर आचार्य भगवान् कहते हैं -

अन्वय- मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः व्यवहारनिश्चयज्ञाः जगति तीर्थं प्रवर्तयन्ते।

अन्वयार्थ :- (मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः) मुख्य और उपचार कथन से शिष्यों के दुर्निवार अज्ञान को नष्ट करने वाले तथा (व्यवहार निश्चयज्ञाः) व्यवहार और निश्चय नय के जानने वाले आचार्य (जगति) जगत में (तीर्थम्) धर्मतीर्थ का (प्रवर्तयन्ते) प्रवर्तन करते हैं।

कब किस विध किस ध्येय से, कथन मुख्य हो गौण।
उनसे चलता तीर्थ ये, वे ही जग में प्रौढ़॥४॥

सूचितम्। ये किल व्यवहारनयमेव हारं मन्यमानाः क्रियाकाण्डमात्रतत्परा ज्ञानाधिकात्मानं प्रत्यनुत्सुकास्ते तत्त्वज्ञानात्पराङ्मुखाः भवन्ति। तथा च ये निश्चयनयज्ञानेनैवमोक्षमवबुध्यमाना व्रततपश्चरणादिक्रियास्तु जडक्रिया इति मन्यमानाः आत्मानं सदाकालं निर्बन्धनीरागकर्मकलङ्कविहीनाति विशुद्धज्ञानातिशयेन निर्भरं विदन्तः श्रमणान्निन्दन्तस्तेऽनगढपाषाणवदाचरन्तोऽसंयतप्राया धर्मतीर्थं छिन्दन्ति। तस्मात्स्वपरहितैषिभि र्नयद्वयमवगम्यताम्। पश्चान्निरस्ताग्रहा भवन्तः परस्परस्योपालम्भनं त्यजेयुः। यस्माच्च ते हि जगति बहुसम्प्रदायाकुलितलोकेऽस्मिन्। तीर्थं तीर्यते येन भवसमुद्रस्तत्। प्रवर्तयन्ते धर्मतीर्थस्य प्रभावनां कुर्वन्तीतिभावः। प्रोक्तञ्च –

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥

टीकार्थ – अनेकान्तवाद में दो प्रकार की पद्धति है। प्रथम पद्धति मुख्य अर्थात् निश्चयनयात्मक और द्वितीय पद्धति उपचार अर्थात् व्यवहारनयात्मक कही गई है। उन दोनों की सूक्ष्म और स्थूल प्ररूपणा से दूर कर दिया है शिष्यों के अतिगहन अज्ञान अंधकार को जिन्होंने ऐसे व्यवहार और निश्चय नय के जानने वाले आचार्य होते हैं। व्यवहार नय परापेक्षी अर्थात् भेदात्मक होता है। पर का अवलम्बन करके जिसकी प्रवृत्ति होती है उसे **व्यवहार नय** कहते हैं। निश्चय नय निरापेक्षी अर्थात् अभेदात्मक होता है। स्व का अवलम्बन लेकर जिसकी प्रवृत्ति होती है उसे **निश्चय नय** कहते हैं। इस कथन से दोनों नयों का महत्व सूचित किया है। जो पुरुष मात्र व्यवहार नय का ही हार की तरह आदर करते हैं तथा ज्ञान स्वरूपी आत्मा के प्रति जिनका कोई उत्साह नहीं है, मात्र क्रियाकाण्ड में ही तत्पर रहते हैं, वे तत्त्वज्ञान से पराङ्मुख हैं तथा जो निश्चय नय के ज्ञान से ही मोक्ष को मानते हुए व्रत तपश्चरण आदि की क्रिया को जड़ की क्रिया मानते हैं और आत्मा को सदा बन्धरहित वीतराग, कर्मकलङ्क से रहित विशुद्ध ज्ञानातिशय से युक्त मानते हुए मुनियों की निन्दा करते हैं वे पुरुष अनगढ़ पत्थर की तरह असंयम का आचरण करते हुए धर्मतीर्थ को नष्ट करते हैं। इसलिए स्व-पर के हितैषी पुरुषों को उन दोनों नयों को अच्छी तरह जानना चाहिए। पश्चात् पक्षाग्रह से रहित होकर एक दूसरे को उलाहना देने का त्याग करना चाहिए। बहुसम्प्रदायों से भरे हुए इस संसार समुद्र से निश्चय और व्यवहार के ज्ञाता पुरुष ही पार होते हैं और उन्हीं के द्वारा धर्मतीर्थ की प्रभावना होती है। कहा है – ''**यदि जिनेन्द्र भगवान के मत में प्रवृत्ति करना चाहते हो तो निश्चय नय और व्यवहार नय का त्याग मत करो। यदि व्यवहार नय का त्याग करते हो तो तीर्थ का उच्छेद हो जायेगा और निश्चय नय का त्याग करते हो तो वस्तु स्वरूप का उच्छेद हो जायेगा**''॥४॥

उत्थानिका – अब दोनों नयों के विषय का यहाँ प्रतिपादन किया जाता है –

अथ नययुगलस्य विषयोऽत्र प्रतिपाद्यते -

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः॥५॥

मं.टी. - निश्चयमिति - इह अस्मिन् लोके। वर्णयन्ति देशयन्ति कथयन्तीत्यर्थः। के ते ? व्यवहारनिश्चयज्ञाः इति पूर्वगाथासूत्रेणाऽनुवर्तताम्। किं ? निश्चयं निश्चयनयस्तम्। भूतार्थो विद्यमानार्थो वस्तुनः परोपाधिनिरपेक्षयथार्थस्वरूपमिति।

भूतः अर्थः प्रदार्थः प्रयोजनं यस्य स भूतार्थः। तथा च। व्यवहारं व्यवहारनयस्तम्। अभूतार्थः अविद्यमानार्थो वस्तुनः परोपाधिसापेक्षयथार्थस्वरूपमिति। व्यवहारनयोऽपि यथार्थस्वरूपमुद्योतयति तत्क्षणे तथाविधावस्थानात्। यथा मनुजपर्यायावस्थितात्मा मनुज इत्यादिः। न च स्याद्वादामोघलाञ्छनश्रुते कोऽपि नयो मिथ्यावैषयिकः परस्परापेक्षिकत्वात्।

अन्वय - इह निश्चयं भूतार्थं व्यवहारं अभूतार्थं वर्णयन्ति। प्रायः भूतार्थबोधविमुखः सर्वोऽपि संसारः।

अन्वयार्थ - (इह) इस जगत में (निश्चयं) निश्चय नय को (भूतार्थं) भूतार्थ और (व्यवहारं) व्यवहार नय को (अभूतार्थं) अभूतार्थ (वर्णयन्ति) वर्णन करते हैं। (प्रायः) बहुलता से (भूतार्थ बोध विमुखः) भूतार्थ के ज्ञान से विमुख (सर्वोऽपि) समस्त ही (संसारः) संसार है।

टीकार्थ - व्यवहार और निश्चय को जानने वाले इस संसार में निश्चय नय को भूतार्थ कहते हैं। व्यवहारनिश्चयज्ञाः इस पद की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से लानी चाहिए। भूतार्थ अर्थात् विद्यमान अर्थ, इसका अभिप्राय यह है कि पर उपाधि से रहित वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना निश्चय नय कहलाता है। अथवा भूतार्थ पदार्थ है प्रयोजन जिसका उसे भूतार्थ नय कहते हैं।

व्यवहार नय को अभूतार्थ कहते हैं। अभूतार्थ अर्थात् अविद्यमान पदार्थ। पर उपाधि की अपेक्षा से जिसमें वस्तु का यथार्थ स्वरूप विद्यमान हो उसे अभूतार्थ कहते हैं। पदार्थ की अशुद्ध अवस्था को विषय करने वाला व्यवहार नय भी कथञ्चित् यथार्थ स्वरूप को प्रकाशित करता है, क्योंकि उस समय वस्तु उसी रूप में अवस्थित है। जैसे मनुष्य पर्याय में रहने वाला आत्मा मनुष्य कहा जाता है। इस प्रकार वस्तु स्वरूप का कथन समझना चाहिए। स्याद्वाद है अमोघ चिह्न जिसका ऐसे जैनागम में किसी भी नय को मिथ्या नहीं कहा है, क्योंकि ये नय परस्पर सापेक्ष होते हैं।

निर्विकल्प समाधि के काल में स्वात्मानुभव करने वालों की अपेक्षा व्यवहार नय अभूतार्थ है, क्योंकि वहाँ निश्चय नय की मुख्यता है। इसी प्रकार व्यहार नय की मुख्यता से स्वाध्याय, वन्दना आदि के काल में निश्चयनय भी

निश्चय तो भूतार्थ है, अभूतार्थ व्यवहार।
लक्ष्य ज्ञान बिन जी रहा, यह सारा संसार ॥५॥

व्यवहारनयो निर्विकल्पसमाधिकाले स्वात्मानुभववतामभूतार्थो भवेन्निश्चयनयार्पितत्वात्। निश्चयनयोऽपि स्वाध्यायवन्दना-दिकालेऽभूतार्थो भवेद् व्यवहारनयार्पणात्। वस्तुतो द्वितयोऽपि नयो दृष्टिभेदेन वस्तु प्रकाशयति। यः किल साक्षादात्मानमनुभवति स तु सकलनयविकल्पेन मुक्तो भवति। परमागमे हि प्रोक्तम् - ''**ण च ववहारणओ चप्पलओ तत्तो ववहाराणुसारि सिस्साण पउत्ति दंसणादो**'' ततः साध्यसाधकभावेन निश्चयव्यवहारनयौ ज्ञातव्यौ स्तः। ग्रन्थकारैर्हि तत्त्वार्थसारे प्रोक्तत्वात्। तद्यथा -

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः।

तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥

तथापि। भूतार्थबोधविमुखः - भूतार्थो यथार्थो निश्चयनयस्यार्थो भावः प्रयोजनं तस्य बोधो ज्ञानं तेन विमुखो दूरीभूतः सः। दृश्यते इति क्रियाध्याहारः। प्रायः बहुशः इत्यव्ययपदम्। सर्वोऽपि संसारः सकलः किल संसारः। एतावता प्रति भवभृतो नित्यार्तान् कारुण्यामृतं चन्द्रवाचा निर्झरति भूतार्थबोधस्य दुर्लभत्वात्। किञ्च ववहारनयरतानां साक्षात्फलं संसार एव पारम्पर्येण मुक्तिलाभादित्यवधार्य तथोक्तः॥५॥

अभूतार्थ हो जाता है। वास्तव में दोनों नय दृष्टिभेद की अपेक्षा वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करते हैं। जो निश्चय से साक्षात् आत्मा का अनुभव करता है वह सम्पूर्ण नयों के विकल्पों से मुक्त होता है। परमागम में कहा है - **व्यवहार नय चपल नहीं है क्योंकि व्यवहार नय से व्यवहारानुसारि शिष्यों की प्रवृत्ति देखी जाती है।** इस प्रकार साध्य साधक भाव की अपेक्षा दोनों नय जानने योग्य हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने तत्त्वार्थसार में कहा है - ''**निश्चय और व्यहवार नय की अपेक्षा मोक्ष-मार्ग दो प्रकार का है। उनमें निश्चय मोक्षमार्ग साध्य रूप है और दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग साधन रूप है।**'' तो भी भूतार्थ बोध से विमुख अर्थात् निश्चय नय के ज्ञान से जो विमुख हैं अर्थात् दूर हैं प्रायः ऐसे जीव संसारी ही हैं। ''भूतार्थ बोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः।'' इस पद से सभी संसारी दुःखी जीवों के प्रति आचार्य महाराज का कारुण्य अमृत उनके चन्द्रमा के समान शीतल वचनों से निर्झरित होता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि नित्य दुःखी संसारी जीवों को कारुण्यामृत और चन्द्रमा के समान शीतल वचनों द्वारा भूतार्थ का ज्ञान दुर्लभ है। दूसरी बात यह है कि व्यवहार नय में लीन रहने वाले पुरुषों को साक्षात्फल संसार ही है किन्तु परम्परा से मुक्तिलाभ भी होता है, ऐसा अवधारित करके कथन किया गया है।

भावार्थ :- ''भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः'' इस वाक्य का विशेषार्थ यह है कि आत्मा का परिणाम निश्चय नय के श्रद्धान से विमुख होकर शरीरादि पर द्रव्यों से एकत्व रूप प्रवर्तन करता है, इसे ही संसार कहते हैं। संसार कोई पृथक् पदार्थ नहीं है। इसलिए जो जीव संसार से मुक्त होना चाहते हैं उनको निश्चय नय का भी यथार्थ स्वरूप समझ कर उसका अवलम्बन करना चाहिए।

जो पदार्थ जिस विवक्षा से विवक्षित किया जाय उसे उसी विवक्षा से घटित करना चाहिए। व्यवहार को छोड़कर कभी भी कोई निश्चय तक नहीं जा सकता। इसलिए व्यवहार नय भी उपादेय है। जिस प्रकार निश्चय को सिद्ध करने वाला व्यवहार का आलम्बन लेता है, उसी प्रकार व्यवहार पर चलने वालों को निश्चय का लक्ष्य रखना भी परम आवश्यक है ॥५॥

अथ किमर्थमभूतार्थस्य प्रतिपादनमिति व्यनक्ति -

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥६॥

मं.टी. - अबुधस्येति - मुनीश्वराः मुनीनामीश्वराः गणधरदेवादयः। देशयन्ति ब्रुवन्ति। किं ? अभूतार्थम् अभूतार्थो व्यवहारनयस्तम्। किमर्थमितिचेत् ? अबुधस्य बोधनार्थं बुधः ज्ञानी, न बुधोऽबुधोऽज्ञानी ''नस्य तत्पुरुषे लोपः'' इति सूत्रात्। अत्राऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरिति विज्ञेयः। अशब्द ईषदार्थस्तेन ईषज्ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरिति। ईषदर्थे नञ् प्रयोगात् यथा ईषत्कषायोऽकषायो नोकषाय इत्यर्थः कषायाकषायवेदनीय इति ख्यातेः। सम्यग्दृष्टेर्मिथ्यादृष्टेश्च बोधनार्थं व्यवहारनयो हि समर्थः। वि-विशेषरूपेण अवहारो भागो विभाजनं यावत्पर्यन्तं विद्यते तावद्व्यवहारो युज्यते। नि-निर्गतश्चयो वृद्धिः यत्र स निश्चयोऽवगन्तव्योऽखण्डैकाभेदविषयत्वात्। तस्मान्निश्चयनयादपरः सर्वत्र व्यवहार एव स च प्राथमिकानामवलम्ब्यः।

उत्थानिका - अभूतार्थ का प्रतिपादन किस लिए किया है ? इसक समाधान करते हैं -

अन्वय - मुनीश्वराः अबुधस्य बोधनार्थं अभूतार्थं देशयन्ति यः केवलं व्यवहारं एव अवैति तस्य देशना नास्ति॥

अन्वयार्थ - (मुनीश्वराः) गणधरादि (अबुधस्य) अज्ञानी जीव को (बोधनार्थं)समझाने के लिए या ज्ञान उत्पन्न कराने के लिए (अभूतार्थं देशयन्ति) व्यवहार नय का उपदेश करते हैं। (यः) जो (केवलं) मात्र (व्यवहारं एव) व्यवहार नय को ही (अवैति) जानता है (तस्य) उसके लिए (देशना नास्ति) उपदेश नहीं है।

टीकार्थ - गणधरादि देव अज्ञानी जीवों को समझाने के लिए व्यवहार नय का उपदेश करते हैं। ''अबुधस्य बोधनार्थं'' यहाँ पर अबुध का अर्थ अज्ञानी होता है किन्तु समास के चमत्कार से अबुध शब्द के मुनिश्री ने दो अर्थ किये हैं। (१) जो ज्ञानी नहीं ऐसे अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव को ग्रहण करना चाहिए। यहाँ तत्पुरुषसमास करने पर अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अर्थ निकलता है। (२) अबुध - अ + बुध अ अर्थात् ईषत् किञ्चित् या थोड़ा। बुध अर्थात् ज्ञानी। अर्थात् यहाँ ईषत् ज्ञानी का अर्थ अविरत सम्यग्दृष्टि ग्रहण करना चाहिए। यहाँ 'नञ् समास' का प्रयोग करने से सम्यग्दृष्टि अर्थ भी ग्रहण किया जाता है। जैसे ईषत् कषाय अर्थात् नोकषाय। नोकषाय को **तत्त्वार्थसूत्र** में अकषाय वेदनीय कहा है। जैसे - ''कषायाकषायवेदनीय'' (त.सू. अ. ८ सूत्र ८) ऐसा प्रसिद्ध है। अबुधस्य का यह अर्थ स्पष्ट हुआ कि सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि जीवों को समझाने के लिए यह उपदेश हुआ है अर्थात् सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों को समझाने में व्यवहार नय ही समर्थ है।

अज्ञानी जन के लिए, अभूतार्थ का ज्ञान।
मात्र उसे ही जानते, उनको नहीं बखान॥६॥

उक्तञ्च -

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित्॥

इति व्यवहारनिश्चययोर्मैत्रं सदाऽनुसर्तव्यम्। यः कश्चित् पृथग्जनः। व्यवहारमेव केवलं अवैति जानाति स्वीकरोति वा। तस्य जनस्य देशना नास्ति कार्यकारिणी न भवतीत्यर्थः॥६॥

किमिह नास्ति केवलं व्यवहारनयमनुभूयमानस्य देशनेति दृष्टान्तेन दृढयति -

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य॥७॥

मं.टी. - माणवकेति - यथा अनवगीतसिंहस्य अविज्ञातसिंहस्य, यस्य जनस्य सिंहाकृतिगुणादिकानां

व्यवहार - 'वि' उपसर्गपूर्वक अवहार शब्द से व्यवहार बनता है। वि-विशेष रूप से, अवहार अर्थात् भाग। जहाँ तक विभाग किया जा सके वहाँ तक व्यवहार नय प्रवृत्ति करता है।

निश्चय - निः+चय-निः = निकल गयी है चय = वृद्धि जिसकी अर्थात् अखण्ड एक भेद द्रव्य को विषय करने वाला होने से उसे निश्चय कहते हैं। इसलिए निश्चय नय से भिन्न सर्वत्र व्यवहार ही प्रथम भूमिका वालों के लिए अवलम्बन के योग्य है। **समयसार कलश** में कहा है - **व्यवहार नय की इस प्रथम पदवी में** (जब तक शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति न हुई हो तब तक)**जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषों के लिए हस्तावलम्ब तुल्य कहा है तो भी जो पुरुष चैतन्य चमत्कार मात्र परद्रव्यभावों से रहित परम अर्थ** (शुद्ध नय के विषयभूत) **को अंतरंग में अवलोकन करते हैं, उसका श्रद्धान करते हैं तथा उस स्वरूप में लीनता स्वरूप चारित्र भाव को प्राप्त होते हैं उनके लिए यह व्यवहार नय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है।** इसलिए व्यवहार और निश्चय नय की मैत्री सदा अनुसरण के योग्य है।

जो पुरुष मात्र व्यवहार नय को ही स्वीकार करता है, उस पुरुष के लिए देशना कार्यकारी नहीं है॥६॥

उत्थानिका - मात्र व्यवहार नय का अनुभव करने वाले पुरुष के लिए यह देशना क्यों नहीं है, इस बात को दृष्टांत पूर्वक समझाते हैं।

अन्वय :- यथा अनवगीतसिंहस्य माणवक एव सिंहः तथा अनिश्चयज्ञस्य व्यवहारः एव हि निश्चयतां याति॥

अन्वयार्थ - (यथा) जैसे (अनवगीतसिंहस्य) सिंह को नहीं जानने वाले पुरुष के (माणवकः) बालक (एव) ही (सिंहः) सिंह रूप (भवति) होता है (तथा) उसी प्रकार (अनिश्चयज्ञस्य) निश्चय नय के स्वरूप से अपरिचित पुरुष के लिए (व्यवहारः) व्यवहार (एव) ही (हि)अवश्य (निश्चयतां) निश्चय नय के स्वरूप को (याति) प्राप्त होता है।

जिसने सिंह देखा नहीं, बालक माने शेर।
निश्चय को जाने बिना, जग में फिर-फिर फेर ॥७॥

ज्ञानं नास्ति प्रागदर्शितत्वात् तस्य। माणवक एव बालक एव। ''बालस्तु स्यान्माणवको'' इत्यमरः। तद्यथा कस्यचिद् बालस्य माता मत्पुत्रः सिंह इति ब्रूते। तच्छ्रु त्वा कश्चिदन्यो बालः परमार्थसिंहापरिचितः सन् तमेव सिंह इति मन्यते ह्ययं तु दृष्टान्तः। दार्ष्टान्तः सुगमः। एवकारोऽवधारणार्थः। किं स्यात् ? सिंहो भवति तद्वद्भासत इत्यर्थः। मुखनेत्रक्रूरतादिसामान्यस्वरूपसदृश्यतया यदि केनचित् माणवके सिंहस्य प्रतिपत्तिः स्वीकृता, सा कथञ्चिदुचिता स्यात् न पुनः सर्वथा उभयोर्भूयो भेदोपलम्भात्। किन्तु यः खलु माणवकमवलोक्य सिंहः आगतः, तस्य धावति सति सिंह उच्चलति इत्यादि रूपेण कलयति स उपहासपात्रो भवति परमार्थ – सिंहापरिचयात् तथा हि अनिश्चयज्ञस्य यस्य निश्चयनयस्य प्रतिपत्तिर्न स्यात्तस्य। व्यवहार एव निश्चयतां याति व्यवहारक्रियाकलापे हि निमग्नता व्यवहारकथने हि परमार्थता च भवतीत्यर्थः। अपि च व्यवहाराख्यानमेव निश्चयव्याख्यानं तस्य प्रतिभाति। स चानिश्चयज्ञो देह एवात्मेति मत्वा देहजनितसुखदुःखयौवन बालवृद्धादिपर्यायेषु संयोगवशादेकतामापन्नेषु तदात्मीयत्वेनानुभवति। स चानिश्चयज्ञः तीर्थङ्करप्रतिमाऽऽचार्योपाध्यायसाधुदेहानामर्चास्तुतिभक्तिवन्दनादिकं तेषामात्मनामेवेति मनुते। स चानिश्चयज्ञो व्रततपश्चरणदीक्षाप्रदानग्रहणोपदेशवाचनाप्रतिक्रमणप्रत्याख्यान – ग्रन्थपठनपाठनपूजाविधानतीर्थयात्रा – सम्मेलन

टीकार्थ – जिस पुरुष ने सिंह का आकार और उसके शौर्य क्रूरतादि गुणों को नहीं जाना है क्योंकि पहले कभी सिंह को देखा नहीं है इसलिए वह पुरुष बालक को ही सिंह मानता है। अमरकोश में माणवक बालक को कहा है। दृष्टान्त इस प्रकार है – किसी बालक की माता ''मेरा बेटा सिंह है'' इस प्रकार कहती है। उसे सुनकर कोई वास्तविक सिंह से अपरिचित दूसरा बालक उसी को सिंह मान लेता है। दार्ष्टान्त सुगम है। श्लोक में 'एव' पद निश्चय के अर्थ से आया है। अगर कोई पुरुष मुख, नेत्र, क्रूरता आदि सामान्य लक्षणों की समानता से बालक को सिंह मानता है तो भले ही कथञ्चित् स्वीकार किया जा सकता है किन्तु बालक को ही सर्वथा सिंह स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि इन दोनों में बहुत अन्तर देखा जाता है। किन्तु वास्तविक सिंह से अपरिचय के कारण जो मनुष्य बालक को देखकर सिंह आया और उसके दौड़ने पर या कूदने पर समझता है कि यह सिंह दौड रहा है या सिंह ऐसा कूदता है ऐसा मानता है तो वह हँसी का पात्र होता है। उसी प्रकार जिसको निश्चय नय का ज्ञान नहीं वह अनिश्चयज्ञ पुरुष व्यवहार के क्रिया कलापों में मग्न होकर व्यवहार को ही निश्चय मानता है तथा उसे व्यवहार कथन ही निश्चय कथन समझ आता है। वह अनिश्चयज्ञ शरीर को ही आत्मा मानकर शरीर से उत्पन्न होने वाले सुख, दुःख, जवानी, बाल, वृद्ध आदि पर्यायों में संयोग के वश से एकता मानकर उन पर्यायों को आत्मा की ही पर्याय मानता है।

वह अनिश्चयज्ञ (निश्चय को नहीं जानने वाला) तीर्थंकर प्रतिमा, आचार्य, उपाध्याय, साधुओं के शरीर की पूजा, स्तुति, भक्ति, वन्दना आदि करके उनको आत्मा की ही पूजादि मानता है और परमार्थ को नहीं जानने से व्रत, तप, दीक्षा देना या ग्रहण करने का उपदेश वाचना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, ग्रन्थ के पठन-पाठन में, पूजाविधान, तीर्थयात्रा, सम्मेलन, वार्ता परिचय्, पूजा प्रतिष्ठा आदि व्यवहार की क्रियाओं में ही रमता (रुचि रखता) है। ऐसे जीव का पुरुषार्थ भी प्रयोजनवान नहीं है क्योंकि वह आत्मा के स्वरूप से अनभिज्ञ है। इसलिए उसको देशना निरर्थक हुई है॥७॥

विशेषार्थ – वस्तु के निश्चय स्वरूप तक तो पहुँचे नहीं, केवल निश्चय नय का नाम सुनकर व्यवहार चारित्र को निश्चय चारित्र, व्यवहार सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व, व्यवहार आत्म स्वरूप को निश्चय आत्म स्वरूप समझ

– वार्तापरिचयपूजाप्रतिष्ठादि व्यवहारक्रियासु रंरम्यते परमार्थस्यानाकलनात्। न तस्य प्ररुषार्थोऽपि प्रयोजनवान् पुरुषस्वरूपापरिज्ञानात्। ततश्च तस्य देशना निरर्थका॥७॥

तर्हि भवद्भिरुच्यतां, देशनायाः समीचीनं पात्रमिति निवेदयति –

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥८॥

मं.टी. – व्यवहारेत्यादि – यः कश्चिज् जनः। तत्त्वेन भावेन वास्तवेन वा। व्यवहारनिश्चयौ द्वावपि नयौ। प्रबुध्य अवगम्य। मध्यस्थो भवति नयपक्षविरहितो भवतीत्यर्थः। स शिष्य एव देशनायाः अविकलं परिपूर्ण फलं प्राप्नोति लभते। ग्रन्थेऽस्मिन् श्रमणश्रावकयोराचरणविधिर्विधीयते। ज्ञानापेक्षया नययुग्मस्य ख्यातिस्तयोर्हि समाना स्यात्। आचरणापेक्षया कश्चिद् विशेषः। श्रमणैर्लौकिकव्यवहारो नाचरणीयो ''भवति हि मुनीनामलौकिकीवृत्ति'' रिति वक्ष्यमाणलक्षणत्वात्। अलौकिकव्यवहारः प्रत्याख्यानप्रतिक्रमणवन्दनास्तवनादिरूपो विधेयः। व्यवहारे प्रवर्तमानोऽपि तत्र कर्तव्यो येन संक्लेशो भवेत्। संक्लेशात् कर्मबन्धः प्रचुरतरश्चारित्रप्रत्यनीकत्वात्। येनात्मनि निर्विकल्पवीतरागभावनां वृद्धिः स्यात् स एव व्यवहारो युक्तः समीचीनत्वात्। समीचीनव्यवहारो हि साधकतमः।

कर उसी एकान्त पर आरूढ़ हो जाये तो वे पुरुष अज्ञानी हैं। ऐसी अज्ञान दशा में आचार्यों के उपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता है इसलिए वह आत्मा उपदेश का पात्र नहीं होता है।

उत्थानिका – जब ऐसा है तो बतलाइये कि देशना का समीचीन पात्र कौन है ? इसके लिए अगला श्लोक कहते हैं –

अन्वय – यः व्यवहारनिश्चयौ तत्त्वेन प्रबुध्य मध्यस्थः भवति सः एव शिष्यः देशनायाः अविकलं फलं प्राप्नोति॥

अन्वयार्थ – (यः) जो जीव (व्यवहारनिश्चयौ) व्यवहार और निश्चय नय को (तत्त्वेन) वस्तु स्वरूप के द्वारा (प्रबुध्य) यथार्थ रूप से जानकर (मध्यस्थः भवति) मध्यस्थ होता है अर्थात् किसी एक नय को न मानकर अपेक्षा से दोनों को स्वीकार करता है, (स एव) वह ही (शिष्यः) शिष्य (देशनायाः) उपदेश के (अविकलं) सम्पूर्ण (फलं) फल को (प्राप्नोति) प्राप्त होता है।

टीकार्थ – जो पुरुष वास्तव में व्यवहार और निश्चय नय को जानकर मध्यस्थ होता है तो नय के पक्षपात से रहित वह शिष्य ही देशना के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है। इस ग्रन्थ में मुनियों और श्रावकों के आचरण (चारित्र) की विधि बताई गई है। ज्ञान की अपेक्षा दोनों नयों की जानकारी श्रावक और श्रमण इन दोनों को समान होती है, किन्तु आचरण की अपेक्षा उनमें कुछ विशेषता है। साधुओं को लौकिक व्यवहार का आचरण नहीं करना चाहिए, जैसा कि इसी ग्रन्थ में आगे कहा जायेगा ''मुनियों की अलौकिक वृत्ति होती है'' प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, वन्दना, स्तवन आदि रूप अलौकिक व्यवहार कहलाता है। व्यवहार में प्रवृत्ति करते हुए भी ऐसा कार्य नहीं करना चाहिए जिससे संक्लेश परिणाम उत्पन्न हों। संक्लेश से तीव्र कर्म का बंध होता है क्योंकि वह संक्लेश चारित्र का विरोधी है। जिन परिणामों से आत्मा में निर्विकल्प वीतराग भावों की वृद्धि हो ऐसा व्यवहार करना ही ठीक है। समीचीन

दोनों नय को जानके, जो होता मध्यस्थ।
वही शिष्य पाता यहाँ, श्रुत का फल आत्मस्थ ॥८॥

यावद्वीतरागनिर्विकल्पपरमसमाधौ समवस्थातुमशक्यस्तावदेव सरागचारित्राविनाभाविव्यवहारनयमालम्बते। एवं विधानेन श्रमणो मध्यस्थो भवति शुद्धनिश्चयनयविषयभूतात्मस्वभावे संलीनात्। श्रावकैः पुनर्लौकिकोऽलौकिकश्च व्यवहारो विधीयताम्। तदेव लौकिकानुष्ठानमनुष्ठेयं येन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रे न दूषणं स्यात्।

उक्तञ्च -

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिकोविधिः।
येन सम्यक्त्व-हानिर्न येन न व्रतदूषणम्॥

श्रावकस्तु निश्चयनयेनाभिहितात्मस्वरूपस्य परिज्ञाता एव नानुभविता। लौकिकालौकिकव्यवहारक्रियायामनेकशः पुण्यपापोपात्तफलानि हर्षविषाद - भावमूलानि प्रादुर्भवन्ति। तानि सर्वाणि क्षणभङ्गुराणीति मत्वा निश्चयनयविषयभूतात्मस्वभावं सम्पश्यन् मध्यस्थो भवति रागद्वेषयोरप्रणिधानात्। एवमुक्तप्रकारेण नयद्वयस्य मैत्रीमवबुध्य ये भावेनाचरति स देशनायाः परिपूर्णफलमवाप्नोतीति भावः॥८॥

इति श्रीअमृतचन्द्रसूरिविरचितपुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थस्य मङ्गलाटीकायां पूर्वपीठिकाबन्धे मूकमाटी चैतन्य चन्द्रोदयादिकाव्यस्स रचयितुराचार्य श्रीविद्यासागरस्य शिष्येण मुनिप्रणम्यसागरेण प्रथमोऽधिकारो समाप्तः।

व्यवहार ही मोक्षमार्ग में साधकतम होता है। जब तक वीतराग निर्विकल्प समाधि में स्थिरता होने में असमर्थता हो तब तक सराग चारित्र के अविनाभावी व्यवहार नय का आलम्बन किया जाता है। इस प्रकार शुद्ध निश्चय नय के विषयभूत आत्म स्वभाव में संलीन हो जाने से श्रमण मध्यस्थ होता है। श्रावकों के द्वारा लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार का व्यवहार किया जाता है। लौकिक में भी वही अनुष्ठान करना चाहिए जिससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में दोष न लगें।

जैसा कि आगम में कहा भी है - ''**जैनों को वही लौकिक विधि करना चाहिए जो आगम सम्मत हो, जिससे सम्यक्त्व की हानि न हो और व्रतों में दूषण न लगे क्योंकि वही लौकिक विधि प्रामाणिक मानी गई है।**'' श्रावक निश्चय नय से कहे गये आत्मस्वरूप के ज्ञाता ही होते हैं उसके अनुभवकर्त्ता नहीं। लौकिक और अलौकिक व्यवहार की क्रियाओं में अनेक बार पुण्य-पाप से प्राप्त फलों में हर्ष-विषाद आदि भाव उत्पन्न होते हैं। वे सारे भाव क्षणभंगुर हैं ऐसा मान कर निश्चय नय के विषयभूत आत्मस्वभाव को समीचीन श्रद्धा का विषय बनाता हुआ राग, द्वेष के अभिप्राय से रहित होने से मध्यस्थ होता है। उपर्युक्त प्रकार से दोनों नयों की मैत्री को समझकर जो आचरण करता है वह देशना के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है, यह कथन का तात्पर्य है॥८॥

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ की मंगलटीका में पूर्व पीठिका बन्ध नामक प्रथम अधिकार मूकमाटी चैतन्य चन्द्रोदय आदि काव्य के रचयिता आचार्य विद्यासागर के शिष्य मुनि प्रणम्यसागर द्वारा पूर्ण हुआ।

॥ इति पीठिका बन्ध प्रथम अधिकार॥

अथ प्रतिज्ञार्यायामुक्तः पुरुषार्थसिद्ध्युपायः, न तत्र जानीमहे कः पुरुषशब्दस्याभिधेयः इत्याकूतमपाकुर्वन्नाह –

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।

गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः॥९॥

मं.टी. – **अस्तीत्यादि** – पुरुषः चिदात्मा अस्ति। चित् चैतन्यमनुभवनमित्यर्थः। चिती संज्ञाने। चेतति चित्यते वाऽनया चैतन्यमात्रं वा चित्। सा च स्वपरपरिच्छेदात्मिका शक्तिः। चिदेव आत्मा चिदात्मा। अनेन लक्षणमुपलक्षितम्। गुणलक्षणयोर्भेदो भवति। गुणा बहवः सन्ति। लक्षणमेकम्। यथा हि जीवद्रव्यस्य ज्ञानदर्शनसुखवीर्यास्तित्वप्रभृतयो गुणा उच्यन्ते। लक्षणं तु चैतन्यम्। ततश्च विलक्षणमस्ति लक्षणम्। ''व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्'' इति सूत्रात्। जीवस्य लक्षणं दर्शनज्ञानं तादात्म्यादिति चेत् ? तन्न, तादात्म्यसद्भावेऽपि क्रमप्रवर्तितत्त्वात् छद्मस्थावस्थायाम्। तेन दर्शनोपयोगक्षणे ज्ञानाभावाल्लक्षणं व्यभिचारि स्यात्। ततो हि चिल्लक्षणवान् जीवोऽव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषापेतत्वात्।

द्वितीय अधिकार

उत्थानिका – उपर्युक्त आर्या छन्दों में **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** कहने की प्रतिज्ञा की है। अब यहाँ शंका होती है कि 'पुरुष' शब्द का क्या अभिप्राय है यह हम नहीं जानते ? इस शंका का निराकरण करते हुए अगला सूत्र कहते हैं –

अन्वय – पुरुषः चिदात्मा अस्ति स्पर्शगन्धरसवर्णैः विवर्जितः गुणपर्ययसमवेतः समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहितः॥

अन्वयार्थ – (पुरुषः) आत्मा (चिदात्मा अस्ति) चैतन्य स्वरूप है (स्पर्शगन्धरसवर्णैः) स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से (विवर्जितः) रहित है। (गुणपर्ययसमवेतः) गुण और पर्यायों से सहित है और (समुदयव्ययध्रौव्यैः) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से (समाहितः) व्यवस्थित है।

टीकार्थ – पुरुष चिदात्मा है अर्थात् पुरुष चैतन्य का अनुभव करने वाला है या चैतन्य स्वरूप वाला है। चित् का अर्थ संस्कृत के अनुसार तीनों वाच्यों में किया जाता है, जो अनुभवन करता है या जिसके द्वारा अनुभवन किया जाता है या अनुभवन करना मात्र चित् कहलाता है। 'चिति संज्ञाने' धातु से चैतन्य शब्द बनता है। वही 'स्व' 'पर' को जानने वाली शक्ति है। चित् ही जिसकी आत्मा है वह चिदात्मा है। अतः अस्ति 'पुरुषश्चिदात्मा' इस पद के द्वारा जीव का लक्षण कहा गया है। गुण और लक्षण में भेद होता है। द्रव्य के गुण बहुत होते हैं पर लक्षण एक ही होता है। जैसे – जीव द्रव्य के ज्ञान, दर्शन, वीर्य, अस्तित्व आदि अनन्तगुण हैं पर लक्षण एक चैतन्य ही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि लक्षण विलक्षण होता है।

लक्षण – मिली हुई अनेक वस्तुओं में से लक्षित वस्तु के अलग करने वाले हेतु को लक्षण कहते हैं। इस प्रकार **न्यायदीपिका** में कहा है।

फरस गंध रस वर्ण से, रहित चिदातम देव।
गुण पर्यायों सहित वो, ध्रुव व्यय उदय सदैव ॥९॥

उपयोगो लक्षणमिति चेन्न, चैतन्यानुविधायी परिणाम एवोपयोग इतिप्रसिद्धेर्विशेषाभावः। न चात्र पुरुषशब्देन मनुष्यो गृह्यतामात्मद्रव्यस्य वाचकत्वात्। तेन चतुर्गतिभुवो जीवाः सिद्धाश्च पुरुषाः स्युः। पुनश्च किं विशिष्टः। स्पर्शगन्धरसवर्णैः विवर्जितः - स्पर्शोऽष्टविधः गन्धो द्विविधः, रसाः पञ्चप्रकाराः, वर्णाश्च पञ्चधा, स्पर्शश्च गन्धश्च रसश्च वर्णश्च स्पर्शगन्धरसवर्णाः द्वन्द्ववृत्तेस्तैर्विवर्जितो रहितः। जीवपदार्थे स्पर्शगन्धरसवर्णा न भवन्तीत्थर्थः। यद्यपि व्यवहारनयेन जीवः स्पर्शगन्धरसवर्णयुक्तः शरीरसम्बन्धनात् तथापि तज्जीवस्य चक्षुषा सूक्ष्मदर्शियन्त्रेण वा दर्शनं मृत्योरनन्तरं तद्गतिनिरीक्षणञ्च त्रैकाल्येऽपि न सम्भवेत् ''निरुपभोगमन्त्यमि'' ति वचनात्। पुनश्च किं ? गुणपर्ययसमवेतः गुणाः आद्रव्यभाविनः, पर्यायाःक्षणक्षयिणः चिरावस्थायिनो वा। गुणा द्रव्यस्य विधायकाः, पर्याया द्रव्यस्य विकाराः। पर्यायः पर्ययः परिणामः इत्यनर्थान्तरम्। गुणाश्च पर्ययाश्च गुणपर्ययाः तैः समवेतो युक्तो जीवद्रव्यम् ''गुणपर्ययवद्द्रव्यमि'' ति वचनात्। अनेन जीवस्य द्रव्यता ख्यापिता। द्रव्यगुणपर्यायाणामयुतसिद्धत्वं प्रतिपत्तव्यं तादात्म्यलक्षणात्। अयुतसिद्धत्वेऽपि कथञ्चिद्भिन्नता शब्दसंख्यालक्षणापेक्षया कथञ्चिदभिन्नता च तयोरव्यतिरेकसद्भावात्। यदि जीवो द्रव्यं तर्हि कथं सत्त्वमित्याशङ्कामपहरन्नाह समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहितः। उत्तराकारपरिणतिः समुदयः उत्पादः, पूर्वाकारपरित्यागो व्ययः, ध्रुवस्य भावः कर्म वा ध्रौव्यं स्थैर्यमित्यर्थः। तैः समाहितः ''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'' इति वचनात्।

शंका - जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शन होना चाहिए क्योंकि इन दोनों गुणों का जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है?

समाधान - ऐसा नहीं है, क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में तादात्म्य होने पर भी ज्ञान-दर्शन क्रमवर्ती होते हैं।

अर्थात् - छद्मस्थ अवस्था में पहले दर्शन होता है और दर्शन पूर्वक ज्ञान होता है किन्तु सर्वज्ञ के दर्शन ज्ञान दोनों साथ-साथ होते हैं। इसलिए दर्शनोपयोग के काल में ज्ञान का अभाव हाने से लक्षण व्यभिचारी होता है। इसलिए चैतन्य लक्षण वाला जीव है। यह लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभव दोष से रहित है। यदि आप कहें कि ''उपयोग लक्षण वाला जीव है'' तो ऐसी बात नहीं है क्योंकि उपयोग का लक्षण इस प्रकार कहा गया है ''चैतन्य का अनुसरण करनेवाले परिणाम को उपयोग कहते हैं।'' ऐसा आगम से प्रसिद्ध होने से दोनों में विशेषता का अभाव है। यहाँ पर पुरुष शब्द से मनुष्य अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि यहाँ तो पुरुष शब्द आत्म द्रव्य का वाचक है। इसलिए चतुर्गति में होने वाले जीव और सिद्ध परमात्मा को पुरुष शब्द से ग्रहण करना चाहिए। उस पुरुष में और क्या विशेषता है तो कहते हैं कि वह स्पर्श गन्ध रस वर्ण से रहित है अर्थात् आठ प्रकार के स्पर्श, दो प्रकार के गन्ध, पाँच प्रकार के रस और पाँच प्रकार के वर्ण से रहित है। स्पर्श गन्ध रस वर्ण का इतरेतर द्वन्द्व समास किया गया है। जीव पदार्थ में स्पर्श गन्ध रस वर्ण नहीं होते हैं। यह कथन का तात्पर्य है।

यद्यपि व्यवहार नय की अपेक्षा शरीर के सम्बन्ध से जीव स्पर्श रस गन्धवर्ण से युक्त है तो भी जीव को चक्षु के द्वारा या सूक्ष्मदर्शी यन्त्र के द्वारा देखना या मृत्यु के बाद जीव की गति को जानना त्रिकाल में भी संभव नहीं है, क्योंकि **तत्त्वार्थसूत्र** में कहा है - अन्तिम शरीर (कार्मण शरीर) उपभोग से रहित है। जीव द्रव्य की और क्या विशेषता है - गुणपर्यय समवेत-- द्रव्य के गुण शाश्वत होते हैं। पर्यायें क्षणक्षयी (क्षणध्वंसी) और चिरकाल तक स्थायी भी रहती हैं। द्रव्य के विधायक गुण हैं और द्रव्य का विकार पर्यायें हैं। पर्याय, पर्यय, परिणाम से सब एकार्थवाची हैं। जो गुण और पर्यायों से सहित है उसे जीव द्रव्य जानना चाहिए। जैसा कि **तत्त्वार्थसूत्र** में कहा है। 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' अर्थात् गुण और पर्याय से युक्त द्रव्य होता है। इससे जीव की द्रव्यता का वर्णन किया गया है। तादात्म्य लक्षण वाली होने से द्रव्य से गुण पर्यायों का अपृथक्पना सिद्ध है ऐसा जानना चाहिए। अपृथक् (अभिन्न) होने पर भी शब्द (संज्ञा), संख्या, लक्षण की अपेक्षा से कथञ्चित् भिन्न है, कथञ्चित् अभिन्न है क्योंकि उन द्रव्य और गुण दोनों में अभेदपना है।

अमी उत्पादादयः कथञ्चिद् भिन्ना भिन्नलक्षणोपेतत्वात् दधिघृतवत्। न चेदमसिद्धमशेषलोकसाक्षिकत्वात्। दधिलाभो दुग्धस्य विनाशः, घृतस्य लाभो दध्नो विनाशः, दुग्धस्य द्रव्यरूपतयाऽनुवर्तनं सदैव तस्मात् कथञ्चिदभिन्ना। इत्यन्योन्यसापेक्षाणामुत्पादादीनां स्वरूपमवसेयम्। उक्तञ्च –

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।

अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥

उत्पादादयो वस्तुनो नैसर्गिका धर्माः। पर्यायार्थिकतया वस्तु यत्क्षणे उत्पद्यते तत्क्षणे विपद्यते च। द्रव्यार्थिकतया वस्तु सत्त्वमेव। एतावता वस्तु प्रतिक्षणमभिनवम्। अनेन कारणेन हि सिद्धात्मनां सौख्यमनुक्षणमपूर्वम्। यस्माद्धि स्याद्वादमुद्राङ्कितमर्हत्शासनमाधुनिकतमम्। अनादिकालेनानवरतानिलप्रवाह इव वाह्यमानोऽपि धर्मोऽमलतरापूर्वसंवाहः। उत्पादव्ययध्रौव्यात्मिका शक्तिः सर्वद्रव्येषु स्वभावेनैवावतिष्ठते। न कोऽपि ब्रह्मा वा

यदि जीव द्रव्य है तो सत्त्व कैसा होगा ? इस प्रकार की शंका का निराकरण करते हुए कहते हैं 'समुदयव्ययध्रौव्यैः समाहितः' नवीन पर्याय की प्राप्ति उत्पाद कहलाती है। पूर्व पर्याय का त्याग व्यय कहलाता है। दोनों पर्यायों में सत् का होना ध्रौव्य कहलाता है। इनसे जो सहित है वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य से युक्त है। जैसा कि **तत्त्वार्थसूत्र** में कहा है 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्।' ये उत्पादादि कथञ्चिद् भिन्न हैं, क्योंकि ये भिन्न लक्षण वाले होते हैं। जैसे दही और घी, गोरस की अपेक्षा अभिन्न है किन्तु दूध का व्यय दही का उत्पाद, घृत पर्याय का उत्पाद, दही पर्याय का विनाश (व्यय) इन सभी स्थितियों में दूध रूप द्रव्य का सभी के साथ अनुवर्तन सदैव रहता है, इस अपेक्षा से कथंचिद् अभिन्न है। इस प्रकार एक दूसरे की अपेक्षा से उत्पादादि का स्वरूप जानना चाहिए। जैसा कि कहा है –

जिसके दुग्ध लेने का व्रत है अर्थात् आज मैं दूध ही लूँगा ऐसी प्रतिज्ञा है वह दही नहीं खाता, जिसके दही लेने का व्रत है, वह दुग्ध नहीं पीता और जिसका गोरस न लेने का व्रत है वह दूध, दही दोनों ही नहीं खाता। **इससे मालूम होता है कि वस्तु तत्त्व त्रयात्मक है - अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है।**

उत्पाद आदि वस्तु के स्वाभाविक धर्म हैं। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा वस्तु जिस क्षण में उत्पन्न होती है उसी क्षण में वह विनाश को भी प्राप्त होती है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा उसी क्षण वस्तु सत्त्व (अस्तित्व या मौजूदगी) रूप में भी रहती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वस्तु प्रत्येक क्षण नवीन ही है। इस कारण से सिद्धों के प्रत्येक क्षण अपूर्व ही सुख होता है। चूँकि स्याद्वाद मुद्रा (मुहर) से अंकित जिनेन्द्र भगवान का शासन नवीनतम ही है इसलिए अनादि काल से निरन्तर पवन की तरह प्रवाहमान होकर भी यह जैन शासन अत्यन्त निर्मलता का अपूर्व प्रवाह है। उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक शक्ति सभी द्रव्यों में स्वभाव से ही रहती है। इस लोक में ऐसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि कोई पुरुष नहीं है कि जो लोक की रचना, रक्षा और विनाश करते हों। लोक में सभी द्रव्यों में उत्पाद, व्यय आदि स्वभाव से ही होते हैं। यहाँ ऐसा मानना चाहिए कि उत्पाद शक्ति ही निश्चय से ब्रह्मशक्ति है, व्यय शक्ति ही निश्चय से महेश की परिच्छेदक है और ध्रौव्यशक्ति का भाव ही विष्णु है। इस प्रकार शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से जीव का स्वरूप कहा गया है ॥९॥

विष्णुर्वा महेशो वाऽत्र सन्तिष्ठते येनोत्पादादयः सम्पद्यन्ते। उत्पादशक्तिर्हि ब्रह्मशक्तिः, व्ययशक्तिपरिच्छेदकः किल महेशः, ध्रौव्यशक्तिभावो नाम विष्णुः। इति शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्वरूपमभिहितम्॥९॥

अहो एष शुद्धचित्पुरुषोस्मिन् देहेऽवतिष्ठमानो भवगेहे किमिति सन्देहे सति कारणं न ब्रूमहे किन्तु आचार्या एव - प

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्ततया।

परणिामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च॥१०॥

मं.टी. - परिणममान इत्यादि - स कथितस्वभाववान् जीवः। अनादिसन्ततया न आदिर्विद्यते यस्य स अनादिः तस्य सन्ततिः परम्पराप्रवाहो वा तया। नित्यं सर्वकालमनाहततया। ज्ञान-विवर्तैर्ज्ञानविकल्पैः। परिणममानः तदनुपरिणमनं कुर्वन्। किं स्यात् ? कर्ता च भोक्ता च। केषाम् ? स्वेषां परिणामानां यथा कुरुते तथा भुङ्क्ते।

अयमात्माऽनादिकालत एव कर्मकलङ्कपङ्कतो लिप्तः। स हि नानाविधसङ्कल्पविकल्पावर्तैरुत्प्लवमानो

विशेषार्थ - पुरु अर्थात् उत्तम, चैतन्य गुणों में जो शेते अर्थात् स्वामी होकर प्रवृत्ति करते हैं उन्हें पुरुष कहते हैं अर्थात् जो दर्शन और ज्ञान रूप चेतना के स्वामी हैं उन्हें पुरुष कहते हैं। आत्मा का यह लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोष से रहित हैं।

अव्याप्ति - जो लक्षण लक्ष्य के एकदेश में पाया जाये उसे अव्याप्ति दोष कहते हैं। जैसे - पशु का लक्षण सींग।

अतिव्याप्ति - जो लक्षण लक्ष्य और अलक्ष्य दोनों में पाया जाये उसे अतिव्याप्ति दोष कहते हैं। जैसे गाय का लक्षण सींग।

असंभव दोष - जो लक्षण प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणों से लक्ष्य में नहीं पाया जाता उसे असंभव दोष कहते हैं। जैसे आत्मा को चैतन्य शून्य मानना या गधे के सींग मानना।

यहाँ पुरुष का लक्षण चैतन्य बताया है। यह चैतन्य आत्मा को छोड़कर अन्य किसी अजीव पदार्थ में नहीं पाया जाता है, इसलिए जीव का चैतन्य लक्षण इन तीन दोषों से रहित समीचीन हैं॥९॥

उत्थानिका - अरे! आश्चर्य है कि यह शुद्ध चिद् स्वरूप आत्मा शरीर में रहता हुआ संसार रूपी घर में क्यों है ऐसा संदेह होने पर उसका कारण मैं नहीं कह रहा हूँ, किन्तु आचार्य भगवन्त स्वयं प्रकट करते हैं :-

अन्वय - स अनादिसन्तत्या नित्यं ज्ञानविवर्तैः परिणममानः स्वेषां परिणामानां कर्त्ता च भोक्ता च भवति।

अन्वयार्थ - (सः) वह चैतन्य आत्मा (अनादिसन्तत्या) अनादि परिपाटी से (नित्यं) निरन्तर (ज्ञानविवर्तैः) ज्ञान की पर्यायों से (परिणममानः) परिणमते हुए (स्वेषां) अपने (परिणामानाम्) परिणामों का (कर्त्ता च भोक्ता च) कर्त्ता और भोक्ता भी (भवति) होता है।

काल अनादी से रहा, ज्ञान रूप परिणाम।
कर्त्ता भी परिणाम का, भोगे भी परिणाम ॥१०॥

विचित्रकर्म सञ्चयन् स्वपरविभागविवेकविकलतया सकलमपि वैश्वमात्मानं कर्तुमभिवाञ्छन्ननिर्वार-महङ्कारबलेनानुपचरितासद्भूतव्यवहारनयभूतमत्यन्त-संश्लेषतामुपगच्छन्नपि दुर्जनमिव क्लेशकारि शरीरमात्मीयतयोपभुञ्जन् तस्य, उपचरिता सद्भूतव्यवहारनयेन पुत्रमित्रकलत्रवित्तादीनां चाज्ञानजनितसुखदुःखादिभावानामशुद्धनिश्चयनयेनैक-क्षेत्रावगाहसम्बन्ध-निबन्धनात् कर्ता च भोक्ता च भवतीत्यर्थः॥१०॥

तस्य पुरुषस्य प्रयोजनस्य सिद्धिः कदा भवतीति कथयति -

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।

भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः॥११॥

मं.टी. - सर्वेत्यादि - यदा स आत्मा समञ्जसं पुरुषस्वरूपं परमार्थतोऽवगम्य किं कुरुते ? आप्नोति लभते। किं तत् ? चैतन्यं शुद्धनिश्चयनयविषयभूतनिर्मलकेवलज्ञानम्। कथम्भूतम् ? अचलं निष्प्रकम्पम्। भूयः

टीकार्थ - जिसका स्वभाव ऊपर कहा जा चुका है ऐसा वह जीव अनादि काल से निरन्तर बिना रुके, ज्ञान पर्यायों से सहित होकर परिणमन करता है और अपने परिणामों का कर्त्ता और भोक्ता होता है अर्थात् जैसा कर्म करता है वैसा फल भोगता है।

यह आत्मा अनादि काल से ही कर्म कलंक रूपी पंक से लिप्त है। यह आत्मा अनेक प्रकार की संकल्प विकल्प रूपी लहरों में उछलता हुआ अनेक प्रकार के कर्मों का संचय करता है। स्व और पर के विवेक से रहित होने से सम्पूर्ण लोक को अपने अधीन करना चाहता है तथा जिसका रोकना कठिन है ऐसे अहङ्कार के बल से अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय रूप से अत्यन्त संश्लेष सम्बन्ध को प्राप्त, दुर्जन की तरह क्लेशकारी शरीर को आत्मबुद्धि से उपभोग करता हुआ शरीर का एवं उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से पुत्र, मित्र, स्त्री, धनादि का और अशुद्ध निश्चयनय से एकक्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से अज्ञानजनित सुख दुःखादि भावों का कर्त्ता और भोक्ता होता है, ऐसा जानना चाहिए॥१०॥

उत्थानिका - उस पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि कब होती है -इसे कहते हैं -

अन्वय - यदा सः सर्वविवर्त्तोत्तीर्ण अचलं चैतन्यं आप्नोति, तदा सम्यक् पुरुषार्थसिद्धिं आपन्नः कृतकृत्यः भवति॥

अन्वयार्थ - (यदा) जिस समय (सः) वह पुरुष (सर्वविवर्त्तोत्तीर्ण) समस्त वैभाविक भावों से उत्तीर्ण वा रहित (अचलं) निष्कंप (चैतन्यं) चैतन्य स्वरूप को (आप्नोति) प्राप्त होता है (तदा) उस समय (सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिं) समीचीन पुरुषार्थ सिद्धि-पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि को (आपन्नः) प्राप्त होता है (कृतकृत्यः) कृतकृत्य (भवति) होता है।

सकल विकल्पों को मिटा, निश्चल जब चैतन्य।
सकल अर्थ की सिद्धि पा, हो कृतार्थ हो धन्य॥११॥

किम्भूतम् ? सर्वविवर्तोत्तीर्णं कर्तृत्वभोक्तृत्वस्वामित्वप्रत्ययमूलकमहाकषायगर्भधारणसामर्थ्यसमुत्पन्नसङ्कल्पविकल्पा एव विवर्ताः। एतैः सर्वैः विवर्तैर्वैभाविकभावैरुत्तीर्णः पारङ्गतो यस्यात्मा स तम्। ततः किम् ? कृतकृत्यो भवति कृत्यं करणीयं कार्यं येन कृतं स समस्ति, अन्यकार्याणां बहुशः सम्पादनत्वात्। तदा तत्काल एव। तथा च किम्? सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः सम्यक् समीचीनः स चासौ पुरुषार्थो निःश्रेयसकारणत्वात् तस्य सिद्धिरुपलब्धिस्तामापन्नः प्राप्तः इत्यर्थः॥११॥

अथानादिसम्बन्धभूतयोर्जीवाजीवयोर्बन्धः कथं स्यादिति स्पष्टयति -

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।

स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥१२॥

मं.टी. - **जीवकृतमित्यादि** - जीवकृतं परिणामं - स्वभावविभावरूपाः परिणामा द्विविधा भवन्ति। परिणामो हि जीवस्वभावः। यदा हि जीवो विभावपरिणामतया रागद्वेषमोहजनिताज्ञानेन परिणमति तदाऽशुद्धनिश्चयनयेन रागादीनां कर्ता भवति। यदा हि जीवो स्वभावपरिणामतया वीतरागसमाधिसमुत्पन्नस्वकीयपरकीयभेदज्ञानेन परिणमति तदा शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धज्ञानादीनां कर्ता भवति।

टीकार्थ - अब वह आत्मा वास्तविक पुरुष के स्वरूप को जानकर क्या करता है ? वह चैतन्य स्वरूप को प्राप्त करता है। वह चैतन्य स्वरूप कैसा है ? शुद्ध निश्चय नय के विषयभूत निर्मल केवलज्ञान स्वरूप है। और कैसा है ? अचल है, अर्थात् एक बार शुद्ध आत्म तत्त्व की प्राप्ति होने पर फिर कभी चलायमान नहीं होता है।

पुनः किस रूप है ? सभी विवर्तों से उत्तीर्ण है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व, स्वामित्व प्रत्यय मूलक महाकषायों के धारण की सामर्थ्य से उत्पन्न संकल्प-विकल्पों को विवर्त कहते हैं। ऐसे सभी विवर्त रूप वैभाविक भावों से उत्तीर्ण हुआ आत्मा चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है। जिससे वह कृतकृत्य होता है अर्थात् करने योग्य समस्त कार्यों को जो कर लेता है क्योंकि अन्य कार्यों का सम्पादन बहुत बार हो चुका है। उसी काल में वह सम्यक् पुरुषार्थ की सिद्धि को प्राप्त होता है, यह इस कथन का तात्पर्य है॥११॥

उत्थानिका - अनादि संबंधभूत जीव और अजीव का बन्ध कैसे होता है ? इसे स्पष्ट करते हैं -

अन्वय - अत्र जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनः अन्ये पुद्गलाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ते॥

अन्वयार्थ - (अत्र) आत्मा में (जीवकृतं) जीव के द्वारा किये हुए (परिणामं) परिणामों का (निमित्तमात्रं) निमित्त मात्र (प्रपद्य) पा करके (पुनः) फिर (अन्ये पुद्गलाः) अन्य पुद्गल कार्मण वर्गणा (स्वयमेव) आप ही (कर्मभावेन) ज्ञानावरणादि कर्म रूप से (परिणमन्ते) परिणमन करते हैं।

जीवों के परिणाम का, पा निमित्त अणु कर्म।
अष्ट कर्म से परिणमें, स्वयं सहज यह धर्म ॥१२॥

यदा हि परमभावग्राहकपरमशुद्धनिश्चयनयेन प्रत्यक्षेण ज्ञानादिगुणभरितं

स्वकमवेक्षते तदा एवाकर्ता भवति। अशुद्धनिश्चयनयोऽपि व्यवहारनयोऽवगन्तव्यः। अत्र रागादयः परिणामाः अर्पिताः। तं निमित्तमात्रं प्रपद्य अङ्गीकृत्य निमित्तनैमित्तिकसम्बन्धवशादित्यर्थः। अन्ये पुद्गलाः कर्मवर्गणायोग्याः। पुनश्च स्वयमेव न बलात्कारेण स्वोपादानेनैव। कर्मभावेन मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नत्वेन परिणमन्तेऽत्रात्मनि सम्बध्नन्ति।

अथायं विशेषः जीवकृतपरिणामस्तु निमित्तमात्रम्। मात्रमितिशब्दो परिणामपरिणामिनोः सम्बन्धोऽतीव संवेदनात्मकत्वेन ध्वयन्ते। किं तदतीवसंवेदनम् ? जीवकर्मणोर्मिथः परिणमनम्। जीवकृतानां परिणामानां रागद्वेषादीनां निमित्तं प्राप्य कर्मपुद्गलाः कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमन्ते। तेनात्र जीवस्य परिणामाः निमित्तमात्रत्वेन कथिताः कर्मपरिणमनेऽतीवसंवेदनात्। उपचारो व्यवहारो निमित्तनैमित्तिकसम्बन्धो द्रव्यद्वयस्यान्योऽन्यप्रभावः परस्पराश्रयता वा समानार्थका। उक्तञ्च - **समयसारेऽपि - 'जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमेत्तेण।'** अयमुपचारस्तु तावत्सत्यं यावन्न निर्विकल्पपरमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रये सञ्चारः। निर्विकल्पसमाधिपराणां परमार्थविषयभूतात्मनां योगिनामेवावस्थां संलक्ष्यायं व्यवहार इति व्यवह्रियते। यतश्च निश्चयापेक्षया व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः न पुनः सर्वथा उक्तञ्च - **'एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।'** यदि सरागिणोऽसंयमपराः जीवकर्मणोः सम्बन्धं सर्वथा मिथ्यारूपमुपचाराद वक्ष्यन्ते तर्हि

टीकार्थ - जीव कृत परिणाम दो प्रकार के होते हैं, स्वभाव रूप परिणाम और विभाव रूप परिणाम। परिणमन जीव का स्वभाव है। जब जीव विभाव परिणाम के द्वारा मोह, राग, द्वेष जनित अज्ञान भाव से परिणमन करता है, तब अशुद्ध निश्चय नय से रागादि परिणामों का कर्त्ता होता है। जब जीव स्वभाव परिणाम से वीतराग समाधि से उत्पन्न स्वपर भेद ज्ञान के द्वारा परिणमन करता है, तब शुद्ध निश्चय नय से शुद्ध ज्ञानादिकों का कर्त्ता होता है। जब यह जीव परम भाव ग्राहक परमशुद्ध निश्चय नय से प्रत्यक्ष से अनुभव में आने वाले ज्ञानादि गुणों से भरे हुए अपने निजी गुणों का अनुभव करता है उस समय यह जीव अकर्त्ता होता है। अशुद्ध निश्चय नय को भी व्यवहार नय जानना चाहिए। यहाँ रागादि परिणामों की विवक्षा लगानी चाहिए। उन रागादि परिणामों का निमित्त पाकर अर्थात् निमित्त नैमित्तिक संबंध की अपेक्षा से कार्मण वर्गणा के योग्य पुद्गल स्वयमेव, जबरन नहीं, अपने उपादान से ही मूल और उत्तर प्रकृति के भेद से कर्म रूप परिणमन करके आत्मा से सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं।

यहाँ पर विशेषता यह है कि जीवकृत परिणाम तो निमित्त मात्र हैं। 'मात्र' यह शब्द परिणाम और परिणामी के अत्यन्त संवेदनात्मक सम्बन्ध को बताता है।

शंका - वह अतीव संवेदन क्या है ?

समाधान - जीव और कर्म का परस्पर परिणमन ही अतीव संवेदन है। जीवकृत राग द्वेष आदि परिणामों के निमित्त से कर्म पुद्गल स्वयं ही कर्म रूप से परिणमन करते हैं इसलिए कर्म के परिणमन में जीव के परिणामों का अत्यन्त संवदेन होने से यहाँ पर जीव के परिणामों को निमित्त मात्र कहा गया है। उपचार का अर्थ व्यवहार, निमित्त नैमित्तिक संबंध, दो द्रव्यों का परस्पर प्रभाव अथवा एक दूसरे के आश्रित होना है। जैसा कि **समयसार** में कहा है - ''**जीव ने कर्मों को किया ऐसा उपचार मात्र से कहा जाता है।**'' यह उपचार तब तक सत्य है जब तक निर्विकल्प परम उपेक्षा संयम की भावना से परिणत अभेद रत्नत्रय की प्राप्ति न हो।

जीवः कर्म न करोतीत्येकं, च जीवः संसारे बन्धनवशान्त सञ्चरतीति द्वितीयं, जीवो न कर्मणां वेदकः इति तृतीयं दूषणम्। तेन संसारो हि न स्यात् कथं मोक्षोपाय इति स्वच्छन्दवृत्तेः स्याद्वादमर्मणोनभिज्ञैः शासनं मलिनीकृतम्। ये किल केचन जीवकर्मणः सम्बन्धः सर्वदैवेति मनसि अवधार्य शुद्धात्मस्वरूपं विश्वतो विविक्तं चिज्ज्योतिर्मात्रं न पश्यन्ति तेऽपि व्रततपोनियमध्यानज्ञानपरायणाः सन्तोऽपि न सेत्स्यन्ति। स्याद्वादमर्मणोऽपरिज्ञानात्तीर्थफलरूपतत्त्वज्ञानमज्ञानतमसा प्रच्छादितम्।

सवितुरुदिते कमलविकसितमिव, जीमूताटोपे शिखिनर्तनमिव, कुमुदबन्धोरुदयेकुमुदिनीमोद इव, मधौ कोकिलालापवत्, मेघाडम्बरार्कादियोग्यकाले शक्रचापवत्, अर्हद्बिम्बदर्शिते भव्यलोकहर्षवत्, चमूजिते राजनि हर्षवन् निमित्तनैमित्तिकभावेनात्मनि पुद्गल – कर्मबन्धोऽविरूद्धः। तथापि भव्याऽपेक्षयाऽयं सम्बन्धो न त्रैकालिकः सम्बन्धव्युच्छित्तेः। बाह्यान्तरभेदाद्व्याप्यव्यापकसम्बन्धो भाव्यभावकसम्बन्धश्च द्विविधो भिद्यते। बाह्यव्याप्यव्यापकसम्बन्धेनात्मकर्मणोः कर्तृकर्मसम्बन्धः साध्यते। तत्रात्मैव कर्ता व्यापकत्वात्। पौद्गलिक-कर्मनिमित्तवशाद्रागद्वेषमोहपरिणामभाञ्जि किल कर्माणि व्याप्यत्वात्। पौद्गलिक-कर्मनिमित्तवशाद्रागद्वेषमोहपरिणामभाञ्जि किल कर्माणि व्याप्यत्वात्। तेनात्मा कर्ता भवति कर्मणां धूम्राग्निवत् साहचर्यसम्बन्धात्। तथैवभाव्यभावकसम्बन्धवशादात्मा भोक्ताऽपि भवति रागादीनां भोक्तृत्वात्।

निर्विकल्प समाधि में तत्पर परमार्थ विषयभूत योगियों की अवस्था को लक्ष्य करके ही यह व्यवहार कहा जाता है। क्योंकि निश्चय नय की अपेक्षा व्यवहार नय प्रतिषेध्य है, सर्वथा प्रतिषेध्य नहीं। जैसा कि आगम में कहा है ''**निश्चय नय की अपेक्षा व्यवहार नय को प्रतिषेध्य जानो।**''

यदि सरागी असंयमपरायण जीव और कर्म का सम्बन्ध उपचार रूप होने से सर्वथा मिथ्या कहेंगे तो ऐसा कहने वाले के लिए दूषण दिखाते हैं कि जीव कर्म को नहीं करता है यह पहला दूषण है। दूसरा दूषण यह है कि जीव संसार में कर्म के अधीन होकर परिभ्रमण नहीं करता है। तीसरा दूषण है कि जीव कर्म का वेदक ही नहीं रहेगा और जब कर्म का वेदक ही नहीं होगा तो संसार भी नहीं होगा, जब संसार नहीं होगा तो मोक्ष का उपाय भी कैसे होगा ? इस प्रकार स्वच्छन्द वृत्ति हो जाने से स्याद्वाद के मर्म से अनभिज्ञ पुरुषों के द्वारा जिनशासन मलिन कर दिया गया है यह समझना चाहिए। कुछ लोगों की मान्यता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध हमेशा रहता है, ये कभी अलग नहीं होते, ऐसा मन में निश्चय करके जो शुद्धात्म स्वरूप लोकभिन्न चैतन्य ज्योति को नहीं देखते हैं, अनुभव नहीं करते हैं वे पुरुष व्रत, तप, नियम, ध्यान, ज्ञान में तत्पर होकर भी कभी मोक्ष को प्राप्त नहीं करेंगे। उन्होंने स्याद्वाद के मर्म को नहीं जानने से तीर्थ के फल रूप तत्त्वज्ञान को अज्ञान रूपी अन्धकार से आच्छादित कर दिया है।

जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर कमल विकसित होता है, मेघाच्छन्न होने पर मयूर का नृत्य होता है, चन्द्रमा के उदय होने पर कुमुदिनी का विकास होता है, बसंत ऋतु होने पर कोकिल (कोयल) का आलाप होता है, मेघ से आच्छादित सूर्य आदि के होने पर इन्द्रधनुष दिखाई देता है, अर्हन्त भगवान् के बिम्ब के दर्शन करने पर भव्यात्माओं को हर्षातिरेक होता है, सेना के जीतने पर राजा को हर्ष होता है, उसी प्रकार निमित्त नैमित्तिक भाव द्वारा आत्मा में पुद्गल कर्मों का बंध विरोध को प्राप्त नहीं होता है, तो भी भव्य जीवों के कर्मसंबंध की व्युच्छित्ति होने की अपेक्षा यह संबंध त्रैकालिक नहीं है। बाह्य आभ्यन्तर भेद की अपेक्षा व्याप्य व्यापक संबंध

निश्चयनयाऽनुबन्धी अन्तर्व्याप्यव्यापक सम्बन्धः। तत्र सर्वावस्थानुगतो व्यापको द्रव्यम्। अवस्थाविशेषो व्याप्यः पर्यायः। व्याप्यव्यापक-सम्बन्धस्तदात्मन्येव तयोरेकाधिकरणात्। यथा मृत्तिका व्यापकः स्थासकुशूलघटादयो व्याप्या मृत्परिणामात्। तथैवात्मा व्यापकः ज्ञानदर्शनविशेषा व्याप्या आत्मपरिणामात्। तथैव मोहरागद्वेषादयो व्याप्या व्यापकभूत-पौद्गलिककर्मपरिणामात्। एवमत्यंतविविक्तमात्मस्वभावं दृग्ज्ञानमात्रमभेदरत्नत्रयमुपगम्य यो जानाति सञ्चेतयति स निश्चयनयेन मोहादीनामकर्ता भवति। तथैवान्तर्भाव्यभावकसम्बन्धं विजानीयात् येन कर्मणामभोक्ता च भवति। तेन निमित्तमात्रमिति कथितं पुरुषार्थरुचिगतस्य सम्बन्धव्यवच्छेदात्। उक्तञ्च पञ्चास्तिकायग्रन्थे -

अप्पा कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सहावेहिं।

गच्छंति कम्मभावं अण्णुण्णागाढमागोढा॥६५॥

जीवकृतपरिणामनिमित्तेन यथा कर्माणि परिणमन्ते तथा कर्मनिमित्तेनापि जीवाः किमिति

और भाव्य भावक संबंध यह दो प्रकार का संबंध कहा जाता है। बाह्य में व्याप्य व्यापक सम्बन्ध की अपेक्षा आत्मा और कर्म का कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध सिद्ध होता है। व्यापक होने से वहाँ आत्मा ही कर्त्ता है। पौद्गलिक कर्म के निमित्त के वश से राग, द्वेष, मोह के परिणाम वाले होने से कर्मों को व्याप्य माना गया है। इसलिए धूम अग्नि की तरह साहचर्य सम्बन्ध होने से कर्मों का कर्त्ता आत्मा होती है।

उसी प्रकार रागादि परिणामों का भोक्ता होने से भाव्य-भावक सम्बन्ध की अपेक्षा आत्मा भोक्ता भी होता है। निश्चय नय की अपेक्षा अन्तर्व्याप्य व्यापक सम्बन्ध है। सभी अवस्थाओं में होने की अपेक्षा जीव द्रव्य व्यापक है तथा किसी एक अवस्था विशेष में होने की अपेक्षा पर्याय व्याप्य है।

व्याप्य और व्यापक का एक अधिकरण होने से यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध उस आत्मा में ही घटित होता है। जैसे मिट्टी व्यापक है, स्थास, कोश, कुशूल, घट आदि व्याप्य हैं क्योंकि ये सभी उस मिट्टी की पर्यायें हैं; उसी प्रकार आत्मा का परिणाम होने से आत्मा व्यापक है। ज्ञान दर्शन विशेष व्याप्य हैं। इसी प्रकार मोह राग द्वेष व्याप्य हैं, क्योंकि वे व्यापकभूत पौद्गलिक कर्म का परिणमन होते हैं। इस प्रकार अत्यन्त एकाकी दर्शन ज्ञान मात्र आत्मस्वभाव रूप अभेद रत्नत्रय को प्राप्त होकर जो जानता है, अनुभव करता है वह निश्चय नय से मोहादि कर्मों का अकर्ता है। इसी प्रकार अन्तर्भाव्य-भावक सम्बन्ध की अपेक्षा आत्मा कर्मों का अभोक्ता है, यह जानना चाहिए। इससे आत्मा और कर्मों का सम्बन्ध निमित्त मात्र कहा है क्योंकि पुरुषार्थ की रूचि को प्राप्त जीव के कर्मों का सम्बन्ध छूट जाता है। कहा भी है - **आत्मा अपने स्वभाव को करता है, तब आत्मा में स्थित पुद्गल परमाणु स्वभाव से ही अन्योन्य सम्बन्ध से प्रगाढ़ता के साथ अवगाहित होते हुए कर्मभाव को प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् आत्मा में कर्म रूप से बँध जाते हैं॥१२॥**

उत्थानिका - जिस प्रकार जीवकृत परिणाम के निमित्त से कर्म परिणमन करते हैं, उसी प्रकार कर्म के निमित्त से क्या जीव भी परिणमन करता है, इस शंका का समाधान करते हुए अगला सूत्र कहते हैं -

प्रतिपादयन्नाह -

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।

भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥१३॥

मं.टी. - परिणममानस्येत्यादि - हि यस्माद्धेतोः ''हि हेतावववधारणे'' इत्यमरः। पौद्गलिकं कर्म-तत्कर्म यज्जीवस्य रागादिपरिणामेनात्मनि निबद्धं कार्मणवर्गणारूपपुद्गलद्रव्यं पौद्गलिकं पुद्गलस्वभावत्वात्। पूर्यन्ते गलन्ते चेति पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः पृषोदरादिषु निपातितः यथा शवशायनं श्मशानमिति। तद्रूपं कर्म पौद्गलिकमुच्यते। कथञ्चित् तत्कर्मापि चिदात्मकं चिदात्मशक्तिसंयुक्त्वात्। येन भावेन कर्मनिबद्धं तेन भावेनैव तस्य विपाकोपलम्भनात्। प्रदोषादिभावेन बद्धज्ञानावरणस्य फलं ज्ञानाऽभावो, दर्शनावरणस्य फलं दर्शनाभावः तीव्ररागकषायेण बद्धचारित्रमोहस्य फलं रागोत्पादनं, तीव्रद्वेषरूपकषायेण बद्धचारित्रमोहस्य फलं द्वेषोत्पादनमेव। ''स यथानामिति'' सूत्रात्। तेन विज्ञायते भावशक्तिवशाद्धि कर्मणि रागादिजनकशक्तिः। नो चेत् सर्वासां कर्मप्रकृतीनां विपाकः सर्वेषु जीवेषु तुल्यः स्यात्, न चैवं

अन्वय - हि स्वकैः चिदात्मकैः भावैः स्वयं अपि परिणममानस्य तस्य चितः अपि पौद्गलिकं कर्म निमित्तमात्रं भवति।

अन्वयार्थ - (हि) निश्चय से (स्वकैः) अपने (चिदात्मकैः) चेतन स्वरूप (भावैः) परिणामों के द्वारा (स्वयं अपि) आप ही (परिणाममानस्य) परिणमते हुए (तस्य चितः अपि) उस आत्मा के भी (पौद्गलिकं) पुद्गल सम्बन्धी (कर्म) ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म (निमित्तमात्रं) निमित्त मात्र (भवति) होते हैं।

टीकार्थ - श्लोक में 'हि' शब्द हेतु अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'हि' शब्द हेतु और निश्चय करने के अर्थ में भी आता है। जीव के रागादि परिणामों के निमित्त से आत्मा में कार्मण वर्गणा रूप जो पुद्गल द्रव्य बँधता है वही कर्म है। वह पुद्गल स्वभाव वाला होने से पौद्गलिक कहलाता है। जो पूरण-गलन को प्राप्त हो उसे पुद्गल कहते हैं। पुद्गल यह शब्द सार्थक नाम वाला है। यह शब्द व्याकरण शास्त्र में पृषोदरादि गण में है जिसमें इस प्रकार के अनेक शब्द निपातनात् (स्वाभाविक) सिद्ध होते हैं। जैसे 'शवशायन' श्मशान को कहते हैं। सही शब्द शवशायन है। अर्थात् जहाँ पर शवों (मुर्दों) को सुलाया जाये, लेकिन शवशायन को पृषोदरादि गण से 'श्मशान' बनाया जाता है। उस पुद्गल रूप कर्म को पौद्गलिक कहा जाता है। चिदात्मशक्ति से संयुक्त होने से कथंचित् वह पौद्गलिक कर्म भी चिदात्मक है। जिस भाव से जो कर्म बाँधा जाता है उस भाव से ही उसका फल प्राप्त होता है। प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य आदि भावों से बाँधे हुए ज्ञानावरण कर्म का फल ज्ञान का अभाव होना है। दर्शनावरण कर्म का फल आत्मा में दर्शन का अभाव (अप्रकट) करना है। तीव्र रागकषाय से बाँधे हुए चारित्र मोहनीय कर्म का फल राग उत्पत्ति है। तीव्र द्वेष रूप कषाय से बाँधे हुए चारित्र मोहनीय कर्म

कर्मों के परिपाक का, पा निमित्त यह जीव।
उसी भाव से परिणमे, यह सम्बन्ध अजीब ॥१३॥

दृष्टेष्टविरोधात्। उक्तञ्च -

कम्मत्तणेण एक्कं दव्वं भावोत्ति होदि दुविहं तु।

पोग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु॥

निमित्तमात्रं भवति - निमित्तमुपादानस्य मित्रम्। उप सामीप्येनैकीभूय सर्वात्मप्रदेशेषु आदानं ग्रहणं यत्र निमित्तस्य तदुपादानं कार्यस्याधिकरणमुच्यते। पौद्गलिककर्मनिमित्तेनात्मनि रागादयो दृश्यन्त इत्यर्थः। अत्रापि मात्रमिति शब्दोऽतीव संवेदनप्रदर्शनार्थम्। तद्यथा पौद्गलिकानां कर्मणां निमित्तं प्राप्य चिति रागद्वेषाः स्वयमेव प्रादुर्भवन्ति। तेनात्र कर्मभावा निमित्तमात्रत्वेन कथिता रागद्वेषरूपपरिणमनेऽतीवसंवेदनात्। कथंभूतस्यात्मनः ? स्वयमपि परिणममानस्य तस्य चितश्चिदात्मन इति। त्रिगुप्त्यात्मकाप्रमत्तगुणस्थानादधः परिणममानात्मा व्यवहारनयविषयात्। अपि निश्चयार्थे। कैश्चित् कृतैः ? स्वकैः स्व एव स्वकः। स्वार्थे कप्रत्ययः। न परैरित्यर्थः। अमी रागादयो मया न कृता इति भणन्तं प्रति भणितम्। किं विशिष्टैः? चिदात्मकैः भावैः चित् चैतन्यम् तदेव आत्मा तैरात्मभावैरिति। शयनाद्यचेतनावस्थासु कृतमपि कर्म चिन्मयभावैः कृतमिति ध्वनितम्।

का फल द्वेष उत्पत्ति ही है। जैसा **तत्त्वार्थसूत्र** में कहा है - 'वे ज्ञानावरणादि कर्म अपने नामानुसार ही फल देते हैं।' इससे जाना जाता है कि जीव की भावशक्ति के अनुरूप ही कर्म में रागादि उत्पन्न करने की शक्ति होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो सभी कर्म प्रकृतियों का फल सब जीवों में समान हो जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि उसमें प्रत्यक्ष और अनुमान से विरोध आ जायेगा। कहा है - सामान्य से कर्म एक प्रकार का है तथा द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो प्रकार का है। पुद्गल पिण्ड को द्रव्य कर्म कहते हैं और उस कर्म की फलदान शक्ति को भाव कर्म कहते हैं। ऐसा **कर्म काण्ड** में कहा है। उपादान के मित्र को निमित्त कहते हैं। अर्थात् निमित्त और उपादान की परस्पर मित्रता है। अत्यन्त निकटता से एक होकर आत्मा के सभी प्रदेशों में जहाँ निमित्त को ग्रहण किया जाता है उसे उपादान कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि पौद्गलिक कर्म के निमित्त से आत्मा में रागादिक देखे जाते हैं। गाथा में प्रयुक्त 'मात्र' शब्द जीव और पुद्गल कर्म के बीच अत्यन्त संवेदन को बताने वाला है। वह इस प्रकार है - पौद्गलिक कर्मों का निमित्त प्राप्त करके चेतना में राग-द्वेष स्वयं ही उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए यहाँ राग-द्वेष रूप परिणमन में अत्यन्त संवेदनशील होने से कर्म का निमित्त मात्रपना कहा गया है।

शंका - किस आत्मा के ऐसा परिणमन होता है ?

समाधान - स्वयं परिणमन करने वाली आत्मा के राग-द्वेष रूप परिणमन होता है। सार यह है कि व्यवहार नय का विषय होने से तीन गुप्तियों से गुप्त अप्रमत्त गुणस्थान से नीचे परिणमन करने वाला आत्मा स्वयं रागादि रूप परिणमन करता है। श्लोक में अपि शब्द निश्चय के अर्थ में प्रयुक्त है।

शंका - वह परिणमन किसके द्वारा किया गया है ?

समाधान - वह परिणमन दूसरों के द्वारा नहीं स्वयं के (भावों के) द्वारा किया गया है। ये रागादि भाव मेरे द्वारा नहीं किये गये हैं ऐसा कहने वालों के लिए ही यहाँ गाथा में 'स्वकैः' पद दिया गया है।

शंका - उस आत्मा में और क्या विशेषता है ?

समाधान - 'चिदात्मकैः भावैः' इससे यह सिद्ध होता है कि उसी आत्मा के द्वारा शयन आदि अचेत अवस्थओं

यथाच्छस्फटिको जपापुष्पादिपरोपाधिना तन्मयत्वेन परिणमते तथा जीवोऽपि पूर्वकृतकर्मोदयेनेति जीवकर्मणो र्निमित्तनैमित्तिकसम्बन्धोऽत्रार्याद्वयेन संसूचितः। अयमेव प्रत्ययः संसृतौ भ्रमणस्य। जले जम्बालवत्कलुषत्वेनात्मनि रागादीनि सदोपर्युपरि तरन्ति, स्वयमशुचीनि तत एवांतर्निर्मलजलवदात्मानं मलिनत्वेनानुभावयन्तीति स्फटिकदृष्टान्तो न घटत इति चेत् ? तन्न, सर्वात्मप्रदेशेषु कर्मबन्धोपलम्भात्तदुदयोऽपि सर्वत्रैव, तप्तायः पिण्डवत्। उक्तञ्च –

देहोदयेण सहिओ जीवो आहरदि कम्मणोकम्मं।

पडिसमयं सव्वंगं तत्तायसपिंडओव्व जलं॥

तेनैकक्षेत्रावगाहसम्बन्धः सिद्ध्यतीति परमागमः। जलेजम्बालवदिति दृष्टान्तो निर्विकल्पसमाधौ स्थितो विशेषभेदज्ञानबलेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव घटते, न च सर्वदा। किं चेयमात्मनि वैभाविकपरिणतिः स्यात् तस्याः उपादानं किमात्मा किं वानात्मा ? यद्यात्मा तदाऽशुद्धात्मनः प्रसङ्गः। अनात्मा चेत् स्वसंवेदनं रागादीनामसम्भवत्वम् न चैवं, अनुमानप्रमाणोपलब्धेः। ततोऽशुद्धात्मा संयोगसिद्धसम्बन्धापन्नो हि वैभाविक

में किया गया कर्म भी चैतन्य भावों से किया गया है। जिस प्रकार निर्मल स्फटिकमणि जपा कुसुम आदि पर – उपाधि से तन्मय होकर परिणमन करता है उसी प्रकार जीव भी पूर्व–कृत कर्म के उदय से तन्मय होकर परिणमन करता है। ऐसा जीव और कर्म का निमित्त–नैमित्तिक संबंध है। इसका स्पष्टीकरण दो आर्या छन्दों द्वारा किया गया है। यह निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध रूप प्रत्यय ही संसार परिभ्रमण का कारण है।

शंका – जिस प्रकार जल में जंबाल अर्थात् काई ऊपर–ऊपर दिखाई देती है उसी प्रकार आत्मा में भी रागादि ऊपर–ऊपर तैरते हैं, जिस प्रकार काई के अन्दर जल निर्मल रहता है उसी प्रकार आत्मा भी भीतर निर्मल एवं पवित्र है। रागादि ऊपर–ऊपर ही मलिनता का अनुभव कराते हैं। इसलिए स्फटिक मणि का दृष्टान्त घटित नहीं होता है ?

समाधान – आपका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि तपाये हुए लोहे के पिण्ड की तरह कर्मबंध और उदय भी सर्व आत्मप्रदेशों से सम्बन्ध रखता है। जैसा कि **नेमिचन्द्राचार्य ने कर्मकाण्ड** में लिखा है – जिस प्रकार तपाया हुआ लोहे का गोला पानी में डालने पर सर्वांग से जल को ग्रहण करता है उसी प्रकार औदारिकादि शरीर नाम कर्म के उदय से सहित जीव प्रत्येक समय सर्वांग से कर्मों और नोकर्मों को ग्रहण करता है। इसलिए आत्मा और कर्मों का एकक्षेत्रावगाह संबंध सिद्ध होता है। ऐसा आगम का वचन है। जल में जंबाल (काई) की तरह, यह दृष्टान्त तो निर्विकल्प समाधि में स्थित (साधक) विशेष भेदज्ञान के बल से जब आत्मा और आस्रव के भेद को जानता है उसी समय घटित होता है, न कि सर्वदा। दूसरी बात यह है कि जब आत्मा में वैभाविक परिणति होती है तो उस वैभाविक परिणति का कर्त्ता आत्मा है अथवा जड़ पदार्थ ? यदि उस वैभाविक परिणति का कर्त्ता आत्मा को मानते हैं तो अशुद्ध आत्मा का प्रसङ्ग आयेगा। यदि अनात्मा को (जड़ को) वैभाविक परिणति का कर्त्ता मानते हैं तो रागादि को स्वसंवेदन हो नहीं सकता, यह असम्भव है क्योंकि अनुमान प्रमाण से इस कार्य की उपलब्धि होती है। इसलिए संयोगसिद्ध सम्बन्ध होने से वैभाविक परिणति का उपादान कर्त्ता अशुद्ध आत्मा सिद्ध होता है। जैसे रक्त पुष्प के संयोग से स्फटिक मणि ही लाल हो जाती है अर्थात् विभाव रूप परिणमन करती है किन्तु पाषाण खण्ड में इस प्रकार का परिणमन नहीं होता, क्योंकि अपनी उपादानशक्ति की योग्यता का अधिकार होने से ऐसा होता है। कहीं

परिणतेरूपादिनमिति सिद्ध्यति। रक्तकुसुमसंयोगात् स्फटिकमणिर्हि विपरिणमति न चोपलखण्डः स्वोपादान शक्तियोग्यताधिकारात्। क्वचिदुपादानकारणत्वेनात्मा कर्म तु निमित्तकारणत्वेन दृश्यते। क्वचिन्निमित्तकारणभूताः स्वात्मपरिणामाः कार्मणवर्गणा तूपादानकारणभूता। इति कारणद्वयमाश्रित्य कार्योत्पत्तिर्न्याय्या। निमित्तनैमित्तिकभावसन्धिर्हि निखिलैकान्तमताग्रहग्रहान्विध्वंसते। कर्मोदये रागादयस्ततो बन्धः पुनरपि विपाक इति कर्म बन्धश्रृङ्खलाऽनादिजाऽज्ञाननिमित्तत्वात्। रागादि भवेन्न वेति स्वात्मैवोपादानप्रत्ययः॥१३॥

आसंसारतो न कथमिति सा श्रृङ्खला खण्डितेति प्ररूप्यते -

एवमयं कर्मकृतै, - र्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥१४॥

मं.टी. - एवमित्यादि - एवं निमित्तनैमित्तिकभावतया। अयमात्मा। कर्मकृतैर्भावैः अत्यन्तविलक्षणस्वभावभूतै र्जीवादिति। सकललोकसंसरणसमर्थाः खलु कर्मकृतभावाः, आत्मा तु सकललोकसंशरणसमर्थश्चिज्ज्योतिर्मात्रत्वात्।

उपादान कारण रूप से आत्मा है और कर्म निमित्त कारण हैं। कहीं आत्मा का परिणाम निमित्त कारणभूत है और कार्मण वर्गणा उपादान कारणभूत है। इस प्रकार दोनों उपादान और निमित्त कारणों का आश्रय करके कार्य की उत्पत्ति होती है।

वास्तव में, निमित्त नैमित्तिक भाव की संधि संपूर्ण एकांत मत के आग्रह रूप ग्रहों का विध्वंस करती है। कर्म का उदय होने पर रागादि होते हैं, रागादिक से कर्म का बंध होता है, कर्म का बंध होने से पुनः कर्म का फल मिलता है, इस प्रकार कर्मबन्ध की परिपाटी अनादि काल से अज्ञान के निमित्त से उत्पन्न होती है। रागादि परिणाम हो अथवा न हो अपनी आत्मा ही उपादान कारण है॥१३॥

उत्थानिका - इस जीव ने अनादि काल से इस संसार की परिपाटी को खण्डित क्यों नहीं किया, अब इसका कारण बताते हैं -

अन्वय- एवं अयं कर्मकृतैः भावैः असमाहितोऽपि बालिशानां युक्तः इव प्रतिभाति सः प्रतिभासः खलु भवबीजम्॥

अन्वयार्थ - (एवं अयं) इस प्रकार यह आत्मा (कर्मकृतैः) कर्मों के द्वारा किये हुए (भावैः) भावों से (असमाहितोऽपि) संयुक्त न होने पर भी (बालिशानां) अज्ञानी जीवों को (युक्तः इव) संयुक्त सरीखा (प्रतिभाति) प्रतिभासित होता है। (सः प्रतिभासः) वह प्रतिभास ही (खलु) निश्चय से (भवबीजम्) संसार का बीज है।

टीकार्थ - यह आत्मा जीव से सर्वथा विलक्षण स्वभाव वाले कर्मकृत भावों से (भिन्न) है। वास्तव में, कर्मकृत भाव आत्मा को सम्पूर्ण लोक में भटकाने में समर्थ हैं और आत्मा मात्र चैतन्य ज्योति वाला होने से तीन

जीव जुदा है कर्म से, पर लगता इक रूप।
यह ही भव का बीज है, तन समझे निज रूप॥१४॥

आकुलतोत्पादकाः खलु कर्मकृतभावा आत्मा तु नित्यनिराकुललक्षणः। फलप्रदानक्षणक्षीयमाणसंस्कारा जिह्वेव कर्मधारा, आत्मा तु ज्ञानदर्शनसमग्रत्वेन सदानिर्भरो वारिधिरिव। मृगमरीचिकेवासत्प्रतिभासपूर्तिः कर्मसूतिः, आत्मा तु सच्चिदानन्दविभूतिः। द्रव्यादिनिमित्तवशात्परिणमनस्वभावाः कर्मकृतभावाः कुट्टिनीभावा वा, आत्मा तु मेरुरिवापरिणमनस्वभाववान् चिच्छक्तिः। असमाहितोऽपि अयुक्तोऽपि युक्त इव प्रतिभाति। रागविद्वेषमोहमात्सर्यादिभावेषु कर्मकृतेषु शरीरवनितादिनोकर्मसु। एकत्वाध्यासेनाहमेवायमिति प्रतिभासमानत्वात्। स प्रतिभासः खलु स्फुटं। बालिशानामज्ञानिनां मूर्खाणां वा। ''शिशावज्ञे च बालिशः'' इत्यमरः। भवबीजं भवः संसारस्तस्य बीजमुत्पत्तिकारणम्। अथवा भवः शरीरं पुनरपि जन्मने कारणमित्यर्थः॥१४॥

लोक के जीवों को शरण देने में समर्थ है। कर्मकृत भाव आकुलता पैदा करने वाले हैं और आत्मा नित्य निराकुल लक्षण वाला है। कर्मसन्तति जिह्वा इन्द्रिय की तरह फल प्रदान कर क्षणक्षयी संस्कार वाली है और ज्ञान दर्शन से परिपूर्ण आत्मा सदा भरे हुए समुद्र की तरह है। कर्म का उदय मृग मरीचिका की तरह असत् अनुभूति मात्र है, किन्तु आत्मा सच्चिदानन्द का वैभव है। कर्मकृत भाव द्रव्य क्षेत्र काल के निमित्त से कुट्टिनी के भावों के समान परिणमन स्वभाव वाले हैं। किन्तु आत्मा तो सुमेरु पर्वत की तरह अपरिणमनस्वभावी चैतन्य शक्ति से युक्त है। कर्म और आत्मा दोनों भिन्न द्रव्य होकर भी अभिन्न की तरह प्रतिभासित होते हैं। कर्मकृत राग द्वेष मोह मात्सर्यादि भावों में और शरीर स्त्री आदि नोकर्मों में, मैं हूँ, ऐसी भ्रान्त धारणा की प्रतीति होने से अज्ञानी जीवों को यह धारणा ही संसार का कारण है। अथवा पुनर्जन्म में कारण है।

विशेषार्थ - जीव के रागादि भाव स्वयं के नहीं है, मोहनीय कर्म के उदय से जीव के रागादि भाव होते हैं। रागादि करना आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव ज्ञान दर्शन है। रागादि भाव जड़ हैं॥१४॥

इदानीं सम्यक्पुरुषार्थसिद्धेरुपायं प्रदर्शयितुकाम आह -

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।

यत्तस्यादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥१५॥

मं.टी. - विपरीतेत्यादि - विपरीताभिनिवेशं विपरीतोऽयथार्थो मिथ्या वा स चासौ अभिनिवेशः अभिप्रायो ध्यवसायो वा तम्। निरस्य दूरीकृत्य। निजतत्वं आत्मद्रव्यमुपादेयभूतम्। सम्यग्व्यवस्य समीचीन रूपेण ऽनेकान्तचक्षुषा अवगम्य। तस्माद् निजतत्त्वात् स्वकीयस्वरूपात्। यत् अविचलनं निष्प्रकम्पनं। स एव अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपायः।

यतश्चात्मनि रागोत्पादकाः कर्मरूपपुद्गलाः तेषामाकर्षकाः पुनश्च जीवपरिणामा निमित्तमात्रीभवनेनैव विशुद्धस्फटिककुसुमसंयोगवत् परस्परे प्राभवं समुत्पादयन्ति तथापि नात्मद्रव्यपरिणामं पुद्गलपरिणामत्वेन पुद्गलपरिणाममात्मद्रव्यत्वेन च कर्तुं समर्थास्तथाविधयोग्यताऽभावात्। किञ्चात्मपुद्गलयोः क्रियायाः कर्त्ता

उत्थानिका - अब सम्यक् पुरुषार्थ सिद्धि के उपाय को बतलाने की इच्छा से सूत्र कहते हैं -

अन्वय - विपरीताभिनिवेशं निरस्य निजतत्त्वं सम्यग्व्यवस्य यत् तस्मात् अविचलनं स एव अयं पुरुषार्थसिद्ध्युपायः।

अन्वयार्थ - (विपरीताभिनिवेशं निरस्य) विपरीत अभिप्राय को नष्ट करके (निजतत्त्वं) निज स्वरूप को (सम्यक्) समीचीन रूप से (व्यवस्य) जानकर (यत्) जो (तस्मात्) उस अपने आत्म स्वरूप से (अविचलनं) च्युत न होना (स एव) वह ही (अयं) यह (पुरुषार्थसिद्ध्युपायः) पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय है।

टीकार्थ - विपरीत अभिप्राय (मिथ्या अध्यवसाय) को दूर कर के निज स्वरूप (आत्म द्रव्य) उपादेय है, इस प्रकार अनेकान्त रूपी चक्षु के द्वारा समीचीन रूप से जानकर, अपने आत्म स्वरूप में अचल होना ही पुरुषार्थ सिद्धि का उपाय है। चूँकि आत्मा में राग को उत्पन्न करने वाले कर्म रूप पुद्गल है और उनको अपनी ओर आकर्षित करने वाले जीव के परिणाम हैं। निमित्त मात्र होने से ही पुष्प के संयोग से विशुद्ध स्फटिक में उत्पन्न लालिमा की भाँति जीव और पुद्गल एक दूसरे में प्रभाव उत्पन्न करते हैं तो भी वे आत्मद्रव्य को पुद्गल द्रव्य रूप और पुद्गल द्रव्य को आत्म द्रव्य रूप परिणमन करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि उनमें उस प्रकार की योग्यता का अभाव है। दूसरी बात यह है कि आत्मा और पुद्गल की क्रिया का कर्ता एक आत्मा है, यह कथन व्यवहार नय की रूचि वालों को रुचता है क्योंकि अशुद्ध नय के विषयभूत अशुद्ध आत्म द्रव्य में (दो द्रव्यों का कर्ता एक आत्मा बने) इस प्रकार का सामर्थ्य पाया जाता है। पुद्गल और आत्मा दोनों भिन्न स्वभाव वाले हैं

तज मिथ्या श्रद्धान को, भज निज तत्त्व सुजान।
निज स्वरूप में ठहरना, है पुरुषार्थ महान ॥१५॥

एक आत्मा व्यवहारनयरूचिकेभ्यो रोचन्तेऽशुद्धनयविषयभूताऽशुद्धात्मद्रव्ये तत्सामर्थ्यात्। न कदापि पुद्गलात्मद्रव्ययोर्द्वयोर्भिन्नस्वभावभूतयोः कर्ता एक आत्मा निश्चयनयरुचिकेभ्यो रोचन्ते शुद्धनयविषयभूतशुद्धात्मद्रव्ये तत्सामर्थ्याभावात्। ततो नयद्वयमध्ये विपरीताभिनिवेशं संत्यज्य स्वतत्त्वं व्यवसितव्यमित्यर्थः। पश्चादभेदरत्नत्रयपरिणतिलक्षणस्य स्वात्मतत्त्वेऽवतिष्ठमानस्य निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दर्शनोपेतस्वसंवेदनज्ञानस्य सकलनयविकल्पोत्तीर्ण निर्विकल्पसमाधिबलस्याध्यक्षेण स्वरूपं पश्यतः साक्षाच्चैतन्यामृतरसं पिबतस्तावन्निचलवृत्त्या स्थातव्यं यावन्न सकलकलापूर्णकलाधर इव चैतन्यज्योतिः प्रकाशश्चकचकायते। तदा एव पुरुषार्थस्य सिद्धिः ॥१५॥

अयं तु भवद्भिरुपाय एवोपादेयस्य समुदितोऽत्रोच्यतां केऽस्य कार्यस्य कर्तारो यकैरित्थं लोकोत्तरकार्यं सम्पाद्यते, इत्याचार्यैर्निगद्यन्ते –

अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।

एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकीवृत्तिः॥१६॥

अतः एक आत्मा दोनों का कर्त्ता हो यह कथन निश्चय नय की रुचि वालों को नहीं रुचता है क्योंकि शुद्ध नय के विषयभूत शुद्ध आत्म द्रव्य में (दो द्रव्यों का कर्त्ता एक आत्मा बने) इस प्रकार के सामर्थ्य का अभाव है। इसलिए दोनों नयों में विपरीत अभिप्राय छोड़कर आत्म तत्त्व का निश्चय करना चाहिए। यह कथन का तात्पर्य है। इसके बाद अभेद रत्नत्रय की परिणति है लक्षण जिसका, ऐसे आत्म तत्त्व में स्थिर होने वाले जीव के निश्चय चारित्र का अविनाभावी वीतराग सम्यग्दर्शन होता है जो स्वसंवेदन ज्ञान सहित होता है तथा सम्पूर्ण नयों के विकल्पों से रहित निर्विकल्प समाधि के बल से प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा स्वरूप का अनुभव करता हुआ साक्षात् चैतन्यामृत रस का पान करता है तथा तब तक निश्चय चारित्र में ठहरता है जब तक सम्पूर्ण कलाओं से युक्त चन्द्रमा की भाँति चैतन्य ज्योति (केवलज्ञान) का प्रकाश प्रकट नहीं हो जाता है। उस समय ही वास्तविक पुरुषार्थ की सिद्धि अर्थात् आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है॥१५॥

उत्थानिका – यह जो आपने उपादेय का उपाय बताया है तो कहिए कि इस कार्य के कर्त्ता कौन हैं, किनके द्वारा इस प्रकार का लोकोत्तर कार्य सिद्ध किया जाता है, इसके लिए आचार्य भगवन्त सूत्र कहते हैं –

अन्वय – एतत् पदं अनुसरतां मुनीनां वृत्तिः करम्बिताचारनित्य – निरभिमुखा एकान्तविरतिरूपा अलौकिकी भवति॥

अन्वयार्थ – (एतत्पदं अनुसरतां) इस रत्नत्रय रूप पदवी का अनुसरण करने वाले (मुनीनां) मुनियों का (वृत्तिः) चारित्र (करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा) पापक्रिया से सम्मिश्रित आचारों से सर्वदा पराङ् मुख तथा (एकान्तविरतिरूपा) पर द्रव्यों से सर्वथा उदासीन रूप (अलौकिकी) लोक से विलक्षण प्रकार का (भवति) होता है।

निज पद का निश्चय किया, पर पद विमुख त्रिकाल।
सदा विरति मुनि मन बसे, यही अलौकिक चाल ॥१६॥

मं.टी. - अनुसरतामित्यादि - एतत् पदं यच्चोपरि प्रोक्तं पुरुषार्थसिद्ध्युपायस्य चिह्नम्। पदं ''व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु'' इत्यमरः। चतुः पुरुषार्थेषु महामोक्षपुरुषार्थस्तम्। अनुसरतां तदनु प्रवर्तमानानाम् ''सृ गतौ'' अनुपूर्वकं शतृन् प्रत्ययात् अनुसरत् तेषामिति। मुनीनां निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्य मूर्तीनाम्। किं स्यात् ? अलौकिकी वृत्तिः भवतिः, लोकः सामान्यजनस्तत्सम्बन्धिनी लौकिकी, न लौकिकी अलौकिकी नञ्समासादभावार्थे। सा चासौ वृत्तिर्येषां सा। किं विशिष्टा ? करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा करम्बितं पाप - मिश्रितं आचारः आचरणं तस्मात् नित्यं सदैव निरभिमुखा पराङ्मुखा सा वृत्तिः, मनुयः पापं न कुर्वन्ति कदापीत्यर्थः। यथा गृहस्थः ''सर्वं धर्ममयं क्वचित् क्वचिदपि प्रायेण पापात्मकम्, क्वाप्येतद् द्वयवत्करोति चरितं प्रज्ञाधनानामपि।'' प्रवर्तमानेऽपि गमनागमनभाषणाशनादानप्रदानग्रहणपुरीषोत्सर्जनादिक्रियासु अशेषजनाविशेषासु लौकिकताभासवृत्तिषु समितिरीत्या-ऽप्रमत्तभावतया प्रवर्तनात् पापबन्धाकरणादलौकिकवृत्तय इति व्यपदिश्यन्ते। उक्तञ्च -

जत्थेव चरदि बालो परिहारण्हू वि चरदि तत्थेव।

वज्झदि पुण सो बालो परिहारण्हू विमुच्चदि सो॥

टीकार्थ - यह ऊपर कहा हुआ पद पुरुषार्थ सिद्धि उपाय का चिह्न है। व्यवसित, रक्षा, स्थान, चिह्न, पैर और वस्तु पद शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। उनमें से यहाँ चिह्न अर्थ में पद शब्द प्रयुक्त हुआ है। चार पुरुषार्थों में मोक्ष पुरुषार्थ को यहाँ ग्रहण करना चाहिए। 'सृ' गतौ धातु से 'अनु' उपसर्ग पूर्वक शतृ प्रत्यय करने से अनुसरतां शब्द निष्पन्न होता है। मुनियों को यहाँ पर निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग की मूर्ति कहा है।

शंका - उनमें क्या विशेषता होती है ?

समाधान - उनकी अलौकिकी वृत्ति होती है। सामान्य जन से संबंध रखने वाली वृत्ति को लौकिकी वृत्ति कहते हैं। जो वृत्ति लौकिकी नहीं है उसे अलौकिकी वृत्ति कहते हैं। अभाव अर्थ में नञ् समास का प्रयोग किया गया है। उस अलौकिक वृत्ति की विशेषता कहते हैं। पाप मिश्रित आचार से हमेशा ही पराङ्मुख वृत्ति वाले होने से मुनिराज कभी भी पाप नहीं करते हैं। किन्तु **सुविज्ञ गृहस्थ भी कभी धर्ममय प्रवृत्ति करता है, कभी पापात्मक प्रवृत्ति करता है तो कभी दोनों रूप आचरण करता है।** गमनागमन, भाषण, आहार, उपकरणादि का ग्रहण, मलमूत्रादि का त्यागादि क्रियायें सभी लोगों में समान रूप से पायी जाती हैं अतः लौकिकता का आभास कराने वाली हैं फिर भी मुनिराजों के समिति में तत्पर रहने और अप्रमत्त भाव से प्रवृत्ति करने से उनके पाप का बंध नहीं होता इसलिए उनकी वृत्ति अलौकिकी कही जाती है। जैसा कि **मूलाचार** में कहा है - ''**अज्ञानी जीव जहाँ प्रवृत्ति करता है, जीवों का परिहार करने वाला जीव भी वहीं प्रवृत्ति करता है, किन्तु अज्ञानी जीव बंध को प्राप्त होता है और जीवों का परिहार करने वाला बंध से छूट जाता है।**'' अथवा पाप की प्रणाली में तत्पर रहने वाले लौकिक हैं किन्तु मुनियों को पाप की छाया भी स्पर्श नहीं करती है और जिनका मन शरीर के पोषण में, रक्षण में तथा आभूषण से सजाने में है वे लौकिक हैं, मुनिराज का मन तो शरीर के पोषण, रक्षण तथा आभूषण से लज्जा को प्राप्त होता है। लौकिक व्यक्ति जनसमुदाय को रञ्जायमान करने वाले होते हैं और स्वयं जनसमुदाय में आनन्द मनाते हैं तथा अलौकिक मुनि निजानंद की प्राप्ति के लिए

अथवा - लौकिकाः पापप्रणालिप्रवर्तनपराः, मुनयस्तु पापच्छायाविदूराः। लौकिकाः पुनः शरीरपोषणरक्षणाभूषणसज्जीकृतमानसाः, मुनयस्तु शरीरपोषणरक्षणाभूषणलज्जीकृतमानसाः। लौकिका जनसमुदायरञ्जकाः, अलौकिका निजमोदाय विजनरञ्जकाः। विषयममृतमिव सेवमाना लौकिकाः, अलौकिकाः पुनर्विषयं विषमिव प्रेक्षमाणा इति। पुनश्च किं विशिष्टा ? एकान्तविरतिरूपा विरतिर्विरमणं भोगोपभोगेभ्यः एकान्तेन नितान्तं तद्रूपा वृत्तिः सा। भोगोपभोगविषयानुपभुञ्जानोऽपि ज्ञानवैराग्याभ्यामबन्धकारणाभ्यामलौकिकवृत्तिभाक् मुनिः। उक्तञ्च -

उवभोज्जमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं॥१६॥

अथैवंविधमहामोक्षपुरुषार्थं कर्तुमशक्नुवानामपि मार्गस्योपदेशोस्तीत्युपदिशति -

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन॥१७॥

एकांतवास करते हैं। जो विषयों को अमृत के समान मानकर उनका सेवन करते हैं वे लौकिक हैं और जो विषयों को विष के समान देखते हैं वे साधु अलौकिक हैं। वह अलौकिक वृत्ति भोगोपभोग से नियम से विरक्त होती है। इसलिए वह एकान्तविरति रूप कहलाती है। जो भोगोपभोग रूप विषयों को भोगते हुए भी ज्ञान और वैराग्य के कारण बन्ध को प्राप्त नहीं होते हैं ऐसे मुनियों की अलौकिकी वृत्ति होती है। जैसा कि **कुन्दकुन्द देव ने समयसार** में कहा है - '**सम्यग्दृष्टि जीव जो इन्द्रियों से चेतन अचेतन द्रव्यों का उपभोग करता है वह सब निर्जरा के निमित्त है।** '॥१६॥

उत्थानिका - अब इस प्रकार महामोक्ष पुरुषार्थ करने में जो पुरुष असमर्थ हैं, उनके लिए भी मोक्षमार्ग का उपदेश है, इस प्रकार का आचार्य भगवान उपदेश देते हैं।

अन्वय - यः बहुशः प्रदर्शितां समस्तविरतिं जातु न गृह्णाति तस्य अनेन बीजेन एकदेशविरतिः कथनीया।

अन्वयार्थ - (यः) जो (बहुशः) बहुत बार (प्रदर्शितां) दिखलाई हुई (समस्तविरतिं) सकल पाप रहित मुनिवृत्ति को (जातु) कदाचित् (न गृह्णाति) ग्रहण न करे तो (तस्य) उसे (अनेन बीजेन) इस हेतु से (एकदेशविरतिः) एकदेश पापक्रिया रहित गृहस्थाचार का (कथनीया) कथन करें यानी उपदेश दें।

टीकार्थ - अपने हित को चाहने वाले पुरुष को संपूर्ण पापों से रहित सकल संयम का अनेक बार उपदेश देने पर भी यदि वह महाव्रत को ग्रहण न कर सके तो उसे पापों के एकदेश त्याग का उपदेश देना चाहिए, अर्थात् अणुव्रतों के पालन का उपदेश देना चाहिए।

सकल विरति के ग्रहण में, रहता जो असमर्थ।
देशविरति उस भव्य को, कहें जानकर अर्थ॥१७॥

मं. टी. - बहुश इत्यादि - यो जनः स्वहितमुपलिप्सुः। बहुशोऽनेकवारः। प्रदर्शितां समस्तविरतिं सदुपदेशेन कथितां समस्तेभ्यः सकलेभ्यः पापेभ्यो विरतिर्विरमणं मध्यपदलोपीसमासात्ताम्। न जातु न कदाचिदपि। गृहणाति स्वीकरोति स्वमनःशक्तिवैकल्यात्। तस्य जनस्य एकदेशविरतिः स्थूलपापेभ्यो विरतिः। कथनीया देशनीया। अनेन बीजेन एवंविधहेतुनेति। ''हेतुर्ना कारणं बीजमित्यमरः''॥१७॥

तद्धेतुकथनायाह -

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थ-धर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥

मं. टी. - य इत्यादि - यः कश्चिदुपदेष्टा। कथम्भूतः सः ? अल्पमतिः स्थूलबुद्धिमान्। किं कुर्वन् ? अकथयन् अनुपदिशन्। कं कर्मतापन्नं ? यतिधर्मं सकलविरतिरूपधर्मं। तर्हि किं करोति ? उपदिशति कथयति। कं ? गृहस्थधर्मं स्थूलपापविरतिरूपधर्मं। अथवा यो यतिधर्ममकथयन् गृहस्थधर्ममुपदिशति स अल्पमतिः स्यात्।

'हेतु तथा कारण' बीज शब्द के दोनों अर्थ होते हैं॥१७॥

विशेषार्थ - जिस जीव को रत्नत्रय धारण करने का अनेक बार उपदेश दिया किन्तु वह धारण करने में असमर्थता प्रकट करता है क्योंकि उस जीव के तीव्र चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने से वह मुनिव्रत धारण नहीं कर सकता, ज्ञानियों ने लिखा है -

अन्तर विषयवासना वर्ते, बाहर लोक लाज भय भारी।

तातैं परम दिगम्बर मुद्रा धर न सके दीन संसारी॥

ऐसे जीव को श्रावकाचार का उपदेश देकर श्रावक के व्रतों को, अणुव्रतों को धारण कराना चाहिए॥१७॥

उत्थानिका - उसी हेतु को कहते हुए आचार्य भगवन्त आगे सूत्र कहते हैं -

अन्वय - यः अल्पमतिः यतिधर्मम् अकथयन् गृहस्थधर्मम् उपदिशति तस्य भगवत्प्रवचने निग्रहस्थानम् प्रदर्शितम्॥

अन्वयार्थ - (यः) जो (अल्पमतिः) अल्पबुद्धि वाला उपदेशक (यतिधर्मम्) मुनि धर्म का (अकथयन्) उपदेश न देकर (गृहस्थधर्मम्) गृहस्थ धर्म का (उपदिशति) उपदेश करता है (तस्य) उस उपदेशक को (भगवत्प्रवचने) भगवान् के सिद्धांत में (निग्रहस्थानं) दण्ड स्थानीय (प्रदर्शितम्) कहा गया है अर्थात् दण्ड का पात्र कहा गया है।

कहे बिना यति धर्म को, जो कहता गृहि धर्म।
दण्ड पात्र अल्पज्ञ वो, यह जिनशासन मर्म ॥१८॥

तस्य किं भवति ? प्रदर्शितं कथितम्। किं तत् ? निग्रहस्थानं दण्डस्य पात्रम्। क्व ? भगवत्प्रवचने सर्वज्ञप्रणीतधर्मे प्रायश्चित्तग्रन्थे। कस्य ? तस्य उपदेष्टुः। यतश्च तेन परमार्थमार्गो न कथितः ततो धर्मस्य रहो न प्रथितं परमब्रह्माहिंसासूक्ष्मानुपालनमन्यतीर्थेष्वनुपलम्भात्। ननु च सकलचारित्रस्य ग्रहणेऽसमर्थानां प्राक् स्थूलविरतेरुपदेशः कर्तव्यः पश्चात् यतिधर्मस्येति ? तन्न बहुशः इति पदेन प्राक् यतिधर्मस्योपदेशोऽनेकशः संसूचितः यदि तमनुपालयितुं क्लीबो भवेत्तदेवाधःस्थानीयप्रवचनं न चान्यथेतिभावः। अयमेवोपदेशक्रमः प्रक्लृप्तः॥१८॥

अथाक्रमोपदेशस्य हानिं प्रदर्शयन्नाह -

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।

अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना॥१९॥

मं.टी. - अक्रमित्यादि - यतः यस्मात् कारणात्। अक्रमकथनेन क्रमरहितोपदेशेन। अतिदूरं अतिशयेनाधिक्येनेत्यर्थः। प्रोत्सहमानः अपि अत्यन्तमुत्साहितोऽपि साक्षात् जिनलिङ्गं प्रतिपित्सुरपि। शिष्योऽनुशासितुं

टीकार्थ - जो अल्पबुद्धि वाला उपदेष्टा यतिधर्म का उपदेश नहीं करता है और स्थूल पाप विरतिरूप गृहस्थ धर्म का उपदेश करता है उसे जिनागम और प्रायश्चित ग्रन्थ में दण्ड का पात्र कहा है, क्योंकि उसने परमार्थ का उपदेश नहीं किया है तथा परम ब्रह्म अहिंसा रूप सूक्ष्म धर्म का पालन अन्य तीर्थों में संभव नहीं होने से धर्म का रहस्य नहीं कहा है।

शंका - सकल चारित्र के ग्रहण करने में असमर्थ होने वाले पुरुषों को स्थूल विरति रूप एकदेशचारित्र के पालन का उपदेश करना चाहिए बाद में मुनि धर्म का ?

समाधान - ऐसा कहना ठीक नहीं है। सूत्र में 'बहुशः' पद आया है, इसका अभिप्राय यह है कि उस जीव को पहले यति धर्म का उपदेश अनेक बार दिया जा चुका है, यदि वह यतिधर्म को पालन करने में असमर्थ है तो उसे निचली भूमिका का उपदेश देना चाहिए, अन्यथा नहीं देना चाहिए। यह आगम में उपदेश का क्रम है।

विशेषार्थ - उपदेशक को सर्वप्रथम परमार्थ का ही उपदेश करना चाहिए, प्रारंभ में यदि उसको निचली भूमिका का उपदेश देते हैं तो वह उसी श्रावक धर्म में ही सन्तुष्ट हो जायेगा और श्रावक धर्म को साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं माना है, मुनिधर्म को ही मोक्ष का कारण आगम में कहा है। इसलिए सर्वप्रथम मुनिधर्म का उपदेश देना चाहिए, यदि मुनिधर्म को पालन करने में असमर्थ है तो श्रावक धर्म का उपदेश करके उसे मोक्षमार्ग पर बढ़ने के लिए प्रेरित करना चाहिए॥१८॥

उत्थानिका - अब अक्रम के उपदेश से क्या हानि होती है, यह दिखाते हुए अगला सूत्र कहते हैं-

अन्वय - यतः तेन दुर्मतिना अक्रमकथनेन अतिदूरं प्रोत्सहमानोऽपि शिष्यः अपदे अपि संप्रतप्तः प्रतारितः भवति ॥

अक्रम से उपदेश पा, उत्साहित भी शिष्य।
लघु पद में संतुष्ट हो, ठगा गया वह नित्य ॥१९॥

योग्यः अनुशिष्टौ शासधातोः क्यप्। अपदेऽपि-अनुसरतां पदमेतत् इत्यनेन पुरुषार्थसिद्धेरुपायः पदं प्रागुक्तम् सकलचारित्रमित्यर्थः। तन्न विद्यते यस्य तस्मिन् विकलचारित्रे। अपि निश्चयार्थे। सम्प्रतृप्तः सन्तुष्टो भवति परमार्थमार्गस्यानवबोधात्। ततः किम् ? तेन दुर्मतिना दुर्बुद्धिजनेन। अथवा तेन कारणेन दुर्मतिना प्रतारितो वञ्चितो भवति। असमग्रविरतेः शुद्धोपयोगस्याभावोऽभेदरत्नत्रयपरिणतेरनुपपत्तिश्च। शुद्धोपयोगाभावे केवलज्ञानवैकल्यम्। तदभावे मोक्षाभावः। इति सम्यक्पुरुषार्थेन वञ्चितः॥१९॥

इति श्रीअमृतचन्द्रसूरिविरचितपुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थस्य मङ्गलाटीकायां सम्यक्पुरुषार्थसिद्धेरुपायकथनमुख्यो द्वितीयोऽधिकारो मूकमाटी चैतन्य चन्द्रोदयादिकाव्यस्स रचयितुराचार्य श्रीविद्यासागरस्य शिष्येण मुनिप्रणम्यसागरेण समाप्तः।

अन्वयार्थ - (यतः) जिस कारण से (तेन दुर्मतिना) उस दुर्बुद्धि के (अक्रमकथनेन) क्रमविरुद्ध उपदेश से (अतिदूरं) अत्यन्त दूर तक (प्रोत्सहमानोऽपि) बढ़े हुए उत्साह वाला भी (शिष्यः) शिष्य (अपदे) जघन्य स्थान में (अपि) ही (संप्रतप्तः) सन्तुष्ट होकर (प्रतारितः) ठगाया (भवति) जाता है।

टीकार्थ - चूँकि क्रमरहित उपदेश से अत्यन्त उत्साहित हुआ शिष्य जो साक्षात् जिनलिङ्ग को प्राप्त करने का इच्छुक था, वह अपद में ही ठहर गया।

'अनुशासन करने के योग्य जो होता है उसे शिष्य कहते हैं' पुरुषार्थसिद्धि का उपाय पद कहलाता है अथवा सकल चारित्र को पद कहते हैं। वह पद जिसके पास नहीं होता वह अपद कहलाता है अर्थात् विकल चारित्र को अपद कहते हैं।

वास्तविक मोक्षमार्ग को नहीं जानने से वह अपद में ही सन्तुष्ट हो गया। इस कारण वह दुर्मति के द्वारा ठगाया गया। विकल चारित्र से शुद्धोपयोग की प्राप्ति और अभेद रत्नत्रय की परिणति का अभाव होता है अर्थात् देशसंयम में शुद्धोपयोग का अभाव और अभेद रत्नत्रय की उत्पत्ति नहीं होती है।

शुद्धोपयोग के अभाव में केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और केवलज्ञान के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इस कारण वह सम्यक् पुरुषार्थ से वञ्चित रहता है।

विशेषार्थ - किसी निकट भव्य को धर्म का इतना उत्साह था कि यदि उसे उस काल में मुनिधर्म का उपदेश मिलता तो वह मुनिधर्म को अंगीकार कर लेता किन्तु उपदेशदाता ने उसे पहले श्रावक धर्म का ही उपदेश दिया तो ऐसे समय में वह श्रावकधर्म ही ग्रहण कर सन्तुष्ट हो गया। इस कथन का तात्पर्य यह है कि पहले परमार्थ का, मुनिधर्म का ही उपदेश करना चाहिए॥१९॥

इस प्रकार अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ की मंगला टीका में सम्यक् पुरुषार्थ सिद्धि के उपाय के कथन की मुख्यता से द्वितीय अधिकार मूकमाटी चैतन्य चन्द्रोदय आदि काव्य के रचयिता आचार्य विद्यासागर के शिष्य मुनि प्रणम्य सागर द्वारा पूर्ण हुआ।

अथ क्रमबद्धोपदेशप्राप्तस्य पात्रीभूतस्य कर्तव्यमुपदिशन्नाह -

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः॥२०॥

मं.टी. - एवमित्यादि - तस्य शिष्यस्य। यथाशक्तिः शक्तिमनतिक्रमेण वीर्याचारेण। निषेव्यः अनुचरितव्यः सेवितु योग्यो भवति। कियत्कालपर्यन्तम् ? नित्यं सततमाजीवितमित्यर्थः। तत्किमिति चेत् ? एवमुक्तप्रकारेण। सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः तत्र जीवादिनवपदार्थसप्ततत्त्वपञ्चास्तिकायषड्द्रव्यस्य श्रद्धानं आप्तश्रुतगुरोश्च श्रद्धानं व्यवहारसम्यग्दर्शनम्। स्वात्मप्रतीतिमात्रं निश्चयसम्यग्दर्शनम्। जीवादीनां यथार्थावबोधो व्यवहारसम्यग्ज्ञानं, ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं निश्चयसम्यग्ज्ञानम्। पापात् विरमणं व्यवहारचारित्रं, पापपुण्यविकल्पापगमेन रागादिपरिहरणस्वरूपे चरणं निश्चयचारित्रम्। व्यवहारसम्यग्दर्शनकाले हि निश्चयसम्यग्दर्शनं भवितव्यमिति चेत् ? तन्न, कार्यकारणयोः समकालमजायमानत्वात्। निश्चयसम्यग्दर्शनं तु निश्चयचारित्रस्याविनाविनाभावि स्याद्न्यथाऽनुपलब्धेः।

तृतीय अधिकार

उत्थानिका - अब क्रमबद्ध उपदेश को प्राप्त पात्र के कर्त्तव्य का उपदेश करते हुए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वय - एवं तस्यापि यथाशक्तिः सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः मोक्षमार्गः नित्यं निषेव्यः भवति॥

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार (तस्यापि) उस गृहस्थ को भी (यथाशक्तिः) अपनी शक्ति के अनुसार (सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मकः) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन भेद रूप (मोक्षमार्गः) मुक्ति का मार्ग (नित्यं) हमेशा (निषेव्यः) सेवन करने के योग्य (भवति) होता है।

टीकार्थ - उस शिष्य को अपनी शक्ति के अनुसार मोक्षमार्ग सेवन करने के योग्य है। वह मार्ग कितने काल तक सेवन करना चाहिए ? नित्य अर्थात् जीवन पर्यन्त। वह सेवन करने योग्य क्या है ? पूर्वोक्त सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रात्मक मोक्षमार्ग सेवनीय है। उनमें जीवादि नव पदार्थ, सात तत्त्व, पञ्चास्तिकाय, छह द्रव्यादि और सच्चे देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान करना व्यवहार सम्यग्दर्शन कहलाता है। स्वात्मा की अनुभूति मात्र निश्चय सम्यग्दर्शन कहलाता है। जीवादि पदार्थों का यथार्थ ज्ञान होना व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहलाता है। ज्ञानस्वभाव रूप से ज्ञान का होना निश्चय सम्यग्ज्ञान कहलाता है। पञ्च पापों से विरक्त होना व्यवहार चारित्र कहलाता है। पाप पुण्य के विकल्पों के अभाव होने, रागादि परिणामों के दूर होने और स्वरूप में प्रवृत्ति करने को निश्चय चारित्र कहते हैं।

शंका - व्यवहार सम्यग्दर्शन के काल में ही निश्चय सम्यग्दर्शन होना चाहिए ?

समाधान - आपका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कार्य कारण एक समय में उत्पन्न नहीं होते हैं। यहाँ यह विशेषता है कि निश्चय सम्यग्दर्शन तो निश्चय चारित्र का अविनाभावी है। निश्चय चारित्र के बिना निश्चय

रत्नत्रय का मार्ग ही, मोक्षमार्ग सुखकार।
धारण करना चाहिए, निज शक्ती अनुसार ॥२०॥

निश्चयचारित्रमभेदरत्नत्रयात्मकं शुद्धनयविषयत्वात्। अभेदरत्नत्रयस्य भेदरत्नत्रयेण विनाऽनुपपत्तिः। भेदरत्नत्रयं सकलचारित्रेणैव। सकलचारित्रं व्यवहारसम्यग्दर्शने सति भवेन्न वा व्याप्तेरभावात्। ननु च निश्चयसम्यग्दर्शनं स्वात्मप्रतीतिलक्षणं तत्तु तस्य भवति ? न चैवम्। तन्नात्र विवक्षितः। या खलु निर्विकारवीतरागस्वसंवेदनकाले परमोपेक्षासंयमरूपाभेद - रत्नत्रयपरिणतौ प्रतीतिः स्यात्तदत्र ग्राह्या। किञ्च मिथ्यात्वादि - कर्मोपशमक्षयक्षयोपशमसद्भावे जीवादिश्रद्धानरूपरुचिः सम्यग्दृष्टे रेवागमविषयत्वात्।

अत्र सम्यगिति शब्दः प्रत्येकं परियुज्यते। तद्यथा - सम्यग्दर्शनमत्र सम्यग्विशेषणमन्ययोगव्यवच्छेदाय। सम्यग्बोधोऽत्र सम्यग्विशेषणं प्रत्यक्षानुमानागमप्रामाण्येन जीवाद्यर्थेषु संशयादिनिवृत्त्यर्थम्। सम्यक्चारित्रमत्र सम्यग्विशेषण मज्ञानपूर्वकक्रियाऽनुष्ठानापोहनार्थम्। एतत्त्रयात्मको दृगादित्रयेण संयुक्त इत्यनेन प्राधान्येन निश्चयमोक्षमार्गः गौणीवृत्त्या च व्यवहारमोक्षमार्गे दृगादि पृथक्त्वेन शब्दनिर्देशात्। मोक्षमार्गः मोक्षः कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षः तस्य मार्गः पन्थाः। ''मृज् शुद्धौ'' क्तप्रत्ययात् मृष्टो विचारितोऽसाविति मार्गः। मार्ग इव मार्गः। एकवचननिर्देशः एकमार्गख्यापनार्थः। स च त्रितयात्मकः। एतावता सम्यग्दर्शनज्ञानमात्रस्य मोक्षमार्गत्वेन निवृत्तिः कृता। न च सम्यग्दृग्बोधोपलब्धौ सत्यामवतरति हेलया वृत्तमप्रत्याख्यानकषायोदवात्। अप्रत्याख्यानकषाया

सम्यग्दर्शन का होना संभव नहीं है। निश्चय चारित्र अभेद रत्नत्रयात्मक है और वह शुद्धनय का विषय है और भेद रत्नत्रय के बिना अभेद रत्नत्रय की उत्पत्ति हो नहीं सकती। भेद रत्नत्रय सकल चारित्र से ही होता है और सकल चारित्र व्यवहार सम्यग्दर्शन के होने पर होता है अथवा नहीं भी होता है क्योंकि सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र की व्याप्ति का अभाव है।

शंका - आपने आत्मप्रतीति मात्र को निश्चय सम्यग्दर्शन कहा है, वह प्रतीति तो व्यवहार सम्यग्दृष्टि को भी होती है ?

समाधान - ऐसा नहीं है, क्योंकि उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है। यहाँ तो जो प्रतीति निर्विकार वीतराग स्वसंवेदन काल में परम उपेक्षा संयम रूप अभेद रत्नत्रय की परिणति होने पर होती है, उसे ही ग्रहण करना चाहिए।

किञ्च - मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम के सद्भाव में जीवादि के श्रद्धान रूप रुचि सम्यग्दृष्टि के ही उत्पन्न होती है यह आगमज्ञान का विषय है। यहाँ सम्यग् शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। जैसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। यहाँ सम्यग्दर्शन में सम्यग् विशेषणअन्य मतों का निराकरण करने के लिए दिया गया है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाण के द्वारा जीवादि पदार्थों में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय की निवृत्ति के लिए सम्यग्ज्ञान में सम्यक् विशेषण दिया गया है।

सम्यक् चारित्र में सम्यक् विशेषण अज्ञान पूर्वक क्रिया अनुष्ठान को दूर करने के लिए दिया गया है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान आदि से संयुक्त यह त्रयात्मक मोक्षमार्ग है। इस प्रकार कारिका के कथन से मुख्य रूप से निश्चय मोक्षमार्ग कहा है। गौणता की अपेक्षा दर्शन आदि का पृथक् रूप से शब्द निर्देश होने से व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है।

''मृज् शुद्धौ'' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने से 'मृष्टः' शब्द बनता है। उस शुद्धि का विचार जिसमें किया है ऐसा वह मार्ग है जो मार्ग की तरह है। एक मार्ग है, यह बतलाने के लिए एकवचन में ''मार्गः'' दिया है। वह मार्ग इन तीनों (सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र) की एकता रूप है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्दर्शन, ज्ञान मात्र से मोक्षमार्ग की सिद्धि हो जाती है ऐसा कहना ठीक नहीं है।

देशव्रतं निघ्नन्ति। प्रत्याख्यानकषाया हि सकलवृत्तविघातकाः। नास्ति ततो हि चारित्रव्यपदेशस्तत्कषायसद्भावे। यदि सम्यग्दर्शनभवनमात्रेण चारित्रोत्पत्तिः स्यात्तर्हि देवनारकेष्वपि तत्प्रसङ्गः प्रसज्येत; न च तथा सार्वकालिकासंयमभावात्।

असंयमः औदयिको भावश्चारित्रमोहप्रकृतेः क्षयोपशमाभावात्। उक्तं च सूत्रे ''**गतिकषाय..।**'' मोहकर्मसमुद्भवः औदयिको भावो बन्धकारक एव ''**ओदइया बंधयरा**'' इति वचनात्। देशसंयमे सकलसंयमे च क्षयोपशमभावस्याभ्युपगमात्। आह – ''**जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्त**'' मितिवचनात्। सम्यग्दृष्टौ सम्यक्त्वाचरणचारित्रस्याख्यानं विधीयते। किञ्चानन्तानुबन्धि – कषायस्य चारित्रमोहप्रकृतित्वात्तदभावे चारित्रं किन्नु समुत्पादयेत् ? नैष दोषः, सम्यग्दृष्टौ सम्यग्दर्शनस्य निःशङ्कितादिगुणरूपस्य त्रिमूढतादिदोषरहितस्यानुपालनमेव चारित्रेण व्यपदिश्यते बालप्रोत्साहनवत्। वास्तवेन तु तत्र विरतेरेकदेशेनाप्यभावादविरतसम्यग्दृष्टिरिति नाम्नैव सिद्ध्यते चारित्राभावः। चतुर्थगुणस्थाने तेन चारित्रेण विनापि दर्शनज्ञानेऽवतिष्ठेते। प्रोक्तञ्च उत्तरपुराणे –

समेतमेव सम्यक्त्वज्ञानाभ्यां चरितं मतं।
स्यातां विनापि ते तेन गुणस्थाने चतुर्थके॥७४/५४३॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के होने पर चारित्र तो स्वयमेव ही उत्पन्न हो जाता है, ऐसा नहीं है क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से चारित्र की प्राप्ति नहीं होती। आगम में कहा है कि अप्रत्याख्यानावरण कषाय देश चारित्र का घात करती है और प्रत्याख्यानावरण कषाय सकल चारित्र का घात करती है इसलिए कषाय का उदय होने पर बाह्याचरण चारित्र नाम ही नहीं पाता है। यदि कोई यहाँ पर यह कहे कि सम्यग्दर्शन के होने मात्र से ही चारित्र की उत्पत्ति हो जाती है तो देव नारकियों में भी चारित्रोत्पत्ति का प्रसंग आ जायेगा, किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि उनमें सार्वकालिक असंयम ही होता है।

असंयम औदयिक भाव है, क्योंकि असंयम दशा में चारित्र मोहनीय कर्म की प्रकृति के क्षयोपशम का अभाव होता है। जैसा कि **तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याय** के छठे ''गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाज्ञानसंयता'' सूत्र में कहा है कि असंयम औदयिक भाव है। मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न औदयिक भाव बंध करने वाला है क्योंकि '**ओदइया बंधयरा**' ऐसा आगम का वचन है। देशसंयम में और सकलसंयम में क्षायोपशमिक भाव स्वीकार किया गया है।

शंका –''**जिणणाणदिट्ठिसुद्धं पढमं सम्मत्तचरणचारित्तं**'' ऐसा सिद्धान्त में कहा है जिससे यह जाना जाता है कि सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यक्त्वाचरण चारित्र होता है। तथा अनन्तानुबंधी कषाय चारित्र मोह की प्रकृति है। उसका अभाव होने पर वह चारित्र उत्पन्न क्यों नहीं करती है ?

समाधान – यह कोई दोष नहीं है। सम्यग्दृष्टि में सम्यग्दर्शन के निःशंकित आदि गुणों के होने तथा त्रिमूढ़तादि दोषों के नहीं होने रूप अनुपालना की ही चारित्र संज्ञा बच्चों को प्रोत्साहित करने के समान कही है। वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो एक देशविरति का भी अभाव होने से अविरत सम्यग्दृष्टि इस नाम से ही चारित्र का अभाव सिद्ध होता है। चतुर्थ गुणस्थान में उस चारित्र के बिना भी दर्शन और ज्ञान सम्यग् रहते हैं। जैसा कि उत्तर पुराण में कहा हैं –

न चैकान्तेनानन्तानुबन्धिकषायाभावे चारित्रमवश्यमेव भवितव्यमिति वक्तव्यं मिश्रगुणस्थानेऽपि तत्प्रसङ्गात्। सम्यग्दर्शनमपि मुख्यत्वेन चोरयन्ति मिथ्यात्वमिवानन्तानुबन्धिनः। ''**सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः**'' इत्यग्रे निर्दिष्टः। तेन चारित्रस्यानुद्भूतिस्तत्र सिद्धा। स्यात् सम्यग्दृशश्चारित्रस्यानुपलब्धिर्न पुनर्देशसंयमिनोऽप्रत्याख्यानाभावादिति चेन्न, संयतासंयतानामपि सकलचारित्रस्यावाप्तिर्न प्रत्याख्यानसद्भावात्। सत्यपि क्षयोपशमभावे चारित्रव्यपदेशं न लभते देशसंयमी पृथगुपदेशात्। उक्तं च सूत्रे - **ज्ञानाज्ञाना...**। तथा च ''**तत्राविरतदेशविरतानां चतुर्विधमाप्यार्त्तं भवति असंयमपरिणामोपेतत्वात्**'' इति वचनाद् देशविरतानामप्यसंयमपरिणामस्य सिद्धिः। संयमापेक्षया देशसंयमोऽपि असंयम एव। ''**ण चेवं कारणं घरत्थेसु संभवदि तत्थ चरित्ताभावादो**'' इति वचनात्। अपरञ्च चारित्रं पञ्चविधम् सामायिकादिभेदात् इति मोक्षमार्गे सकलविरतिरूपचारित्रमेव प्राधान्येन चारित्रसंज्ञयोपगीयते। संयमासंयमे देशचारित्रव्याख्यानमपि चारित्रसंज्ञां नाश्नुतेऽसंयममिश्रत्वात्। प्रोक्तञ्च उत्तरपुराणे -

चारित्रस्य न गन्धोऽपि प्रत्याख्यानोदयो यतः।
बन्धश्चतुर्विधोऽप्यस्ति बहुमोहपरिग्रहः॥५९/३५॥

''**सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ ही चारित्र माना है किन्तु चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र के बिना भी सम्यग्दर्शन ज्ञान होते हैं।**''

अनन्तानुबंधी कषाय का अभाव होने पर चारित्र अवश्य ही होना चाहिए ऐसा एकान्त नियम नहीं है। यदि ऐसा कहते हो तो मिश्र गुणस्थान में भी अनन्तानुबन्धीकषाय का अभाव है, वहाँ पर भी चारित्र का प्रसंग आ जायेगा। अनन्तानुबंधी कषाय मुख्य रूप से मिथ्यात्व की तरह सम्यक्त्व को चुराने वाली है। ''**सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः**'' इसी ग्रन्थ में आचार्य महाराज ने स्वयं ऐसा निर्देश किया है, इसलिए चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र की उत्पत्ति नहीं होती है यह सिद्ध होता है।

शंका - अविरत सम्यग्दृष्टि के चारित्र की उपलब्धि न हो, किन्तु देशसंयमी के अप्रत्याख्यान कषाय का अभाव होने से भी चारित्र नहीं होगा क्या ?

समाधान - नहीं, संयतोसंयतों के भी सकल चारित्र की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि उनके भी प्रत्याख्यान कषाय का सद्भाव होता है। क्षयोपशम भाव के होने पर भी देशसंयमी चारित्र नाम नहीं पाता, इसलिए इसका अलग से उपदेश किया है। जैसा कि **तत्त्वार्थसूत्र** में कहा है - ''ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयः'' इस सूत्र में संयमासंयम और चारित्र का पृथक् उपदेश किया है, तथा ''**अविरत और देशविरतों के चारों प्रकार का आर्तध्यान होता है क्योंकि वे असंयम के परिणाम से सहित होते हैं।**'' इस कथन से देशविरत के भी असंयम परिणाम की सिद्धि होती है। संयम की अपेक्षा देशसंयम भी असंयम ही है तथा **श्री धवल** में भी कहा है ''**इस कारण से गृहस्थों में संयम सम्भव नहीं है क्योंकि उनके चारित्र का अभाव होता है।**'' चारित्र पाँच प्रकार का है - सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात इस प्रकार मोक्षमार्ग में सकल विरति रूप चारित्र को ही प्रधानता से चारित्र संज्ञा कही जाती है। संयमासंयम में देशचारित्र

तेनाविरतदेशविरतयोश्चारित्रं प्रतिषिद्धमिति सिद्धं सिद्धान्तार्पणात्। किं बहुना सकलविरतेराधारो दिगम्बरमुद्राङ्कितखड्गनिशितधारो हस्तपात्रमात्रभुक्तितुष्टविग्रहाकारो मोक्षमार्गस्य सारो मुख्यतया प्रचारोऽन्यस्त्वसारोऽवगन्तव्यः॥२०॥

किमिति सम्यग्दर्शनं हि प्रथमं सेव्यतामतोऽत्र तत्कारणमुच्यते –

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च॥२१॥

मं.टी. – तत्रेत्यादि – तत्र सम्यग्दर्शनबोधचारित्रमध्ये। आदौ प्रथमम्। अखिलयत्नेन द्रव्यक्षेत्रकालभावाऽनुकूलं निमित्तं मेलयित्वा प्रयत्नपरो भूत्वा कालादिलब्धिसमाश्रयेणालसं त्यक्त्वेत्यर्थः। सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनम्। समुपाश्रयणीयमङ्गीकरणीयम्। यतः यस्मात् कारणात्। तस्मिन् सत्येव सम्यक्त्वे सति हि। ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं। च समुच्चयार्थे। चरित्रं सम्यक्चारित्रं भवति। क्षयोपशमादिलब्धिक्रमेण करणलब्धिमुपागतस्य दर्शनमोहस्योपशमात्क्षयात्क्षयोपशमाद्वा यदा सम्यक्त्वोत्पत्तिः स्यात्तदा हि तस्य मत्यज्ञानं मतिज्ञानव्यपदेशं च

का व्याख्यान होने पर भी चारित्रसंज्ञा प्राप्त नहीं होती है क्योंकि वहाँ असंयम का मिश्रण है। जैसा कि उत्तरपुराण में कहा है **प्रत्याख्यान कषाय का उदय होने से चारित्र की गन्ध भी नहीं होती है, बहुत मोह और परिग्रह होने से चार प्रकार का बंध भी होता है।**

इसलिए अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरति के चारित्र नहीं होता है यह सिद्धान्त की मुख्यता से सिद्ध होता है। अधिक कहने से क्या संक्षेप में सार यह है कि सकलव्रत का आधार दिगम्बर मुद्रा से चिह्नित तलवार की धार की तरह तीक्ष्ण, मात्र हस्तरूपी पात्र से मुक्ति करने में तुष्ट है शरीर जिनका ऐसे शरीर का आकार ही मोक्षमार्ग का सार है। मुख्यता से वही मार्ग है अन्य सब असार है ऐसा जानना चाहिए॥२०॥

उत्थानिका – सम्यग्दर्शन ही सर्वप्रथम सेवन करने योग्य क्यों है ? उसका कारण यहाँ कहते हैं–

अन्वय – तत्रादौ अखिलयत्नेन सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयं यतः तस्मिन् सति एव ज्ञानं च चरित्रं भवति॥२१॥

अन्वयार्थ – (तत्रादौ) इन तीनों में पहले (अखिलप्रयत्नेन) पूर्ण प्रयत्नों से (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन का (समुपाश्रयणीयं) भले प्रकार अवलम्बन लेना चाहिए (यतः) क्योंकि (तस्मिन् सति एव) सम्यग्दर्शन के होने पर ही (ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान (च) और (चरित्रं) सम्यक् चारित्र (भवति) होता है।

टीकार्थ – सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में सर्वप्रथम संपूर्ण प्रयत्नों से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुकूल निमित्त मिलाकर और प्रमाद को छोड़कर सम्यग्दर्शन की आराधना करनी चाहिए। 'च' शब्द समुच्चयवाची है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है और चारित्र सम्यक् चारित्र कहलाता है। क्षयोपशम आदि लब्धि के क्रम से करण लब्धि को प्राप्त हुए जीव के दर्शन मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से जब सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है, उसी समय उस जीव का मति अज्ञान, मतिज्ञान नाम को प्राप्त होता है और श्रुत अज्ञान, श्रुत ज्ञान नाम

आश्रय लो सम्यक्त्व का, प्रथम यत्न से मित्र।
बिन उसके होते नहीं, ज्ञान चरित्र पवित्र ॥२१॥

श्रुताज्ञानं श्रुतज्ञानव्यपदेंशमवाप्नोति। प्राग् गृहीतं यदि चारित्रं तदपि सम्यक्त्वे सति सम्यक्चारित्रं भवति। यदि चारित्रं पश्चात्स्वीक्रियते तदपि सम्यक् स्यात्। समकालताऽपि रत्नत्रयस्य न विरुध्यते। अनादिमिथ्यादृष्टेरपि सम्यग्दृगादित्रयाणामुत्पत्ति – र्युगपज्जायते भिन्नापूर्वकरणपरिणामादिति परमागमः। ज्ञानवृत्तस्य सम्यग्व्यपदेशहेतुत्वात् सम्यग्दर्शनस्याभ्यर्हितत्वं तथाप्यनवद्यम्। उक्तञ्च –

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमान – मुपाश्नुते।

दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षते॥

आत्मनि त्रयोऽपि गुणा भिन्नाः सन्ति। सम्यग्दर्शनपर्यायः श्रद्धानगुणस्य, सम्यग्ज्ञानपर्यायो ज्ञानगुणस्य, सम्यक्चारित्र–पर्यायश्चारित्रगुणस्य। ज्ञानमेव चैतन्यगुणस्त्रितयेषु। तथाप्यचेतनभूतेन श्रद्धानगुणेन विद्यावृत्तस्य सम्यक्त्वमित्यभ्यर्हितत्वं सुष्ठु प्रोक्तम् ॥२१॥

को प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन के पूर्व यदि चारित्र था तो सम्यक्त्व के होने पर वह चारित्र सम्यक्चारित्र होता है। यदि चारित्र बाद में ग्रहण करता है तो वह चारित्र सम्यक्चारित्र ही है। रत्नत्रय का समान काल होना भी विरोध को प्राप्त नहीं होता है। अनादि मिथ्या दृष्टि जीव के सम्यग्दर्शनादि तीनों की उत्पत्ति भिन्न अपूर्वकरण परिणाम से एक साथ होती है। ऐसा भी परमागम का कथन है। ज्ञान और चारित्र को सम्यक् नाम का हेतु होने से सम्यग्दर्शन पूज्य है, यह कथन भी निर्दोष है। जैसे कहा है – ''**जिस कारण सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र की अपेक्षा उत्कृष्टता को प्राप्त होता है उस कारण से सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग के विषय में खेवटिया कहते हैं।**'' आत्मा में ये तीनों गुण भिन्न–भिन्न हैं। श्रद्धान गुण की पर्याय सम्यग्दर्शन है, ज्ञान गुण की पर्याय सम्यग्ज्ञान है तथा चारित्र गुण की पर्याय सम्यक्चारित्र है। इन तीनों में ज्ञान ही चैतन्य गुण है, तो भी अचेतनभूत श्रद्धान गुण के द्वारा ज्ञान और चारित्र सम्यक् होते हैं इसलिए वह पूज्य है, ऐसा ठीक ही कहा है॥२१॥

विशेषार्थ – सम्यक्त्व के बिना ग्यारह अंग तक का ज्ञान भी अज्ञान कहलाता है तथा महाव्रतादि की साधना से नवम ग्रैवेयक तक की आयुबंध के विशुद्ध परिणामों के होने पर भी वह असंयमी ही कहलाता है, किन्तु सम्यक्त्व के साथ थोड़ा ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान को और थोड़ा त्याग भी सम्यक्चारित्र को प्राप्त होता है। जैसे अंक रहित शून्य कुछ भी कार्य साधक नहीं होते और वही संख्या अंक सहित होने से दस गुणा वृद्धि को प्राप्त हो जाती है, इसी तरह सम्यक्त्व रहित ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है किन्तु सम्यक्त्व के साथ थोड़ा ज्ञान और अल्प चारित्र भी कार्यकारी है इसलिए जैसे बने तैसे पहले सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए॥२१॥

अथ बहुशः प्ररूपितं सम्यग्दर्शनं तस्य स्वरूपनिर्देशार्थमाह-

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश - विविक्तमात्मरूपं तत्॥२२॥

मं.टी. - **जीवाजीवेत्यादि** - जीवाजीवादीनां जीवः उपयोगलक्षणः, तद्विपरीतः अजीवः, जीवाश्च अजीवाश्च जीवाजीवाः त इमे आदौ येषां तेषां जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाणाम्। कथम्भूतानाम् ? तत्त्वार्थनां - तदिति सर्वनामपदम् तस्य भावस्तत्त्वम्। तस्य कस्य ? अर्थानां जीवाजीवादीनां। तत्त्वमेवार्थस्तत्त्वार्थः। धर्मधर्मिणोरभेदात्। तत्त्वश्रद्धानेनालं स्यादिति चेन्न तत्त्वस्याधिकरणापरिज्ञानात्। तदभावे तत्त्वश्रद्धानमकार्यकारि। भावा अपि बहुविधाः केऽत्र विवक्षिता इत्यपि दूषणम्। **सांख्यमते**ऽपि किल तत्त्वानि पञ्चविंशतिः अव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रैकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतपुरुषभेदात्। तर्हि अर्थश्रद्धानेनालं स्यादिति चेन्न मतान्तरीयेऽपि तदभ्युपगमात्। यथा **अक्षपादमते** षोडश पदार्थाः। प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासछलजातिनिग्रहस्थानानां

उत्थानिका - अब अनेक बार उल्लिखित सम्यग्दर्शन के स्वरूप का निर्देश करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वय - जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानाम् विपरीताभिनिवेशविविक्तम् श्रद्धानं सदैव कर्त्तव्यं तत् आत्मरूपं।

अन्वयार्थ - (जीवाजीवादीनां) जीव अजीव आदिक (तत्त्वार्थानाम्) तत्त्वार्थों का (विपरीताभिनिवेश विविक्तम्) विपरीत अभिप्राय से रहित (श्रद्धानं) श्रद्धान (सदैव) निरन्तर ही (कर्त्तव्यं) करना चाहिए और (तत्) वह श्रद्धान (आत्मरूपं) आत्मा का स्वरूप है।

टीकार्थ - जीव अजीव आदि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जीव उपयोग लक्षण वाला है उससे विपरीत अजीव है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये ही तत्त्वार्थ कहलाते हैं। तत् यह शब्द सर्वनाम पद है। तत् का भाव तत्त्व कहलाता है। जीव अजीव आदि अर्थ कहलाते हैं। ये तत्त्व ही अर्थ होने से तत्त्वार्थ कहलाते हैं। क्योंकि धर्म और धर्मी में अभेद होता है।

शंका - तत्त्व का श्रद्धान ही पर्याप्त है अतः तत्त्वार्थ कहने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ?

समाधान - यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि तत्त्व के श्रद्धान मात्र से तत्त्व के अधिकरण का ज्ञान नहीं होता है। उस अर्थ के अभाव में तत्त्व का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। भाव भी अनेक प्रकार के होते हैं। उनमें से यहाँ पर कौन से भाव विवक्षित हैं यह ज्ञात न होने से दोष आता है।

मिथ्या आशय के बिना, जीवादिक श्रद्धान।
निज आतम में ही सदा, सम्यग्दर्शन ज्ञान ॥२२॥

तत्त्वज्ञानाद् निःश्रेयसाधिगमः इति वचनात्। ततः सिध्यति धर्मधर्मिणोः श्रद्धानमेव युक्तम्। अथवा तत्त्वं भावो गुणो धर्मो वा। अर्यते परिच्छिद्यते निश्चीयते इत्यर्थः। तस्मात् तत्त्वेन निश्चितोऽर्थो हि तत्त्वार्थस्तेषां श्रद्धानं। योऽर्थो येन भावेन निश्चीयते तस्य तद्रूपेणैव श्रद्धानं कर्त्तव्यमित्यर्थः। देवश्रुतगुरूणां श्रद्धानं सम्यक्त्वं क्वचित्कथ्यते। ''श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृतामि'' ति वचनात् अत्र तु तत्त्वार्थानामुक्तमिति कथं संगतम् ? नैवं शङ्कनीयम् अविशेषात्। परमार्थभूताप्तादिश्रद्धाने सति जीवादिपदार्थानां स्वरूपावबोधात्।

अथवा तत्त्वार्थः पदार्थसामान्यवाची। श्रद्धानं रुचिः प्रतीतिः। सदैव सततम्। कर्त्तव्यं कार्यम्। तत् श्रद्धानं विपरीताभिनिवेशविविक्तम् विपरीतो यथार्थविलक्षणः। अभिनिवेशः अभिप्रायः। तेन विविक्तं रहितं। आत्मरूपं आत्मनो गुणत्वात्। निश्चयेनात्मरूपं श्रद्धानं निश्चयसम्यग्दर्शनं, व्यवहारनयेन पुनर्जीवाजीवादीनामवसेयमिति नयद्वयस्य विषयं भणितमास्त इति द्वितीयोऽन्वययोजनिका। ननु च मिथ्यादृष्टेरेव कर्मकर्मफलचेतना समस्ति। सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानचेतना सदा हि तिष्ठति। सम्यग्दृष्टेर्बाह्यपदार्थानां भोगो नितान्तमकिञ्चित्करः कर्मबन्धनाय। सम्यग्दृष्टेर्भोगाभिलाषा नास्ति। न हि सम्यग्दृशो रागो बन्धस्य हेतुः कर्मोदयजननात्। न च यतः सम्यग्दृष्टे रागभावस्ततो नास्ति बन्धोऽपि ततो नूनं नास्ति तस्य कर्मफलचेतना। भोगोऽपि निर्जराया हेतुस्तस्य ज्ञानशक्तिवशात्।

सांख्य अव्यक्त, महद्, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, ग्यारह इन्द्रिय, पाँच महाभूत और पुरुष के भेद से पच्चीस तत्त्व मानते हैं। अतः यदि मात्र तत्त्व के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है ऐसा मानते हैं तो सांख्य मत आ जायेगा।

शंका – तो फिर अर्थ के श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है ऐसा मानो ?

समाधान – ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य मतों में भी अर्थश्रद्धान को स्वीकार किया है। जैसे अक्षपाद के मत में सोलह पदार्थ माने हैं। प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह स्थान – इनके तत्त्वज्ञान से मोक्ष का ज्ञान होता है। ऐसा उनका कहना है।

इसलिए सिद्ध होता है कि धर्म और धर्मी का श्रद्धान करना ही युक्त है अथवा तत्त्व, भाव, गुण, धर्म ये एकार्थवाची हैं। जिससे पदार्थ का निर्णय किया जाय उसे अर्थ कहते हैं। इसलिए तत्त्व से निश्चित किया गया अर्थ ही तत्त्वार्थ है। उसका श्रद्धान करना अथवा जो पदार्थ जिस रूप में है उस रूप से उसका श्रद्धान करना चाहिए। कहीं पर देव शास्त्र गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। यहाँ तत्त्वार्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। ये दोनों परिभाषाएँ कैसे संगत होती हैं। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है। परमार्थभूत आप्तादि का श्रद्धान करने पर जीवादि पदार्थों का स्वरूप स्वयमेव समझ में आ जाता है। अथवा तत्त्वार्थ, पदार्थ सामान्य का वाचक है। श्रद्धान, रुचि या प्रतीति को कहते हैं। वह श्रद्धान विपरीत अभिप्राय से रहित होता है। आत्मा का गुण होने से इसे आत्मरूप कहा है। निश्चय नय से आत्मरूप श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। व्यवहार नय से जीवाजीवादि पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस प्रकार दोनों नयों से सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहा गया है। यह द्वितीय प्रकार का अन्वय कथन जानना।

शंका – मिथ्यादृष्टि के कर्म चेतना और कर्मफल चेतना होती है सम्यग्दृष्टि के ज्ञान चेतना हमेशा ही रहती है। सम्यग्दृष्टि के बाह्य पदार्थों का भोग कर्मबन्ध के लिए अकिञ्चित्कर है, अर्थात् सम्यग्दृष्टि के भोग

सततं हि प्रवहति चेतसि शुद्धात्मोपलब्धिर्ज्ञानचेतना प्रवहमानात्। तस्मादायाति सम्यक्त्वस्य लक्षणं स्वानुभूतिरेव न चाप्तादिश्रद्धानम्, स्वानुभूत्यावरणकर्मक्षयोपशमोत्पन्नात्म साक्षात्करीवृत्तेर्निरवधिप्रवर्तनात्। प्रोक्तं च सम्यग्दृष्टेर्लक्षणं ''**आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।**''

तन्न युक्तमुक्तं भवता निश्चयैकान्तमतप्रसंगात्। तद्यथा कर्मफलचेतनां किल सर्वे स्थावरकायाः स्थावरनामकर्मोदयानुभावेन शुभाशुभकर्मविपाकाप्रतीकारसामर्थ्याः सुखदुःखरूपकर्मफलमव्यक्तयाऽनुभवन्ति। ततस्तेषां मिथ्यादृष्टित्वमनवद्यम्। कर्मचेतनासंयुक्ताः खलु त्रसजीवा विशेषरागद्वेषमोहसहिताः कर्मफलसमुद्भूतेष्टानिष्टभावानां प्रतीकारसमर्थाः सन्ति। तेन मिथ्यादृष्टिरेव कर्मचेतनां चेतयत इति मिथ्याप्रलापः सरागसम्यग्दृष्टेरपि रागद्वेषमोहवशेनेष्टानिष्टकार्यकलापोद्यमदर्शनात्। वीतरागसम्यग्दृष्टिर्हि कर्मणां फलकालेऽवेदकोऽस्ति। ''**णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि**'' इति वचनात्। उक्तञ्च -

ज्ञानिना सकलं द्रव्यं ज्ञायते वेद्यते न च।

अज्ञानिना पुनः सर्वं वेद्यते ज्ञायते न च॥४/२३योगसारप्राभृत।

बंध के कारण नहीं है। सम्यग्दृष्टि के भोगों की अभिलाषा नहीं है। सम्यग्दृष्टि का राग बंध का कारण नहीं है, क्योंकि राग कर्मोदय से उत्पन्न होता है। सम्यग्दृष्टि के ऐसा रागभाव नहीं है जिससे कर्मबन्ध हो, इसलिए नियम से उसे कर्मफल चेतना नहीं होती है। ज्ञानशक्ति होने से उसके भोग भी निर्जरा के कारण है। निश्चय से उसकी आत्मा में शुद्धात्मोपलब्धि रूप ज्ञान चेतना का प्रवाह हमेशा प्रवाहित होता है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि सम्यक्त्व का लक्षण स्वानुभूति ही है, देव शास्त्र गुरु का श्रद्धान सम्यक्त्व का लक्षण नहीं है। स्वानुभूत्यावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न आत्मसाक्षात्करी वृत्ति हमेशा प्रवर्तित रहती है। पूज्यपाद स्वामी ने सम्यग्दृष्टि का लक्षण लिखा है - ''विशुद्धि मात्र निश्चय सम्यग्दर्शन है।''

समाधान - आपका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि इससे निश्चय एकान्त मत का प्रसंग आता है। वह इस प्रकार है - निश्चय एकान्त मत के अभिप्राय से आप द्वारा कथित यह (वक्तव्य) ठीक नहीं है। कर्मफल चेतना सभी स्थावरकायिक वेदन करते हैं। स्थावर नाम कर्म का वेदन करने वाले सभी स्थावरकाय शुभ-अशुभ कर्म के फल में प्रतिकार करने के सामर्थ्य से रहित हैं। सुख-दुःख रूप कर्म के फल को बाहर प्रकट किये बिना वे स्वयं अनुभव करते हैं। इसलिए वे जीव निर्बाध रूप से मिथ्यादृष्टि ही हैं।

विशेष रागद्वेष मोह से युक्त त्रस जीव कर्मफल की अनुभूति होने पर इष्ट अनिष्ट भावों का प्रतिकार करने के सामर्थ्य वाले होते हैं इसलिए ऐसे जीव कर्मचेतना से संयुक्त होते हैं अर्थात् सभी त्रस जीव कर्मचेतना का वेदन करते हैं इसलिए मिथ्यादृष्टि जीव ही कर्म चेतना का अनुभव करता है, ऐसा कहना मिथ्या प्रलाप है क्योंकि सराग सम्यग्दृष्टि के भी राग, द्वेष, मोह के वश से इष्ट अनिष्ट कार्य के फल में उद्यम देखा जाता है।

वीतराग सम्यग्दृष्टि ही कर्मोदय के काल में उसका अवेदक होता है जैसा कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है - ''**ज्ञानी उदयागत कर्म के फल को मात्र जानता है, वेदन नहीं करता।**'' और भी कहा है - **ज्ञानी के द्वारा समस्त द्रव्य जाने जाते हैं, वेदे नहीं जाते किन्तु अज्ञानी जीव सभी द्रव्य का वेदन करता है, जानता नहीं है।**

ज्ञानचेतनां पुनस्तेऽनुभवन्ति ये सकलमोहकलङ्केनोत्तीर्णाः सन्तोऽनन्तचतुष्टयरूपेण परिणमय्य ज्ञानदर्शनमात्रात्मानः सन्ति सर्वेऽर्हन्तः सिद्धा वा। ततो वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरतानां महामुनीनामेकदेशशुद्धनिश्चयनयविषयभूतानामपि ज्ञानचेतनत्वमपास्तम्। परमशुद्धनिश्चयनयविषयभूता केवलज्ञानाद्यनन्तगुणरूपा शुद्धोपयोगैकफललक्षणा ज्ञानचेतना वर्तते। तथा चोक्तम् –

सव्वे खलु कम्मफलं थावरकाया तसा हि कज्जजुदं।

पाणित्तमदिक्कंता णाणं विंदंति ते जीवा॥

एवं प्रकारेण सकलजीवराशयस्त्रिधा भिद्यन्ते, त्रिविधचेतयितृत्वगुणानुषङ्गात्। मोक्षमार्गे पुनर्निश्चयव्यवहाररूपात्मके क्वचिद् भिन्नतया परिभाष्यते त्रिविधाऽपि चेतना। शुभाशुभकर्मफलपरिपाकवेलायामात्मनि हर्षविषादाभ्यामेकात्मकतयाऽनुभवनं कर्मफलचेतयितृत्वमवसीयते। ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारप्रपञ्चेषु नित्योद्यताः क्रियाकर्मप्रधानत्वात् कर्मचेतनावन्तोऽभ्युपगम्यन्ते।

जो सकल मोह रूपी कलंक से उत्तीर्ण हो गये हैं, अनन्त चतुष्टय रूप परिणमन करके मात्र ज्ञान दर्शन रूप ही जिनकी आत्मा है ऐसे वे जीव ज्ञानचेतना का अनुभव करते हैं अर्थात् सभी अर्हन्त और सिद्ध परमात्मा ज्ञान चेतना का वेदन करते हैं।

इसलिए एकदेश शुद्ध निश्चय नय के विषयभूत वीतराग निर्विकल्प समाधि में रत रहने वाले महामुनिराजों के भी ज्ञानचेतना का निराकरण हो जाता है। परम शुद्ध निश्चय नय के विषयभूत केवलज्ञानादि अनन्त गुण रूप शुद्धोपयोग के फल स्वरूप है लक्षण जिनका ऐसे जीवों को ज्ञान चेतना होती है। कहा है –

''सभी स्थावर काय कर्मफलचेतना का वेदन करते हैं और सभी त्रस जीव कर्मचेतना का अनुभव करते हैं। प्राणातिक्रान्त अर्हंत और सिद्ध जीव ज्ञान चेतना का अनुभव करते हैं।''

इस प्रकार तीन प्रकार के चेतना गुण के संबंध से सकल जीवराशि तीन भेद को प्राप्त होती है। पुनः निश्चय व्यवहार रूप मोक्षमार्ग में यह त्रिविध चेतना कुछ भिन्न रूप से परिभाषित की जाती है। शुभ-अशुभ कर्मोदय के समय आत्मा में हर्ष विषादात्मक अवस्था में एकात्मपने का अनुभव होना कर्मफल चेतना मानी जाती है। ज्ञान दर्शन चारित्र तप, वीर्याचार के बढ़ाने में जो नित्य उद्यमी हैं वे क्रिया कर्म की प्रधानता से कर्म चेतना वाले हैं ऐसा स्वीकार किया जाता है।

सम्पूर्ण क्रियाकाण्ड के आडम्बर से रहित दर्शन ज्ञान चारित्र की ऐक्य परिणति को ज्ञान चेतना कहा जाता है। उनमें कर्मफलचेतना और कर्म चेतना व्यवहार नय का विषय है, ज्ञान चेतना शुद्ध निश्चय नय का विषय है किन्तु जो व्यवहार मात्र का अवलम्बन लेकर कर्मफल और कर्मचेतना का निश्चय करके उसी में अनुरक्त मन वाले हैं ऐसे लोग साध्य भाव से तो दूर ही रहते हैं। जो भिन्न साधन भाव के अवलोकन में रत हैं तथा जो पर में

सकलक्रियाकाण्डाडम्बरोत्तीर्णदर्शनज्ञानचारित्रैक्यपरिणतिरूपा ज्ञानचेतनाऽवगीयते। तत्र कर्मफलकर्मचेतना व्यवहारनयविषयत्वेन समस्ति, ज्ञानचेतना तु शुद्धनिश्चयनयस्य विषयभूता। ये तु व्यवहारमात्रावलम्बिनः कर्मफलकर्मचेतनाध्यवसायानुरक्तचेतसः दूरं साध्यभावेनावतिष्ठमाना भिन्नसाधनभावावलोकनरताः परमोदासीनभावश्रमैकफलां ज्ञानचेतनां नाश्रयन्ते ते समुपार्जितपुण्यमात्रकर्मकरा भाविकाले मोक्षफलमुपलभेरन्नवेति नियमो नास्ति। ये तु निश्चयमात्रानुयायिनः काललब्धिसमुपलब्धिक्षणं प्रतीक्ष्यमाणाः पुण्यबन्धनमपि पापबन्धेन सदृशं संसृतिहेतुतया निश्चीयमाना मुनिपदवीकरणयोग्यावश्यकतपश्चर्यारूपकर्मचेतनां पुण्य बन्धभयेनानवधारयन्तः स्थाणव इव निष्प्रकम्पास्ते कदापि न निर्वान्ति पापबन्धनत्वात्। ये तु कर्मफलचेतनां मौनेनानुभाव्यमानाः कर्मचेतनां साधनतया ज्ञानचेतनां साध्यभावेन प्रसाधयन्ति तेऽवश्यमेव सिद्धिप्रसिद्धिमुपलभन्ते।

एतस्मादि्भन्नं यद्भवता शङ्कितं तदपि न घटते सर्वत्र वीतरागसम्यग्दृष्टेः प्रधानत्वात्। वीतरागसम्यग्दर्शनं वीतरागचारित्रस्याविनाभावि भवति। वीतरागचारित्रं सरागचारित्रं विना नायाति। ततः सम्यग्दर्शनज्ञानमात्रेणैव ज्ञानचेतनास्तित्वं, कर्मफलाननुभवनं, भोगानां निर्जराकारणत्वमित्यादि प्रलापमात्रमेवागमविरुद्धत्वात्। विस्तारभयेनात्र नोल्लिखितमन्यत्र भूयशः स्पष्टीकरणत्वात्॥२२॥

उदासीन भाव के श्रम के फल रूप ज्ञानचेतना का आश्रय नहीं करते हैं, वे पुण्य मात्र की क्रिया को करने वाले भविष्य में मोक्षफल को प्राप्त होंगे अथवा नहीं होंगे, इसका कोई नियम नहीं है। जो सिर्फ निश्चय नय का अवलम्बन करने वाले हैं, काल लब्धि की उपलब्धि के क्षण की प्रतीक्षा करने वाले हैं, पुण्य बन्ध को भी पाप की तरह संसार का कारण मानने वाले हैं, मुनि पद के योग्य आवश्यक तपश्चर्या रूप कर्म चेतना को कर्मबन्ध के भय से धारण नहीं करने वाले हैं तथा स्थाणु (ठूंठ) की तरह निश्चल होते हैं वे कभी मोक्ष को प्राप्त नहीं होते क्योंकि वे मात्र पाप का बन्ध करते हैं। किन्तु जो पुरुष कर्मफल चेतना का मौनपूर्वक अनुभव करते हैं, कर्मचेतना को साधन रूप से और ज्ञानचेतना को साध्य भाव से सिद्ध करते हैं वे पुरुष अवश्य ही सिद्धि को प्राप्त करते हैं।

इससे भिन्न आपके द्वारा जो शंका की गयी है वह तो यहाँ घटित नहीं होती, क्योंकि आपकी शंका में सब जगह वीतराग सम्यग्दर्शन की प्रधानता है।

वीतराग सम्यग्दर्शन, वीतराग चारित्र का अविनाभावी है। वीतराग चारित्र, सराग चारित्र के बिना नहीं होता है। इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान मात्र से ही ज्ञान चेतना का अस्तित्व मानना तथा ''हमें कर्मफल का अनुभव नहीं होता हैं'' ऐसा मानना और भोगों को निर्जरा का कारण कहना यह आपका प्रलाप मात्र ही है, जो आगम से विरूद्ध है। विस्तार के भय से यहाँ पर अधिक नहीं लिखा गया है किन्तु अन्यत्र इसका स्पष्टीकरण अनेक बार किया गया है॥२२॥

विशेषार्थ - गाथा के अन्तिम चरण में 'आत्मरूपं तत्' यह पद आया है। इसका टीकाकार ने दो प्रकार से अर्थ किया है। प्रथम तो यह है कि यह सम्यग्दर्शन आत्मा का गुण होने से व्यवहार सम्यग्दर्शन ही है। इसका दूसरा अर्थ यह है कि वह आत्मरूप का श्रद्धान निश्चयनय का विषय होने से आत्मप्रतीति रूप है। इस प्रकार जीवादि का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन तथा आत्म प्रतीति निश्चय सम्यग्दर्शन, ऐसे दोनों सम्यग्दर्शन घटित करके यहाँ दोनों नयों का विषय कह दिया है।

अथाष्टाङ्गसम्यग्दर्शनस्य प्रथमाङ्गस्य निःशङ्कितस्य स्वरूपमालोचयति -

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्तव्या॥२३॥

मं.टी. - सकलमित्यादि - अखिलज्ञैः अखिलं सर्वं जानाति स अखिलज्ञस्तैः सर्वज्ञैः। उक्तं कथितं अर्थरूपेण पश्चाद् ग्रन्थरूपेण गणधरादिदेवैर्ग्रथितम् ''**अरहंतभासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं**'' इति वचनात्। किमिति चेत् ? सकलं वस्तु जातं समस्तं वस्तुनो जातं समूहः। किं विशिष्टम् ? अनेकान्तात्मकं न एकः अन्तो धर्मो विद्यते यस्मिन् स अनेकान्तस्तदात्मकत्वेन तथारूपेण वर्तमानात्तथोक्तम्। किमु सत्यं वा असत्यं यथोक्तं तथैव न वा। इति शङ्का द्विकोटिस्पर्शिनी बुद्धिः। न जातु कदाचिदपि। कर्त्तव्या करणीया। त्वया भव्येनेति शेषः। ननु च प्रमत्तसंयमिनोऽपि यदा वस्तुसम्बन्धिनी शङ्का प्रादुर्भवति तदा आहारकशरीरस्य निर्गमनं संक्लेशतयेत्यागमः तथैवार्हतभट्टारकसमीपस्थः सर्वर्द्धिसंस्थः श्रीगणधरदेवोऽपि शंसितवृत्तिभाक् तर्हि किमर्थमत्र

सम्यग्दर्शन के अष्ट अंगों का वर्णन

उत्थानिका - अब सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में प्रथम निःशंकित अंग के स्वरूप का वर्णन करते हैं -

अन्वय - अखिलज्ञैः इदं सकलं वस्तुजातं अनेकान्तात्मकं उक्तं किमु सत्यं, वा असत्यं वा इति शंका जातु न कर्त्तव्या।

अन्वयार्थ - (अखिलज्ञैः) सर्वज्ञों ने (इदं) यह (सकलं) समस्त (वस्तुजातम्) जीवादिपदार्थों का समूह (अनेकान्तात्मकं) अनेकान्त स्वरूप (उक्तं) कहा है (किमु सत्यं) क्या सत्य है (वा) अथवा (किमु असत्यं) क्या झूठ है (इति) ऐसी (शंका) शंका (जातु) कभी (न कर्त्तव्या) नहीं करनी चाहिए।

टीकार्थ - जो अखिल अर्थात् सबको जानते हैं उन्हें अखिलज्ञ या सर्वज्ञ कहते हैं, उन्होंने पहले अर्थ रूप से कहा पश्चात् गणधरदेव ने ग्रन्थ के रूप में गूँथा। '**अरिहंतभासियत्थं गणहर देवेहिं गंथियं सव्वं**' ऐसा कहा गया है। क्या कहा गया है ? समस्त वस्तुओं का समूह। वह समस्त वस्तुओं का समूह किस विशेषता वाला है ? वह समस्त वस्तु समूह अनेकान्तात्मक है। जिसमें एक अन्त अर्थात् धर्म नहीं होता उसे अनेकान्त कहते हैं। वस्तु में अनेक धर्म होते हैं इसलिए उसे अनेकान्त के द्वारा कहा जाता है। यह दिखाई देने वाला वस्तुओं का समूह जैसा कहा गया है वैसा ही है कि अन्य प्रकार से है; इस प्रकार दो कोटियों को स्पर्श करने वाली शङ्का कभी नहीं होनी चाहिए।

शंङ्का - प्रमत्तसंयत मुनि को जब किसी वस्तु के विषय में शंका उत्पन्न होती है तो संक्लेशपूर्वक आहारक

अनेकान्तमय वस्तु में, क्या जानें क्या सत्य।
ऐसी शंका दोष है, जिनवर कहते सत्य ॥२३॥

न शङ्का कर्तव्येति अनुज्ञापाशबन्धनं मत्सदृशानां प्राथमिकानामुदितम्। तन्न; अभिप्रायापरिज्ञानात्। सत्यं वाऽसत्यं वा एवंभूता शङ्का सम्यक्त्वपरिपन्थिनी श्रद्धानाभावात्। प्रमत्तसंयतमुनेर्गणधरदेवस्य च कस्मिंश्चित् वस्तुविषये जिज्ञासा समुत्पद्यतेऽशेषज्ञानावरणक्षयाभावात्। न च तेषां सर्वज्ञप्रणीतवाचि अश्रद्धानम्। तस्माद्यदि मतिरस्तु तदा प्रत्यक्षानुमानागमादिप्रमाणेन भगवदादिस्वरूपं निश्चयितव्यम् इतरथा ''नाऽन्यथावादिनो जिनाः'' वीतरागत्वात् इति बुद्धौ अवधार्य श्रद्धातव्यम्। श्रद्धानस्य शङ्का वा जिज्ञासा वा निरवद्या। इति निःशङ्किताङ्गस्वरूपम्॥२३॥

अथ क्रमप्राप्तद्वितीयाङ्गस्य स्वरूपं प्ररूपयन्नाह-

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत् ॥२४॥

मं. टी. - इहेत्यादि - इह अस्मिन् जन्मनि। विभवादीनि विभवो वैभवः धनधान्यादिसम्पद्विशेषः स आदिर्येषां सौभाग्यप्रतिष्ठादीनां तानि। न आकांक्षेत् न वाञ्छेत्। अमुत्र परलोके अन्यजन्मनि। चक्रित्वकेशवत्वादीन्

शरीर का निर्गमन होता है एवं तीर्थंकर के पादमूल में विराजमान समस्त ऋद्धियों से सम्पन्न गणधर देवादिक को भी शङ्का उत्पन्न होती है तब फिर हम जैसे प्राथमिक लोगों को शङ्का नहीं करनी चाहिए इस तरह की आज्ञा के बंधन में क्यों डाला जा रहा है ?

समाधान - ऐसा नहीं है, आप हमारे अभिप्राय को नहीं समझे। सर्वज्ञ का कथन सत्य है कि असत्य है? इस तरह की सम्यक्त्व विरोधी शङ्का नहीं होनी चाहिए क्योंकि उसमें श्रद्धान का अभाव हो जाता है। मुनि महाराज के और गणधर देवादि के सम्पूर्ण ज्ञानावरण का क्षय न होने से जिज्ञासा उत्पन्न होती है, किन्तु सर्वज्ञदेव के वचनों में अश्रद्धा नहीं होती है। इसलिए यदि बुद्धि है तो प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि प्रमाण के द्वारा भगवान् आदि के स्वरूप का निश्चय करना चाहिए। यदि नहीं है तो जिन अन्यथावादी नहीं होते हैं क्योंकि वे वीतराग हैं, इस प्रकार से बुद्धि में निश्चय करके श्रद्धान करना चाहिए। श्रद्धान करने वाले के शङ्का या जिज्ञासा होना निर्दोष है। इस प्रकार निःशंकित अंग का स्वरूप कहा है॥२३॥

उत्थानिका - क्रम प्राप्त द्वितीय अङ्ग के स्वरूप का वर्णन करते हैं -

अन्वय - इह जन्मनि विभवादीनि अमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन् च एकान्तवाददूषितपरसमयान् अपि न आकाङ्क्षेत्।

अन्वयार्थ - (इह) इस (जन्मनि) भव में (विभवादीनि) ऐश्वर्य सम्पदा आदि को (अमुत्र) परलोक में (चक्रित्वकेशवत्वादीन्) चक्रवर्ती नारायणादि पदों को (च) और (एकान्तवाददूषितपरसमयान्) एकान्त स्वभाववादी अन्य धर्मों को (अपि) भी (न)(आकाङ्क्षेत्)चाहे।

टीकार्थ - इस लोक में धन-सम्पत्ति और सौभाग्य प्रतिष्ठा आदि की आकांक्षा न करें तथा परलोक में चक्रवर्ती या अर्धचक्री नारायण पद आदि की भी आकांक्षा न करें। चक्र जिसके पास होता है उसे चक्रवर्ती कहते हैं तथा चक्र

पर मत के इन्द्रादि के, वैभव जलवे देख।
इच्छा मत कर भोग की, हो निरीह सब देख॥२४॥

– चक्रं यस्य विद्यते स चक्री नवनिधिसप्तद्वयरत्नाधीशः, तस्य भावश्चक्रित्वम्। केशवोऽर्धचक्री नारायणो वा तस्य भावः केशवत्वम्। आदिशब्देन प्रतिनारायणमण्डलेश्वरमहामण्डलेश्वरविद्याधरऋद्धिप्राप्तदेवत्व – सपरिवारतासबन्धुताश्रेष्ठिराजैश्वर्यप्रभृतीनां ग्रहणम्। चक्रित्वं च केशवत्वं च एते आदयस्तान्। न आकांक्षेत् न इच्छेत्। किमिति चेत् ? संसारफलत्वात्। आस्तां केशवत्वं निदानबन्धेन किन्तु चक्रित्वमिति न गम्यते? न, तदपि निदानेन प्राप्यते। प्रोक्तञ्च –

संभूदो वि णिदाणेण देवसुक्खं च चक्कहरसुक्खं।

पत्तो तत्तो य चुदो, उववण्णो णिरयवासम्मि ॥

तीर्थङ्करत्वबलदेवादिपदं न निदानसम्भवं तथाऽसम्भवात्। यतश्च निदानफलं दीर्घसंसारः। अन्यजन्मनि ध्यानार्थोत्तम संहननतपोऽर्थवीर्यान्तरायकर्मोत्कटक्षयोपशमसंयमधारणार्थबन्धुजनसहायत्व – निर्वाणार्हकुलादि–प्रशस्तनिदानमिति चेत् ? न द्वयमपि निदानं प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन मोक्षपरिपन्थनम्। प्रशस्तनिदानफलप्राप्तावपि मोक्ष–पुरुषार्थस्यानियमनात्। किञ्च निदानरहितभावेन रत्नत्रयपालनपरेणैवंविधसहायसामग्री निरीहयोपलभ्यतेऽतः

के होने पर जो भाव होता है उसे चक्रित्व कहते हैं। आदि शब्द से प्रतिनारायण, मण्डलेश्वर, महामण्डलेश्वर, विद्याधर, त्रद्धिप्राप्त, देवपना, सपरिवारता, सबन्धुता, श्रेष्ठिपना, राजैश्वर्य आदि का ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि इन पदों की आकांक्षा संसार की ही आकांक्षा है।

शंका – निदान बन्ध से नारायण पद तो प्राप्त होता है, यह ठीक है किन्तु चक्रवर्ती पद तो निदान से प्राप्त नहीं होता ?

समाधान – नहीं, चक्रवर्ती पद भी निदान से प्राप्त होता है। जैसा कि – **भगवती आराधना** में आचार्य भगवन्त कहते हैं – **सम्भूत नामक कोई किसान का लड़का निदानयुक्त तप करके, सौधर्म स्वर्ग के सुख का उपभोग करके यहाँ भरतक्षेत्र में ब्रह्मदत्त नामक अन्तिम बारहवाँ चक्रवर्ती हुआ, चक्रवर्ती के सुख भोग कर चक्रवर्ती पद से भ्रष्ट होकर नरक गति में सातवें नरक में उत्पन्न हुआ।** तीर्थंकर और बलदेवादि का पद निदान से संभव नहीं है, क्योंकि निदान बन्ध का फल दीर्घ संसार है और तीर्थंकर बलदेवादि दीर्घ संसारी नहीं होते हैं।

शंका – अन्य भव में ध्यान के लिए, उत्तम संहनन (वज्रर्षभनाराचसंहनन), तप करने के लिए वीर्यान्तराय कर्म का उत्कृष्ट क्षयोपशम, संयम धारण करने के लिए बन्धु जन की सहायता और निर्वाण पद के योग्य कुलादि ये प्रशस्त निदान तो कर सकते हैं अर्थात् इनकी आकांक्षा कर सकते हैं ?

समाधान – नहीं, प्रशस्त अप्रशस्त दोनों प्रकार का निदान मोक्ष का विरोधी है। इसलिए मोक्षार्थी को किसी प्रकार का निदान नहीं करना चाहिए। प्रशस्त निदान के फल की प्राप्ति होने पर भी मोक्षपुरुषार्थ का नियमन नहीं होता।

किञ्च – निदान रहित भाव से रत्नत्रय के पालन में तत्पर जीव को इस प्रकार की सहायक सामग्री की प्राप्ति होती ही है इसलिए प्रशस्त निदान भी नहीं करना चाहिए। कहा भी है –

प्रशस्तनिदानमपि न विधेयम्। उक्तञ्च –

तत्थ णिदाणं तिविहं होइ पसत्थापसत्थभोगकदं।

तिविहं पि तं णिदाणं परिपंथो सिद्धिमग्गस्स ॥

तर्हि ''**बोहिलाहो सुगइगमणं समाहिमरणं जिणगुणसम्पत्ति होउ मज्झं**'' एवं पाठो न पठनीय इति चेन्न; तस्य निदानसंज्ञाऽभावात्। निदानं तु भाविभोगाकांक्षा आर्तध्यानस्य पर्यायत्वात्। एवंविधः पाठस्तु धर्मध्यानं विशुद्धेरङ्गत्वात्। ननु च तीर्थकरस्य पदस्य भावनायां का हानिरसंख्येयासुभृतां निःश्रेयसहेतुत्वात् ? सत्यमुक्तम् तथापि वत्स! भावमात्रेण न सर्वस्यावाप्तिः। किञ्चाहमपि तीर्थङ्करो भवमीतिभावनायामहङ्कारः पुष्यति प्रतिष्ठामूलत्वात्। यदि वस्तुतयाऽसुभृतां निःश्रेयसस्य भावस्तर्हि दर्शनविशुद्धिप्रभृतिर्भाव्या। प्रतिष्ठाया भावना हि धर्मस्यासादना। प्रतिष्ठितस्य गुणानुरागः किल धर्मरागः। तस्मान्नाचार्योपाध्यायगणधरतीर्थकरत्वसौभाग्यप्रतिष्ठादेयोच्चकुलाज्ञादरपुस्कारसम्पादका मानमूला अप्रशस्तभावना निदानत्वाद्विधेयाः। आह नास्ति फलं निदानस्य दीर्घसंसृतिः, स्वपुत्रविषये कृतनिदानाया

''निदान तीन प्रकार के होते हैं, प्रशस्त, अप्रशस्त और भोग सम्बन्धी। ये तीनों प्रकार के निदान मोक्षमार्ग के विरोधी हैं।''

शंका – तो मुझे बोधि का लाभ हो, समाधिमरण हो, जिनगुण सम्पत्ति की प्राप्ति हो, यह पाठ भी नहीं पढ़ना चाहिए?

समाधान – नहीं, उस पाठ को पढ़ना निदान नहीं कहलाता है। निदान तो भविष्य में (पंचेन्द्रियों के विषय) भोगों की आकांक्षा है और वह आर्तध्यान की पर्याय है। यह पाठ तो धर्मध्यान है क्योंकि विशुद्धि का अंग है।

शंका – तीर्थंकर पद की भावना करने में क्या हानि है ? वह तो असंख्यात जीवों को मोक्ष की प्राप्ति का कारण है।

समाधान – आपका कहना सत्य है, तो भी हे वत्स! भाव मात्र के करने से सब कुछ प्राप्त नहीं होता। मैं भी तीर्थंकर हो जाऊँ, ऐसी भावना में अहंकार पुष्ट होता है, क्योंकि यह प्रतिष्ठामूलक है। यदि वास्तव में जीवों के कल्याण की भावना है तो दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं को भाना चाहिए। प्रतिष्ठा की भावना तो धर्म की आसादना है। वास्तव में प्रतिष्ठित पुरुषों के गुणों में अनुराग करना धर्मानुराग है।

इसलिए आचार्य, उपाध्याय, गणधर, तीर्थंकर, सौभाग्य, प्रतिष्ठा, आदेय, उच्चकुल, आज्ञा, आदर, पुरस्कार आदि की सम्पादक मानमूलक अप्रशस्त भावना निदान होने से नहीं करनी चाहिए।

शंका – निदान का फल दीर्घ संसार नहीं है, क्योंकि नन्दयशा ने अपने पुत्र के विषय में निदान किया, लेकिन उसे फल की प्राप्ति नहीं हुई ?

समाधान – नहीं, क्योंकि प्रशस्त अनुराग होने पर भी वह अप्रशस्त निदान है। यथाजात रूप के धारी मुनिपुत्रों के दर्शन से मेरा मातृत्व आज सफल हो गया, इस प्रकार की भावना के वश होकर सौभाग्य रूपी

नन्दयशायास्तत्फलानुपलब्धेरिति चेन्न; अप्रशस्तनिदानात् प्रशस्तानुरागेऽपि। यथाजातरूपधराणां मुनिपुत्राणां दर्शनेन में मातृत्वमद्यसफलमिति भावनावशीकृतमानसेन पुनरपि तेषां जननी स्यामिति तान् चित्ते दध्यौ सौभाग्यसम्पत्करत्वात्। सा च देवी भूत्वा पुनश्च मातृसम्भवेऽपि मुक्तिलाभस्य दूरतरत्वात् संसृतौ संसरणं न विरुध्यते। यद्येवं रागेण स्यात्तदा किमर्थं वशिष्ठनामा मुनिः कृतनिदानो नरकं गतः ? नैष दोषः द्वेषाऽनुबन्धात्। तं मारयामीति रौद्रध्यानवशीकृतभावनाफलं नारकमप्रशस्तनिदानत्वात्। तेन निज - शुद्धात्मानन्दानुभवविलक्षणो दृष्टश्रुतानुभूतप्रशस्ताप्रशस्तभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धोऽपि पूर्वकृतज्ञानतपोऽनुष्ठानादिनोपार्जितपुण्यफलभूत - राज्यादिविभूतिं प्रदाय प्रायः नरके हि प्रेषयति तद्भोगांस्त्यक्तुमशक्यत्वात्। प्रत्युत निदानरहितकृतिनः पुरुषा भवान्तरे राज्यादिभोगानुपभुज्य तान् त्यक्त्वा जिनदीक्षां प्रगृह्योर्ध्वगतिगामिनो भवन्ति बलदेवादिवदित्यर्थः। तथा चोक्तं ''**ऊर्ध्वगा बलदेवाः स्युर्निर्निदाना भवान्तरे**'' इतिवचनात्। एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च - नित्यानित्याद्येकपक्षस्वीकृतिः एकान्तवादः, तेन दूषिताः परसमया अर्हन्मतद्विषः तानपि च नाकांक्षेत्, कलौ तेषां प्रभावदर्शनादपि॥२४॥

सम्पत्ति का कारण होने से मैं फिर उनकी माता बनूँ इस प्रकार उसने मन से उन्हीं को चित्त में धारण किया था। वह माता मरकर देवी होकर पुनः माता हुई। अतः उसको मुक्ति का लाभ दूरतर हो जाने से संसार में परिभ्रमण विरोध को प्राप्त नहीं है।

शंका - यदि (राग से) ऐसा है तो निदान करने वाले वशिष्ठ नामक मुनि नरक क्यों चले गये ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है क्योंकि द्वेष रूप परिणाम के कारण वे नरक गये हैं। मैं उसको मारता हूँ इस प्रकार के रौद्र ध्यान की भावना के फल से वे नरक को प्राप्त हुए, क्योंकि यह अप्रशस्त निदान है। इसलिए निज शुद्धात्मानन्द के अनुभव से विलक्षण दृष्ट-श्रुत-अनुभूत प्रशस्त अप्रशस्त भोगाकांक्षा रूप निदान बंध भी पूर्वकृत ज्ञान तप के अनुष्ठानादि से उपार्जित पुण्य के फल रूप राज्यादि विभूति देकर प्रायः नरक में भेजता है, क्योंकि उन भोगों को छोड़ने में असमर्थता होती है, किन्तु निदान रहित पुण्यशाली पुरुष भवान्तर में राज्यादि भोगों को भोग कर अन्त में उन भोगों को त्याग कर जिनदीक्षा को ग्रहण करके बलदेव आदि की तरह ऊर्ध्वगामी होते हैं, यह कथन का तात्पर्य है। कहा भी है ''**निदान से रहित बलदेव दूसरे भव में मोक्ष को प्राप्त करते हैं।**''

एकान्तवाद से दूषित परसमय की भी आकांक्षा न करें। नित्य या अनित्य आदि एक पक्ष को स्वीकार करना एकान्तवाद कहलाता है। उससे दूषित परसमय (अन्य धर्मों को) जो अर्हन्त भगवान के मत के द्वेषी हैं उनकी भी आकांक्षा न करें। भले ही कलिकाल में उनका प्रभाव प्रचुरता से देखने में आ रहा है।

विशेषार्थ - अष्टांग का पालन करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव इस लोक और परलोक सम्बन्धी सुख की इच्छा नहीं करता है, संसार के वास्तविक स्वरूप को समझ कर उसके संसारत्याग की भावना निरंतर हुआ करती है किन्तु जो जीव सम्यक्त्व से रिक्त हैं तथा भोगोपभोग की सामग्री को खोजने में व्यग्र है बुद्धि जिनकी वे आत्मीक सहज सुख प्राप्त कराने वाले वीतराग सर्वज्ञदेव के द्वारा बताये हुए इस मार्ग को स्वीकार न करके रागीद्वेषी देवों की उपासना करते हैं। इसलिए संसार की किसी भी वस्तु के प्रति जिसकी रंचमात्र भी वाञ्छा नहीं है वही निःकांक्षित अंग का धारी हुआ करता है।

अधुना तृतीयाङ्गस्य स्वरूपं कथयन्नाह -

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

मं.टी. - क्षुदित्यादि- नैव करणीया न कार्या। किमिति चेत् ? विचिकित्सा ग्लानिर्घृणा वा। केषु ? द्रव्येषु पदार्थेषु। किं विशिष्टेषु ? पुरीषादिषु पुरीषो विष्ठा स चादौ येषु प्रस्रवणक्षर्दिस्वेदकुष्ठश्लेष्ममलादिबीभत्सपदार्थेषु तेषु। एतावता व्यवहारनिर्विचिकित्साङ्गस्वरूपमुपदर्शितम्। अथ निश्चयनिर्विचिकित्साङ्गस्वरूपमुपदर्शयन्नाह - भावेषु अचेतनकृतबन्ध - समुत्थितेषु वैभाविकेषु। कति ? नानाविधेषु अनेकप्रकारेषु। कथम्भूतेषु ? क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु क्षुत्क्षुधा, तृष्णा पिपासा, शीतः शीतलता, उष्णो धर्मार्कतेजः ते एते प्रभृतौ आदौ येषु तेषु। यस्माच्च पुरीषादिद्रव्याणि पुद्गलमयानि पौद्गलिकपरिणामात्, तद्द्रव्यकृतरागद्वेषादिकारणेनासातावेदनीयमिश्रेणात्मनि घृणादयः प्रभवन्तीति तस्मात्॥२५॥

उत्थानिका - अब सम्यग्दर्शन के तृतीय निर्विचिकित्सा अंग के स्वरूप का कथन करते हुए अगला सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु पुरीषादिषु द्रव्येषु विचिकित्सा नैव करणीया।

अन्वयार्थ - (क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु) भूख, प्यास, शीत, उष्ण आदि (नानाविधेषु) नाना प्रकार के (भावेषु) भावों में और (पुरीषादिषु) विष्ठादिक (द्रव्येषु) पदार्थों में (विचिकित्सा) ग्लानि (नैव) नहीं (करणीया) करनी चाहिए।

टीकार्थ - नहीं करनी चाहिए। क्या नहीं करनी चाहिए ? ग्लानि। किसमें ? पदार्थों में। कौन से पदार्थों में ? विष्ठा आदि में अर्थात् मूत्र, वमन (उल्टी), पसीना, कुष्ठ, श्लेष्म (कफ) मलादि घृणित पदार्थों में। इस प्रकार व्यवहारनिर्विचिकित्सा अंग के स्वरूप का वर्णन किया। अब निश्चय निर्विचिकित्सा अंग के स्वरूप का कथन करते हुए कहते हैं कि - अचेतन कर्म बन्ध के उदय में होने वाले वैभाविक भावों में ग्लानि नहीं करनी चाहिए। कितने हैं वे वैभाविक भाव ? अनेक प्रकार के हैं। किस प्रकार के हैं ? भूख, प्यास, ठण्डी, गर्मी इत्यादि भावों में। क्योंकि पुरीषादि द्रव्य पौद्गलिक परिणमन होने से पुद्गलमय हैं। अतः उन द्रव्यकृत राग द्वेष आदि के कारण असातावेदनीय से युक्त आत्मा में घृणादि भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए पुरीषादि पुद्गल द्रव्य की पर्यायें है, ऐसा विचार कर कभी ग्लानि नहीं करनी चाहिए॥२५॥

विशेषार्थ - निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने वाला सम्यग्दृष्टि जीव विष्ठादि निंद्य अपवित्र वस्तुओं को देख कर ग्लानि तो नहीं करता किन्तु वस्तुस्वरूप का विचार करता है कि हे भगवन्! इस शरीर के संयोग को पाकर पवित्र पौद्गलिक पदार्थ की यह दशा हो गई, इस प्रकार शरीर के विषय में वैराग्य को धारण करता है। रत्नत्रय से पवित्र किन्तु स्वाभाविक अपवित्र शरीर में ग्लानि नहीं करके गुणों में प्रीति करना निर्विचिकित्सा अंग कहलाता है।

मल मैली मुनि देह यों, विष्ठादिक दिख जाय।
घृणा नहीं आये कभी, तीजा अंग कहाय॥२५॥

इदानीं तुरीयाङ्गस्य स्वरूपमुपदर्शयन्नाह -

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम्॥२६॥

मं.टी. - **लोकेत्यादि** -तत्त्वरुचिना तत्त्वस्य तत्त्वार्थस्य नामैकदेशेनाशेषदर्शनात्। तत्र रुचिः श्रद्धान यस्य स्यात् स तेन। कर्तव्य आचरणीयम्। नित्यं सर्वकालम्। अपि निश्चयार्थे। किम् ? अमूढ़दृष्टित्वं मूढदृष्टिरपरीक्षितविषये रूढिभूतेऽज्ञानतन्त्रे स्वीकृतिस्तस्या भावो मूढदृष्टित्वम्। न मूढदृष्टित्वं अमूढदृष्टित्वम् नञ् समासात्। कस्मिन् विषये ? शास्त्राभासे च कुशास्त्रे शास्त्रबुद्धिः शास्त्राभासः तेषु कुशास्त्रेसु अविचारितप्रलापो न परीक्षाक्षमः। क्व ? लोकेऽस्मिन्निति। समयाभासे धर्माभासे अधर्मस्य धर्मवद्विभासनं धर्माभासः प्रभाष्यते। गङ्गास्नानात् पापप्रक्षालनं, पितृतर्पणं, भानुपूजा, गौतमनिर्वाणसमये लक्ष्मीपूजनं गिर्यग्निपातश्च। उक्तञ्च -

आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते॥

उत्थानिका - अब चतुर्थ अमूढ़दृष्टि अंग के स्वरूप का वर्णन करते हुए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वय - लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे तत्त्वरुचिना नित्यमपि अमूढदृष्टित्वम् कर्त्तव्यम्॥

अन्वयार्थ - (लोके) लोक में (शास्त्राभासे) शास्त्र आभास में (समयाभासे) धर्म अभास में (च) और (देवताभासे) देवता आभास में (तत्त्वरुचिना) तत्त्वों में रुचि रखने वाले पुरुष को (नित्यमपि) सदा ही (अमूढदृष्टित्वम्) मूर्खता रहित दृष्टि (कर्त्तव्यम्) रखनी चाहिए।

टीकार्थ- यहाँ तत्त्वार्थ रुचि न कहकर आचार्य महाराज ने तत्त्व रुचि शब्द का प्रयोग किया है, नाम के एकदेश कथन करने से सम्पूर्ण नाम का ज्ञान हो जाता है। तत्त्व में रुचि श्रद्धान जिसके होता है उसे तत्त्वरुचि कहते हैं।

अपि शब्द निश्चय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तत्त्व में रुचि रखने वाले को नित्य ही क्या करना चाहिए ? 'अमूढ़दृष्टित्व' परीक्षा किये बिना पदार्थ को रूढ़ि से अज्ञानवश स्वीकार करना मूढ़दृष्टि है। उसका जो भाव है वह मूढ़दृष्टित्व है, जहाँ मूढ़दृष्टित्व नहीं है उसको अमूढ़दृष्टित्व कहते हैं। भाव अर्थ में 'त्व' प्रत्यय हुआ है। नञ् समास का प्रयोग किया है। किस विषय में अमूढ़दृष्टित्व होना चाहिए ? शास्त्राभास में - कुशास्त्र में शास्त्रबुद्धि होना शास्त्राभास कहलाता है। कुशास्त्रों में अविचारित प्रलाप है। वे परीक्षा में खरे नहीं उतरते हैं। अधर्म का धर्म की तरह आभास होने को धर्माभास कहते हैं। गङ्गा स्नान करने से पापों का धुलना मानना, पितृतर्पण करना, सूर्य की पूजा करना, गौतम गणधर के कैवल्य की प्राप्ति के समय केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी की पूजा छोड़कर लक्ष्मी जी की पूजा करना, पर्वत से गिरना, अग्नि में जलना, इनको धर्म मानकर करना धर्माभास कहलाता है। **रत्नकरण्ड श्रावकाचार में समन्तभद्र स्वामी** ने लिखा है -

---

नानाविध हैं जगत में, देव शास्त्र औ धर्म।
मूढ़ नहीं इनमें बनो, जानो सच्चा मर्म॥२६॥

तथा च पटधृतां मुनिवत्संपूजनम्। पटधारिणां साधुत्वमुपहासकारकमपि मान्यम्। स्वभावो हि सहजो लोकस्य गतानुगतिकता।

देवताभासे - अदेवे देवबुद्धिर्देवताभासस्तस्मिन्। अष्टादशदोषविरहिते देवे हि देवबुद्धिः कार्याः तेभ्योऽन्यत्र देवताभासः। अथवा लोकशास्त्रसमयदेवताभेदाच्चतुर्विधं मूढत्वमवगन्तव्यम्। ननु चैवम् कथम् स्यात् संख्याव्यतिक्रमदोषापत्तेः, यतश्च लोकदेवतापाषण्डिभेदात् त्रिधा मूढ़ताऽऽख्याता स्वामिना। नैष दोषः, अभिप्रायभेदात्। तद्यथा पान्ति रक्षन्ति निवारयन्ति वा पापात् संसारात् इति पाः आगम - वाक्यानीत्यर्थः। तानि खण्डयति स पाखण्डि। तेषाम् खण्डनम् पाखण्डनम्। तद् द्विविधं शास्त्रसमयभेदात्। तत्र श्रुतिस्मृतिपुराणादिशास्त्रपारम्पर्येणागता शास्त्रागतपाखण्डिमूढता कथ्यते। यथा दशाननो राक्षसः, हनुमान् कपिः, पवनञ्जयोऽनिलः, अञ्जना वानरी, हिमवत्पर्वतात्समुत्पन्ना पार्वती इत्यादि। समयेन हुण्डावसर्पिणीकालकारणेनागता समयपाखण्डिमूढ़ता जायते। यथा विजयादशमीदिवसे रावणस्य विकरालरूपं निर्माप्य तस्य दहनम्, स्नानान्तरं सूर्याभिमुखे जलप्रदानम्, पाखण्डिनां नानाभेषविधिनालङ्कृत्य लोकानु रञ्जनम्, नागलिङ्गपिप्पलवृक्षयोनिप्रभृतीनामभ्यर्चनम्, होलिकादहनम्, नवरात्रिपर्वदिनेषु कन्यानां मिष्टक्षीरपानामित्यादि।

''**धर्म समझकर नदी और समुद्र में स्नान करना, बालू और पत्थरों के ढेर लगाना, पर्वत से गिरना और अग्नि में गिरना लोकमूढ़ता कही जाती है।**'' और भी वस्त्रधारी की मुनि की तरह पूजा करना। वस्त्रधारियों को साधु मानना, उपहासकारक है। वास्तव में, लोक का सहज स्वभाव गतानुगतिक है। देवताभास - अदेव में देवबुद्धि होना देवताभास कहलाता है। अठारह दोष से रहित देव में ही देव की बुद्धि करना चाहिए, इससे विपरीत को देवताभास कहते हैं। अथवा लोक मूढ़ता, शास्त्र मूढ़ता, धर्म मूढ़ता, देवमूढ़ता के भेद से चार प्रकार की मूढ़ता जाननी चाहिए।

शंका - समन्तभद्र स्वामी ने लोक मूढ़ता, देवमूढ़ता, पाखण्डि मूढ़ता के भेद से तीन प्रकार की मूढ़ताएँ कही हैं, किन्तु आपने यहाँ पर चार भेद बताये जिससे संख्या व्यतिक्रम होने से दोषापत्ति होती है ?

समाधान - इसमें कोई दोष नही है। अभिप्राय की अपेक्षा से भेद किये हैं। जैसे - जो पाप से या संसार से निवारण करे या रक्षा करे उसे पाः कहते हैं, वे आगम वाक्य हैं। उन आगम वाक्यों का जो खण्डन करे वह पाखण्डी है और उनका खण्डन करना पाखण्ड है। शास्त्र और धर्म के भेद से वह पाखण्ड दो प्रकार का है। उनमें श्रुति, स्मृति, पुराणादि शास्त्र की परम्परा से आयी हुई को शास्त्र से आयी पाखण्डि मूढ़ता कहते हैं। जैसे - रावण राक्षस है, हनुमान बन्दर है, पवनञ्जय वायु है, अञ्जना वानरी है, हिमवन पर्वत से पार्वती उत्पन्न हुई है, इत्यादि शास्त्रागत मूढ़ता है। समय से अर्थात् हुण्डासर्पिणी काल के कारण से आये हुए धर्म से पाखण्डि मूढ़ता उत्पन्न होती है। जैसे - विजयादशमी के दिन रावण का विकराल रूप बनाकर उसका दहन करना, स्नान के बाद सूर्य के सम्मुख खड़े होकर जल प्रदान करना, पाखण्डियों के नाना भेष सजाकर लोकानुरञ्जन करना, नामलिङ्ग, पीपल का वृक्ष, योनि आदि की पूजा करना, होलिका दहन करना, नवरात्रि पर्व आदि के दिनों में कन्याओं को मिष्टक्षीर पान कराना इत्यादि॥२६॥

विशेषार्थ - लौकिकजन बिना विचार किये देखादेखी प्रवृत्ति करते हैं। विवेकी जन अपनी बुद्धि से अच्छी तरह विचर कर ही कार्य करते हैं। श्लोक में आये हुए आभास शब्द से ऐसा समझना चाहिए। यथार्थ में जैसा पदार्थ नहीं है वैसा भ्रमबुद्धि से दिखलाई देना उसको आभास कहते हैं॥२६॥

अथ सम्यग्दृष्टेरतिमहत्त्वस्य हेतुरुदीर्यते-

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।

परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्॥२७॥

मं.टी. - धर्म- इत्यादि -उपबृंहणगुणार्थं उप नैकट्येन आत्मनो गुणानां बृंहणं वर्धनं येन भवेत्तदर्थम्। उपबृंहणगुणोऽत्रोदितः स्वायत्तगुणख्यापनार्थम्। किं कर्त्तव्यम् ? मार्दवादिभावनया मृदोर्भावो मार्दवः स एवादौ प्रामुख्येन तद्रूपभावना यत्र तथा। आदितः उत्तमक्षमार्जवशौचसत्यादिदशधर्माणां ग्रहणं कृतमित्यनेन निश्चयनयप्ररूपणा कृतात्मनो गुणत्वात्। सदा सततं। आत्मनः स्वकीयम्। धर्मोऽभिवर्धनीयः उत्कर्षणीयः। किमन्यविधिरपि स्यादिति चेत् ? अस्ति च। किं तत्। परदोषनिगूहनमपि विधेयम् परेषां बालाशक्तजनानां, दोषः उपयोगकौशलस्य स्खलनं तस्य निगूहनमनाविष्करणम्। परदोषस्याप्रकाशनेनापि स्वधर्मो हि वर्धते परनिमित्ततयेतिभावः। शुद्धात्मभावनापरः सम्यग्दृष्टिः सर्वात्मानमात्मवद् भावयति। स च कदाचित् सधर्मिणां दोषान् प्रदर्श्य स्वकीयदोषान् गणयति। यदि धर्मस्याप्रभावनाकारणभूतदोषो दृश्यते तदैकान्ते कारुण्येन निवेद्यते,

---

उत्थानिका - अब सम्यग्दृष्टि के अति महत्त्व का कारण कहते हैं - अर्थात् उपगूहन अंग का स्वरूप बताते हैं।

अन्वयः - उपबृंहणगुणार्थम् मार्दवादि - भावनया सदा आत्मनो धर्मः अभिवर्द्धनीयः परदोषनिगूहनमपि विधेयम्॥

अन्वयार्थ -(उपबृंहणगुणार्थम्) उपगूहन अंग की रक्षा के लिए (मार्दवादिभावनया) मार्दव आदि भावनाओं के द्वारा (सदा) निरन्तर (आत्मनः) आत्मा का (धर्मः) धर्म (अभिवर्द्धनीयः) बढ़ाना चाहिए (परदोषनिगूहनमपि) दूसरों के दोषों का आच्छादन भी (विधेयम्) करना चाहिए।

टीकार्थ - जिससे आत्मा के गुणों का विकास हो उसके लिए उपगूहन या उपवृंहण गुण यहाँ कहा है। उपबृंहण गुण यहाँ स्वाधीन आत्मगुणों को बताने के लिए है। मृदुता का जो भाव है वह मार्दव है, और मार्दव है आदि में जिसके अर्थात् आदि शब्द से उत्तमक्षमा, आर्जव, शौच, सत्यादि दश धर्मों का ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार मार्दव आदि भावनाओं से निश्चयनय की अपेक्षा आत्मा के गुणों को, आत्मा के धर्मों को हमेशा बढ़ाना चाहिए।

क्या आत्मा के गुणों को बढ़ाने की अन्य विधि भी है ? हाँ, है। वह कौन सी विधि है ? दूसरों के दोषों को भी प्रकाशित नहीं करना चाहिए। बाल, (अज्ञानी) अशक्त (व्रतादि को पालने में असमर्थ) जनों के दोषों को प्रगट नहीं करना चाहिए। उपयोग की कुशलता का स्खलन दोष है। दूसरों के दोषों को प्रगट नहीं करने से अपने गुणों की वृद्धि होती है। अर्थात् पर के निमित्त से स्वगुणों का विकास होता है, यह व्यवहारनय की अपेक्षा जानना। यह कथन का तात्पर्य है।

शुद्धात्मा की भावना में तत्पर सम्यग्दृष्टि सब जीवों को अपने समान मानता है या ऐसी भावना करता है। वह

मृदुता से निज धर्म को, बढ़ा हटा पर दोष।
उपगूहन निज धर्म है, बढ़ता गुण का कोष ॥२७॥

इतरथा वैरानुषङ्गात् कषायाभिवृद्धिः स्यात्। यतश्च परनिन्दापरो जिनधर्मबाह्यः। प्रोक्तञ्च -

अज्ञानान्मत्सराद्वापि दोषं वितथमेव तु।
प्रकाशयञ्जनोऽत्यन्तं जिनमार्गाद्बहिः स्थितः॥

स्वाक्षिणि रचिताञ्जनजनः सर्वसौन्दर्यं भावयन् चन्द्रचिह्नं कलङ्कं कलयतीति स्वभावोऽशिक्षितोऽपि सहज एव। ततश्च पूर्वस्वभावं परिवर्त्य कषायप्रमुखवृत्तितः पराङ्मुखः सम्यग्दृक्। पूर्वसंस्कारपरित्यागेन विना कथं बोधवृत्तिदृष्टयः सम्यक्। परगूढ़ाऽभिप्रायप्रदर्शनं किल वाच्यता नाम। इति व्यवहारनयेन पञ्चमाङ्गस्य स्वरूपमुक्त्वा नयनवन्नयद्वयस्य मैत्री तता।

उपगूहनानन्तरं विधेयं किमितिचेत् येन पुनरपि ते दोषा न स्युरिति प्रबोधनार्थमाह -

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्॥२८॥

कभी-कभी अपने साधर्मियों के दोषों को देखकर अपने दोषों की गणना करने लगता है। यदि धर्म की अप्रभावना के कारणभूत दोष दिखाई देते हैं तो साधर्मी को एकान्त में करुणा बुद्धि से बताने का प्रयास करता है, यदि लोगों के सामने बतायेंगे तो बैर का प्रसंग आ जायेगा और कषाय की वृद्धि होगी। इसलिए जो परनिन्दा करने में तत्पर है वह जिनधर्म से बाहर है। कहा भी है ''**जो अज्ञान से अथवा मात्सर्य से दूसरे के झूठे दोषों को भी प्रकाशित करता है वह जिनेन्द्र भगवान् के मार्ग से बाहर है।**''

अपनी आँख में लगे हुए अञ्जन से लोग अपने को सबसे सुन्दर मानते हैं और चन्द्रमा को कलंकी कहते हैं। अज्ञानीजन का ऐसा कहना यह उनका सहज स्वभाव ही है। इसलिए परनिन्दादि के पूर्व स्वभाव को परिवर्तित करके जो मिथ्यात्व और कषायादि से पराङ्मुख होता है वह सम्यग्दृष्टि है। पूर्व संस्कार का त्याग किये बिना दर्शन, ज्ञान, चारित्र समीचीन कैसे हो सकते हैं ? दूसरों के गुप्त अभिप्राय को प्रकट करना निन्दा कहलाती है। इस प्रकार व्यवहार नय की अपेक्षा भी उपवृंहण अंग का स्वरूप समझकर नेत्रों की तरह दोनों नयों की मित्रता विस्तारित की है॥२७॥

उत्थानिका - उपगूहन अंग के बाद क्या करना चाहिए जिससे वे दोष पुनः न हों, यह समझाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - न्यायात् वर्त्मनः चलयितुं कामक्रोधमदादिषु उदितेषु आत्मनः परस्य च श्रुतं युक्त्या अपि स्थितिकरणं कार्यम्॥

अन्वयार्थ - (न्यायात् वर्त्मनः) न्याय मार्ग से (चलयितुम्) च्युत करने को (कामक्रोधमदादिषु) काम क्रोध मद लोभादिक के (उदितेषु) प्रगट होने पर (आत्मनः) अपने आपका (परस्य च) और अन्य पुरुषों का भी (श्रुतम्) आगमानुसार तथा (युक्त्या अपि) युक्ति से भी (स्थितिकरणं कार्यम्) स्थितीकरण करना चाहिए।

काम, क्रोध, मद, कष्ट से, यदि संयम डिग जाय।
निज पर को हर युक्ति से, थिरता धर्म सहाय ॥२८॥

मं.टी. - कामेत्यादि - कार्यं विधेयं। किं तत् ? स्थितिकरणं सम्यग्दर्शनस्य षष्ठमङ्गं। केषु ? कामक्रोधमदादिषु काम इच्छा लोभस्य पर्यायः, क्रोधो रोषः मदोऽहंकारः, आदिशब्देन सत्कारपुरस्कारहीनाधिकतामात्सर्योपहासाधर्मसमर्थनानीतिचरणा-गमार्थान्यथाप्ररूपणादि संगृह्यम्। कामश्च क्रोधश्च मदश्च कामक्रोधमदास्ते चादौ येषां सत्कारादीनां तेषु। किं विशिष्टेषु उदितेषु समुत्पन्नेषु। किं कर्तुं ? चलयितुमवधीरयितुं विमोक्तुं वा। कस्मात् ? न्यायात् वर्त्मनः न्यायमार्गात् सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपोरूपात्। कस्य ? आत्मनः स्वकीयस्य च परस्य अन्यस्य। तर्हि किं कर्तव्यम् ? स्थितिकरणं पुनरपि मार्गेऽवस्थापनं कार्यम्। अपि नियमनार्थम्। केन विधिना ? श्रुतं युक्त्या श्रुतानुसारियुक्त्या, श्रुतमागमः कर्णविषयो वा। स्थितिकरणमङ्गमतिदुष्करं स्वयोग्यतापरस्थितिनिर्भरत्वात्। सच्चारित्रचणः किल वान्तदुराशयकणः कश्चिदस्ति स्थितिकरणप्रवणः। आत्मनः स्थितीकरणं निश्चयनयेन व्यवहारेण पुनः परस्येति नयद्वयं शशकर्णयुग्ममिव युगपत् प्रवर्धते॥२८॥

टीकार्थ - सम्यग्दर्शन के छठे अंग स्थितीकरण का पालन करना चाहिए। किन विषयों में करना चाहिए ? काम क्रोध मदादि के विषय में करना चाहिए। काम अर्थात् लोभ की पर्याय। काम इच्छा को कहते हैं। क्रोध अर्थात् रोष यह जगत् प्रसिद्ध ही है। मद अर्थात् अहंकार। आदि शब्द से सत्कार पुरस्कार की हीनाधिकता मात्सर्य, उपहास, अधर्म का समर्थन, अनीतिपूर्ण आचरण, आगम के अर्थ की अन्यथा प्ररूपणा आदि का भी संग्रह करना चाहिए। अर्थात् स्वयं का अथवा अन्य का सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप रूप न्याय मार्ग से विचलन काम, क्रोध, मद आदि के उत्पन्न होने पर होता है। ऐसी स्थिति में स्वयं को और अन्य को भी मोक्षमार्ग में पुनः स्थापित करना चाहिए। किसको ? स्वयं न्याय मार्ग से च्युत हो रहे हों या दूसरे लोग न्याय मार्ग से च्युत हो रहे हों, दोनों को स्थितीकरण - अर्थात् मोक्ष मार्ग में पुनः स्थापित करना चाहिए। ''अपि'' शब्द नियम बनाने के लिए आया है। किस विधि से स्थितीकरण करना चाहिए ? श्रुत से या युक्ति से अथवा श्रुतानुसारीयुक्ति से स्थितीकरण करना चाहिए। श्रुत-आगम अथवा कर्णेन्द्रिय का विषय है। स्थितीकरण अंग अत्यन्त दुष्कर है, क्योंकि यह स्वयोग्यता और पर की स्थिति पर निर्भर करता है। जिसने दुराशय के एक-एक कण को उगल दिया है ऐसा कोई सच्चरित्र में निपुण पुरुष ही स्थितीकरण करने में पटु होता है। अपना स्वयं का स्थितीकरण करना निश्चयनय है और पर का स्थितीकरण करना व्यवहार नय है। इस प्रकार स्थितीकरण में ये दोनों नय खरगोश के दोनों कानों की तरह एक साथ प्रवर्धमान होते हैं॥२८॥

विशेषार्थ - काम-क्रोध मद आदि के तीव्र उदय से अपना संयम शिथिल होता हुआ प्रतीत हो तो आगमानुसार अशुचि आदि भावनाओं का चिन्तन करके अपने आपको मोक्षमार्ग में दृढ़ कर लेना चाहिए। जिस समय मोहनीय कर्म का तीव्र उदय होता है उस समय प्राणी सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से च्युत होने लगता है, उसी समय शास्त्राभ्यास तथा उपदेश आदि के द्वारा अपने आप को और पर को भी सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र में दृढ़ करना चाहिए॥२८॥

अथ वात्सल्याङ्गं विधीयते -

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।

सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्॥२९॥

मं.टी. - अनवरतमित्यादि। धर्मे-उत्तमसुखे धरति स धर्मस्तस्मिन् अथवा धार्यत इति धर्मस्तत्र। किं विशिष्टे ? शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने - शिवं मोक्षः श्रेयो वा ''शिवं श्रेयः शिवं सुखम्''। इति धनञ्जयः। तस्य सुखं तदेव लक्ष्मीः विभूतिस्तस्याः निबन्धनं कारणं तस्मिन्। कथं भूतायाम् ? अहिंसायां हिंसनं हिंसा, व्यवहारनिश्चयेभ्यो हिंसाया विरतिः अभावो वा तस्याम्। एतेन निश्चयनयस्य विषयो भणितः। व्यवहारनयस्य विषयभूतस्वरूपमथोच्यते। च तथा। सर्वेषु सधर्मिषु सकलेषु सतीर्थेषु। किं विधेयम् ? परमं वात्सल्यं आलम्ब्यं उत्कृष्टवात्सल्याङ्गं भावयितव्यम्। वत्सं लाति आह्वयतीति वत्सलं प्रेम स्नेहो वा तस्य भावो वात्सल्यं ष्यञ्प्रत्ययात्। अनवरतं सततं सम्यग्दर्शनस्याङ्गत्वात् गोवत्ससमा प्रीतिः सम्यग्दृष्टेर्लक्षणमित्युपलक्षितम्॥२९॥

उत्थानिका - अब वात्सल्य अंग का स्वरूप कहते हैं-

अन्वयः - शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे अहिंसायां च सर्वेष्वपि अनवरतं परमं वात्सल्यम् आलम्ब्यम्॥

अन्वयार्थ - (शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने) मोक्षसुख रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति में कारणभूत (धर्मे) धर्म में (अहिंसायां) अहिंसा में (च) और (सर्वेष्वपि) समस्त ही (सधर्मिषु) साधर्मी जनों में (अनवरतम्) निरन्तर (परमं) उत्कृष्ट (वात्सल्यं) वात्सल्य का (आलम्ब्यम्) आलम्बन करना चाहिए।

टीकार्थ - जो जीवों को संसार के दुःखों से निकालकर उत्तम सुख में धरता है उसे धर्म कहते हैं अथवा जो धारण किया जाय वह धर्म है। उसमें क्या विशेषता है ? वह मोक्षसुख रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति का कारणभूत है। शिव, मोक्ष और श्रेयस् ये सभी एकार्थवाची हैं। और कैसा है वह धर्म ? जहाँ पर व्यवहार और निश्चय हिंसा का अभाव है, ऐसा अहिंसा धर्म है, उसमें वात्सल्य की भावना रखनी चाहिए। इससे निश्चय नय का विषय कहा गया है। अब व्यवहार नय के विषयभूत वात्सल्य का स्वरूप कहा जाता है। सभी साधर्मियों में उत्कृष्ट वात्सल्य, प्रेम की भावना रखनी चाहिए। वत्स शब्द से भाव अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय और आदि अच को वृद्धि करने पर 'वात्सल्य' शब्द बनता है। वात्सल्य कब करना चाहिए ? सम्यग्दर्शन का अंग होने से निरन्तर वात्सल्य अंग का पालन करना चाहिए, क्योंकि गाय और बछड़े की प्रीति की तरह साधर्मियों से प्रीति करना यही सम्यग्दृष्टि का लक्षण है॥२९॥

विशेषार्थ - जिस प्रकार गाय बछड़े के स्नेहवश सिंह के सम्मुख जाकर प्राणों की बाजी लगा देती है और अपने प्यारे बेटे के प्राणों की रक्षा करती है भले ही सिंह उसे खा जाये पर वात्सल्य वश वह बछड़े की रक्षा करने से पीछे नहीं हटती है। इसी प्रकार धर्म और धर्मात्माओं की रक्षा करने के लिए सम्यग्दृष्टि का स्नेह हुआ करता है॥२९॥

धर्म अहिंसा में तथा, सहधर्मी के साथ।
प्रेम करो निष्कपट हो, वत्सल अंग सुहात॥२९॥

अथान्त्याङ्गं लक्ष्यते -

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥३०॥

मं.टी. - आत्मा इत्यादि। प्रथमं तावत्। आत्मा-अतति व्याप्नोति सकलगुणपर्यायेषु स स्वतत्त्वमित्यर्थः। प्रभावनीयः प्रकृष्टतया भावनीयो भाव्यः, यथा कुशलभिषक् मन्त्रगुणैर्विषनिष्कासनार्थं शरीरं भावयति तथा हि। केन प्रभावेन ? रत्नत्रयतेजसा सम्यग्दर्शनादित्रयप्रतापेन। अनेन निश्चयप्रभावनाङ्गमुद्योतितम्। अथ व्यवहारप्रभावनाङ्गस्वरूपमुपदिशन्नाह-जिनधर्मश्च रागादीनां जेता जिनस्तेषां धर्मः पथः अपि प्रभावनीयः इत्यर्थः। कैश्चित् विधानैः ? दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः दानं अर्जितस्य प्रदानं, तपो बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वादशविधम्, जिनपूजा निमित्तनैमित्तकताभ्यां तीर्थकरस्येज्या पूजाविधानरूपा, विद्या लौकिकालौकिकतया द्विधा। तत्र लौकिकविद्यया मन्त्रतन्त्रायुर्वेदवास्तु-प्रभृतिरीत्या श्रावकैरनुष्ठेयो जिनधर्मः। अलौकिकविद्यया

उत्थानिका - अब अन्तिम प्रभावना अंग का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - रत्नत्रयतेजसा सततं एव आत्मा प्रभावनीयः च दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः जिनधर्मः।

अन्वयार्थ - (रत्नत्रयतेजसा) रत्नत्रय के तेज से (सततं एव) निरन्तर ही (आत्मा) अपने आत्मा को (प्रभावनीयः) प्रभावित करना चाहिए (दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैः) दान, तपश्चरण, जिनपूजन, विद्या आदि के चमत्कारों से (जिनधर्मः) जैन धर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

टीकार्थ - जो सम्पूर्ण गुण और पर्यायों में व्याप्त होकर रहता है उसे आत्मा कहते हैं, वह स्व तत्त्व है, यह तात्पर्य है। प्रभावना करनी चाहिए अर्थात् प्रकृष्ट रूप से जो भावना के योग्य है वह प्रभावना है। जैसे कुशल वैद्य शरीर के विष को निकालने के लिए मन्त्रों के द्वारा बार-बार भावना करता है उसी प्रकार आत्मा के दोषों को नष्ट करने के लिए बार-बार भावना करनी चाहिए। किसके प्रभाव से भावना करनी चाहिए ? रत्नत्रय के तेज से अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के प्रताप से भावना करनी चाहिए। यह निश्चय प्रभावना अंग का स्वरूप प्रगट किया। अब व्यवहार प्रभावना अंग के स्वरूप को प्रकट करते हैं। रागादि को जीतने वाले जिन कहलाते हैं उनके धर्म अर्थात् मार्ग की प्रभावना करनी चाहिए, यह कथन का तात्पर्य है। कौन से विद्यानों के द्वारा जैन धर्म की प्रभावना करनी चाहिए ? दान, तपश्चरण, जिनपूजा और विद्या के अतिशय के द्वारा जैन धर्म की प्रभावना करनी चाहिए। अर्जित द्रव्य का स्व-पर उपकार के लिए देना दान कहलाता है। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से तप बारह प्रकार के हैं, इनका वर्णन आगे करेंगे। निमित्त और नैमित्तिक की अपेक्षा चौबीस तीर्थंकरों की पूजा को या वृहत्पूजा को विधान कहते हैं। लौकिक और अलौकिक के भेद से विद्या दो प्रकार की है, उनमें लौकिक विद्या के द्वारा अर्थात् मन्त्र, तन्त्र, आयुर्वेद, वास्तुशास्त्र आदि की रीति से श्रावकों के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना की जाती है।

रत्नत्रय की भावना, करो प्रथम यह कर्म।
जप, तप, पूजा, ज्ञान से, फैलाओ फिर धर्म॥३०॥

सिद्धान्तन्यायतर्काध्यात्मशास्त्रादिरीत्या श्रमणैरनुष्ठेयः। अतिशयः आधिक्यः अतिशयशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते। तद्यथा दानातिशयः तपोतिशयः जिनपूजातिशयः, विद्यातिशयः। दानंच तपश्च जिनपूजा च विद्या चेतरेतरद्वन्द्वात् तासामतिशयैरिति। सततमेव निश्चयेन सदाकालमिति॥३०॥

इतिश्री अमृतचन्द्रसूरिविरचितपुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थस्य मङ्गलाटीकायां सम्यग्दर्शनव्याख्यानमुख्यतया तृतीयोऽधिकारः श्रमणसंस्कृतिसमुन्नतिकरस्य शताधिकमुनिवर दीक्षां प्रदातुराचार्य विद्यासागरस्य शिष्येण मुनि प्रणम्यसागरेण समाप्तः।

अलौकिक विद्या के द्वारा अर्थात् सिद्धान्त, न्याय, तर्क, अध्यात्म शास्त्रादि की रीति से साधुओं के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना की जाती है। अतिशय का अभिप्राय आधिक्य है। अतिशय शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए, जैसे – दानातिशय, तपोऽतिशय, जिनपूजातिशय, विद्यातिशय आदि। इस प्रकार निरन्तर ही जैनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए॥३०॥

इस प्रकार अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित पुरुषार्थसिद्धि उपाय ग्रन्थ की मंगलाटीका में सम्यग्दर्शन के व्याख्यान की मुख्यता से तृतीय अधिकार श्रमण संस्कृति की उन्नति करने वाले, शताधिक मुनिवर दीक्षा प्रदायक आचार्य श्री विद्यासागर के शिष्य मुनि प्रणम्य सागर द्वारा पूर्ण हुआ।

अथ सम्यग्दर्शनस्य स्वरूपविधाने निरूप्य क्रमप्राप्तसम्यग्ज्ञानं विवेचयति -

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन।

आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः॥३१॥

मं.टी. - इत्याश्रितेत्यादि - समुपास्यं समीचीनतयाऽऽराध्यं। किं तत् ? सम्यग्ज्ञानं व्यवहारेण चतुरनुयोगशास्त्रं निश्चयेन पुनरात्मज्ञानमात्रम्। नित्यं सर्वकालम्। केन विधिना ? यत्नेन पौरुषेण। कैः कृत्वा ? निरूप्य संविचार्य। किम्भूतैः ? आम्नाययुक्तियोगैः - आम्नायः जिनागमस्य परम्परारीतिः, युक्तिरागमनिकषस्तयोर्योगः संकलनं तै प्रमाणनयैरित्यर्थः। अर्थात् परम्परारीतिर्युक्त्यविरोधिनी, युक्तिश्च परम्पराऽविरोधिनी स्यात्। अथवा आम्नायः आगमः युक्तिः प्रमाणनयात्मिका, योगः स्वानुभवप्रत्यक्षज्ञानम् एतैस्त्रिभिरित्यप्यर्थः। कैश्चित् ? इत्याश्रितसम्यक्त्वैः इति पूर्वोक्तविधानेन यैः सम्यक्त्वं सम्यग्दर्शनं आश्रितं अवधारितं तैरिति। आत्महितैः आत्मनः हितं कल्याणमिच्छितं यैस्तैः स्वहितमुपलिप्सुजनैरित्यर्थः॥३१॥

सम्यग्ज्ञानाधिकार

उत्थानिका - सम्यग्दर्शन के स्वरूप और भेदों का वर्णन करके अब क्रमप्राप्त सम्यग्ज्ञान के स्वरूप का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - इति आश्रितसम्यक्त्वैः आत्महितैः नित्यम् आम्नाययुक्तियोगैः निरूप्य यत्नेन सम्यग्ज्ञानं समुपास्यं।

अन्वयार्थ - (इति) इस प्रकार (आश्रितसम्यक्त्वैः) सम्यग्दृष्टि (आत्महितैः) आत्महितैषी पुरुषों द्वारा (नित्यं) हमेशा (आम्नाययुक्तियोगैः) आगम, युक्ति और योग से (निरूप्य) विचार करके (यत्नेन) यत्नपूर्वक (सम्यग्ज्ञानं समुपास्यं) सम्यग्ज्ञान का भले प्रकार सेवन करना चाहिए।

टीकार्थ - अच्छी तरह से आराधन करने योग्य है। क्या ? सम्यग्ज्ञान, व्यवहार नय की अपेक्षा चार अनुयोग रूप शास्त्र और निश्चय नय से मात्र आत्मज्ञान आराधन के योग्य है। कब ? नित्य ही। किस विधि से ? पुरुषार्थ पूर्वक। क्या करके ? अच्छी तरह विचार करके। किस रूप से ? आगम और युक्ति के द्वारा। जिनागम की परम्परा के प्रवाह को आम्नाय कहते हैं। आगम की कसौटी को युक्ति कहते हैं। इन दोनों के द्वारा अर्थात् प्रमाण और नय के द्वारा सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिए। आगम परम्परा का युक्ति के द्वारा विरोध न हो और युक्ति का परम्परा के द्वारा विरोध न हो, यह कथन का तात्पर्य है। अथवा आम्नाय का अर्थ आगम है, युक्ति, प्रमाण और नय रूप है तथा योग का अर्थ स्वानुभव प्रत्यक्ष ज्ञान है। इन तीनों के योग से सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिए यह अर्थ भी फलित होता है। किनके द्वारा ? जिन पुरुषों ने सम्यक्त्व का आश्रय किया है ऐसे आत्मा का हित चाहने वाले पुरुषों के द्वारा सम्यग्ज्ञान आराधन करने योग्य है॥३१॥

सम्यग्दर्शन साथ ले, निज हित की यदि चाह।
ज्ञानाराधन कर सदा, ले श्रुत नय की राह॥३१॥

यतश्च सम्यग्दर्शने सति स्वयमेव ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं भवति, किम्पुनः पृथग्निर्देशेनेति निर्दिश्यते -

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः॥३२॥

मं.टी. - पृथगित्यादि - बोधस्य सम्यग्ज्ञानस्य। दर्शनसहभाविनोऽपि - दर्शनं सम्यग्दर्शनं तस्य साहचर्येण भवनात् मतिश्रुतज्ञानवत् तस्यापि। पृथगाराधनं पृथक्त्वेनाराधनं व्याख्यानं। इष्टं शिष्टैः स्वीकृतम्। यतः यस्मात् कारणात्। अनयोः सम्यग्दर्शनज्ञानयोः। नानात्वं भिन्नत्वं। लक्षणभेदेन सम्भवति श्रद्धानज्ञानरूपभिन्नलक्षणवशात् कथञ्चित् पृथक् निर्देशस्य सम्भावनेत्यर्थः। श्रद्धानज्ञाने द्वे भिन्नगुणत्वे प्रत्येकमात्मनः स्तः। लक्षणग्रहणमुपलक्षणं यथा ''चित्रपटैर्निवार्यतां शिशुरिति'' कुसंस्कारोपलक्षणं चित्रपटग्रहणं। तेन लक्षणसंख्यावरणीयकर्मतत्क्षयोपशमविधिविधानाङ्गकार्यादिविवक्षायां भिन्नत्वमभिन्नत्वञ्च गुणमोक्षप्रत्ययतादिविवक्षायामुचितमेवाऽनेकान्तात्। तद्यथा सम्यग्दर्शनस्य लक्षणं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्ज्ञानस्य तु तत्त्वार्थनां याथात्म्यावगमः। सम्यग्दर्शनं द्विविधं निसर्गाधिगमभेदात्, सम्यग्ज्ञानं पञ्चविधं

उत्थानिका - सम्यग्दर्शन के होने पर स्वयं ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है तो फिर उसका अलग कथन क्यों किया, इसका समाधान करने के लिए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - बोधस्य दर्शनसहभाविनोऽपि पृथगाराधनं इष्टं यतः अनयोः लक्षणभेदेन नानात्वं सम्भवति॥

अन्वयार्थ - (बोधस्य) सम्यग्ज्ञान का (दर्शनसहभाविनोऽपि) सम्यग्दर्शन के साथ होने पर भी (पृथगाराधनं) पृथक ही आराधन करना (इष्टं) इष्ट है (यतः) क्योंकि (अनयोः) इन दोनों में (लक्षणभेदेन) लक्षणभेद की अपेक्षा (नानत्वं) भिन्नता (सम्भवति) होती है।

टीकार्थ - मतिश्रुत ज्ञान की तरह सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ होने पर भी ज्ञानियों ने सम्यग्ज्ञान की आराधना अलग से स्वीकार की है। क्योंकि इन दोनों में (सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में) भिन्नता है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का लक्षण अलग-अलग है। इसलिए इन दोनों की आराधना अलग-अलग की जानी चाहिए, यह कथन का तात्पर्य है। श्रद्धान और ज्ञान ये दो भिन्न गुण प्रत्येक आत्मा में होते हैं। लक्षण का ग्रहण उपलक्षण के लिए है जैसे - 'चित्रपट (टी.वी.) से बालक को हटाया जाये' यहाँ कुसंस्कार के उपलक्षण मात्र के लिए चित्रपट का ग्रहण है। इसलिए इन दोनों का लक्षण, संख्या, आवरणीय कर्म, क्षयोपशम की विधि का विधान और अंग, कार्य आदि की विवक्षा में भी भिन्नता है और गुणस्थान, मोक्ष के कारण आदि की विवक्षा में अभिन्नता है। अनेकान्त की अपेक्षा यह कथन उचित ही है।

जैसे सम्यग्दर्शन का लक्षण तत्त्वार्थश्रद्धान है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण तत्त्वार्थों का याथात्म्य ज्ञान है। सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं, निसर्गज सम्यग्दर्शन और अधिगमज सम्यग्दर्शन। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान के भेद से सम्यग्ज्ञान पाँच प्रकार का है। सम्यग्दर्शन का विनाश करने वाला दर्शनमोहनीय कर्म है और

यद्यपि दर्शन साथ ही, समीचीन हो बोध।
फिर भी लक्षण भेद से, नानापन है शोध॥३२॥

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदात्। सम्यग्दर्शनस्य विनाशिकर्म दर्शनमोहनीयम् सम्यग्ज्ञानस्य तु दर्शनमोहेन सह ज्ञानावरणीयम्। सम्यग्दर्शनं दर्शनमोहस्योपशमक्षयक्षयोपशमविधिनोत्पद्यते, सम्यग्ज्ञानं तु दर्शनमोहेन सह ज्ञानावरणस्य क्षयक्षयोपशमविधिना। सम्यग्दर्शनस्याष्टाङ्गानि निःशङ्कितादिलक्षणानि सम्यग्ज्ञानस्यार्थाचारादिभेदकानि। सम्यग्दर्शनस्य कार्यं श्रद्धानम्, सम्यग्ज्ञानस्य दर्शनचारित्रयोः स्थैर्यम्। इत्यादिना भिन्नत्वम्। द्वावपि समगुणौ सहभावित्वादात्मनः, द्वावपि मोक्षस्य प्रत्ययौ। इत्यादिनाभिन्नत्वमवसेयम्॥३२॥

सहभाविनोऽपि कार्यकारणभावं व्यवस्थापयति -

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥३३॥

मं. टी. - सम्यगित्यादि - जिनाः तीर्थङ्करादयः। वदन्ति कथयन्ति। किं तत् ? सम्यक्त्वं कारणं हेतुरूपम्। किं कार्यं ? सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यग्दर्शनस्येति। तस्मात् कारणात्। सम्यक्त्वानन्तरं सम्यक्त्वेनानन्तरं पश्चात्। ज्ञानाराधनं सम्यग्ज्ञानस्य प्ररूपणा। इष्टमुचितम्॥३३॥

सम्यग्ज्ञान का घात करने वाला दर्शनमोहनीय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय कर्म है। सम्यग्दर्शन, दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षय, क्षयोपशम की विधि से उत्पन्न होता है और सम्यग्ज्ञान, दर्शनमोहनीय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय और क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। निःशंकित आदि है लक्षण जिसका ऐसे सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं और सम्यग्ज्ञान के भी अर्थाचार आदि के भेद से आठ अंग हैं। सम्यग्दर्शन का कार्य तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना है और सम्यग्ज्ञान का कार्य सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को स्थिर रखना है। इत्यादि भेद की अपेक्षा भिन्नता है। आत्मा के ये दोनों गुण सहभावी होने से समान गुणस्थान वाले हैं। दोनों मोक्ष के कारण हैं इसलिए अभिन्नता है॥३२॥

उत्थानिका - सहभावी होने पर भी कार्य-कारण भाव की व्यवस्था बताते हैं -

अन्वयः - जिनाः सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति तस्मात् सम्यक्त्वानन्तरं ज्ञानाराधनं इष्टं॥

अन्वयार्थ - (जिनाः) जिनेन्द्र देव (सम्यग्ज्ञानं) सम्यग्ज्ञान को (कार्यं) कार्य और (सम्यक्त्वं) सम्यग्दर्शन को (कारणं) कारण (वदन्ति) कहते हैं (तस्मात्) इसलिए (सम्यक्त्वानन्तरं) सम्यग्दर्शन के बाद (ज्ञानाराधनं) सम्यग्ज्ञान का आराधन (इष्टं) इष्ट है।

टीकार्थ - सम्यग्दर्शन कारण है। तो कार्य क्या है ? सम्यग्ज्ञान कार्य है। इसलिए सम्यग्दर्शन के बाद सम्यग्ज्ञान की आराधना करना उचित है। ऐसा तीर्थंकरादि देव कहते हैं॥३३॥

कारण सम्यग्दर्श है, कार्य रहा है ज्ञान।
इसीलिए आराधना, क्रम से कहता जान॥३३॥

ननु च सम्यक्त्वेनानन्तरमिति न वक्तव्यं द्वयोरुत्पत्तेः समकालभावित्वात् घनाघनौघघटाविघटने सति सवितुः प्रतापप्रकाशाभिव्यक्तिवत्। न च कार्यकारणयोः समकालत्वमिष्टं क्रमभाविनियमोऽविनाभावित्वात्। उक्तञ्च – ''**पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः**'' इति परिहारमाकांक्षन् दृष्टान्तद्वारेण दृढयन्नाह –

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।

दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्॥३४॥

मं. टी. – कारणेत्यादि – समकालं यौगपद्यम्। जायमानयोः अपि उत्पद्यमानयोः अपि सतोरपीत्यर्थः। हि निश्चयेन। कारणकार्यविधानं कारणञ्च तयोर्विधानं भवनं कारणकार्यभावः इत्यर्थः। कयोरिति चेत् ? सम्यक्त्वज्ञानयोः सम्यक्त्वं च ज्ञानं च तयोरिति। कथमिति चेत् ? दीपप्रकाशयोरिव। इव उपमार्थे। दीपः प्रज्ज्वलितपात्रविशेषः प्रकाशो मयूखस्तमोविरोधिपदार्थः, दीपश्च प्रकाशश्च तयोरूत्पादनमिवेत्यर्थः। सुघटं सुष्ठुरूपेण घटितं भवति। स्यादेतन्न चेदं दृष्टान्तमपि सुघटं दीपप्रकाशयोः समकालमभ्युपगम्यमानत्वात्। प्रज्वलितो

उत्थानिका – सम्यग्दर्शन के बाद सम्यग्ज्ञान की आराधना करना इष्ट है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि दोनों की उत्पत्ति एक काल में होती है जैसे – मेघों के समूह के विघटन होने पर सूर्य का प्रताप और प्रकाश एक साथ प्रकट होते हैं ? क्रमभावी नियम अविनाभावी होने से कार्य कारण व्यवस्था में समकाल इष्ट नहीं है। कहा भी है – **पूर्व चर और उत्तर चर हेतु कार्य कारण भाव में क्रमभाव नियम है।** इस प्रकार परिहार की आकांक्षा से दृष्टांत रूप से दृढ़ करते हुए सूत्र कहते हैं –

अन्वयः – हि सम्यक्त्वज्ञानयोः समकालं जायमानयोः अपि दीपप्रकाशयोः इव कारणकार्यविधानं सुघटम्।

अन्वयार्थ – (हि) वास्तव में (सम्यक्त्वज्ञानयोः) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के (समकालम्) एक काल में (जायमानयोः अपि) उत्पन्न होने पर भी (दीपप्रकाशयोः) दीप और प्रकाश के (इव) समान (कारणकार्यविधानम्) कारण और कार्य की विधि (सुघटम्)अच्छी तरह से घटित होती है।

टीकार्थ – एक साथ उत्पन्न होने पर भी निश्चय से कारणकार्य का विधान होना कारणकार्य भाव कहलाता है। किनके विषय में ? सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के विषय में। किस प्रकार से ? दीपक और प्रकाश की तरह। 'इव' शब्द उपमा अर्थ में है। दीपक प्रज्वलित पात्र विशेष कहलाता है। अन्धकार विरोधी पदार्थ को प्रकाश कहते हैं। दीपक और प्रकाश के उत्पादन के समान यह अच्छी तरह से घटित होता है।

शंका – दीप और प्रकाश का दृष्टांत घटित नहीं होता क्योंकि दोनों एक काल में ही उत्पन्न होते हैं। जो जलता है वह दीप कहा जाता है, लेकिन जो नहीं जल रहा है उसको भी लोकव्यवहार में दीपक कहा जाता है

एक साथ ज्यों होत है, दीपक और प्रकाश।
त्यों ही दर्शन ज्ञान में, कारण कार्य सुवास॥३४॥

हि दीपः कथ्यते। यदप्रज्वलितोऽपि दीपसंज्ञयोच्यते लोकव्यवहारे तन्नात्र युक्तं परमार्थविषयत्वात्। प्रकाशो दीपकस्य स्वभाव व्यञ्जनपर्यायस्तस्य स्वभावत्वात्। स्वभावस्य विनाशे स्वभाववतो नाशः स्यादुष्णताविनाशेऽग्निनाशवत्। न च कार्यकारणयोरेवं सम्भवति पर्यायभूतकार्यस्य विनष्टेऽपि कारणभूतद्रव्यस्याविनश्वरत्वात्। यदि कार्ये विनष्टे कारणमपि विनश्यति तदा नास्ति कार्यकारणसम्बन्धस्तथाविधाऽनुपलम्भात्। किञ्च नास्ति प्रकाशः कार्यो दीपस्य प्रागभावानुप लब्धेः। उत्पत्तिपूर्वक्षणे प्रकाशाभाववद् दीपाभावोऽपि दृश्यते। यदि प्रकाशोत्पत्तेः प्राक् दीपसद्भावस्तदा तयोः समकालत्वं विरुध्यते ?

तन्नोचितमनेकान्तापरिज्ञानात्। समकालं जायमानयोरपि तयोः कार्यकारणविधानं सुघटमास्रवबन्धविधानवत्। आस्रवसमसमयबध्यमानत्वात् कार्मणवर्गणानामास्रवबन्धयोः समसमयवृत्तित्वं सुप्रसिद्धम्। तथापि सत्यास्रवे बन्धस्योत्पत्ते स्तदनन्तरं तद्ववचनमिति पूर्वाचार्यैः सर्वत्र भणितम्। तेनास्रवबन्धयोः कारणकार्यसम्बन्धः समकालिकोत्पद्यमानयोरपि संसूचितः। न चेदं स्वप्ररूपितं वचनम्। **'बन्धश्चास्त्रवकार्यत्वात्तदनन्तरमीरितः'** इतिश्लोकवार्तिकाद् बन्धस्य कार्यत्वं चास्रवस्य कारणत्वं सिध्यति। अपरञ्च कारणकार्यसम्बन्धः सर्वथा पूर्वोत्तरचार्येवेति नावगन्तव्योऽनेकान्तात्।

किन्तु परमार्थ का विषय होने से इस विषय में ऐसा कहना ठीक नहीं है। प्रकाश दीपक की स्वभाव व्यञ्जन पर्याय है क्योंकि प्रकाश उसका स्वभाव है। स्वभाव का विनाश होने पर स्वभाववान का भी नाश हो जाता है जैसे उष्णता का विनाश होने पर अग्नि का विनाश हो जाता है। कार्यकारण में इस प्रकार संभव नहीं होता है, क्योंकि पर्यायभूत कार्य का विनाश होने पर कारणभूत द्रव्य का विनाश नहीं होता है। यदि कार्य के विनाश होने पर कारण का भी विनाश हो जाय तो कार्य कारण सम्बन्ध ही नहीं बनेगा, क्योंकि इस प्रकार उपलब्धि ही नहीं होती है। दूसरी बात यह है कि प्रकाश दीपक का कार्य नहीं है क्योंकि प्राग् अभाव की उपलब्धि नहीं होती है। प्रकाश उत्पत्ति के पूर्वक्षण में प्रकाश के अभाव की तरह दीप का अभाव भी देखा जाता है। यदि प्रकाश उत्पत्ति से पूर्व दीपक का सद्भाव है तो उन दोनों में समकालपने का विरोध प्राप्त होता है।

समाधान – यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि आप अनेकान्त के ज्ञान से परिचित नहीं है। आस्रव और बन्ध के विधान की तरह एक साथ उत्पन्न होने वाले उन दोनों में भी कारण कार्य विधान अच्छी तरह घटित होता है। आस्रव के समय ही कर्मबंध होने से कार्मण वर्गणाओं का आस्रव और बंध एक समय में ही होता है, यह आगम से प्रसिद्ध है। तो भी आस्रव के होने पर बन्ध की उत्पत्ति अनन्तर क्षण में होती है। इस प्रकार का वचन पूर्वाचार्यों ने सर्वत्र कहा है। इसलिए समान काल में उत्पन्न, आस्रव और बन्ध में कारण कार्य सबन्ध है, ऐसा सूचित किया है। यह स्व प्ररूपित वचन नहीं है। जैसा कि श्लोक वार्तिक में कहा है कि **बन्ध, आस्त्रव का कार्य होने से अनन्तर समय में कहा गया है।** इससे बंध कार्य है और आस्रव कारण है यह बात सिद्ध होती है। दूसरी बात यह है कि कारण कार्य सम्बन्ध सर्वथा पूर्वोत्तरचारी होता है ऐसा नहीं जानना चाहिए क्योंकि इस विषय में अनेकान्त है। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने पर सम्यग्ज्ञान के साथ प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि गुण भी प्रकट होते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। वे प्रशमादि गुण सम्यग्दर्शन के ज्ञापक हेतु हैं और सम्यग्ज्ञान के भी। इस प्रकार सम्यग्दर्शन और ज्ञान में सहचारी कार्य होने से यहाँ कारण कार्यवृत्ति सहचारी है, ऐसा जानना चाहिए।

सम्यग्दर्शनोत्पत्तौ सत्यां प्रशमादयो गुणाः प्रकटीभवन्ति सम्यग्ज्ञानैः सार्धमित्यविरुद्धम्। ते प्रशमादिगुणाः सम्यग्दर्शनस्य ज्ञापकहेतवः सन्ति सम्यग्ज्ञानस्यापि चेति सम्यग्दृग्ज्ञानयोः सहचरकार्यत्वात् कार्यकारणवृत्तेः साहचर्यत्वमवसेयम्। उक्तं च **श्लोकवार्तिके** –

''ततो दर्शनकार्यत्वाद् दर्शनस्य ज्ञापकाः प्रशमादयः सहचरकार्यत्वात्तु ज्ञानस्येत्यनवद्यम्।'' तथा हि ''समकालेणुपज्जमाणच्छायांकुराणं कज्जकारणभावदंसणादो।'' **इति श्री धवला**। इति कार्यकारणभावस्य समसमयवृत्तिः क्वचिदैष्टव्या अन्यथेष्टव्याघातप्रसङ्गः॥३४॥

अथ सम्यग्ज्ञानं निरूपयति –

कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।

संशयविपर्य्ययानध्यवसाय – विविक्तमात्मरूपं तत्॥३५॥

मं.टी. – कर्त्तव्य इत्यादि – तत्त्वेषु पूर्वोदितेषु। किं विशिष्टेषु ? सदनेकान्तात्मकेषु सत् समीचीनं तदेवानेकान्तात्मकं वस्तुनस्तथैवोपलब्धेस्तेषु, अथवा सत्समीचीनं च तदनेकान्तात्मकं च विशेषणविशेष्यसम्बन्धात्

श्लोकवार्तिक में भी कहा है '**इसलिए सम्यग्दर्शन के ज्ञापक प्रशमादि गुण सहचारी कार्य होने से ज्ञान के भी ज्ञापक हैं यह कारण निर्दोष है।**' **धवला जी** में भी कहा है कि '**एक समय में उत्पन्न होने वाले छाया और अंकुर में कार्यकारण भाव देखा जाता है।**' इस प्रकार कार्यकारण भाव की सम समय की वृत्ति क्वचित् स्वीकार करनी चाहिए अन्यथा इष्ट के व्याघात का प्रसंग आ जायेगा॥३४॥

उत्थानिका – अब सम्यग्ज्ञान का वर्णन करते हैं –

अन्वयः – सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु अध्यवसायः कर्त्तव्यः तत् संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तम् आत्मरूपम्॥

अन्वयार्थ – (सदनेकान्तात्मकेषु) समीचीन अनेकान्त रूप (तत्त्वेषु) तत्त्वों में (अध्यवसायः) यथार्थ बोध (कर्त्तव्यः) प्राप्त करना चाहिए (तत्) वह सम्यग्ज्ञान (संशयविपर्य्ययानध्यवसायविविक्तम्) संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित (आत्मरूपं) आत्मा का स्वरूप है।

टीकार्थ – पूर्वोदित तत्त्वों में। किस विशेषता वाले तत्त्वों में ? सत् का अर्थ समीचीन है और वह सत् अनेकान्तात्मक है क्योंकि वस्तु की उपलब्धि समीचीन अनेकान्त स्वरूप ही होती है। अथवा समीचीन और अनेकान्तात्मक तत्त्वों में, विशेषण विशेष्य सम्बन्ध से यहाँ पर सत् विशेषण और अनेकान्तात्मक विशेष्य है। अथवा सत् असत् आदि सभी वस्तुएँ अनेकान्त स्वरूप हैं उनमें अथवा सत् द्रव्य का लक्षण है और वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य से युक्त होने से अनेकान्त स्वरूप है। उसमें अध्यवसाय करना चाहिए। अज्ञान का अभाव अथवा तर्क आदि के द्वारा वस्तु की परीक्षा करना अध्यवसाय है। वह यथार्थ बोध संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय

विपर्यास, संशय तथा, ज्ञान अनध्यवसाय।
तीनों तज के तत्त्व में, कर तू अध्यवसाय॥३५॥

तेषु अथवा सदसदादि सर्वं वस्तु अनेकान्तात्मकं तेषु अथवा सद् द्रव्यस्य लक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वात् तच्चानेकान्तात्मकं तेषु। अध्यवसायोऽनध्यवसायस्याभावो वा तर्कादिना वस्तुपरीक्षणम्। कर्तव्यः कर्तुं योग्यः। यस्माच्च संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तं संशय उभयकोटिस्पर्शितं ज्ञानं, विपर्ययो विपरीतावधारणम् अनध्यवसायोऽनवबोधः।

उक्तञ्च – ''तत्त्वार्थे कस्यचिदव्युत्पत्तिर्मोहोध्यवसायापाय इति यावत्। चलिता प्रतिपत्तिरारेका, किमयं जीवादिः किमित्थमिति वा धर्मिणि धर्मे वा क्वचिदवस्थानाभावात्। अतस्मिंस्तदध्यवसायो विपर्यासः'' **इति विद्यानन्दस्वामी।** तेभ्यो विविक्तं विरहितं ज्ञानमेतेन व्यवहारसम्यग्ज्ञानं निरूपितम्। तदेवात्मरूपं सम्यग्ज्ञानमभेदनयेन भण्यते॥३५॥

अथ सम्यग्ज्ञानस्याष्टाङ्गानि विषयोपसंहाररूपाणि वेदितव्यानीति निरुच्यते –

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम्॥३६॥

से रहित है। दो कोटियों को स्पर्श करने वाले ज्ञान को **संशय** कहते हैं, पदार्थ का विपरीत स्वरूप ग्रहण करना **विपर्यय** कहलाता है। वस्तुस्वरूप का ज्ञान ही नहीं होना **अनध्यवसाय** कहलाता है। कहा भी है '**तत्त्वार्थ में किसी विषय की व्युत्पत्ति नहीं होना मोह है और वही अध्यवसाय का अभाव है जो अनध्यवसाय कहलाता है। जीवादि पदार्थों के विषय में ये क्या हैं ? कैसे हैं ? अथवा धर्म और धर्मी के विषय में स्थिरता का अभाव होना या ज्ञान का स्थिर नहीं होना संशय कहलाता है। जो वस्तु जैसी नहीं है उसको वैसा मानना विपर्यय कहलाता है, ऐसा विद्यानंद स्वामी का वचन है।**' संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय से रहित ज्ञान, व्यवहारसम्यग्ज्ञान कहलाता है ऐसा आगम में कहा है। अभेद नय की अपेक्षा से उसी को आत्मरूप कहा गया है॥३५॥

उत्थानिका – अष्टांग सम्यग्ज्ञान के विषय को उपसंहार के रूप में जानना चाहिए, इसके लिए सूत्र कहते हैं–

अन्वयः – ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन च बहुमानेन समन्वितं सोपधानं अनिह्नवं ज्ञानं आराध्यम्॥

अन्वयार्थ – (ग्रन्थार्थोभयपूर्णं) शब्द से पूर्ण, अर्थ से पूर्ण और उभयरूप शुद्धता से परिपूर्ण (काले) योग्य अध्ययन काल में (विनयेन) विनयपूर्वक (च) (बहुमानेन समन्वितं) आदर भक्ति एवं नमस्कार क्रिया के साथ (सोपधानं) धारणा युक्त (अनिह्नवं) गुरु आदि का नाम छिपाये बिना (ज्ञानं) ज्ञान की (आराध्यम्) आराधना कने योग्य है।

टीकार्थ – आश्रय करने योग्य है। वह क्या ? सम्यग्ज्ञान। किस विधि से करना चाहिए। ज्ञानाचार की विधि से। ज्ञानाचार आठ प्रकार का है। **कालाचार** – योग्य समय में दिग्दाह, उल्कापात, इन्द्रधनुष, सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण, भूकम्प, अतिवृष्टि, देश में विपत्ति, राजा का मरण आदि के समय को छोड़कर प्रदोष काल में (सूर्य अस्त के बाद के काल को प्रदोष काल कहते हैं)गोसर्ग काल में, रात्रि आदि के काल में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की शुद्धि पूर्वक,

---

शब्द, अर्थ, दोनों सहित, काल, विनय, उपधान।
बिना छिपा, बहुमान से, सेवो सम्यग्ज्ञान॥३६॥

मं.टी. - **ग्रन्थेत्यादि** - आराध्यमाश्रयणीयम्। किं तत् ? ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं। केन विधिनेत्याह - ज्ञानाचारं अष्टविधं। तद्यथा काले दिग्दाहोल्कापातेन्द्रधनूरविचन्द्रग्रहणभूकम्पातिवृष्टिदेशापत्तिराजमरणादिवेलामावर्ज्य प्रदोषकालगोसर्गकाल - विरात्र्यादिकाले द्रव्यक्षेत्रकालभावशुद्धितया विषयकषायवञ्चनार्थमपूर्ववैराग्यतत्त्वज्ञानादिवर्धनार्थमापृच्छना-वाचनादिकरणं कालज्ञाः कालाचारमाकलयन्ति। विनयेन विशेषरूपेण ज्ञानतपोमाहात्म्यादिसम्भवेऽपि मान एव संसृतिकारणमिति मत्वात्मानमतिमार्दवादिभावनोपेतः सन्गुर्वादिसमीपे बद्धाञ्जलिर्भूत्वा भावशुद्धया नयनं विनयः। तेन विनयेन ज्ञानमाराधनीयमिति विनयाचारः। उक्तञ्च -

विणयेण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि॥

सोपधानं उपधानेन सहितम्। उप सामीप्येनात्मनि सूत्रग्रन्थादिधारणमुपधानमविस्मरणमित्यर्थः। अथवा रसादिपरित्यजनमप्युपधानम् इति उपधानाचारः। बहुमानेन समन्वितं दुरासदमिह

विषय कषाय से बचने के लिए अपूर्व वैराग्य तत्त्वज्ञानादि बढ़ाने के लिए पृच्छना वाचनादि करना **कालाचार** कहा जाता है।

विनयाचार - विनय के द्वारा विशेष रूप से ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान और तप के माहात्म्य आदि के उत्पन्न होने पर भी 'मान ही संसार का कारण है' ऐसा मानकर आत्मा को मार्दव आदि भावनाओं से युक्त करके गुरु आदि के समीप में हाथ जोड़कर भावशुद्धि पूर्वक जाना विनय कहलाती है। अतः विनयपूर्वक ज्ञान की आराधना करनी चाहिए, इसी को विनयाचार कहते हैं। **कुन्दकुन्द स्वामी ने मूलाचार** में लिखा है -

''विनय पूर्वक पढ़े हुए श्रुत को यदि प्रमाद से भूल भी जाता है तो परभव में वह श्रुत पुनः उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञान को प्राप्त कराता है।''

उपधानाचार - उप अर्थात् समीपता से आत्मा में सूत्र ग्रन्थादि का धारण करना, अधीत श्रुत का विस्मरण नहीं होना उपधान कहलाता है। अथवा अध्ययन काल या जीवन पर्यन्त के लिए रसादि का त्याग करना उपधानाचार कहलाता है।

बहुमानाचार - बहुमानपूर्वक ज्ञानाराधन करना बहुत कठिन है, इस प्रकार निश्चय करके आगम के प्रति आदर के साथ प्रवृत्ति करना बहुमानाचार कहलाता है।

अनिह्नवाचार - मात्सर्यादि की प्रमुखता से दूसरों के ग्रन्थादि का लोप करना अथवा पूछने पर नहीं बताना, अपयश के भय से अपने शिक्षागुरु का नाम छिपाना और खोटे अभिप्राय से ग्रन्थकर्त्ता का नाम प्रकट नहीं करना, अथवा इत्यादि रूप से अपने ज्ञान का हनन करना निह्नव है और जहाँ निह्नव नहीं उसे अनिह्नव कहते हैं, यह पञ्चमाचार अनिह्नवाचार कहलाता है।

ग्रन्थाचार - ग्रन्थ अर्थात् व्यंजन अथवा शब्द का शुद्ध उच्चारण करना ग्रन्थाचार कहलाता है।

ज्ञानाराधनमित्यवधार्यागमगुरुजनादृति-सहितवर्तनं बहुमानाचारः। अनिह्नवं मात्सर्यादिप्रामुख्येन परेषां ग्रन्थादिलोपनञ्च सम्पृष्टेऽपि न जानेऽहं स्वशिक्षागुरोर्नामगोपनमयशोभयाच्च ग्रन्थकर्तृणामप्रकटनं वा दुराशयादित्यादिना स्वज्ञानहननं निह्नवं। न निह्नवं अनिह्नवमिति पञ्चमाचारः। ग्रन्थार्थोभयपूर्णं च ग्रन्थो व्यञ्जनं शब्दो वा, तस्य पूर्णं पूर्णता दोषविरहितं ग्रन्थाचारः। अर्थो भावस्तस्य पूर्णमविकलबोधनमर्थाचारः। ग्रन्थार्थरूपोभयपूर्णं ज्ञानमुभयाचारो विचार्यते॥३६॥

इति श्रीअमृतचन्द्रसूरिविरचितपुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थस्य मङ्गलाटीकायां सम्यग्ज्ञानकथनमुख्येन चतुर्थोऽधिकारः अनासक्त महायोगी श्री विद्यासागरस्य शिष्येण मुनि प्रणम्यसागरेण समाप्तः।।

अर्थाचार - अर्थ को पूर्ण रूप से समझना अर्थाचार कहलाता है।

उभयाचार - ग्रन्थाचार और अर्थाचार की पूर्णता पूर्वक ज्ञान का अभ्यास करना उभयाचार कहलाता है।

विशेषार्थ - जो श्रुत का अभ्यास काल बताया है उसी काल में अध्ययन करना चाहिए। जिस काल में ग्रंन्थों के पठन-पाठन का आगम में निषेध किया गया है उस काल में पठन-पाठन नहीं करना चाहिए। जिस क्रिया का विधान जिस समय आगम में किया गया है वह क्रिया उसी काल में करनी चाहिए॥३६॥

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य विरचित पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ की मंगलाटीका में सम्यग्ज्ञान के कथन की मुख्यता से चतुर्थ अधिकार अनासक्त महायोगी श्री विद्यासागर के शिष्य मुनि प्रणम्य सागर द्वारा पूर्ण हुआ।

अथ सम्यक्चारित्रमाचर्यमित्याचार्याश्चर्चयन्ति -

विगलित - दर्शनमोहैः समञ्जसज्ञान - विदिततत्त्वार्थैः।

नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक् - चारित्रमालम्ब्यम्॥३७॥

मं. टी. - विगलितेत्यादि - आलम्ब्यमाचरणीयं। किं तत् ? सम्यक् चारित्रं सम्यग्दृग्ज्ञानमवाप्य व्यवहारनिश्चयचारित्रम्। कैः ? विगलितदर्शनमोहैः विगलितो विनष्टः उपशमक्षयक्षयोपशमविधिविधानेन दर्शनमोहो मिथ्यात्वादित्रयो यस्य स तथोक्तस्तैरिति। अत्र दुःषमाकाले क्षयाभावेऽपि सामान्यवचनम्। भूयः किम्भूतैः? समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः समञ्जसं सम्यक् स्पष्टं वा च तज्ज्ञानं तेन विदिता विज्ञातास्तत्त्वार्था यस्य स तथोक्तस्तैरिति। पुनश्च किं विशिष्टैः ? निः प्रकम्पैः प्रकृष्टपरीषहोपसर्गादिना चलनं प्रकम्पस्तस्मात् निर्गतो यः स निःप्रकम्पः तैरिति। नित्यं सर्वकालम्। अपि निश्चयार्थे॥३७॥

पाँचवाँ अधिकार

उत्थानिका - अब सम्यक्चारित्र का आचरण करने के लिए आचार्य सम्यक्चारित्र की चर्चा करते हुए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः -विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रं आलम्ब्यम्॥

अन्वयार्थ - (विगलितदर्शनमोहैः) नष्ट हो गया है दर्शन मोह जिनका और (समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः) सम्यग्ज्ञान के द्वारा जाने हैं जीव अजीव आदिक तत्त्व जिन्होंने तथा (नित्यमपि निःप्रकम्पैः) जो सदा अचल रहने वाले हैं ऐसे जीवों को (सम्यक्चारित्रं) सम्यक् चारित्र (आलम्ब्यम्) धारण करना चाहिए।

टीकार्थ - सम्यक्चारित्र का आचरण करना चाहिए। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान को प्राप्त करके व्यवहार और निश्चय चारित्र को धारण करना चाहिए। किसे धारण करना चाहिए ? दर्शन मोह अर्थात् मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्वप्रकृति ये तीन प्रकृतियाँ जिसकी उपशम, क्षय या क्षयोपशम की विधि से नष्ट हो गयी हैं ऐसे पुरुष के द्वारा चारित्र धारण किया जाना चाहिए। इस पंचम काल में भरत क्षेत्र में क्षायिक सम्यक्त्व का अभाव है फिर भी उपर्युक्त क्षय शब्द का सामान्य कथन रूप जानना चाहिए। और कैसे जीवों के द्वारा चारित्र धारण किया जाता है ? सम्यक् रूप से जाना है जीवादि तत्त्वार्थ को जिन्होंने ऐसे पुरुषों के द्वारा चारित्र धारण किया जाता है। चारित्र धारण करने वाले की और क्या विशेषता है ? निःप्रकम्प अर्थात् प्रकृष्ट उपसर्ग परीषह आदि के द्वारा भी जो विचलित नहीं होते, ऐसे जीव निःप्रकम्प कहलाते हैं। चारित्र कब धारण करना चाहिए। सर्वकाल धारण करना चाहिए ? अपि शब्द निश्चय अर्थ का प्रकट करने वाला है॥३७॥

मिथ्यातम के नाश से, पाया सम्यग्ज्ञान।
ऐसे अविचल जीव ही, धारें चरित महान॥३७॥

किमर्थमाराधना चारित्रस्य सम्यग्ज्ञानानन्तरमित्युत्तरमुच्चरति -

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्॥३८॥

मं. टी. - न हीत्यादि - लभते प्राप्नोति। किं ? न सम्यग्व्यपदेशं सम्यक् समीचीनं व्यपदिश्यतेऽनेन तं निःश्रेयसप्रयोजनाभावात्। किं तत् ? चारित्रमेकदेशसर्वतो विरतिरूपं। कथम्भूतं तत् ? अज्ञानपूर्वकं अज्ञानं विवेकविकलविज्ञानं तमेव पूर्वकमस्येति अज्ञानकारणकमित्यर्थः। पूर्वं कारणं लिङ्गं प्रत्ययो निमित्तमित्यनर्थान्तरम्। हि यस्मात् कारणात्। तस्मात् कारणात्। चारित्राराधनं चारित्रस्य आराधनमङ्गीकरणं ज्ञानानन्तरं ज्ञानात् अनन्तरं पश्चात्। उक्तं कथितमिति॥३८॥

उत्थानिका - सम्यग्ज्ञान के बाद सम्यक्चारित्र की आराधना किसलिए करनी चाहिए ? ऐसी शंका का समाधान करते हुए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - अज्ञानपूर्वकं चारित्रम् सम्यग्व्यपदेशं हि न लभते तस्मात् ज्ञानानन्तरं चारित्राराधानम् उक्तम्॥

अन्वयार्थ - (अज्ञानपूर्वकं चारित्रं) अज्ञान पूर्वक चारित्र (सम्यग्व्यपदेशं) समीचीनता को (हि) निश्चय से (न लभते) प्राप्त नहीं होता (तस्मात्) इस कारण से (ज्ञानानन्तरं) सम्यग्ज्ञान के पश्चात् (चारित्राराधनम्) चारित्र का आराधन (उक्तम्) कहा है।

टीकार्थ - विवेक ज्ञान से रहित अज्ञानपूर्वक धारण किया गया अणुव्रत ओर महाव्रत रूप चारित्र निःश्रेयस के प्रयोजन का अभाव होने से सम्यक् इस नाम को प्राप्त नहीं होता है। पूर्व, कारण, लिङ्ग, प्रत्यय, निमित्त ये सब एकार्थ वाची हैं। इसलिए सम्यग्ज्ञान के बाद चारित्र का आराधन करना चाहिए॥३८॥

विशेषार्थ - सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इसलिए यहाँ पर सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र को अज्ञान पूर्वक चारित्र कहा गया है। अज्ञान पूर्वक चारित्र मिथ्याचारित्र कहलाता है। चारित्र तभी सम्यक् चारित्र कहलाता है जब वह सम्यग्ज्ञान पूर्वक होता है॥३८॥

तत्त्व ज्ञान से रहित का, नहि सम्यक् चारित्र।
अतः ज्ञान के बाद ही, क्रम पाता चारित्र॥३८॥

अथ सम्यक्चारित्रस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन्नाह -

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोग - परिहरणात्।

सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥३९॥

मं.टी. - चारित्रमित्यादि - यतः यस्मात् कारणात्। कस्मादित्याह - समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् समस्तेभ्यः साकल्येभ्यः सावद्ययोगेभ्यो हिंसादिपञ्चपापरूपेभ्यः परिहरणं निवृत्तिर्यत्र तं तस्मात् सामायिकचारित्रात्। अनेन चारित्रस्याद्यावस्थोद्योतिता अर्थात् पञ्चपापानामभिसन्धिपूर्वकं परित्यागेन विना चारित्रं न भवतीत्यर्थः। न चेदं चारित्रस्य बाह्यस्वरूपमन्तरङ्गबहिरङ्गोभयविषयत्वात्। सामायिकचारित्राच्चारित्रं भवति किन्तु तस्यान्त्यस्वरूपं कथम्भूतमित्युत्तरा-र्धेनाह। तत् चारित्रं। कथम्भूतं ? सकलकषायविमुक्तं सकलैः पञ्चविंशतिसंख्यकैः कषायैः चारित्रमोहनीयैः विमुक्तं रहितमुपशान्तमोहक्षीणमोहावस्थागतं यथाख्यातचारित्रमित्यर्थः। तच्च किं विशिष्टम् ? विशदं प्रत्यक्षं सकलचारित्रमोहनीयभेदोपशमेन क्षयेण वोत्पाद्यमानत्वादतीन्द्रियज्ञानगोचरत्वाद्वा। पुनश्च किम्भूतं?

उत्थानिका - अब सम्यक्चारित्र का स्वरूप बतलाते हुए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् चारित्रं भवति। तत् सकलकषायविमुक्तं विशदं उदासीनं आत्मरूपम्।

अन्वयार्थ - (यतः) क्योंकि (समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्) समस्त पापयुक्त योगों के त्याग से (चारित्रं भवति) चारित्र होता है (तत्) वह चारित्र (सकलकषायविमुक्तं) समस्त कषायों से रहित होता है और (विशदं) निर्मल (उदासीनं) राग द्वेष से रहित वीतराग होता है (आत्मरूपं) वह चारित्र आत्मा का स्वरूप है।

टीकार्थ - समस्त सावद्य योग के त्याग से अर्थात् हिंसादि पाँच पापों का त्याग जहाँ पर होता है वह **सामायिक चारित्र** कहलाता है। इससे चारित्र की आद्य अवस्था प्रकट की गई अर्थात् पाँच प्रकार के चारित्र में यह सामायिक चारित्र आद्य चारित्र कहलाता है। पाँच पापों का संकल्प पूर्वक त्याग किये बिना चारित्र उत्पन्न नहीं होता है, यह कथन का तात्पर्य है। यह चारित्र का बाह्य स्वरूप मात्र नहीं है क्योंकि अंतरंग और बहिरंग परिग्रह के त्याग से यह चारित्र होता है। सामायिक चारित्र से चारित्र होता है किन्तु उस चारित्र का अन्त्य स्वरूप कैसा है, इसका समाधान श्लोक के उत्तरार्द्ध से करते हैं कि वह चारित्र कैसा है ? सकल कषायों से रहित है। चारित्र मोहनीय कर्म की पच्चीस कषाय प्रकृतियों से रहित उपशान्तमोह और क्षीणमोह की अवस्था को प्राप्त यथाख्यात चारित्र कहलाता है। और इस चारित्र में क्या विशेषता है ? विशद अर्थात् प्रत्यक्ष है। सकल चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से अथवा क्षय से उत्पन्न होने वाला होने से अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान के गोचर होने से वह चारित्र प्रत्यक्ष होता है। पुनः क्या विशेषता है ? राग द्वेष के कारण का अभाव होने से परम वीतराग स्वरूप उदासीन है। फिर क्या विशेषता है ? आत्मरूप अर्थात् **यथाख्यात चारित्र** आत्मा का स्वरूप है। इस प्रकार सकल चारित्र के स्वरूप का पूर्ण वर्णन किया।

सकल पाप आरम्भ से, दूर रहे जो भव्य।
गतकषाय उस आत्म में, चरित उतरता नव्य॥३९॥

उदासीनं रागद्वेषकारणाभावात्परमवीतरागरूपम्। भूयः कथम्भूतम् ? आत्मरूपं आत्मनः स्वरूपं यथाख्यातं तथा। इति सकलचारित्रस्य साकल्यस्वरूपम्॥३९॥

अथ चारित्रस्य द्वैविध्यमाख्याति -

हिंसातोऽनृत - वचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।

कात्स्न्यैकदेशविरतेचारित्रं जायते द्विविधम्॥४०॥

मं.टी. - हिंसेत्यादि - चारित्रं आचरति चर्यतेऽनेन चरणमात्रं वा। द्विविधं द्विप्रकारं। कात्स्न्यैकदेशविरतेःकृत्स्नस्य भावः कात्स्न्यम्। तस्माद्विरतिः कात्स्न्यविरतिः सकलविरतिरित्यर्थः। एकदेशोंऽशो विकलस्तस्माद्विरतिरेकदेशविरतिरिति द्विधा। जायते भवति। ''जनेङप्रादुर्भावे'' लट्। कस्मादिति चेदाह - हिंसातः हिंसा प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं तस्मात्। अनृतवचनात् ऋतं सत्यं, न ऋतं अनृतं, अनृतं च तद्वचनं तत् तस्मात्। स्तेयात् स्तेयमदत्तादानं तस्मात्। अब्रह्मतः ब्रह्म मैथुनकर्मविरतिः, न ब्रह्म अब्रह्म तस्मात्। परिग्रहतः परि

विशेषार्थ - चारित्र मोहनीय कर्म की संपूर्ण कषायों के अभाव से यथाख्यात चारित्र उत्पन्न होता है, चूँकि सामायिक चारित्र को सकल चारित्र कहते हैं किन्तु यहाँ संज्वलन कषाय का उदय होने से यथाख्यात नाम नहीं पाता है। इसलिए आचार्य भगवन् लिखते हैं कि संपूर्ण पापों के त्याग से सराग चारित्र उत्पन्न होता है और संपूर्ण कषायों के अभाव से वीतराग चारित्र होता है और वही आत्मा का स्वरूप है॥३९॥

उत्थानिका - अब देशचारित्र और सकलचारित्र के भेद से दो प्रकार के चारित्र का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - हिंसातः अनृतवचनात् स्तेयात् अब्रह्मतः परिग्रहतः कात्स्न्यैकदेशविरतेः चारित्रं द्विविधं जायते।

अन्वयार्थ - (हिंसातः) हिंसा से (अनृतवचनात्) असत्यवचन से (स्तेयात्) चोरी से (अब्रह्मतः) कुशील से (परिग्रहतः) परिग्रह से (कात्स्न्यैकदेशविरतेः) समस्त विरति और एकदेश विरति से (चारित्रं) चारित्र (द्विविधं) दो प्रकार का (जायते) होता है।

टीकार्थ - आचरण करता है या जिसके द्वारा आचरण किया जाता है, या आचरण मात्र है वह चारित्र है। यहाँ चारित्र शब्द का कर्तृ, करण और भाव साधन के द्वारा कथन किया गया है। वह चारित्र दो प्रकार का है। संपूर्ण पापों के त्याग से सकलचारित्र और एकदेश त्याग से देश चारित्र होता है। ''जनि'' प्रादुर्भावे, धातु से लट्लकार प्रथम पुरुष के एक वचन में 'जायते' शब्द बनता है। किससे विरति होती है ? हिंसा से अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणों का व्यपरोपण करना हिंसा है, उससे विरति होना हिंसा से विरति कहलाती है। जो वचन सत्य नहीं है उस अनृत वचन से विरति। बिना दी हुई वस्तु के लेने से विरति। अब्रह्म अर्थात् मैथुन कर्म से विरति। परिग्रह से अर्थात् जो सब ओर से आत्मा को ग्रह की तरह ग्रहण करता है उसे परिग्रह या मूर्च्छा कहते हैं, उससे विरति। सभी पदों में पंचमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है क्योंकि जिसका त्याग किया जाता है, उसमें पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है।

हिंसा चोरी झूठ से, संग काम से मुक्त।
थोड़ा या पूरा रहे चरित द्विविध जिन उक्त॥४०॥

परितः आत्मानं ग्रह इव गृह्णाति स परिग्रहः मूर्च्छेति तस्मात्।''यतोऽपैति'' इति वचनादपादानम्। हिंसादिपञ्चपापेभ्य एकदेशविरतेः कात्स्न्यविरतेश्च चारित्रं द्विविधं जायत इत्यर्थः॥४०॥

अधुना चारित्रद्वयस्य स्वामी कः स्यादिति संसूचयन्नाह -

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।

या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति॥४१॥

मं.टी. - निरत इत्यादि - कात्स्न्यनिवृत्तौ कात्स्न्येभ्यः पापेभ्यो निवृत्तिर्विरतिस्तत्र मध्यपदलोपीसमासः। निरतः निश्चयेन रतः निमग्न इत्यर्थः। स कोस्ति ? अयं प्रत्यक्षीभूतः। यतिः पञ्चेन्द्रियाणां नियति निरोधनं यस्य स्यात् स। भवति अस्ति इति क्रियाकारकसम्बन्धः। किं विशिष्टो यतिरिति चेत् ? समयसारभूतः समय आत्मा तस्य सारः शुद्धोपयोग स्तथाभूतस्तन्मयः सः। उक्तञ्च समयसारे -

---

हिंसादि पाँच पापों से एकदेशविरति देशचारित्र कहलाता है और हिंसादि पाँचों पापों के संपूर्ण त्याग को सकल चारित्र कहते हैं, इस प्रकार चारित्र दो प्रकार का होता है॥४०॥

उत्थानिका - अब दोनों प्रकार के चारित्र के स्वामी कौन हैं यह बताते हुए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - कात्स्न्यनिवृत्तौ निरतः अयं यतिः समयसारभूतः भवति या तु एकदेशविरतिः तस्यां निरतः उपासकः भवति॥

अन्वयार्थ - (कात्स्न्यनिवृत्तौ) सर्वथा त्यागरूप चारित्र में (निरतः) लवलीन रहने वाला (अयं) यह (यतिः) साधु (समयसारभूतः) आत्मा के सारभूत शुद्धोपयोग में आचरण करने वाला (भवति) होता है (या तु) और जो (एकदेशविरतिः) एकदेश रूप त्याग है (तस्यां) उसमें (निरतः) लीन रहने वाला है वह (उपासकः) श्रावक (भवति) होता है।

टीकार्थ - जो सम्पूर्ण पापों के त्याग में निरत है अर्थात् निश्चय से आत्मस्वरूप में रत या निमग्न हैं। वह यह प्रत्यक्षीभूत यति है। जिनके नियम से पंचेन्द्रियों का निरोध होता है, उन्हें यति कहते हैं। इस प्रकार क्रिया कारक का सम्बन्ध है। यति किस विशेषता से युक्त होते हैं ? समयसार रूप होते हैं। समय अर्थात् आत्मा उसका सार शुद्धोपयोग उसमें तन्मय रहने वाले समयसार रूप होते हैं। जैसा कि **समयसार** में कहा है - ''**जीव में कर्म बँधे हुए है अथवा नहीं बँधे हुए हैं। इस प्रकार नय पक्ष जानो और जो पक्ष से अतिक्रान्त (दूर है) कहा जाता है वह समयसार है।**''

जो एकदेश चारित्र है उसमें जो रत है वह उपासक कहलाता है। वह उपास्यभूत पंच परमेष्ठियों की उपासना करता है। 'उप' उपसर्ग पूर्वक 'आस्' उपवेशने धातु से 'ण्वुल' प्रत्यय करके उपासक शब्द बनता है।

पूर्ण विरति यति नियति में, लीन समय का सार।
अल्प विरति में निरत को, कहा श्रावकाचार॥४१॥

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।

णयपक्खातिक्कंतो भण्णदि जो सो समयसारो॥

या एकदेशविरतिः देशचारित्रम्। तु पक्षान्तरे। तस्यां देशविरतौ निरतः स। उपासकः उपासनामाराधनां करोति उपास्यभूतानां पञ्चपरमेष्ठिनां स तथोक्तः। उपपूर्वकमास्धातोःण्वुल् प्रत्ययः॥४१॥

अथ प्रकटयति हिंसायाः सर्वव्यापिनाटकम् -

आत्मपरिणाम - हिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।

अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥४२॥

मं. टी. - **आत्मेत्यादि** - एतत् सर्वं यत्प्रत्यक्षेण जगति दृश्यते। सा किं स्यात् ? हिंसा अधर्मः पापं वा। कस्मादिति चेत् ? आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्। आत्मपरिणामाः ज्ञानदर्शनशमादयः, ते च रागद्वेषमोहरहिताः सन्ति। ''मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो'' इति वचनात्। तेषां हिंसनं पीडनं तस्य हेतुत्वात्

विशेषार्थ - पापों के सम्पूर्ण त्याग से सकल संयम होता है और एकदेश या स्थूल त्याग से अणुव्रत होता है। जहाँ पर आरंभ और परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग किया जाता है, वहाँ मोक्षमार्ग का साधनभूत सकल संयम होता है। उसी संयमी को शुद्धोपयोग का स्वामी कहा है। वह भूमिका ही साक्षात् समयसार रूप होती है॥४१॥

उत्थानिका - अब हिंसा के सर्व व्यापी नाटक को प्रकट करते हैं -

अन्वयः - आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् एतत् सर्वं एव हिंसा अनृतवचनादि केवलं शिष्यबोधाय उदाहृतं।

अन्वयार्थ - (आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्) आत्मा के परिणामों की हिंसा होने के कारण (एतत् सर्वं एव) यह सब ही (हिंसा) हिंसा है (अनृतवचनादि केवलं) असत्य वचनादि सिर्फ (शिष्यबोधाय) शिष्यों को समझाने के लिए (उदाहृतम्) कहे गये हैं।

टीकार्थ - यह सब जो प्रत्यक्ष रूप से जगत् में दिखाई देता है वह क्या है ? हिंसा अधर्म या पाप। हिंसा को पाप क्यों कहा ? क्योंकि इससे आत्मा के परिणामों की हिंसा होती है। आत्मा के परिणाम कौन हैं ? आत्मा के परिणाम ज्ञान दर्शन समतादि हैं और वे परिणाम रागद्वेष से रहित हैं। ''**मोह और क्षोभ से रहित आत्मा के परिणाम को सम कहते हैं**'' ऐसा **कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचन सार** में कहा है। उन परिणामों की हिंसा के कारण पाप हैं। निश्चय से रागादि परिणाम आत्मा के परिणामों की हिंसा के हेतु होने से हिंसा ही हैं और इसके अलावा जो असत्य वचन आदि हैं अर्थात् झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह पाप हैं, वे आचार्य भगवान् ने शिष्यों को समझाने के लिए कहे हैं ''शासितुं योग्यः शिष्यः'' जो अनुशासन के योग्य हो उसे शिष्य कहते हैं। शास् अनु-शिष्टौ धातु से क्यप् प्रत्यय करके शिष्य शब्द बनता है। जिसके लिए समझाया जाता है उस योग्य में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होता है। निश्चय नय की रुचि वाले शिष्य, हिंसा ही पाप है, इस वचन मात्र से पाप के स्वरूप को समझ जाते हैं, किन्तु व्यवहार नय

झूठ आदि जो पाप हैं, वे सब हिंसा हेतु।
आत्मभाव घातक अतः शिष्य प्रबोधन सेतु॥४२॥

कारणात्। रागादयो हि स्वात्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् हिंसका इत्यर्थः। यच्चान्यत् अनृतवचनादि - अनृतवचनस्तेयाब्रह्मपरिग्रहपापं। उदाहृतं कथितमाचार्यैः। तत्तु केवलं शिष्यबोधाय-शिष्यः शासितुं योग्यः, ''शास् अनुशिष्टौ'' तेन ''वृञ्दृजुषीणशासुस्त्रुगुहां क्यप्'' इत्यनेन शिष्यः तस्य बोधः तस्मै ''तादर्थ्ये'' इति सूत्रात् सम्प्रदानम्। निश्चयनयरूचिकशिष्याणां हिंसैव पापमिति वचनेनालम्। व्यवहारनयाश्रितानामनृतवचनादि पापमुद्दिष्टम्। अहिंसाप्रतिष्ठायामनृतवचनं स्वयमेव निरूद्धं मोह परिणामाभावात्। अहिंसा प्रतिष्ठायां स्तेयमस्पृष्टमात्मतन्त्रवात्। अहिंसा प्रतिष्ठायामब्रह्मनिवृत्तं परमब्रह्मणि निमग्नात्। अहिंसाप्रतिष्ठायां परिग्रहस्य स्वयमेव निग्रहः स्वात्मपरिग्रहात्। सर्वत्र जगति नानापदप्रचारैर्हिसैव नरीनृत्यते॥४२॥

किं लक्षणा सेति लक्ष्यते -

यत्खलुकषाय - योगात्प्राणानां द्रव्यभाव - रूपाणाम्।

व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥४३॥

मं. टी. - यदित्यादि। खलु स्फुटं। यत्करणमाचरणम्। कस्य विषयस्य ? व्यपरोपणस्य वियोजनस्य।

के आश्रित रहने वाले शिष्यों के लिए असत्य, चोरी आदि का उपदेश दिया गया है। मोह परिणाम का अभाव होने से अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर असत्यादि वचन तो स्वयं ही निरुद्ध होते हैं। आत्माधीन होने से अहिंसा की प्रतिष्ठा में स्तेय का तो स्पर्श ही नहीं होता है। परमब्रह्म में लीन होने से अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर अब्रह्म का त्याग हो जाता है। स्व स्वरूप में स्थिर होने से अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर परिग्रह का स्वयं ही निग्रह हो जाता है। संसार में सर्वत्र पग-पग पर हिंसा ही बार-बार नृत्य करती है॥४२॥

उत्थानिका - उस हिंसा का क्या लक्षण है, इसके लिए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - खलु कषाययोगात्द्रव्यभावरूपाणां प्राणानां यत् व्यपरोपणस्य करणं सा सुनिश्चिता हिंसा भवति॥

अन्वयार्थ - (खलु) निश्चय से (कषाययोगात्) कषाय सहित योगों से (द्रव्यभावरूपाणां) द्रव्य और भावरूप (प्राणानां) प्राणों का (यत् व्यपरोपणस्यकरणं) जो नष्ट करना है (सा) वह (सुनिश्चिता) निश्चित रूप से (हिंसा) हिंसा (भवति) होती है।

टीकार्थ - निश्चय से प्राण व्यपरोपण का आचरण करना हिंसा है। पाँच इन्द्रियाँ, शरीर, वचन, मनोबल, आयु, श्वासोच्छ्वास के भेद से दश प्राण होते हैं। 'इन्द्रिय, बल, आयु, आणपान,' ऐसा **द्रव्यसंग्रह** में भी कहा है। उन प्राणों की क्या विशेषता है ? द्रव्य प्राण और भाव प्राण के भेद से प्राणों के दो भेद हैं। उनमें द्रव्य प्राण द्रव्येन्द्रियादि अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय के गोचर हैं और भावरूप क्षायोपशमिक प्राण अशुद्ध निश्चय नय के विषय हैं। द्रव्य और भाव का इतरेतर योग द्वन्द्व समास करके **द्रव्यभावरूपाणां**, षष्ठी विभक्ति का बहुवचन बना है।

प्राण व्यपरोपण किस कारण से होता है ? कषाय के योग से, क्रोधादि कषाये हैं और मनवचन काय का व्यापार

द्रव्य भाव द्वय प्राण का, सह कषाय जो घात।
तन से मन से वचन से, हिंसा यही कहात॥४३॥

केषां ? प्राणानां पञ्चेन्द्रियकायवाङ् मनोबलायुरुच्छ्वासभेदेन दशविधानाम्। ''इंदियबलमाउआणपाणो य'' इति वचनात्। किं विशिष्टानाम् ? द्रव्यभावरूपाणां तत्र द्रव्यरूपा द्रव्येन्द्रियादयोऽनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयगोचराः, भावरूपाः क्षायोपशमिकभावप्राणा अशुद्धनिश्चयनयविषयाः। द्रव्याणि च भावाश्च द्रव्यभावास्ते च ते रूपास्तेषां द्रव्यभावरूपाणाम्। कस्मात् कारणात् ? कषाययोगात् कषायाः क्रोधादयस्तैः सहितो योगः कायवाङ्मनोव्यापारस्तस्मात्। अथवा कषायस्य कषायसंयुक्तात्मपरिणामस्य योगो योजनं तस्मात् कारणात्। ''हेतौ च'' इत्यादिना पञ्चमी। भवति अस्ति। का नामेति चेत् ? सा हिंसा पूर्वकथितस्वरूपा। किम्भूता ? सुनिश्चिता सुष्ठु निश्चीयते स्म तथाभूता ध्रुवा इत्यर्थः॥४३॥

यतश्च निश्चयज्ञैर्हिंसायाः स्वरूपमेवं निगदितम् -

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।

तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥४४॥

योग कहलाता है, उन दोनों से प्राणव्यपरोपण होता है। अथवा कषाय से युक्त आत्मपरिणाम का मिलना वह कषाय योग है। 'हेतौ च' इस सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया है। कषाय और योग से होने का नाम क्या है ? वह हिंसा है जिसके स्वरूप का वर्णन पूर्व श्लोकों में किया गया है। अर्थात् कषाय के योग में नियम से भाव प्राणों की हिंसा होती ही है यह कथन का तात्पर्य है।

विशेषार्थ - कषाय की उत्पत्ति से भाव प्राणों का घात नियम से होता है। यह संसारी प्राणी कषाय की तीव्रता से दीर्घश्वासोच्छवास से हाथ पैर आदि के द्वारा अपने अंगों को कष्ट पहुँचाता है। इतना ही नहीं कभी-कभी आत्मघात भी कर लेता है तो उसके द्रव्य प्राणों का भी घात हो जाता है। हृदयविदारक खोटे वचनादि से अथवा उपहास आदि से सामने वाले के अन्तरंग में पीड़ा पहुँचाकर उसके भाव प्राणों का घात कर देता है। कषाय की तीव्रता या प्रमाद की बहुलता से प्राणियों के अंगच्छेदन कान, नाक, पूँछ आदि काटना इत्यादि के रूप में पीड़ा पहुँचाकर द्रव्य प्राणों का घात कर हिंसक होता है॥४३॥

उत्थानिका - निश्चय नय के ज्ञाता पुरुषों के द्वारा हिंसा का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है -

अन्वयः - खलु रागादीनां अप्रादुर्भावः इति अहिंसा तेषां एव उत्पत्तिः हिंसा भवति इति जिनागमस्य संक्षेपः॥

अन्वयार्थ - (खलु) वास्तव में (रागादीनां) रागादि भावों का (अप्रादुर्भावः) उत्पन्न नहीं होना (इति) यह (अहिंसा) अहिंसा है (तेषामेव) उन्हीं रागादि भावों की (उत्पत्तिः) उत्पत्ति (हिंसा) हिंसा (भवति) होती है (इति) इस प्रकार (जिनागमस्य) जिनागम का (संक्षेपः) संक्षिप्त सार है।

रागादिक का उदय ही, हिंसा निश्चय जान।
अनुदय से ही अहिंसा, श्रुत संक्षिप्त बखान॥४४॥

मं. टी. - अप्रादुरित्यादि। रागादीनां रागः आदिर्येषां मदलोभमात्सर्यादीनां तेषाम् अप्रादुर्भावः अनुत्पत्तिः। खलु निश्चयेन। अहिंसा भवति कषायपरिणामापेतत्वात्। तेषां रागादीनां। उत्पत्तिर्बुद्धिपूर्विका रागादिप्रवृत्तिः। एवावधारणार्थे। हिंसा भवति सकषायत्वात्। इति जिनागमस्य श्रुतस्य संक्षेपेण सारः। उक्तञ्च पूर्वैरपि -

रागादीणमणुप्पा अहिंसकत्तेति देसिदं समये।

तेसिं चेदुपपत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा॥

अथ वीतरागिणोऽपि यदा कदा गमनागमनक्रियाप्रवृत्ता भवन्ति तत्क्षणे तेऽपि विराधका भवेयुरिति शङ्कां निराकुर्वन्नाह -

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।

न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव॥४५॥

टीकार्थ - राग है आदि में जिनके ऐसे मद, लोभ, मात्सर्य आदि का कषाय परिणाम से रहित होने के कारण उत्पन्न नहीं होना ही निश्चय से अहिंसा है और उन्हीं रागादि परिणामों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है, क्योंकि कषाय सहित परिणामों से नियम से हिंसा होती है। एव पद निश्चय करने के लिए दिया गया है। यह जिनागम का सार है। जैसे कि पूर्वाचार्यों द्वारा कहा गया है -

रागादि का उत्पन्न नहीं होना अहिंसा है और उन्हीं रागादि की उत्पत्ति होना हिंसा है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान के 'समय' में कहा है॥४४॥

उत्थानिका - अब वीतरागी जब कभी गमनागमन की क्रिया में प्रवृत्त होते हैं उस समय वे भी जीवों के विराधक होते हैं। इस प्रकार की शंका का निराकरण करते हुए अगला सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - अपि युक्ताचरणस्य सतः रागाद्यावेशमन्तरेण प्राणव्यपरोपणात् एव हिंसा जातु न हि भवति॥

अन्वयार्थ - (अपि) वास्तव में (युक्ताचरणस्य) योग्य आचरण वाले (सतः) सज्जन पुरुष के (रागाद्यावेशमन्तरेण) रागादि परिणामों के बिना (प्राणव्यपरोपणात्) प्राणों का घात होने मात्र से (एव) ही (हिंसा) हिंसा (जातु) कभी भी (न हि) नहीं (भवति) होती है।

टीकार्थ - रागादि का आवेश अर्थात् उत्कट उद्रेक। उस उद्रेक के बिना सज्जन पुरुष के योग्य आचरण से सहित, प्रमाद से रहित, समिति में तत्पर रहने वालों के द्वारा प्राणों के व्यपरोपण मात्र से ही कभी भी हिंसा नहीं होती है। उन सन्तों को हिंसा पाप से उत्पन्न कर्म का बंध नहीं होता है, जैसे जल में कमल रहता है पर उसमें लिप्त नहीं होता है यह कथन का तात्पर्य है। इस प्रकार समिति के माहात्म्य को दिखाकर अतिव्याप्ति दोष से रहित अहिंसा का

बिन रागादिक भाव के, यत्न सहित जो वृत्ति।
फिर हिंसा का लेश ना, वीतराग की शक्ति॥४५॥

मं.टी. - **युक्तेत्यादि।** रागाद्यावेशं रागादयः परिचितास्तेषामावेश उत्कटतोद्रेको वा तम्। अन्तरेण विनेति। सतः सज्जनस्य। किं विशिष्टस्य ? युक्ताचरणस्य युक्तं योग्यं आचरणमाचारो यस्य तस्याप्रमत्ततया समितिपरस्येत्यर्थः। अपि चैवम्। प्राणव्यपरोपणादेव प्राणानां व्यपरोपणं वियोगकरणं तस्मात् एव तन्मात्रादेवेत्यर्थः। न जातु न कदापि। हि निश्चयेन। हिंसा भवति हिंसापाप्मोत्पन्नकर्मबन्धे जले कमलवत् लिप्तो न भवतीत्यर्थः। इति समितिमाहात्म्यं प्रदर्श्यातिव्याप्तिदोषरहितमहिंसालक्षणं संलक्षितमलक्ष्ये हिंसालक्षणाभावात्। उक्तञ्च -

पउमिणिपत्ते व जहा उदएण ण लिप्पदि सिणेह गुणजत्तुं।

तह समिदीहिं ण लिप्पदि साहू काएसु इरियंतो॥

अथ किल रागिणां बन्धनमवश्यम्भावीति नियमयति -

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायां।

म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा॥४६॥

लक्षण बतलाया है क्योंकि अलक्ष्य में हिंसा लक्षण का अभाव है। जैसा कि **आचार्य कुन्दकुन्द देव ने मूलाचार** में कहा है - **'जैसे स्नेहगुण से युक्त कमलिनी का पत्ता पानी में लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार षट्काय से भरे लोक में ईर्यासमिति से विहार करते हुए साधु कर्म से नहीं बँधता है।'**

विशेषार्थ - यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने वाले साधु के शरीर से या पैर आदि से किसी जीव का विघात हो जाये तो भी उन्हें हिंसा का दोष कदापि नहीं लगता, क्योंकि उनकी चर्या में अयत्नाचार नहीं होता है। जहाँ प्रमाद के योग से जीवों का घात होता है वहाँ हिंसा मानी जाती है जैसा कि उमास्वामी महाराज ने कहा है - ''प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा''॥४५॥

उत्थानिका - अब रागी जीवों को बन्ध अवश्य ही होता है, इसका नियम बनाते हैं -

अन्वयः - रागादीनां वशप्रवृत्तायां व्युत्थानावस्थायां जीवः म्रियतां वा मा हिंसा ध्रुवं अग्रे धावति॥

अन्वयार्थ - (रागादीनां) रागादि भावों के (वशप्रवृत्तायां) वश में प्रवृत्ति करने वाले के (व्युत्थानावस्थायां) उठने की अवस्था में (जीवः) जीव (म्रियतां) मरे (वा) अथवा (मा) नहीं मरे किन्तु (हिंसा) हिंसा तो (ध्रुवं) नियम से (अग्रे) आगे (धावति) दौड़ती है।

रागादिक वश परवशी, नित्य प्रमादी जीव।
घात करे अथवा नहीं, हिंसक कहे सदीव॥४६॥

मं.टी. - **व्युत्थानेत्यादि।** रागादीनां रागः आदिर्येषां मदादीनां तेषां। वशप्रवृत्तायां वशाः प्रभावे गताः रागादीनां याः प्रवृत्तयस्तास्तासाम्। किं भूतायाम् ? व्युत्थानावस्थायां व्युत्थानमुत्थानम् अत्र व्युत्थानमुपलक्षणं यथा ''काकेभ्यो रक्ष्यता सर्पिरिति'' तेन गमनागमनोपवेशनभाषणाशनादयो गृह्यन्ते। एतेषामवस्थायां दशायां। जीवः सूक्ष्मबादरप्राणभृत् म्रियतां ''मृण् हिंसाया'' लोट् प्रयोगोऽकर्मकधातोरिति। मा निषेधार्थकाव्ययपदम्। वा विकल्पार्थे। ''उपमायां विकल्पे वा'' इत्यमरः। तेन म्रियतां न वा म्रियतामित्यर्थः। हिंसा हिंसनक्रियासम्बन्धिपापबन्धः। अग्रे पुरस्तात् क्रियातः पूर्वमिति क्रियाविशेषणम्। धावति भवति कथमपि न मुञ्चतीति भावः। ''सृ गतौ'' लट्। ''सर्त्तेर्धावः'' इति धावादेशो भवति। न चात्राश्ववत् धावति हिंसा किन्तु रागादि - वशेन प्रवर्तमानानां कर्मबन्धनमवश्यमेव क्रियां कुरुतान्नवा जीवो म्रियतां न वा। एतावताऽव्याप्तिदोषापेतमहिंसालक्षणं लक्ष्यते, लक्ष्यैकदेशेऽहिंसालक्षणानुपलम्भात्। तथोक्तञ्च -

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।

पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥

टीकार्थ - व्युत्थान यहाँ मात्र उपलक्षण है जैसे कौओं से घी की रक्षा करो। इस प्रकार गमन, आगमन, उपवेशन, भाषण, अशन आदि ग्रहण करना चाहिए; इन अवस्थाओं में सूक्ष्म अथवा बादर जीव मरें अथवा न मरें हिंसा अवश्य होती है। 'मृण' हिंसायां धातु से लोट् लकार के प्रथम पुरुष के एक वचन का म्रियतां रूप है। 'मा' निषेधार्थक अव्यय पद है 'वा' शब्द विकल्पार्थक है। इसलिए जीव मरे अथवा न मरे यह कथन का तात्पर्य है, हिंसन क्रिया सम्बन्धी पापबन्ध अवश्य होता है। अग्रे धावति अर्थात् आगे दौड़ती है, अग्रे यह शब्द क्रियाविशेषण है, किसी भी तरह प्रमादी जीव हिंसा से बचता नहीं है। धावति में 'सृ गतौ' धातु से लट्लकार में सृ के स्थान में धाव आदेश होता है। यहाँ ऐसा नहीं लगाना कि घोड़े की तरह हिंसा दौड़ती है किन्तु रागादि के वश में प्रवर्तमान जीव के कर्मबन्ध अवश्य ही होता है। उस क्रिया को करो या न करो, जीव मरे अथवा न मरे हिंसा होती ही है। यहाँ अव्याप्ति दोष से रहित अहिंसा का लक्षण कहा होता है क्योंकि लक्ष्य के एकदेश में अहिंसा का लक्षण नहीं उपलब्ध है, अपितु सर्वदेश में घटित है। जैसा कि **कुन्दकुन्द स्वामी ने प्रवचनसार** में कहा है - ''**जीव मरे या न मरे, अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने पर नियम से हिंसा होती है। यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने पर हिंसा मात्र से कर्मों का बंध नहीं होता है**''।

विशेषार्थ - जो जीव प्रमाद से युक्त होकर गमनादि क्रिया करता है, यत्नपूर्वक नहीं करता है वह 'जीव मरे अथवा नहीं मरे' , हिंसा के दोष का भागी अवश्य ही होता है॥४६॥

कथमिति चेत् ?

यस्मात् सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।

पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु॥४७॥

मं. टी. - यस्मादित्यादि - यस्मात् हेतोः। आत्मा सकषायः सन् कषायेण सहितोभूत्वा। प्रथमं प्राक्। आत्मना स्वकीयेन। आत्मानं स्वकीयं। हन्ति विनश्यति घातयतीत्यर्थः। ''हनौ हिंसागत्योः'' इति लट्। पश्चात् तदनन्तरं। प्राण्यन्तराणां अन्य प्राणिनां। तु अवधारणे। हिंसा हिंसनक्रिया। जायेत भवेत्। ''जनैङ प्रादुर्भावे'' सप्तमीसंज्ञा। न वा अथवा न भवेदिति। प्राणिघातनं विनापि हिंसा कषायसहितमनोवाक्तयाऽर्हन्मत एव जायत इति निर्देशः। अन्यत्रापि विहितम् -

स्वयमेवात्मनाऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणान्तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः॥

उत्थानिका - प्रमादी हिंसक कैसे है ?

अन्वयः - यस्मात् आत्मा सकषायः सन्प्रथमं आत्मना आत्मानं हन्ति पश्चात् प्राण्यन्तराणां तु हिंसा जायेत न वा॥

अन्वयार्थ - (यस्मात्) चूँकि (आत्मा) आत्मा (सकषायः सन्) कषाय सहित होता हुआ (प्रथमं) पहले (आत्मना) अपने ही द्वारा (आत्मानं) अपने आपको (हन्ति) मार डालता है (पश्चात्) बाद में (प्राण्यन्तराणां) दूसरे जीवों की (तु) तो (हिंसा) हिंसा (जायेत न वा) हो या नहीं भी हो।

टीकार्थ - आत्मा कषाय से युक्त होकर पहले अपने द्वारा अपनी आत्मा का विनाश करता है। बाद में अन्य प्राणियों की हिंसा होती है और नहीं भी होती है।

प्राणी घात के बिना भी कषाय सहित जीवों के मन वचन से भी हिंसा अर्हन्त मत में ही होती है। अन्यत्र भी कहा है -

'**प्रमादवान जीव स्वयं ही अपने द्वारा पहले अपना घात करता है बाद में अन्य प्राणी का घात हो अथवा न भी हो**'॥४७॥

सकषायी उस जीव के, खुद से खुद का घात।
होता हिंसक है अतः, हो नहिं हो पर घात॥४७॥

पुनरपि तदेवार्थमुपनयविधानेन दृढयति -

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।

तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्॥४८॥

मं.टी. - हिंसेत्यादि- यस्मादिति अनुवर्तते। हिंसायां हिंसनक्रियायां। अविरमणं रमणं रतिः विरमणं विरतिर्विरक्तिर्वा तस्याभावोऽविरमणं संलग्नतेत्यर्थः। भवति अस्ति। का सा ? हिंसा पापानुषङ्गिका क्रिया। सङ्कल्पपूर्वकत्यागेन विना नित्यमविरमणाद्धिंसा भवतीत्येकाऽविरमणरूपा हिंसा अव्यक्तहिंसोच्यते ततश्चोक्तं - ''अभिसन्धिकृताविरतिर्विषया-द्योग्यात् व्रतं भवति''। अपि तथा हि। हिंसापरिणमनं हिंसायां परिणमनं परिणतिर्हिंसा भवतीति, द्वितीया परिणमनरूपहिंसा व्यक्तहिंसाऽवसीयते। भवति क्रिया मध्यदीपिका देहलीदीपकन्यायात्। अनेनायाति अहिंसाव्रतेन विना भवनं हिंसायां रमणञ्च तुल्यतामुपैति हिंसाजनितपापस्याविशेषात्। तथापि यो बुद्धिपूर्वकं हिंसां कुरुते स भववर्धनकारणभूतहिंसा-पापतोऽतिदुःखमुपार्जति न तथा हिंसामकुर्वाणो मिथ्यादृष्टिरपीति विशेषः। तस्मात् हेतोः सिध्यति प्रमत्तयोगे आ प्रमत्तयोगगुणस्थानपर्यन्तात्

उत्थानिका - उसी अर्थ को पुनः उपनय के विधान से दृढ़ करते हैं।

अन्वयः - हिंसायां अविरमणं हिंसापरिणमनं अपि हिंसा भवति तस्मात् प्रमत्तयोगे नित्यं प्राणव्यपरोपणं।

अन्वयार्थ - (हिंसायां) हिंसा में (अविरमणं) विरक्त न होना तथा (हिंसापरिणमनं) हिंसा में परिणमन करना (अपि) भी (हिंसा भवति) हिंसा होती है (तस्मात्) इसलिए (प्रमत्तयोगे)प्रमाद के योग में (नित्यं) निरंतर (प्राण व्यपरोपणम्)प्राणों का घात होता है।

टीकार्थ - यस्मात् पद की अनुवृत्ति पूर्व श्लोक से करनी चाहिए। हिंसन क्रिया में विरक्ति का अभाव होना ही हिंसा में संलग्न रहना है, हिंसा में अविरमण है। वह क्या है ? हिंसा पापानुषङ्गिकी क्रिया है। संकल्प पूर्वक त्याग किये बिना अविरति से नित्य ही हिंसा होती है। यह पहली अविरति रूप हिंसा, **अव्यक्त हिंसा** कहलाती है। जैसा कि **समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार** में कहा है - 'योग्य विषय से अभिप्राय पूर्वक की हुई विरति को व्रत कहते हैं।' और भी कहा है -

हिंसा में परिणति होना या परिणमन करना हिंसा है। दूसरी, पापों में परिणमन रूप हिंसा **व्यक्त हिंसा** कहलाती है। भवति क्रिया मध्यदीपिका क्रिया है, इसको देहलीदीपक न्याय भी कहते हैं। जिस प्रकार दरवाजे की देहली पर दीपक रखने पर अन्दर बाहर दोनों जगह प्रकाश होता है उसी प्रकार 'भवति' क्रिया हिंसा से विरक्त नहीं होना और हिंसा में परिणमन करना, दोनों जगह लगानी है। इससे यह सिद्ध हुआ कि अहिंसा व्रत के बिना होने वाली हिंसा में और हिंसा रूप से परिणमन करने वाली हिंसा में समानता है क्योंकि हिंसाजनित

हिंसा का त्यागी नहीं, फिर भी हिंसक होय।
हिंसा को जो कर रहा, वह भी हिंसक होय॥४८॥

प्रमत्तयोगस्तस्मिन् सति। नित्यं सततमनवरतं। प्राणव्यपरोपणं प्राणानां यथासम्भवं-जङ्गमाजङ्गमव्यपरोपणं वेदितव्यम्। ननु च भवता षष्ठगुणस्थानपर्यन्तं हिंसेत्युक्तं तन्नघटितं समितिपरस्य गमने प्रवृत्तस्य मुनेरपि षष्ठगुणस्थानमेति तथा समितौ परस्य हिंसा न भवति ''युक्ताचरणस्य सतः'' इति पूर्वोक्तत्वात् ततः पूर्वापरविरोधः स्यात्। तन्न, उचितार्थानवबोधात्। किमुचितार्थः ? तदुच्यते प्रमाद्यतीति प्रमत्तः प्रमादयुक्तः इत्यर्थः प्रमत्तयोगाख्य-षष्ठगुणस्थानपर्यन्तं हि प्रमादोऽस्ति तावदेव हिंसा सम्भवति, अप्रमत्ते तदभावात्। तद्गुणस्थाने मुनिर्यदि पञ्चदशप्रमादोपेतः सन् प्रवर्तते तदा बन्धको भवति रागाद्यावेशवशात्। यदा हि तद्गुणस्थाने विचारतया समितिषु युङ्क्ते तदाऽबन्धक एवेति विरोधपरिहारः॥४८॥

स्वात्मोपपन्ना रागादय एव हिंसा परमार्थतया प्रतिपादिता तर्हि परजीवरक्षणहिंसवस्तुसन्त्यागादिना किमित्येकान्तप्रसङ्गपरिहरणार्थमाह-

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणाम - विशुद्धये तदपि कार्या॥४९॥

पाप में समानता है। तो भी जो बुद्धिपूर्वक हिंसा करता है वह संसारवृद्धि के कारणभूत हिंसा पाप से जैसे अतितीव्र दुःखों का उपार्जन करता है वैसे हिंसा को नहीं करने वाला मिथ्यादृष्टि जीव नहीं करता है। यह विशेषता है। इस कारण से यह सिद्ध होता है कि प्रमाद का योग होने पर मिथ्यादृष्टि से लेकर छठे गुणस्थान तक अनवरत यथासंभव त्रस-स्थावर जीवों के प्राणों का घात होता है, ऐसा जानना चाहिए।

शंका- आपने कहा छठे गुणस्थान तक हिंसा होती है किन्तु ऐसा तो घटित नहीं होता है। समिति में तत्पर गमन में प्रवृत्त मुनि के भी छठे गुणस्थान में यह नहीं घटित होता है क्योंकि समिति में तत्पर मुनि के हिंसा होती ही नहीं है, जैसा कि पूर्व में कहा है 'युक्ताचरणस्य सतः' इसलिए इस कथन में पूर्वापर विरोध आता है ?

समाधान- ऐसा नहीं है, आपने उचित अर्थ नहीं समझा। तो उचित अर्थ क्या है ? वह कहते हैं। जो प्रमादी की तरह हो वह प्रमत्त है। प्रमत्तयोग नामक छठे गुणस्थान तक ही प्रमाद होता है, वहीं तक हिंसा संभव है, अप्रमत्त गुणस्थान में उस हिंसा का अभाव है। यदि रागादि के आवेश के वश से छठे गुणस्थान में मुनि पन्द्रह प्रमादों से युक्त होता हुआ प्रवृत्ति करता है तो बन्धक होता है। जिस समय उसी गुणस्थान में वह साधु विचारपूर्वक समिति में तत्पर होता हुआ प्रवृत्ति करता है तो अबन्धक ही रहता है, इस प्रकार विरोध का परिहार हो जाता है॥४८॥

उत्थानिका - अपनी आत्मा में उत्पन्न होने वाले रागादि ही निश्चय से हिंसा है ऐसा प्रतिपादित किया गया है तो पर जीव की रक्षा और हिंसक वस्तु के त्यागादि से क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार एकान्त के प्रसंग का परिहरण करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः -खलु पुंसः परवस्तुनिबन्धना सूक्ष्मापि हिंसा न भवति तदपि परिणामविशुद्धये हिंसायतननिवृत्तिः कार्या॥

यद्यपि पर वस्तू नहीं, हिंसा कारज हेतु।
फिर भी उसको त्यागना, भावशुद्धि का सेतु॥४९॥

मं. टी. - सूक्ष्मेत्यादि -पुंसः पुरुषस्यात्मनः। खलु निश्चयेन। न निषेधार्थम्। भवति अस्ति। का सेति चेत् ? सूक्ष्मापि हिंसा काचिदपि हिंसा। किं निमित्ता ? परवस्तुनिबन्धना आत्मनो भिन्नं परं तदेव वस्तु द्रव्यं तस्य निबन्धना प्रत्यया सेति। यस्माच्च परवस्तुकारणेन हिंसा भवति न वा व्याप्तेरभावात्। दृश्यते च परीषहोपसर्गं मन्यमानो मुनिः परेणोत्सृष्टचेलकोऽहिंसक एवान्तरङ्गे रागादिकाभावात्। यत्र यत्र रागाद्यावेशस्तत्र तत्र हिंसेत्यनवद्यम्। ततो न परमार्थेन परवस्तु रागाद्युत्पत्तौ कारणम्। तदभावे न स्याद्धिंसायै कारणं विषयव्याप्तेः। तदपि तथापि वस्तुतः परवस्तुहिंसा-कारणाभावेऽपीत्यार्थः। हिंसायतननिवृत्तिः हिंसाया आयतनमधिकरणम् तस्मान्निवृत्तिर्बुद्धिपूर्वकपरित्यागवृत्तिः सा। कार्या करणीया। किमर्थम् ? परिणामविशुद्धये परिणामो मनोभावः प्रणिधानं स्वात्मनश्चोपयोगस्तस्य विशुद्धिर्निवृत्तरागादि-बुद्धिस्त्यस्यै धर्मध्यानप्रवृद्धय इत्यर्थः। एतावता व्यवहारनयवैषयिको निमित्तनैमित्तिकसम्बन्धः सम्मानितः परिणामविशुद्धये हिंसायतनत्यागस्य निमित्तकारणत्वात्॥४९॥

अन्वयार्थ - (खलु) वास्तव में (पुंसः) आत्मा के (परवस्तुनिबन्धना) परवस्तु के कारण (सूक्ष्मापि हिंसा) सूक्ष्म हिंसा भी (न भवति) नहीं होती है (तदपि) तो भी (परिणामविशुद्धये) परिणामों की विशुद्धि के लिए (हिंसायतननिवृत्तिः) हिंसा के आयतन परिग्रहादि का त्याग (कार्या) करना चाहिए।

टीकार्थ - परवस्तु के कारण पुरुष आत्मा के निश्चय से सूक्ष्म हिंसा भी नहीं होती है। आत्मा से जो भिन्न अर्थात् पर है उस परवस्तु के कारण हिंसा होती भी है और नहीं भी होती है क्योंकि व्याप्ति का अभाव है।

मुनिराज के ऊपर दूसरे के द्वारा वस्त्र आदि डाला जाये और वे वस्त्रादि को उपसर्ग और परिषह मानते हैं तो वे अहिंसक ही देखे जाते हैं क्योंकि उनके अन्तरंग में राग का अभाव है। जहाँ-जहाँ रागादि का आवेश है वहाँ-वहाँ हिंसा है, यह अन्वय व्याप्ति निर्दोष है। अतः परमार्थ से रागादि की उत्पत्ति में परवस्तु कारण नहीं है। उन रागादि के अभाव में परवस्तु हिंसा का कारण नहीं है क्योंकि यह विषय व्याप्ति है। वास्तव में परवस्तु में हिंसा के कारण का अभाव होने पर भी हिंसा के आयतन अर्थात् अधिकरण होने से उनका बुद्धिपूर्वक परित्याग करना चाहिए। किसलिए करना चाहिए ? परिणामों की विशुद्धि के लिए अर्थात् रागादि बुद्धि का त्याग एवं धर्मध्यान की वृद्धि के लिए बाह्य परिग्रह का त्याग करना चाहिए यह कथन का तात्पर्य है। इससे यहाँ व्यवहार नय विषयक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध सम्मानित है क्योंकि परिणामों की विशुद्धि के लिए हिंसा के आयतन का त्याग आवश्यक है॥४९॥

अपरञ्च श्रूयतामवधानतया भो भव्य!

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।

नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः॥५०॥

मं.टी. - निश्चयमित्यादि- यः कोऽपि जनः। निश्चयं अबुद्धयमानः निश्चयनयस्य विषयः किं, कोऽस्य स्वामी, क्वाचरणीयः, किं तस्य प्राप्त्युपाय इत्यादिकमपरिजानन् सन् निश्चयतः परमार्थतो वस्तुतो वाऽयमेव भूतार्थ इति मत्वा। तमेव निश्चयनयमेव। संश्रयते स्वीकुरुते। स किं करोतीत्युत्तरार्धेनाह। स निश्चयैकान्तारूढः। बालः मूर्खः। पुनश्च किं विशिष्टः ? बहिः करणालसः बहिः करणं बाह्यक्रिया परद्रव्यापेक्षिका जीवरक्षणादिरूपा तस्मिन् अलसः प्रमादी स तथोक्तो निश्चयनयज्ञानहीनेन बहिःकरणं बहिष्कृतमथवा बाह्यक्रियासु अनवधानचेतस्को निश्चयनयाद्दूर एवावतिष्ठते। तस्मात् स करणचरणं करणं क्रिया तस्य चरणमाचरणं व्यवहारचारित्रं चरणानुयोगस्तमिति यावत्। नाशयति नष्टं कुरुतेऽनर्थकं करोतीत्यर्थः मोक्षतत्त्वस्य सिद्धेरभावात्॥५०॥

उत्थानिका - हे भव्य! अब सावधानीपूर्वक सुनो जिसकी सिद्धि व्यवहार और निश्चय पूर्वक करते हैं -

अन्वयः -यः निश्चयमबुद्ध्यमानः निश्चयतस्तमेव संश्रयते स बालः बहिः करणालसः करणचरणं नाशयति॥

अन्वयार्थ - (यः) जो (निश्चयमबुद्ध्यमानः) निश्चय नय को नहीं जानता हुआ (निश्चयतः) निश्चय से (तमेव) उस निश्चयाभास को ही (संश्रयते) आश्रय करता है (सः बालः) वह मूर्ख (बहिः करणालसः) बाह्य क्रिया रूप चारित्र में आलसी होता हुआ (करणचरणं) क्रिया रूप चारित्र को, व्यवहार चारित्र को (नाशयति) नष्ट कर देता है॥

टीकार्थ -कोई पुरूष निश्चय को नहीं जानता है कि निश्चयनय का विषय क्या है, इसका स्वामी कौन है, कहाँ पर आचरण करने योग्य है, उसकी प्राप्ति का उपाय क्या है, इत्यादि रूप से नहीं जानता हुआ, वास्तव में यह (ज्ञान मात्र) ही भूतार्थ है ऐसा मानकर उसी निश्चय नय को स्वीकार करता है। वह पुनः क्या करता है ? इसको श्लोक के उत्तरार्द्ध से स्पष्ट करते हैं। वह निश्चय एकान्त पर आरूढ होने वाला मूर्ख है। वह परद्रव्य की अपेक्षा रखने वाली जीवरक्षण आदि रूप ब्राह्य क्रिया में आलसी होता हुआ निश्चय नय के ज्ञान से परिहीन होने से बाह्य क्रियाओं में असावधान मन वाला होता हुआ, निश्चयनय से दूर ही रहता है। इसलिए वह व्यवहार चारित्र से भी दूर रहता है। व्यवहार चारित्र ही चरणानुयोग है, उसी को नष्ट करके अनर्थ करता है, अतः उसे मोक्ष तत्त्व की सिद्धि का अभाव हो जाता है॥५०॥

निश्चय निश्चय रट लगी, निश्चय का नहिं ज्ञान।
चर्या बिन वह आलसी, करे चरित की हान॥५०॥

अथ हिंसाहिंसयोः परिणामानुसारेण तीव्रमन्दफलपरिपाकतां विशदयति-

अविधायापि हि हिंसां हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥५१॥

मं.टी. - अविधायेत्यादि - एकः कश्चित् पुमान्। हि निश्चयेन। हिंसा हिंसनक्रियां अविधायापि न कृत्वापि। हिंसाफलभाजनं हिंसायाः फलं नरक - तिर्यगादिगतिगमनं तस्य भाजनं पात्रं भवति। अपरोऽन्यजनः। हिंसां कृत्वाऽपि जीवघातविधायिनीं क्रियां सम्पाद्यापि। हिंसाफलभाजनमुपरिकथितम्। न स्यात् नास्ति। तत्कथमित्याह कश्चिद्धीवरो मत्स्यादिग्रहणाशयः सरः उपवसन्नग्रहीतजीवोऽपि जालं प्रसार्य मुहुर्मुहुः प्रयतते पश्चाच्च स्वगृहेऽनाकुलतया संतिष्ठन्नपि हिंसाफलभाक् स्यादनवरतहिंसाशयपरिणामात्। अन्यस्तु कश्चन कृषको लाङ्गलपरिचालनादिकाले जीवहिंसां संविधायापि हिंसाफलभाक् न स्याद्धिंसापरिणामाभावात्। तथा चोक्तम् -

अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्।
परिणाम - विशेषेण यथा धीवरकर्षकौ॥

उत्थानिका - अब परिणामों के अनुसार हिंसा और अहिंसा के तीव्र मन्द फल के परिपाक को प्रकट करते हैं-

अन्वयः - हि हिंसा अविधायापि एकः हिंसाफलभाजनं भवति अपरः हिंसां कृत्वा अपि हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥

अन्वयार्थ - (हि) निश्चय से (हिंसां अविधायापि) हिंसा को नहीं करके भी (एकः हिंसाफलभाजनं भवति) एक जीव हिंसा के फल का भोक्ता होता है (अपरः) दूसरा जीव (हिंसां कृत्वा अपि) हिंसा करके भी (हिंसाफलभाजनं) हिंसा के फल का भोक्ता (न स्यात्) नहीं होता है।

टीकार्थ - कोई पुरुष निश्चय से हिंसा की क्रिया को नहीं करके भी हिंसा के फल रूप नरक तिर्यंच आदि गति में गमन का पात्र होता है। दूसरा पुरूष जीवघात करने वाली क्रिया को करके भी हिंसा के फल का भोक्ता नहीं होता है। ऐसा कैसे संभव है ? कोई धीवर मछली पकड़ने के अभिप्राय से सरोवर के किनारे बैठा, जीवों को ग्रहण नहीं करता हुआ भी जाल को फैलाकर बार-बार जीवों को पकड़ने का प्रयत्न करता है, बाद में निराकुलता पूर्वक घर में बैठा है तो भी हिंसा का अभिप्राय होने से हिंसा का फल का भोक्ता होता है। दूसरा कोई किसान हलादि को चलाते समय अनेक जीवों की हिंसा करता है तो भी हिंसा करने के परिणाम का अभाव होने से हिंसा के फल का भोक्ता नहीं होता है। जैसा कि कहा है - ''**धीवर जीवों को नहीं मार रहा है तो भी पापी है और किसान जीवों को मार रहा है फिर भी पापी नहीं है क्योंकि परिणाम विशेष से हिंसा और अहिंसा का फल प्राप्त होता है।**''॥५१॥

हिंसा का फल भोगता बिन हिंसा भी एक।
हिंसा फल ना भोगता कर हिंसा भी एक॥५१॥

न भवति हिंसा परिमाणानुसारिणी फलवती प्रत्युत परिणामानुसारिणीति प्रस्तौति –

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥५२॥

मं.टी. – एकस्येत्यादि – एकस्य कस्यापि जनस्य। अल्पा सूक्ष्मा लघुपरिमाणा वा। हिंसा प्राणिवधः। काले परिपाके फलप्रदानसमये। अनल्पं न अल्पमनल्पं भयङ्करमित्यर्थः। फलं परिणामस्तम्। ददाति प्रदत्ते। ''डुदाञ् दाने'' लट्। किन्तु अनयस्यापरजनस्य। परिपाके काले फलानुभवक्षणे। महाहिंसा महती सा चासौ हिंसा महाहिंसा कर्मधारये महा आदेशात्। स्वल्पफला सु अतिशयेन अल्पं लघु फलं यस्याः साल्पपापफल – परिणामिकी स्यादित्यर्थः। तद्यथातन्दुलमत्स्योऽल्पहिंसां कृत्वापि तीव्रसंक्लेशपरिणामेन सप्तमपृथ्वीं प्रविशति प्रत्युत राघवमत्स्यो भूयसीं हिंसा परिणामापेक्षयाऽऽकलय्यापि स्वर्गच्छतीति परिणामविशेषात्फलं स्पष्टं भवति। इत्येको हिंसाफलविषयनिबन्धको दृष्टान्तो गदितोऽन्योऽपि परिग्रहाब्रह्मादि – विषये भावानुसारिफलविषयः प्रत्येतव्यः प्रबन्धकथासु हिंसामहापापे हि सर्वपापानामन्तर्भूतत्वात्। तथा चोक्तम् –

उत्थानिका – परिमाण के अनुसार हिंसा फलवती नहीं होती है किन्तु परिणाम के अनुसार होती है इस अभिप्राय को प्रकट करते हैं –

अन्वयः – एकस्य अल्पा हिंसा काले अनल्पं फलं ददाति, अन्यस्य महाहिंसा परिपाके स्वल्पफला भवति।

अन्वयार्थ – (एकस्य) किसी जीव को (अल्पा हिंसा) थोड़ी भी हिंसा (काले) उदय काल में (अनल्पं फलं) बहुत फल देती है। (अन्यस्य) किसी जीव को (महाहिंसा) बहुत बड़ी हिंसा भी (परिपाके) फलकाल में (स्वल्पफला) थोड़ी फल देने वाली (भवति) होती है।

टीकार्थ – किसी पुरूष को अल्पहिंसा फलप्रदानकाल में बहुत फल देती है। किन्तु किसी अन्य पुरुष को फलकाल में या फलानुभव के समय में महाहिंसा अर्थात् अधिक परिमाण में की गयी जीवहिंसा अल्प फल देने वाली होती है।

जैसे – तन्दुल मत्स्य अल्प हिंसा करके भी तीव्र संक्लेश परिणामों से सातवीं नरक पृथ्वी में जाता है किन्तु राघव मत्स्य परिमाण की अपेक्षा बहुत हिंसा करके भी स्वर्ग जाता है। इस प्रकार जीव के परिणाम विशेष से फल स्पष्ट होता है। यह एक हिंसाफल के विषय का कारणभूत दृष्टांत कहा। इस प्रकार से अन्य दृष्टांत भी परिग्रह, कुशील आदि के विषय में जानने चाहिए। भाव के अनुसार फल होता है,यह विषय प्रबन्ध कथाओं से जानना चाहिए। वास्तव में, हिंसा महापाप में ही सब पापों का अन्तर्भाव हो जाता है। कहा भी है –

किसी किसी को बहुत फल, देती हिंसा नेंक।
बहु हिंसा से अल्प फल भावों की यह टेक ॥ ५२॥

मनसैव कृतं पापं न शरीरकृतं कृतम्।

येनैवालिंगिता कान्ता तेनैवालिंगिता सुता ॥

पुनरपि हिंसाफलवैचित्र्यमनुचिन्त्यते -

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।

व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले॥५३॥

मं.टी. - एकस्येत्यादि - अत्र स्वात्मनि। फलकाले कर्मविपाकक्षणे। हिंसा पापबन्धक्रिया। वैचित्र्यं आश्चर्यजनकं। फलं परिपाकस्तम्। व्रजति ददाति। ''व्रजि गतौ'' लट्। कथमित्याह - सहकारिणोः सहचर्येण वा कार्यं करणं सहकारः सहकारो यस्य विद्यते स सहकारी। अथवा सह कुर्वते इत्येवंशीलाः सहकारिणः तयोः सहकारिणोर्हि। ''सहकारो हि बन्धुता'' इत्युक्तेः परस्परबान्धवतया सहचरितक्रियावतोः पुरूषयोरित्यर्थः। अपि चैवम्। एकस्यात्मनः। सैव सहानुष्ठितहिंसा क्रिया। तीव्रं उत्कटं। फलं पापानुभवस्तम्। दिशति ददाति।

''मन से ही पाप किया जाता है। शरीर कृत पाप कथञ्चित् पाप नहीं है। जिस प्रकार उसी शरीर से पत्नी का आलिङ्गन होता है उसी से पुत्री का परन्तु मन में दोनों के प्रति भिन्न परिणाम होता है।''॥५२॥

विशेषार्थ- यद्यपि आगम में राघव मच्छ का भी नरक जाना बताया है। ऐसा नियम नहीं कि सभी राघव (बड़े) मच्छ नरक ही जायें, ऐसा विचारकर ही टीकाकार ने राघव मच्छ को स्वर्ग जाना कहा है, यह बात आगम से भी सिद्ध है।

उत्थानिका - पुनः हिंसा के विचित्र फल को दर्शाते हैं -

अन्वयः - सहकारिणोरपि हिंसा अत्र फलकाले वैचित्र्यम् व्रजति। एकस्य सैव तीव्रं फल दिशति अन्यस्य सैव मन्दं फलं।

अन्वयार्थ - (सहकारिणोरपि) एक साथ की गई भी हिंसा (अत्र) यहाँ (फलकाले) उदयकाल में (वैचित्र्यम्) विचित्रता को (व्रजति) प्राप्त होती है (एकस्य सैव) किसी को वही हिंसा (तीव्रं फलं) तीव्र फल (दिशति) देती है (अन्वयस्य सैव हिंसा) तो दूसरे को वही हिंसा (मन्दं फलं दिशति) मन्द फल देती है।

टीकार्थ - अपनी आत्मा में कर्मफलकाल में हिंसा अर्थात् पापबन्ध के कारणभूत क्रिया आश्चर्यकारी फल देती है। जो साथ-साथ कार्य करते हैं उनको सहकारी कहते हैं। अथवा साथ में काम करना है स्वभाव जिनका उनको सहकारी कहते हैं। या परस्पर बान्धव की तरह पुरूषार्थ करने वाले सहकारी कहलाते हैं। एक आत्मा को वही साथ-साथ की गई हिंसाक्रिया तीव्र फल अर्थात् उत्कृष्ट पापानुभव देती है तो अन्य आत्मा को

साथ-साथ दो मित्र यदि, करते हिंसा कार्य।
पर फल में अन्तर दिखे, फल भावों में आर्य ॥५३॥

अन्यस्यात्मनः। सैव पूर्वोक्तक्रिया। मन्दं अल्पानुभागफलानुभवं। दिशति दत्ते। ''दिशौञ् अतिसर्जने'' लट्। कोऽपि तस्करस्तलवरद्वयेन संगृहीतः। एकस्तु तं द्वेषबुद्ध्याऽतिकषायेण मारयति तेनाधिकपापमनुबध्नाति अपरस्तमेव हितबुद्धचा दोषनिष्कासनाय मारयति तेनाल्पपापेन लिप्तो भवतीति तुल्यमारणक्रियायामप्यभिप्रायवशेन पापफलानुषङ्गस्य विभिन्नता॥५३॥

अथ कतिविधानि हिंसाफलप्ररूपाणीति प्ररूपयन्नाह-

प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृताऽपि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन॥५४॥

मं.टी. - **प्रागेवेत्यादि** - हिंसा एकविधा हिंसनक्रिया। फलति फलं ददाति। कदा ? प्रागेव हिंसाभवनात् पूर्वमेव। सा संरम्भी हिंसा कथ्यते यथा प्राणव्यपरोपणादिषु मनोभावानुषङ्गशशाशयेन कूपानीतः स्वप्रतिबिम्बव्याजेनान्यादृश इति विचार्याप्रतर्कितप्रयत्नावेशः केशरी तत्र निपपात। द्वितीया हिंसा क्रियमाणा तत्साधनसामग्रीपरिग्रहणक्षणे हिंसाभावं विधीयमाना। फलति फलं प्रदत्ते। सा समारम्भी हिंसोच्यते भावहिंसानुवर्तनात् यथैकः परघातनायासिधेनुधारां तीक्ष्णां कुर्वाणः स्वयमेव तया घातितः। तृतीया हिंसा आरम्भी

वही पूर्वोक्त क्रिया मन्द अर्थात् अल्प फल देती है। किसी चोर को दो कोतवालों ने पकड़ा। एक कोतवाल तो उस चोर को द्वेष बुद्धि के कारण तीव्र कषाय से मारता है उससे अधिक पाप का बन्ध करता है। दूसरा कोतवाल उस चोर को हितबुद्धि से दोषों को निकालने के लिए मारता है, उसे अल्पपाप का बन्ध होता है। इस प्रकार तुल्य मारण क्रिया में भी अभिप्राय के वश से पापफल के प्रसंग में भिन्नता होती है॥५३॥

उत्थानिका - अब हिंसाफल कितने भेद वाला है, इसका प्ररूपण करते हुए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - प्रागेव हिंसा फलति, क्रियमाणा फलति, कृतापि फलति च आरभ्यकर्तुं अकृता अपि फलति हिंसा अनुभावेन फलति।

अन्वयार्थ - (प्रागेव हिंसा फलति) कोई हिंसा पहले ही फल देती है, (क्रियमाणा फलति) कोई हिंसा करते-करते फल देती है। (कृतापि फलति) कोई हिंसा करने पर फल देती है (च आरभ्यकर्तुं) और कोई हिंसा आरम्भ करके (अकृता अपि) बिना किये भी (फलति) फल देती है। (हिंसा अनुभावेन) हिंसा भावों के अनुसार (फलति) फल देती है।

टीकार्थ - पहली हिंसा होने से पहले ही फल देती है वह **संरम्भी हिंसा** कहलाती है। जैसे मन में प्राणघात का भाव रखकर खरगोश के द्वारा कुए के पास लाया गया सिंह अपने ही प्रतिबिम्ब के छल से 'अन्य कोई सिंह है' इस प्रकार सोचकर बिना विचार किये ही आवेश में आकर उसे मारने हेतु उस कूप में कूद गया। दूसरी हिंसा - करते हुए फल देती है। उस हिंसा की साधन-सामग्री का संग्रह करता हुआ जीव हिंसा भाव को

करने से पहले फले, कभी करन के बाद।
कभी फले करते हुए, बिना किए बरबाद॥५४॥

स्यात्। च समुच्चयार्थे। कृता अपि हिंसा कार्यस्य पूर्णता विहिता। अपि निश्चयार्थे। फलति फलवती भवति। तद्विहितसमये हि फलप्रदानात्। यथाऽञ्जनादयोऽशुभतैजससमुद्घात-प्राप्तमुनयो वा। तुरीया हिंसा कर्तुं आरभ्य प्रारब्धं कृत्वा। अकृताऽपि केनचित् अननुष्ठिताऽपि। फलति पापफलमनुभावयति। हिंसामारभ्य प्रत्यवायस्य समुपस्थितेऽपूर्णहिंसाकार्यस्य तत्क्रियाविधाने हि फलप्राप्तेः यथा रावणो बालिमुनिं प्रत्यनुशया वेशवशाद्धिंसाप्रवर्तनायोद्युक्तो भूत्वा तत्कार्यसम्पादनेऽसमर्थेऽपि पापबन्धफलभाक् स्यात्। केन कारणेन चतुर्मुखीभूत्वा हिंसा फलतीत्याह - अनुभावेन भावस्य सदृशोऽनुभावः प्रादितत्पुरुषात्। अनुरूपः भावः अनुभावः प्रादि कर्मधारयः। भावस्य सदृशोऽनुभावं अनुभावेन वा। ''वा तृतीयासप्तम्योः'' इत्यनेनाव्ययीभावे अम् वा भवति। तेन भावानुसारेणेत्यर्थः॥५४॥

इदानीं हिंसाक्रियायाः कर्तारश्च तस्याः फलभोक्तारो विषमा इति प्रतिपादयन्नाह -

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः॥५५॥

प्राप्त होता है और अनन्तर उसके फल को प्राप्त होता है। भाव हिंसा का अनुवर्तन होने से वह **समारम्भी हिंसा** कहलाती है, जैसे - कोई पुरुष दूसरों का घात करने के लिए छुरी की घार को पैनी करता हुआ स्वयं ही उससे घात को प्राप्त हुआ। अपि शब्द निश्चय के अर्थ में प्रयुक्त है। 'च' शब्द समुच्चयवाची है। उपयुक्त समय में फल देने वाली होने से तीसरी **आरम्भी हिंसा** है। 'कृतापि' अर्थात् हिंसा कार्य की पूर्णता होने पर वह फलवती होती है। जैसे अंजन आदि चोर अथवा अशुभ तैजस समुद्घात को प्राप्त मुनि आदि को हिंसा का फल हिंसा पूर्ण कर प्राप्त हो गया। चौथी हिंसा प्रारम्भ करके भी किसी कारण से नहीं की गयी फिर भी पापफल को अनुभव कराती है। हिंसा को प्रारम्भ करके किसी कारण के उपस्थित होने पर हिंसाकार्य की पूर्णता नहीं हुई, किन्तु उस क्रिया के करने पर नियम से फल की प्राप्ति होती है जैसे रावण क्रोध के आवेश वश बालिमुनि की हिंसा करने के लिए उद्युक्त हुआ लेकिन उस कार्य को करने में असमर्थ हो गया तो भी पापबन्ध के फल का पात्र हुआ।

किस कारण से चार प्रकार की हिंसा के फल को प्राप्त होता है ? भावों के अनुसार चार प्रकार का फल प्राप्त होता है।

उत्थानिका - अब हिंसा क्रिया के कर्त्ता और उसके फल के भोक्ताओं में विषमता का प्रतिपादन करते हुए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - एकः हिंसां करोति फलभागिनः बहवः भवन्ति, बहवः हिंसां विदधति हिंसाफलभुक् एकः भवति॥

अन्वयार्थ - (एकः) एक जीव (हिंसां करोति) हिंसा करता है (फलभागिनः) फल के भागी (बहवः भवन्ति) बहुत होते हैं (बहवः हिंसां विदधति) बहुत जीव हिंसा करते हैं (हिंसाफलभुक्) हिंसा के फल का भागी (एकः भवति) एक होता है।

करता हिंसा एक पै, फल भोगें बहु लोग।
करें बहुत हिंसा कभी, पाता इक फल भोग॥५५॥

मं.टी. - एक इत्यादि - हिंसा पापार्जनक्रियां। एकः करोति एकाकी भूत्वाऽनुतिष्ठति। किन्तु तस्याः हिंसायाः फलभागिनः फलं विपाकं तं भजन्तीत्येवंशीलास्ते तथोक्ताः फलस्यानुभवितारः इत्यर्थः। बहवः अनेकसंख्यकाः। भवन्ति सन्ति। यथा कुक्कुटाश्वगवादिसंग्रामक्रीडाप्रेक्षणपराः सर्वे हि पापफलभागिनो भवन्ति पापानुमोदनात् यद्यप्येको हि तयोः युधिप्रेरकः। तथैव। बहवो बहुजनाः हिंसां विदधति कुर्वते। ''डुधाञ् धारणे'' च लट्। किन्तु हिंसाफलभुक् हिंसाफलं भुड्क्ते सः। एकः एकसंख्यकः पुरुषः। भवति स्यात्। प्रत्युत एको राष्ट्रपतिमहोदयो हीराकयुद्धस्याधिष्ठातृत्वात् बहुजनघातहिंसापापभागी स्याद् बहुजनानामुन्मनस्कत्वात्॥५५॥

अथैक हि हिंसा नानाजीवानां कथं नानाफलप्रदायिनीति प्रदीप्यते -

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।

अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्॥५६॥

मं.टी. - कस्याप्येत्यादि - हिंसा प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणादिना प्रवृत्तिः। फलकाले कर्मोदयफलसमये। कस्यापि जनस्य तु। एकमेव हिंसाफलं भवक्लेशदुःखभूतं। दिशति ददाति। अन्यस्य जनस्य तु। सा एव हिंसा

टीकार्थ - पापार्जन रूप हिंसा की क्रिया तो एक जीव करता है, किन्तु उसके फल को भोगने वाले अनेक होते हैं। जैसे - मुर्गा, घोड़ा, बैल आदि की लड़ाई को देखने में उत्सुक जितने लोग होते हैं वे सभी उस पाप की अनुमोदना करने से पाप के फल को भोगने वाले होते हैं, जबकि उनको लड़ने की प्रेरणा करने वाला एक होता है। उसी प्रकार बहुत लोग हिंसा करते हैं किन्तु उसके फल को भोगने वाला एक पुरुष होता है। जैसे एक ही राष्ट्रपति ईराक युद्ध का करने वाला होकर अनेक जीवों के प्राणों के घातजन्य हिंसा पाप का भागी हुआ क्योंकि बहुत लोगों को खेदखिन्नता हुई॥५५॥

उत्थानिका - अब वास्तव में एक हिंसा अनेक जीवों को अनेक प्रकार के फल देने वाली कैसे होती है ? इसे प्रकट करते हैं -

अन्वयः - कस्यापि हिंसा फलकाले एकं एव हिंसाफलं दिशति अन्यस्य सैव हिंसा विपुलं अहिंसाफलं दिशति॥

अन्वयार्थ - (कस्यापि हिंसा फलकाले) किसी जीव को हिंसा फलकाल में (एकमेव हिंसाफलं दिशति) एक ही हिंसा रूप फल देती है (अन्यस्य सैव हिंसा) दूसरे जीव को वही हिंसा (विपुलम् अहिंसाफलं दिशति) बहुत अधिक अहिंसा रूप फल देती है।

टीकार्थ - प्रमाद के योग से प्राणों के घात आदि प्रवृत्ति को हिंसा करते हैं। कर्मोदय के फलकाल में वह किसी जीव को एक ही हिंसारूप फल देती है। दूसरे जीव को वही हिंसा अधिक हिंसा के फल को अर्थात् नरकादि के दुःख देती है। जैसे परस्पर द्वन्द्व करने वाले सिंह और शूकर एक दूसरे को मारकर पृथक् - पृथक् फल को प्राप्त

हिंसा के फल-काल में, हिंसा का फल पाय।
पर कोई उस पाप से, पुण्य-फलों को खाय ॥५६॥

तुल्यहिंसनक्रियेत्यर्थः। विपुलमत्यधिकम्। हिंसाफलं नरकादिगमनपर्यन्तम्। दिशति विदधाति। यथा परस्परयुधि सिंहशूकरौ मृतौ तथापि मुनिघातकरणभावात् सिंहो नरकं गतः प्रत्युत शूकरो मुनिरक्षां विधाय स्वर्गं गतः इति एका हिंसाक्रिया तुल्यपरिणामिनी प्रतीयमानापि फलवैपरीत्यमावहति भावानुषङ्गात्॥५६॥

अथ बाह्यक्रियाफलस्य वैपरीत्यं प्रदर्शयन्नाह -

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत्॥५७॥

मं.टी. - हिंसाफलमिति। अपरस्य कस्यचिज्जनस्य। अहिंसा हिंसाया अभावो अहिंसा, बाह्ययोगतः परप्राणादीनां घातस्याभावेऽपि। परिणामे फलोदयकाले। तु अवधारणे। हिंसाफलं हिंसायाः फलं परिणामस्तम्। ददाति दिशति। इतरस्य जनस्य। हिंसा यदि केनचित् प्रकारेण हिंसाभावे सत्यपि घटिता हिंसा सा। तु पुनः अहिंसाफलं अहिंसाक्रियाफलं। दिशति दत्ते। न अन्यत् फलमित्यर्थः। तद्यथा - समितौ प्रवर्त्तमानस्य सावधानचित्तस्य कदाचित् प्राणिवधेऽपि हिंसाक्रिया विपाकेऽहिंसाफलं दिशति प्रत्युतानवधानचित्तस्याप्राणिवधेऽप्यहिंसाक्रिया विपाके हिंसाफलं दत्ते।

हुए। मुनि को मारने के भाव से सिंह मरकर नरक गया तथा मुनिरक्षा के भाव से शूकर मरकर स्वर्ग गया। इस प्रकार हिंसाक्रिया समान किये जाने पर भी भावों के अनुसार विपरीत फल देती है॥५६॥

उत्थानिका - अब बाह्य क्रिया के फल की विपरीतता बताने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः- अपरस्य तु अहिंसा परिणामे हिंसाफलं ददाति तु पुनः इतरस्य हिंसा अहिंसाफलं दिशति न अन्यत्॥

अन्वयार्थ - (अपरस्य तु अहिंसा) किसी को अहिंसा (परिणामे) उदयकाल में (हिंसाफलं) हिंसा का (ददाति) फल देती है (तु पुनः इतरस्य) किन्तु किसी को (हिंसा) हिंसा (अहिंसाफलं दिशति) अहिंसा का फल देती है (न अन्यत्) अन्य फल नहीं।

टीकार्थ - किसी पुरुष को तो अहिंसा बाह्य योग से पर के प्राणादि के घात का अभाव होने पर भी फल काल में नियम से हिंसा का फल देती है। किन्तु किसी अन्य पुरुष को बाह्य रूप से दिखने वाली हिंसा भी अपने परिणाम काल में अहिंसा का फल देती है, दूसरा नहीं, यह कथन का तात्पर्य है। जैसे समिति से चलते हुए सावधान चित्त वाले किसी मुनि को कदाचित् जीवहिंसा हो जाने पर भी विपाक समय में अहिंसा का फल देती है, जबकि चित्त की असावधानी के साथ चलते हुए यदि प्राणिवध न भी हो तो भी वह क्रिया विपाक समय में हिंसा का फल देती है। वैद्य उपचार करता है, फिर भी यदि प्राणी मर जाता है तो भी उसको अहिंसा का फल प्राप्त होता है। इसके विपरीत मन में मारने का अभिप्राय हो पर वह जीव बच जाए तो भी मारने वाले को हिंसा का फल मिलता है जैसे कि काल संवर ने प्रद्युम्न को मारने का प्रयास किया था ॥ ५७ ॥

कभी अहिंसा का मिले, पाप रूप परिपाक।
हिंसा के फल में कभी, पुण्य फलों की धाक॥५७॥

उपचारकरणेऽपि वैद्यस्य यदि प्राणी म्रियते तथाप्यहिंसाफलं तस्यान्यत्र मनसि वधाभिप्रायेण यदि जीवति स तथापि हिंसाफलं प्रद्युम्नमारणाय कालसंवरवत्॥५७॥

एवं हिंसा-हिंसक-हिंसनादीनामनेकभेदं विज्ञायापि कथं प्रवर्त्यतामिति प्ररूपयति-

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्र-सञ्चाराः॥५८॥

मं.टी. - इतीत्यादि -इति एवंप्रकारे। विविधभंगगहने विविधा नाना भंगाः भेदप्रभेदाः हिंसाया बाह्याभ्यन्तरयोगनिर्भराः मार्गपक्षे नानामार्गाः, यस्मिन् गहने वने तस्मिन् अथवा विविधभंगेन गहनं कष्टं यत्र तत्र ''कृच्छ्रं गहनमुद्धरेत्'' इति वचनात्। किं विशिष्टे ? सुदुस्तरे सु अतिशयेनात्यधिकेन दुःखेन तीर्यत इत्युपपदतत्पुरुषसमासः तस्मिन्। केषां भ्रमतामित्याह-मार्गमूढदृष्टीनां मार्गविषये मूढाः विमूढाः किंकर्त्तव्यमापन्ना दृष्टिर्येषां तेषां सम्यग्मार्गतः पराङ्मुखानामित्यर्थः। शरणं सहायकाः दुःखापायोपायप्रदर्शकाः। भवन्ति सन्ति। के ते ? गुरवः गुः अन्धकारः रुः निवारणम्, अन्धकारात् अज्ञानात् निवर्तका गुरवस्ते श्रुतधरा निर्ग्रन्थभट्टारका इत्यभिधीयन्ते। उक्तं च -

---

उत्थानिका - इस प्रकार हिंसा, हिंसक, हिंसादि के अनेक भेदों को जानकर भी कैसे प्रवृत्ति की जाय यह प्रस्फुण करते हैं -

अन्वयः - इति सुदुस्तरे विविधभङ्गगहने मार्गमूढदृष्टीनां प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः गुरवः शरणं भवन्ति॥

अन्वयार्थ - (इति) इस प्रकार (सुदुस्तरे) अत्यन्त कठिन (विविधभङ्गगहने) अनेक प्रकार के भेद रूप गहन वन में (मार्गमूढदृष्टीनां) मार्ग को भूले हुए पुरुषों के लिए (प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः) अनेक नय समूह को अच्छी तरह जानने वाले (गुरवः शरणं भवन्ति) गुरु ही शरण होते हैं।

टीकार्थ - हिंसा बाहरी और भीतरी योगों पर निर्भर करती है। यह हिंसा का पथ अनेक प्रकार के भेद, प्रभेद वाला है। मार्गपक्ष में अनेक मार्गों वाले गहन वन की तरह संसार है। गहन का अर्थ कोश के अनुसार कष्ट भी होता है। इसलिए अनेक मार्ग होने से जो कष्टप्रद हो गया है ऐसा यह संसार है। इस गहन संसार को बहुत दुःख से पार किया जाता है इसलिए यह सुदुस्तर है। ऐसे संसार मार्ग में भ्रमण करने वाले किंकर्त्तव्यविमूढ़ जन को एक मात्र गुरुही दुःख के विनाश का उपाय बताने वाले हैं इसलिए वे ही शरणभूत हैं सहायक हैं। वे श्रुत के पारगामी निर्ग्रन्थ भट्टारक कहे जाते हैं। जैसे कि कहा है - '**गुरु में गु शब्द अन्धकार के अर्थ में और रु शब्द उसको निवारण करने अर्थ में है, इस प्रकार अज्ञान अंधकार को विनाश करने वाला होने से गुरु कहा जाता है।**' और उनकी क्या विशेषता है ? जिन्होंने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के भेदों

भावों का यह गहन वन, भटके फिरते मूढ़।
श्री गुरु ही इक शरण हैं, जानें नय, जो गूढ़॥५८॥

गुशब्द - स्त्वन्धकारे च रुशब्द - स्तन्निवर्तकः।
अन्धकार - विनाशित्वाद् गुरु-रित्यभिधीयते॥

ते च किं विशिष्टाः ? प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः प्रबुद्धाः परिज्ञाताः नयानां द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकमूलोत्तरभेदानां चक्रं समूहस्तस्य सञ्चाराः सं सम्यग्रीत्याचारा विचाराः प्रवर्तनं वा यैस्ते नयज्ञाः। अथवा नय एव चक्रं रथाङ्गं तस्य सञ्चाराः सञ्चरणविधयो यैः प्रबुद्धाः परिज्ञातास्तैरिति॥५८॥

अथ नयचक्रस्य विशेषताऽत्र विशिष्यते-

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्॥५९॥

मं.टी.- अत्यन्तेति। जिनवरस्य जिना गणधरदेवादयस्तेषु वरः श्रेष्ठः उत्कृष्टो वा जिनवरस्तस्य जिनेन्द्रभगवत इत्यर्थः। नयचक्रम् नयन्ति ते नया वस्तु परिच्छेत्तुं तेषां चक्रं समूहो रथाङ्गं वा। किं विशिष्टम् ? दुरासदं दुष्करमतिदुर्लभम्। पुनरपि कथम्भूतम् ? अत्यन्तनिशितधारं अत्यन्तं अतिप्रकर्ष प्राप्तो निशितोधारः तत्

को जाना है और उनके संचार अर्थात् सम्यक्रीति से विचार करने में प्रवृत्ति करते हैं ऐसे वे गुरु नय के ज्ञाता होते हैं। अथवा नय ही है चक्र जिनका तथा उसके संचार करने की विधि के जो ज्ञाता हैं वे गुरू ही मोक्षमार्ग में शरण होते हैं ॥५८॥

उत्थानिका-अब यहाँ नयचक्र की विशेषता प्रकट करते हैं-

अन्वयः-अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रं धार्यमाणं दुर्विदग्धानां मूर्धानं झटिति खण्डयति ॥

अन्वयार्थ-(अत्यन्तनिशितधारं) अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला (दुरासदं) बड़ी कठिनता से प्राप्त होने योग्य (जिनवरस्य नयचक्रं) जिनेन्द्र भगवान का नय रूपी चक्र (धार्यमाणं) धारण करने वाले (दुर्विदग्धानां) अज्ञानी जीवों के (मूर्धानं) मस्तक को (झटिति) शीघ्र ही (खण्डयति) खण्ड-खण्ड कर देता है ।

टीकार्थ- जिनेन्द्र भगवान् का अर्थात गणधर देवादि में जो श्रेष्ठ या उत्कृष्ट हैं ऐसे जिनवर का नयचक्र अर्थात् वस्तु स्वरूप को जानने का उपाय। क्या विशेषता वाला है ? दुरासद अर्थात् अत्यन्त दुष्कर है । और कैसा है ? अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला अर्थात् अत्यन्त तीक्ष्ण तलवार की तरह है, वह क्या करता है ? विवेक रहित जीवों के धारण करने से उनके शिर को शीघ्र ही खण्ड-खण्ड कर देता है ।''खण्ड खण्डने'' धातु से

दुर्लभ है बहु तीक्ष्ण है, जिनवर का नयचक्र।
जो धारे वह छेद दे, मूढ़बुद्धि पर चक्र॥५९॥

चकचकायमानखड्गमिवेति। तत्किमु करोतीत्याह-दुर्विदग्धानां विवेकविकलानां मूर्खाणाम्। धार्यमाणं धार्यत इति धार्यमाणस्तं धारणं कुर्वन्तमित्यर्थः। कर्मणि आनश्। मूर्धानं शिरः। झटिति क्रियाविशेषणं शीघ्रमित्यर्थः। खण्डयति खण्डीकरोति ''खण्ड खण्डने'' चुरादौ लट्। यथा चक्रं तच्चालयितुमज्ञानां मस्तकं पृथक् करोति तथा नयचक्रमपि गुरुजनसाहाय्येन विना स्वयमेव यद्वा तद्वा प्रवर्तमानानां बुद्धिमपथे प्रचलति। अथवा नयचक्रं मिथ्यावादिनां धार्यमाणं दुर्बुद्धिमपाकरोति यथा चक्रं बालिशानां मस्तकमिति॥५९॥

अथ हिंसाप्रकरणमुपसंहरन्नाह-

अवबुध्य हिंस्य - हिंसकहिंसा - हिंसाफलानि तत्त्वेन।

नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा॥६०॥

मं.टी. - अवबुध्येत्यादि - हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि -तत्र हिंस्यो हिंसितुं योग्यः द्रव्यभावप्राणसंघातः। हिंसां करोति स कर्ता हिंसकः स्यात्। ''निंदहिंसक्लिशखादविनाशिव्याभाषाऽसूयात्'' इति सूत्रात् वुञ् भवति

चुरादि गण के लट् लकार में प्रथम पुरुष में खण्डयति रूप बनता है। तथा कर्म में आनश् प्रत्यय करके धार्यमाण शब्द बनता है। जिस प्रकार चक्र चलाने से अनभिज्ञ लोग उससे अपना मस्तक काट लेते हैं उसी प्रकार नयचक्र भी गुरूजनों की सहायता के बिना स्वयं यद्वा तद्वा प्रवृत्ति करने वालों की बुद्वि को अपथ में चलाता है । अथवा मिथ्यावादियों के द्वारा धारण करने पर यह नयचक्र उनकी दुर्बुद्धि को दूर कर देता है , जैसे अज्ञानियों के मस्तक को चक्र दूर कर देता है ॥ ५९॥

उत्थानिका-अब हिंसा के प्रकरण का उपसंहार करते हुए कहते हैं-

अन्वयः- हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन अवबुध्य नित्यं अवगूहमानैः निजशक्त्या हिंसा त्यज्यताम्॥

अन्वयार्थ - (हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि) हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा के फल को (तत्त्वेन) अच्छी तरह से (अवबुध्य) जानकर (नित्यं अवगूहमानैः) निरन्तर संवर में उद्यम करने वाले पुरुषों को (निजशक्त्या) अपनी शक्ति के अनुसार (हिंसा) हिंसा (त्यज्यतां) छोड़नी चाहिए।

टीकार्थ- हिंस्य, हिंसक, हिंसा और हिंसा के फल को छोड़ना चाहिए । उनमें हिंसा करने के योग्य द्रव्य और भाव प्राणों को हिंस्य कहते हैं। हिंसा करने वाला कर्त्ता हिंसक कहलाता है । '**निन्दा हिंस क्लिश**' इत्यादि सूत्र से 'हिंस' शब्द से 'वुञ' प्रत्यय होकर उसके स्थान में 'अक' प्रत्यय होकर हिंसक शब्द बनता है।

क्या हिंसा क्या हिंस्य को, हिंसक, हिंसा-पाक।
समझ-समझ हिंसा तजो, आत्म बने तब पाक॥६०॥

ततो हिंसकः। स हिंसकः प्रमत्तो मतः। हिंसा क्रियाकारिकी हिंसनक्रिया प्राणविच्छेदनरूपा। हिंसाफलं भवक्लेशानुभवः। एतानि सर्वाणि। तत्त्वेन भावेन निश्चयव्यवहारनयस्य यथार्थपरिज्ञानेन। किं कृत्वा ? अवबुध्य परिज्ञाय। किं क्रियताम् ? त्यज्यतां मुच्यताम्। ''त्यजौ त्यागे'' कर्मणि लोट्। का सा ? हिंसा भवानुबंधिनीक्रिया। कैरिति चेत् ? अवगूहमानैः अवगूहन्त इति अवगूहमानास्तैः ''गुहृञ् संवरणे वर्तमाने शन्तृडानशाव'' इत्यादिना आनश् प्रत्ययः। हिंसां निरोद्धुं प्रयतमानैरित्यर्थः। नित्यं सर्वकालम्। कया ? निजशक्त्या स्वात्मशक्तिमवेक्ष्येति॥६०॥

प्रथमं तावत् किं त्यज्यतामिति निगदति -

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बर - फलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरत - कामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव॥६१॥

मं. टी. - मद्यमित्यादि - प्रथममेव आद्यमेव। मोक्तव्यानि त्यक्तव्यानि। कानि च तानि ? मद्यं मदिरा, मांसं पिशितं, क्षौद्रं क्षुद्रा मधुमक्षिका ताभिर्निवृत्तं क्षौद्रं मधु। पञ्चोदुम्बरफलानि पञ्चापि च तानि न्यग्रोधपिप्पलप्लक्षोदुम्बर फल्गूनामानि उदम्बरफलानि। केन विधिना ? यत्नेन बुद्धिपूर्वकेण। कैः पुरुषैः ? हिंसाव्युपरतकामैः हिंसातः व्युपरतिं निवृत्तिं कामयन्ते ते ''शीलीक्षिक्षम्काम्याचरभक्षेर्णः'' इत्यनेन णो भवति। तैर्हिंसापरित्यजन - शीलैरित्यर्थः॥६१॥

वह हिंसक प्रमत्त माना जाता है। हिंसा क्रिया करने वाली हिंसन क्रिया अर्थात प्राणों का वियोग करने वाली हिंसन क्रिया हिंसा कहलाती है। संसार के दुःख के अनुभव को हिंसा का फल कहते हैं। इन सबको वास्तविक रूप से अर्थात निश्चय और व्यवहार नय के यर्थाथ ज्ञान से जान करके छोड़ना चाहिए । हिंसा संसार को बढ़ाने वाली क्रिया है । संवर में उद्यमशील पुरूषों के द्वारा यह क्रिया छोड़ देनी चाहिए। हिंसा के निरोध में प्रयत्न करने वाले पुरूषों के द्वारा हमेशा के लिए अपनी शक्ति के अनुसार हिंस्य, हिंसक आदि चारों कार्यों का त्याग करना चाहिए॥६०॥

उत्थानिका- सबसे पहले किसका त्याग करना चाहिए इसके लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः- हिंसाव्युपरतकामैः प्रथममेव यत्नेन मद्यं मासं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि मोक्तव्यानि।

अन्वयार्थ-(हिंसाव्युपरतकामैः) हिंसा के त्याग की इच्छा करने वाले पुरूषों को (प्रथममेव) सबसे पहले (यत्नेन) यत्न पूवर्क (मद्यं मासं क्षौद्रं) मदिरा, मांस, शहद, (पञ्च-उदम्बर-फलानि) और पंच उदम्बर फलों को (मोक्तव्यानि) छोड़ देना चाहिए ।

टीकार्थ- सबसे पहले छोड़ना चाहिए । वे क्या हैं छोड़ने योग्य ? मदिरा, माँस, मधु मक्खियों द्वारा निर्मित शहद और पाँच उदुम्बर फल। बड़, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर ये पाँच उदुम्बर फल हैं। किस विधि से छोड़ने योग्य हैं ? बुद्धि पूर्वक । किन पुरूषों के द्वारा? हिंसात्याग की इच्छा करने वाले पुरूषों के द्वारा छोड़ने योग्य हैं ।

पंच उदुम्बर फल तजो, मधु मदिरा औ मांस।
हिंसा के ये घर महा, घर में भी अघ नाश॥६१॥

तत्राद्यकथितस्य मद्यस्य दोषानार्यात्रयेण चित्रयति -

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मं।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशंकमाचरति॥६२॥

मं.टी. - मद्यमित्यादि - मद्यं मदिरा। मनो हृदयं हिताहितविचारशक्तिस्तम्। मोहयति मूर्च्छति ''मृदोध्वर्थे णिज् बहुलं'' इत्यनेन साधु। मदिरापानं हिताहितविवेकं विनश्यतीत्यर्थः। पुनश्च किमु स्यात्तेन ? स च मोहितचित्तः मोहितं विस्मृतं मूर्च्छितं वा चित्तं यस्य स। तु अवधारणे। धर्मं कर्त्तव्यं ऐहिकामुत्रिकं च। विस्मरति तिरस्करोति। ''स्मृचिन्तायां लट्''। तेन किं भवति ? विस्मृतधर्मा विस्मृतः तिरस्कृतः धर्मो येन स तथोक्तः ''धर्मात् केवलादन्'' इत्यनेनान् भवति बहुव्रीहि समासे। जीवोऽसुभृत्। हिंसां अन्यामपि हिंसाक्रियां। अविशंकं निःशङ्कतया। आचरति विदधातीति परस्पर-सम्बन्धहेतुता भवति॥६२॥

अथ मद्यपानाद् मोहितो भूत्वा धर्मविस्मृतो हिंसायां प्रवर्तते आहोस्वित् मद्यपानादेव हिंसा जायत इत्याकूतं निवारयति -

---

हिंसा का परित्याग करने वाले उन पुरूषों के द्वारा तीन मकार और पाँच उदुम्बर फल छोड़ने योग्य हैं ॥६१॥

उत्थानिका-उपर्युक्त दोषों में आदि के मद्य के दोषों को तीन आर्या छन्दों के द्वारा प्रकट करते हैं -

अन्वयः- मद्यं मनो मोहयति मोहितचित्तस्तु धर्मं विस्मरति विस्मृतधर्मा जीवः अविशंकं हिंसा आचरति॥

अन्वयार्थ-(मद्यं मनो मोहयति) मदिरा मन को मूर्च्छित कर देती है (मोहितचित्तस्तु) मोहित चित्तवाला पुरूष(धर्मं विस्मरति) धर्म को भूल जाता है (विस्मृतधर्मा जीवः) धर्म को भूला हुआ जीव (अविशंकं) निःशंक होकर (हिंसां आचरति) हिंसा का आचरण करता है ।

टीकार्थ-मदिरा मन को अर्थात् हित अहित के विचार की शक्ति को मूर्च्छित करती है। मदिरापान से हिताहित का विवेक विनाश को प्राप्त हो जाता है। और उससे क्या होता है? मोहित है चित्त जिसका वह व्यक्ति धर्म को अर्थात् इस लोक-परलोक सम्बन्धी कर्त्तव्य को भूल जाता है ।'तु' शब्द अवधारणार्थक है। उससे क्या होता है ? विस्मरण किया है धर्म को जिसने ऐसा वह जीवों की हिंसा निःशंक होकर करता है। 'धर्मात् केवलादन्' इस सूत्र से 'अन्' प्रत्यय होकर धर्मन् शब्द से धर्मा शब्द बनता है॥६२॥

मदिरा से मन होश खो, भूले निज पर धर्म।
धर्म रहित उस जीव का, निश्चित हिंसा कर्म॥६२॥

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।

मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम्॥६३॥

मं. टी. - रसजानामिति। मद्यं हाला। योनिरुत्पत्तिस्थानं। इष्यते उच्यते ''इषु इच्छायां'' कर्मणि लट्। पूर्वाचार्यैरिति शेषः। केषाम् ? जीवानां जंगमानाम्। कति ? बहूनां असंख्यातसंख्यानाम्। किं विशिष्टानाम् ? रसजानां रसेषु तिक्तकटुकषायाम्लमधुराख्येषु पञ्चविधेषु जायन्ते उत्पद्यन्ते ते रसजाः। ''अन्येष्वपि दृश्यते'' ड प्रत्ययो जनेरितिवचनात्। अथवा रसो घृतादिः प्रथमो धातुविशेषो वा तत्र जायन्ते तेषाम्। एते रसजा जीवाः पञ्चेन्द्रियकाः सन्ति। ''पंचेन्द्रिया जीवा असंखेज्जासंखेज्जा अंडाइया पोदाइया जराइया रसाइया'' इति आगमात्। अथवा रसजानां च बहूनां त्रसस्थावराणां च जीवानां योनिरिष्यते। अत्र च परस्परसमुच्चये। ततो हि तेषां मद्यं भजतां ''भजौञ् सेवायां'' भजतीति भजन् तेषां शतृप्रत्ययात् मद्यपायिनामित्यर्थः। अवश्यं निश्चितं। हिंसा सञ्जायते। अतः मद्यपानादेव हिंसा सिद्धा भवति बहुजीवयोनिस्थानात्॥६३॥

उत्थानिका- अब मद्यपान से मूर्च्छित होकर धर्म को भूल जाने के कारण हिंसा में प्रवृत्ति करता है अथवा मद्यपान में ही हिंसा होती है, इस जिज्ञासा का निवारण करते हैं -

अन्वयः-बहूनां रसजानां जीवानां च योनिः मद्यं इष्यते मद्यं भजतां तेषां हिंसा अवश्यं सञ्जायते ॥

अन्वयार्थ-(बहूनां रसजानां जीवानां च) बहुत से रस में उत्पन्न हुए जीवों की (योनिः) योनि अर्थात् जीवोत्पत्ति का आधार (मद्यं इष्यते) मदिरा मानी गई है (मद्यं भजतां) मदिरा पीने वाले (तेषां) जीवों के (हिंसा अवश्यं सञ्जायते) हिंसा अवश्य होती है ।

टीकार्थ- पूर्वाचार्यों द्वारा मदिरा अनेक त्रस जीवों की योनि अर्थात् उत्पत्ति स्थान मानी गई है। मदिरा कौन से जीवों की उत्पत्ति स्थान मानी गई है ? त्रस जीवों की उत्पत्ति स्थान मानी गयी है । कितनी जीवों की योनि स्थान मानी गई है ? असंख्यातासंख्यात जीवों की उत्पत्ति स्थान मानी गई है । किस विशेषता वाले रसों में ? तिक्त, कटुक, कषाय, अम्ल, मधुर हैं नाम जिनके ऐसे पाँच प्रकार के रसों में जो उत्पन्न होते है उन्हें 'रसजा' कहते हैं । 'अन्येष्वपि दृश्यते' इस सूत्र से 'डा' प्रत्यय होकर 'रसजा' शब्द बना है । अथवा रस से तात्पर्य घृतादि रस अथवा प्रथम धातु विशेष से है । रस में उत्पन्न होने वाले जीवों को रसजा कहते हैं। इन रसों में उत्पन्न होने वाले जीवों को पञ्चेन्द्रिय होते है। ''**अण्डे से , पोत से , जेर से और रसों से उत्पन्न होने की अपेक्षा ये पञ्चेन्द्रिय जीव असंख्यात-असंख्यात हैं**'' ऐसा आगम का वचन है। अथवा रसजा अर्थात् रसों

सड़ा सड़ा रस से बनी, मदिरा में बहु जीव।
नित्य उपज मरते अतः, मदिरा हिंसा नींव॥६३॥

पुनश्च -

अभिमान-भयजुगुप्साहास्यारति-शोककामकोपाद्याः।

हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः॥६४॥

मं. टी. - अभिमानेत्यादि - अभिमानो दर्पः, भयं भीतिः, जुगुप्सा घृणा, हास्यः अट्टहासः, अरतिः उन्मनस्कता, शोको वैक्लव्यं, कामो मदनः, कोपः क्रोधः, एवमाद्याः हिंसायाः पर्यायाः भावहिंसारूपकत्वात्। एते सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः सरके मद्ये सन्निहिता गर्भिताः भवन्ति। ''सरकः स्यादविच्छिन्न-पान्थपंक्तौ शरे पुमान्। अस्त्रियां सीधुपाने च सीधुपात्रे च सीधुनि'' इति वि.लो.। अर्थात् मद्यपानादेते दोषाः सञ्जायन्ते। अत्र मद्यमुपलक्षणं विज्ञेयम्। येन पदार्थेनैते दोषाः सम्भवन्ति ते सर्वेऽपि भङ्गातमाखुसुलभादयोऽत्र गृह्यन्तामुन्मत्तताकारणत्वात्॥६४॥

अथार्याचतुष्केण मांसं दूषयन्नाह -

से उत्पन्न होने वाले पदार्थों को बहुत से त्रस स्थावर जीवों की उत्पत्ति का स्थान माना गया है। यहाँ 'च' शब्द समुच्चयवाची है । इसलिए मदिरा का सेवन करने वाले जीवों के द्वारा हिंसा अवश्य होती है । अनेक जीवों का योनिस्थान होने से मद्यपान से भी हिंसा सिद्ध होती है ॥६३॥

उत्थानिका-पुनः मदिरा के प्रभाव के विषय में बताते हैं -

अन्वयः-अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः हिंसायाः पर्यायाः च सर्वेऽपि सरकसन्निहिताः॥

अन्वयार्थ-(अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्याः) अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोध, आदि (हिंसायाः पर्यायाः) हिंसा की पर्यायें हैं (च सर्वेऽपि) और ये सभी (सरकसन्निहिताः) मदिरा के पास रहती हैं।

टीकार्थ- भाव हिंसा पूवर्क होने से अहंकार, भय, घृणा, हास्य अर्थात अट्टहास, अरति, अर्थात् खेदखिन्नता, शोक, मदन, क्रोध इत्यादि ये सभी हिंसा की पर्यायें हैं। अर्थात् एक मद्यपान करने से ही ये सभी दोष उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर मदिरा को तो उपलक्षण मात्र जानना चाहिए, किंतु जिस पदार्थ के सेवन से ये दोष उत्पन्न हैं वे सभी मूर्च्छा के कारण हैं- जैसे भांग, तम्बाकू, गुटका आदि का यहाँ ग्रहण करना चाहिए क्योंकि ये सभी उन्मत्तता के कारण हैं ॥६४॥

अरति हास्य भय या घृणा, शोक काम मद क्रोध।
हिंसा के ही भाव ये, मद्यप को क्या बोध॥६४॥

न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।

मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा॥६५॥

मं.टी. - **न विनेत्यादि** - यस्मात् कारणात्। प्राणिविघातात् विना प्राणिनां जीवानां विघातो नाशस्तस्मात् विना ''पृथग्नानाविनाभिस्तृतीया वा।'' वा शब्देन विकल्पतः पञ्चमीविधानात् साधु। किं न स्यादित्याह ? मांसस्य उत्पत्तिर्न इष्यते। तस्मात् हेतोः। मांसं भजतः सेवमानस्य। हिंसा अनिवारिताऽवश्यमेव प्रसरति जायते। ननु च वनस्पतिकायिकजीवानां विघातो वनस्पतिभक्षणेऽपि स्यात्तेन न कोऽपि विशेषो वनस्पतिमांसयोस्तत्राप्यनन्त-जीवघातोपदर्शनात् ? तन्न युक्तं, वनस्पतिभक्षणे जीवविराधना नियमेन स्यात्तदपि पत्रादिकानां मांसशब्देन ख्यातिर्न ख्याता। द्वीन्द्रियादारभ्य मांसशब्दस्याख्यातेः स्वीकृतत्वात्। तथा चोक्तम् -

त्रसानां तनुर्मांसनाम्ना प्रसिद्धा यदुक्तिश्च विज्ञेषु नित्यं निषिद्धा।

सुशाकेषु सत्स्वप्यहो तं जिघांसुर्धिगेनं मनुष्यं परासृक्पिपासुम्॥

उत्थानिका- अब चार आर्या छन्दों के द्वारा मांस के दोष बतलाते हैं -

अन्वयः- यस्मात् प्राणविघातात् विना मांसस्य उत्पत्तिः न इष्यते तस्मात् मांसं भजतः हिंसा अनिवारिता प्रसरति॥

अन्वयार्थ- (यस्मात्) जिस कारण (प्राणविघातात् विना) जीवों के प्राणों का घात किये बिना (मांसस्य उत्पत्तिः न इष्यते) मांस की उत्पत्ति नहीं हो सकती (तस्मात्) इसलिए (मांसं भजतः) मांस का सेवन करने वाले पुरूष से (हिंसा अनिवारिता प्रसरति) हिंसा निश्चित रूप से होती है।

टीकार्थ-जीवों के घात बिना मांस की उत्पत्ति नहीं होती है। 'पृथग्नानाविनाभिस्तृतीया वा' इस सूत्र से बिना के योग में तृतीया विभक्ति होती है किन्तु 'वा' शब्द विकल्पवाची होने से पञ्चमी विभक्ति का भी प्रयोग होता है। इसलिए मांस का सेवन करने वाले जीवों के हिंसा अवश्य ही होती है ।

शंका -वनस्पतिकायिक जीवों का घात वनस्पति के खाने में भी होता है इसलिए वनस्पति में और मांस के भक्षण में कोई विशेष अन्तर नहीं है, क्योकि वनस्पति में भी अनन्त जीवों का घात देखा जाता है ?

समाधान- आपका ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वनस्पति के भक्षण करने पर जीवों की विराधना नियम सें होती है तो भी पत्रादि में मांस शब्द की प्रसिद्धि नहीं है। किन्तु दो इन्द्रिय से लेकर (पंचेन्द्रिय तक) मांस शब्द की प्रसिद्धि आगम में स्वीकार की गयी है । जैसा कि **जयोदय महाकाव्य** में कहा है -'**त्रस जीवों**

प्राणिघात के बिन कहो, मांस कहाँ से आय।
मांसभोजि क्या फिर अहो, हिंसारहित कहाय ॥६५॥

किञ्च यथा यथा जीवेषु इन्द्रियादिवृद्धिस्तथा-तथा तेषां विघाते हिंसावृद्धिरधिका स्यादधिकप्राणव्यपरोपणदर्शनात्। अपरञ्च मांसपिण्डस्तु त्रसानां जीवानां कलेवरं न तथा वनस्पतिशाको व्याप्तेरभावात्। यथा वृक्षमात्रेणाम्रवृक्षा एव सर्व इति नादीयन्ते किन्त्वाम्रवृक्षस्यैव वृक्षत्वेनोक्तिस्तथा खलु जीवमात्रेण मांसं न सम्भवति किन्तु मांसमेव जीवत्वेनोच्यते। तस्मादायाति यत्र यत्र मांसं तत्र तत्र जीवः, प्रत्युत यत्र यत्र जीवस्तत्र तत्र मांसमिति न घटते स्त्रीमात्रे भगिनीवनिताव्यवहारादर्शनवद्वा। ये तु मांसभक्षणविरतास्ते न तानि वस्तूनि भक्षयन्ति येषु त्रसजीवानामुत्पत्तिरपि स्यात् मांसदोषापत्तेः। ततोऽगालितजलघटिकाद्वयोपरान्तामदुग्धामर्यादितयवगोधूम-चूर्णसक्तुकणिकाचारचर्मधृतघृततैल-हिंगद्विदलदोषदधिवाटकपणकक्रीतजलशीतपेयपावरोटिकामिष्टान्नादयो मांसत्यागिना परिहरणीया॥६५॥

यदि प्राणिविघातान्मांसोत्पत्तौ हिंसा स्यात्तर्हि स्वयमेव मृतस्य तद्भक्षणे च को दोष इति प्रलपन्तमाह-

---

का शरीर मांस नाम से प्रसिद्ध है, इसलिए ज्ञानियों ने मांसभक्षण का निषेध किया है। समीचीन सब्जियों के रहते हुए भी जो मनुष्य पर जीवों का खून पीना चाहता है उसे धिक्कार है।' तथा जैसे जैसे जीवों में इन्द्रियादि की वृद्धि होती जाती है वैस-वैसे उनका विघात करने पर हिंसा की वृद्धि अधिक होती जाती है क्योंकि अधिक-अधिक प्राणों का विघात होता है। त्रस जीवों के कलेवर से मांसपिण्ड होता है, वनस्पति शाक में मांस पिण्ड नहीं होता क्योंकि ऐसी व्याप्ति का अभाव है। जैसे वृक्ष, कहने मात्र से आम के ही सभी वृक्ष हैं ऐसा ग्रहण नहीं किया जाता किन्तु आम्र वृक्ष की ही वृक्ष रूप उक्ति है। उसी प्रकार जीव मात्र के कहने से सभी जीवों के मांस संभव नहीं होता, किन्तु मांस कहने मात्र से ही जीव को ग्रहण किया जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जहाँ-जहाँ मांस है वहाँ-वहाँ जीव है। किंतु जहाँ-जहाँ जीव है वहाँ मांस है ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं है। जैसे स्त्री कहने मात्र से पत्नि और बहन का व्यवहार नहीं देखा जाता है।

जो जीव मांसभक्षण के त्यागी हैं वे जीव उन वस्तुओं का भक्षण भी नहीं करते जिनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है अन्यथा मांसदोष की आपत्ति होती है। इसलिए अनछना पानी अथवा छना हुआ पानी भी दो घड़ी (४८मिनिट) के बाद अनछना हो जाता है, उसे तथा कच्चा दूध, अमर्यादित जौ का आटा, गेहूँ का आटा सत्तु, आचार, चमड़े के पात्र में रखे घी, तैल, हींग, द्विदल के दोष वाली वस्तुएँ, खरीदा हुआ शीतलपेय, पावरोटी,मिष्ठान्न आदि वस्तुओं का त्याग करना चाहिए ॥६५॥

यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।

तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्॥६६॥

मं.टी. - **यदपीत्यादि** - मृतस्य स्वयमेवायुःक्षयेण पतितकलेवरस्य। कस्य ? महिषवृषभादेः महिषश्च वृषभश्चादौ येषां छागमत्स्यमेढादीनां तस्य। मांसं पिशितं। यदपि यद्यपि। किल निश्चयेन। भवति जायते। तत्रापि तन्महिषादिमांसेऽपि। हिंसा भवति नियमेन। कस्मान् कारणादित्याह-तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्-तत्मांसं तस्याश्रिता ये निगोता लब्ध्यपर्याप्तकाः सम्मूर्च्छिनो जीवास्त्रसाः स्थावराश्च तेषां निर्मथनं संघट्टनं पीडनं वा तस्मादनन्तजीवघातवशादित्यर्थः। अतः मृतस्य कलेवरस्याशनेभ्योऽपि निवर्तेतेति भावः॥६६॥

यथाऽग्न्यादिपक्वा वनस्पतयो भक्षणीया भवन्ति तथा न मांसं कथमित्याह -

---

उत्थानिका- यदि जीवों के घात में मांस की उत्पत्ति होने पर हिंसा होती है तो मरे हुए जीव का मांस भक्षण करने में क्या दोष है ऐसा कहने वालों के लिए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः- यदपि मांसं स्वयं एव मृतस्य महिषवृषभादेः भवति तत्रापि तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् किल हिंसा भवति ॥

अन्वयार्थ- (यदपि) यद्यपि (मांसं स्वयं एव मृतस्य) मांस अपने आप मरे हुए (महिषवृषभादेः अपि भवति) भैंस, बैल आदि जीवों का भी होता है (तत्रापि) उसमें भी (तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्) उस मांस के आश्रित निगोद जीवों का घात होने से (किल हिंसा भवति) वास्तव में हिंसा होती है।

टीकार्थ- यद्यपि अपने आयु कर्म के क्षय से पतित हुए या मरे हुए भैंस, बैल, बकरी, मछली, भेड़ आदि के शरीर का भी मांस होता है किंतु उसमें भी हिंसा नियम से होती है, क्योंकि उनके आश्रित रहने वाले निगोदिया जीवों का घात होता है अर्थात् उस मांस के आश्रित रहने वाले लब्धपर्याप्तक सम्मूर्च्छन त्रस और स्थावर निगोदिया जीवों का निर्मथन होने से अनन्त जीवों का घात होता है। इसलिए मरे हुए जीवों का मांस खाने का भी त्याग करना चाहिए। यह कथन का तात्पर्य है ॥६६॥

स्वयं मरे महिषादि का, होता यद्यपि मांस।
फिर भी उसमें पाप है, जीव निगोद विनाश॥६६॥

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु।

सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्॥६७॥

मं. टी. - आमास्वपीत्यादि - मांसपेशीषु मांसस्य पेशयः खण्डास्तासु। कथम्भूतासु ? आमास्वपि आमासु अपक्वासु अपि। पक्वास्वपि अग्न्यादिविधानेनात्योष्णीभूतासु अपि। तथा विपच्यमानासु विशेषेणाग्नौ धृत्वा सदाकालं पच्यमानासु पक्वक्रियायां प्रवर्तमानासु इति। तथापि तज्जातीनां तद्वर्णगन्धरसस्पर्शगुणत्वेन पञ्चेन्द्रियादिमांसजातीनां। निगोतानां लब्ध्यपर्याप्तकानाम्। सातत्येन अविरलरूपेण। उत्पादः उत्पत्तिः। भवतीति क्रियाध्याहारः। प्रामाण्यमिदं वचनं यतश्चोक्तम् -

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मांसपेसीसु।

संत्ततिय - मुववादो तज्जादीणं णिगोदाणाम्॥

निगोता एव निगोदाः शब्दभेदेऽप्यर्थाभेदात्। द्वीन्द्रियादीनां तज्जातीनां लब्ध्यपर्याप्तका निगोतनाम्ना व्याख्यायन्ते

उत्थानिका- जैसे अग्नि आदि से पकी हुई वनस्पति खाने योग्य होती है उस प्रकार मांस क्यों नहीं होता?

अन्वयः-आमासु पक्वासु अपि विपच्यमानासु अपि मांसपेशीषु तज्जातीनाम् निगोतानां सातत्येन उत्पादः॥

अन्वयार्थ -(आमासु) कच्ची, (पक्वासु अपि) पकी हुई भी (विपच्यमानासु अपि) पकति हुई भी (मांसपेशीषु) मांस की डलियों (टुकड़ों) में (तज्जातीनां) उसी जाति के (निगोतानां) निगोदिया जीवों की (सातत्येन) निरन्तर (उत्पादः) उत्पत्ति होती है ।

टीकार्थ-मांस के खण्डों के कच्चे होने पर या अग्नि आदि में पकाये जाने पर अथवा अग्नि में रख कर निरन्तर पाक क्रिया के होने पर भी उस जाति के वर्ण, गंध, रस स्पर्श गुण से युक्त पंचेन्द्रियादि मांस जाति के लब्ध्यपर्याप्तक निगोदिया जीव निरन्तर उत्पन्न होते हैं। ऐसा आगम भी में कहा है-

'पके हुए भी , कच्चे होने पर या पक रहे मांस के टुकड़ों में उस जाति के निगोदिया जीव निरन्तर उत्पन्न होते है '।

कच्चा हो या पक रहा, पका हुआ या मांस।
उसी जाति के जीव का, सतत निगोद निवास॥६७॥

निगोदास्तु सर्वसामान्या इति न वक्तव्या, सर्वसामान्यसाधारणजीवराशयोपि निगोतनाम्ना प्रख्यापनात् –

सन्त्येवानन्तशो जीवा हरिष्वंकुरादिषु।
निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभिः श्रुतं वचः॥

इत्यार्षः। ''हरितान्याश्रितानन्तानिगोतानि'' इत्याशाधरः। ''यत्रैकसूक्ष्मनिगोतजीवस्तिष्ठति तत्रानन्तानन्ताः साधारणशरीरा वसन्ती।'' त्यकलंकदेवः। तेन वाचकयोर्निगोतनिगोदयोरभेदसिद्धिः। अत्र निगोतनाम्ना त्रसानां लब्ध्यपर्याप्तकानां ग्रहणं सर्वसामान्यलब्ध्यपर्याप्तकजीवविवक्षायामिति विशेषः॥६७॥

अथास्तां भक्षणं मांसस्य स्पर्शनमपि पापप्रदमिति प्रतिपाद्यते–

आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्॥६८॥

मं.टी. – आमामित्यादि – यः कश्चिद् जनः। पिशितपेशीं मांसखण्डं। आमां अपक्वाम् वा अथवा पक्वां वा। खादति भुङ्क्ते। वा अथवा यः स्पृशति करेण स्पर्शनमपि करोति। स जीवः। किं कुरुते ? निहन्ति घातयति ''हनौ हिंसागत्योः'' लट्। कमितिचेत् ? पिण्डं मांसखण्डं। किं विशिष्टम् ? सततनिचितं सततं निरन्तरं निचितं

निगोत ही निगोद है, शब्दभेद होने पर भी अर्थ भेद नहीं है। उस जाति के द्वि इन्द्रियादि लब्ध्यपर्याप्तक जीवों की निगोत संज्ञा है और निगोद जीव सर्व सामान्य है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि सर्व सामान्य साधारण जीव राशि भी निगोत नाम से कही जाती है। जैसा की **आदि पुराण** में कहा है –**सर्वज्ञदेव के श्रुत में हम सबके लिए कहा है कि 'हरित अंकुरादि में निरन्तर अनन्त निगोद जीव होते हैं '।**

''**हरित वनस्पति के आश्रित अनन्त निगोत जीव रहते हैं**'' ऐसा **सागार धर्मामृत** में भी कहा है । '**जहाँ पर एक सूक्ष्म निगोत जीव रहता है वहाँ पर अनन्तानन्त साधारण शरीर वाले निगोदिया जीव निवास करते है**''। ऐसा **भट्टाकलंक देव** ने कहा है। इसलिए निगोत और निगोद में अर्थ की अपेक्षा सिद्ध है। यहाँ पर सर्व सामान्य लब्धयपर्याप्तक जीव की विवक्षा में निगोत नाम से लब्ध्यपर्याप्तक त्रस जीवों का ग्रहण करना चाहिए ॥६७॥

उत्थानिका– अब मांस भक्षण की बात तो दूर रहे, किंतु मांस का स्पर्श भी पाप को देने वाला है, ऐसा कथन करते हैं –

अन्वयः– यः आमां वा पक्कां वा पिशितपेशीम् खादति वा स्पृशति सः बहुजीवकोटीनां सततनिचिंत पिण्डं निहन्ति ॥

अन्वयार्थ– (यः) जो (आमां) कच्चे (वा) अथवा (पक्कां वा) पके हुए (पिशितपेशीम्) मांस के टुकड़े को (खादति वा) खाता है अथवा (स्पृशति) स्पर्श करता है (सः बहुजीवकोटिनां) वह अनन्त जीवों के (सतनिचितं) निरन्तर संचित हुए (पिण्डं निहन्ति) पिंड को नष्ट कर देता है ।

कच्चा पक्का मांस जो, खाये, रहा पिशाच।
छू लेता जो मांस को, कोटि जीव को आँच ॥६८॥

संचितं जीवपिण्डकं यत्र तत्। राशिम्। कति संख्योपेतानाम् ? बहुजीवकोटीनां बहूनामनन्तसंख्यानां जीवराशीनाम्। अथवा कोटिशब्दोऽत्रसंख्यावाचकः ''कोटि संख्याप्रकर्षयोः'' इत्यभिधानात् तेन बहुजीवसंख्यानामित्यर्थः। उक्तञ्च –

जो पक्कमपक्कं वा पेसी मंसस्स खादि पासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंडं जीवणमणेगकोडीणं॥

अथ मधुदोषं प्ररूपयन्नाह –

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम्॥६९॥

मं.टी. – **मध्वित्यादि** – लोकेऽस्मिन् जगति। यः कश्चन। मूढधीकः मूढा धीर्बुद्धिर्यस्य स ''इवे खु प्रतिकृत्योः कः'' इत्यनेन मूढधीः इवायं मूढधीकः इवार्थे कप्रत्ययात् मूर्ख इत्यर्थः। भजति सेवते। स जनः। हिंसकः हिंसां करोति सः। अत्यन्तं नितान्तं। भवति अस्ति। कथमिति चेदित्याह–मधुशकलमपि मधोः शकलं

टीकार्थ– कोई व्यक्ति मांस के टुकड़े को कच्चा अथवा पका हुआ खाता है अथवा हाथ से स्पर्श करता है तो वह व्यक्ति उस मांस खण्ड में उत्पन्न होने वाली अनन्त जीव राशी का घात करता है ।

प्रकर्षता की अपेक्षा कोटी शब्द संख्यावाची है ऐसा कोशकारों का कथन है, इसलिए कोटी शब्द से बहुत जीवों की संख्या समझनी चाहिए । जैसा की कहा है **जो जीव पके अथवा कच्चे मांस का भक्षण करता है या स्पर्श करता है वह नियम से अनेक कोटि जीवों के पिण्ड का घात करता है ॥६८॥**

उत्थानिका – अब मधु (शहद) के दोषों का प्ररूपण करते हैं –

अन्वयः– लोके मधुशकलमपि प्रायः मधुकरहिंसात्मकं भवति यः मूढधीकःमधु भजति सः अत्यन्तं हिंसकः भवति।।

अन्वयार्थ– (लोके) लोक में (मधुशकलमपि) मधु का एक छोटा सा टुकड़ा भी (प्रायः) बहुधा (मधुकर हिंसात्मक भवति) मधुमक्खियों की हिंसा से प्राप्त होता है(यःमूढधीकः) जो मूढ बुद्धिवाला (मधु भजति) मधु का सेवन करता है (सः अत्यन्तं हिंसकः भवति) वह अत्यन्त हिंसक होता है ।

टीकार्थ –इस लोक में जो मूढ़ बुद्धि मधु का सेवन करता है वह हिंसा अवश्य ही करता है । मधु की एक बिन्दु का भी भक्षण करने पर वह मधुमक्खियों की हिंसा का कर्त्ता होता है क्योंकि मधु की उत्पत्ति उनकी हिंसा के बिना संभव नहीं है । साँसी, म्लेच्छ, व्याध (भील) आदि कुलों में उत्पन्न होने वाले लोगों के द्वारा मधु का सेवन किया जाता है किन्तु सभ्य पुरूषों के द्वारा उसका सेवन नहीं किया जाता है , क्योंकि उसकी उत्पत्ति निर्दयता पूर्वक होती है और वह मद को उत्पन्न करता है ।

मधुमक्खी के घात बिना, शहद न उपजा जाय।
एक शहद की बूंद में, हिंसा पाप अथाह ॥६९॥

विकलं खण्डं लेशोऽपि। प्रायः बाहुल्ये। मधुकरहिंसात्मकं मधु करोति जनयति स मधुकरो मक्षिकस्तेषां हिंसात्मकं हिंसारूपं भवति। अर्थात् मधुबिन्दोरपि भक्षणे मधुकराणां हिंसायाः पापभाक् स्यादिति तद्धिंसां विना तदनुत्पत्तेः। सांशिम्लेच्छव्याधकुलजैः सेव्यते न तु सभ्यैर्निर्दयत्वेनोत्पादकत्वान्मदजनकत्वाद्वा मधु॥६९॥

अथाविधाय हिंसामपि मधु न स्पृशेदित्याह -

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्॥७०॥

मं.टी. - स्वयमित्यादि - यः कश्चित् पुरुषः स्वयमेव अनायासेन हिंसामकुर्वन्नपि। विगलितं क्षरितम्। वा अथवा। छलेन अन्येन पातितं। गोलात् माक्षिकात् गुडपिण्डात्। मधु क्षौद्रं। गृह्णीयात् स्वीकुर्यात्। ''गृहि उपादाने'' वि.लि.। तत्रापि तस्मिन् कार्येऽपि। हिंसा भवति। कस्मात् कारणादिति चेत् ? तदाश्रयप्राणिनां मधुबिन्दुमात्राश्रयभूतजीवानां घातात् विनाशादिति। तदुक्तञ्च -

महु आसायउ थोडउ वि णासइ पुण्णु बहुत्तु।
वइसाणरहं तिडिक्कडउ काणणु डहइ महंतु॥

मूढधीकः-मूढ़ है बुद्धि जिसकी ऐसा मूर्ख व्यक्ति, 'इव' अर्थ में 'क' प्रत्यय हुआ है ।

शकल-टुकड़ा, विकल, खण्ड, लेश आदि सभी एकार्थवाची हैं ।

मधुकर -मधु (शहद) को उत्पन्न करने वाले को मधुकर अर्थात् मधुमक्खियों को मधुकर कहते हैं ॥६९॥

उत्थानिका- अब कहते हैं कि मधुमक्खियों की हिंसा किये बिना भी मधु का स्पर्श नहीं करना चाहिए।

अन्वयः- यः गोलात् स्वयमेव विगलितं वा छलेन मधु गृह्णीयात् तत्रापि तदाश्रयप्राणिनां घातात् हिंसा भवति ॥

अन्वयार्थ- (यः) जो पुरूष (गोलात्) मधु के छत्ते से (स्वयमेव विगलितं) अपने आप ही गिरे हुए (वा छलेन) अथवा छल से गिराये हुए (मधु) मधु को (गृह्णीयात्) ग्रहण करता है (तत्रापि) वहाँ पर भी (तदाश्रयप्राणिनां) उसके आश्रित रहने वाले प्राणियों के (घातात्) घात से (हिंसा भवति) हिंसा होती है।

टीकार्थ- कोई पुरूष मधु के पिण्ड से हिंसा किये विना स्वयं ही गिरी हुई अथवा अन्य के द्वारा छल से गिराई हुई शहद को ग्रहण करता है तो भी उस कार्य में हिंसा होती है ।

किस कारण से हिंसा होती है ? मधु की बिन्दु के आश्रयभूत जीवों का घात होने से हिंसा होती है जैसा कि कहा है -'**थोड़ा भी मधुभक्षण बहुत पुण्य का नाश करता है । जिस प्रकार अग्नि की छोटी सी चिनगारी भी बहुत बड़े जंगल को जला देती है**' ॥७०॥

स्वयं पतित मधु बूंद को, छल कर किसी प्रकार।
शहद बनाता बेचता, वह हिंसक साकार ॥७०॥

अथैता अपि विकृतयः सन्ति ताश्च त्याज्या इति कथयति -

मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।

वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र॥७१॥

मं.टी. - मध्वित्यादि - मधु क्षौद्रं। मद्यं मदिरा। नवनीतं नवोद्घृतम्। पिशितं मांसं। च समुच्चये। इमाः महाविकृतयः महती सा चासौ विकृतिस्ताः महानर्थकराश्चतुर्मकारा विज्ञायन्ते। ततः किं ? न वल्भ्यन्ते न सेव्यन्ते ''वल्भभक्षणे'' कर्मणि लट्। केन ? व्रतिना अष्टमूलगुणधार्यमाणेन तत्र किमित्याह-तत्र मकारेषु तद्वर्णाः तन्मधुमद्यनवनीतपिशितवर्णवन्तो जन्तवः सन्तीति क्रियाध्याहारः मधु प्राणेन्द्रियासंयमं मद्यं स्त्री प्रसङ्गं नवनीतं गृद्धि मासं दर्पं जनयपति। उक्तञ्च-

चत्तारि महावियडीओ होंति णवणीदमज्जमंसमहू।

कंखापसंगदप्पाऽसंजमकारीओ एदाओ॥७१॥

उत्थानिका-अब कहते हैं कि मधु को आदि लेकर जितनी भी वस्तुएँ विकृति पैदा करती हैं वे सभी छोड़ने योग्य हैं -

अन्वयः-मधु मद्यं नवनीतं च पिशितं महाविकृतयः ताः व्रतिना न वल्भ्यन्ते तत्र तद्वर्णाः जन्तवः (संति)।

अन्वयार्थ-(मधु मद्यं नवनीतं) मधु, मदिरा, मक्खन,(च पिशितं) और मांस (महाविकृतयः) महाविकृतियाँ हैं इसलिए (ताः) वे चार (व्रतिना न वल्भ्यन्ते) व्रती पुरूषों के द्वारा सेवन नहीं की जाती हैं क्योंकि (तत्र) उनमें (तद्वर्णाः) उसी वर्ण वाले (जन्तवः) जीव उत्पन्न होते हैं।

टीकार्थ - मधु, मदिरा, मक्खन और मांस ये चारों मकार महाविकृतियाँ हैं जो महा अनर्थ करने वाली हैं। अष्ट मूलगुण को धारण करने वाले व्रती के द्वारा ये भक्षण करने योग्य नहीं हैं, क्योंकि उन मकारों में अर्थात् मधु, मद्य, मक्खन और मांस में उसी वर्ण वाले जीव उत्पन्न होते हैं। सन्ति इस क्रिया का यहाँ अध्याहार करना चाहिए। मधु-प्राण, असंयम को उत्पन्न करता है। मद्य-स्त्री विषय में प्रवृति उत्पन्न करता है । नवनीत-गृद्धि को उत्पन्न करता है और मांस-मद उत्पन्न करता है कहा भी है - चार महाविकृतियाँ होती हैं। मक्खन, मद्य, माँस और मधु । ये गृद्धि, प्रसंग, दर्प और असंयम उत्पन्न करते हैं ॥७१॥

मधु मदिरा माखन तथा मांस मकार हि चार।
जो खाये चउ गति फिरे, जीव अगार विकार ॥७१॥

अथ पञ्चोदुम्बरफलानि प्रागुक्तानि किं नामानीति वर्णयन्नाह-

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोध - पिप्पलफलानि।

त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा॥७२॥

मं.टी. - योनिरित्यादि - यस्माच्च त्रसजीवानां द्वीन्द्रियादीनाम्। योनिरुत्पत्तिस्थानं। उदुम्बरयुग्मं उदुम्बराणां उदुम्बरकाठोम्बरिकानां युग्मं युगलं ग्रहणं कृतम्। उदुम्बरो हि ऊमरस्य नाम तन्मुख्यत्वात् पञ्चोदुम्बरफलानि प्रोक्तानि भवन्ति। यद्यपि ''उदुम्बरो जन्तुफलो यज्ञाङ्गो हेमदुग्धक'' इत्यूमरस्यानर्थान्तरं तथाप्यत्रोदुम्बरयुग्मेन ऊमरश्च काठोम्बरिका च गृहीता। प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि प्लक्षो जटी पर्कटी वा पाकरस्य नामानि, न्यग्रोधो वटो रक्तफलो वेति यावत्, पिप्पलः अश्वत्थः। फलशब्दः प्रत्येकं परिसमाप्यते। प्लक्षफलं न्यग्रोधफलं पिप्पलफलमिति। प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च पिप्पलश्च प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलाः इतरेतरद्वन्द्वात्। एते च तानि फलानि तथोक्तानि कर्मधारयसमासात्। तस्मात् कारणात्। तेषां व्रतिनां। तद्भक्षणे तत् खादिते। हिंसा स्यादिति तेभ्यो निवृत्तिरेव कार्या॥७२॥

उत्थानिका-पूर्व में कहे हुए पाँच उदुम्बर फल किस नाम वाले हैं ? इनका वर्णन करते हुए आगे का सूत्र कहते हैं-

अन्वयः-उदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि त्रसजीवानां योनिः तस्मात् तद्भक्षणे तेषां हिंसा।

अन्वयार्थ -(उदुम्बरयुग्मं) ऊमर और कठूमर (प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि) पाकर, बड़ और पीपल के फल (त्रसजीवानां योनिः) त्रस जीवों की योनि स्वरूप हैं (तस्मात्) इसलिए (तद्भक्षणे) उनके भक्षण करने में (तेषां हिंसा) उन त्रस जीवों की हिंसा होती है ।

टीकार्थ - त्रस जीवों (द्वि-इन्द्रियादि) के उत्पत्तिस्थान स्वरूप ऊमर और कठूमर इन दोनों का ग्रहण किया जाता है । ऊमर की मुख्यता होने से पंचोदुम्बर फल का कथन किया है। यद्यपि उदुम्बर, जन्तुफल, यज्ञाङ्ग, हेमदुग्धक ये ऊमर के पर्यायवाची नाम हैं फिर भी यहाँ पर उदुम्बर युग्म से ऊमर कठूमर को ग्रहण किया है। पाकर, प्लक्ष, जटी, पर्कटी ये पाकर के पर्यायवाची नाम हैं । न्यग्रोध वट या रक्तफल को कहते हैं। पिप्पल पीपल इसको अश्वत्थ भी कहते हैं। फल शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। जैसे प्लक्ष फल, न्यग्रोध फल, पिप्पल फल इत्यादि। व्रतियों द्वारा इनका भक्षण किये जाने पर हिंसा होती है इसलिए इन फलों के सेवन का त्याग ही करना चाहिए ॥७२॥

बड़ पीपल पाकर तथा, ऊमर कठुमर जान।
पंच उदुम्बर फल कहे, त्रस जीवों की खान॥७२॥

यथा कानिचित् वनस्पतिफलानि शुष्काणि भक्ष्याणि सन्ति न तथोदुम्बर - फलानीति निषिध्यन्ते-

यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।

भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात्॥७३॥

मं.टी. - यानीत्यादि - पुनश्च यानि फलानि। कालोच्छिन्नत्रसाणि कालेन समयबाहुल्येन उच्छिन्नानि निर्गतानि त्रसाणि येभ्यस्तानि। अपि च त्रसमिति नपुंसकत्वं कथं पुंसत्वाभ्युपगमात् ''द्वीन्द्रियादयस्त्रसा'' इति प्रामाण्यात् ? तन्न विरुद्धमुभयवचनात्।'चरिष्णुजङ्गमचरं त्रसमिङ्गं चराचरमि' त्यमरः तेन नपुंसकत्वमनवद्यम्। तस्माद्धि शुष्काणि शुष्कीभूतानि भवेयुः। तानि फलानि। अपि चैव। भजतः भजतीति भजन् शतृप्रत्ययः तस्य सेवमानस्य। हिंसा स्यात्। कथमिति चेदिति हेतुरुच्यते यतः सा हिंसा विशिष्टरागादिरूपा ततः। विशिष्टस्तीव्रः स चासौ रागः आदिर्यासां लोभगृद्धताकांक्षायां तासां तद्रूपा तन्मया सा स्यात् अथवा शिष्टेषु साधुषु या रागादिरूपा परिणतिस्तस्या विहीना रहिता सा तथाविधा हिंसा स्यात् शिष्टजनानामयोग्या इत्यर्थः॥७३॥

उत्थानिका-जैसे कुछ वनस्पति सुखाये जाने पर खाने के योग्य हो जाती हैं वैसे उदुम्बर फल सुखाये जाने पर भी खाने के योग्य नहीं होते हैं, ऐसा कथन करते हैं -

अन्वयः-पुनः यानि शुष्काणि तु कालोच्छिन्नत्रसाणि भवेयुः तानि अपि भजतः विशिष्ट रागादिरूपा हिंसास्यात्॥

अन्वयार्थ-(पुनः) फिर (यानि) जो फल (शुष्काणि तु) सूख गये हैं (कालोच्छिन्नत्रसाणि भवेयुः) काल पाकर त्रस जीवों से रहित हो गये हैं (तानि अपि) उनका भी (भजतः) सेवन करने वालों को (विशिष्टरागादिरूपा) विशिष्ट रागादि रूप (हिंसा स्यात्) हिंसा होती है।

टीकार्थ- जो फल समय पाकर त्रस जीवों से रहित भी हो जाते हैं तो भी उनका सेवन करने वाले जीवों को हिंसा होती ही है।

शंका- सूत्र (श्लोक) में त्रस शब्द नपुंसक लिङ्ग में रखा है किन्तु पुलिंग माना है जैसा कि तत्वार्थ सूत्र में 'द्वीन्द्रियादयस्त्रसा' ऐसा प्रयोग किया गया है?

समाधान - त्रस शब्द को अमर कोश इत्यादि में दोनों लिङ्गों में स्वीकार किया गया है इसलिए यहाँ नपुंसक लिङ्ग लिखने में कोई विरोध नहीं है।

शंका - शुष्क फलों के सेवन से हिंसा कैसे हो सकती है ?

समाधान-तीव्र राग, लोभ, गृद्धता, आकांक्षा आदि होने से हिंसा होती है अथवा वे फल शिष्टजनों के खाने योग्य नहीं होते हैं क्योंकि उस प्रकार की राग परिणति सभ्यों में नहीं पाई जाती है ॥७३॥

पड़े-पड़े जो सूख के, जीव रहित हो जाय।
वह खाना भी पाप है, तीव्र राग पर्याय ॥७३॥

कथं तावद्धर्मदेशनाप्रसङ्गे त्यागादानोपदेशो व्यवहारव्यपदेशो व्याहृत इत्युपदिशतां मत्रोद्दिश्योपदिशन्ति-

अष्टाव - निष्टदुस्तरदुरिता - यतनान्यमूनि परिवर्ज्य।

जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥७४॥

मं.टी. - अष्टावित्यादि - अमूनि मद्यादिसहितोदुम्बरफलानि। कति ? अष्टौ। किं विशिष्टानि ? अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि अनिष्टानि अनर्थकानि अशुभानि वा च तानि दुस्तराणि दुःखेनातिकष्टेन तरितुं शक्यानि च तानि दुरितस्य पापस्य आयतनानि स्थानानि च तानि। किं कृत्वा ? परिवर्ज्य मुक्त्वा। तेन किं स्यात् ? शुद्धधियः शुद्धा निर्मला धीर्बुद्धिर्यस्य स ते ''यथा भुक्तं तथा मनः'' इत्युक्तेः बुद्धिविशुद्ध्यर्थमभक्ष्यभक्षणं प्रतिषिद्धं कृतम्। तत्पश्चादेव पात्राणि पात्रभूतानि योग्यानि भवन्ति। कस्या योग्यानीति चेत् ? जिनधर्मदेशनायाः सन्ति जिना रागादिजेतृत्वात् तेषां धर्मः तस्य देशना उपदेशः शासनं वा तस्याः, तत्त्वार्थश्रवणग्रहणधारणादेरन्यथाऽघटनात्॥७४॥

उत्थानिका-धर्मदेशना के प्रसंग में त्याग और ग्रहण का व्यवहार उपदेश क्यों दिया जा रहा है ? ऐसा कहने वालों को उद्देश्य करके यहाँ कथन करते हैं -

अन्वयः - अमूनि अष्टौ अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि परिवर्ज्य शुद्धधियः जिनधर्मदेशनायाः पात्राणि भवन्ति॥

अन्वयार्थ - (अमूनि) इन (अष्टौ) आठ (अनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि) अनिष्ट, दुस्तर और पापों के स्थान स्वरूप फलों को (परिवर्ज्य) छोड़कर (शुद्धधियः) शुद्ध बुद्धि वाले पुरूष ही (जिनधर्मदेशनायाः) जिनधर्म के उपदेश ग्रहण करने के (पत्राणि भवन्ति) पात्र होते हैं।

टीकार्थ-कैसे हैं ये ? अनिष्ट अर्थात् अनर्थक अशुभ और दुस्तर अर्थात् अति कष्ट से पार करने के योग्य हैं। पाप के आयतन स्वरूप मद्य, मांस, मधु और पंचोदुम्बर फल इन आठ को छोड़कर पुरूष निर्मल बुद्धि वाला होता है। जैसा कि कहा है-'**जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन**' इस उक्ति का अभिप्राय है कि बुद्धि की विशुद्धि के लिए अभक्ष्य भक्षण का निषेध किया है क्योंकि उसके बाद ही व्यक्ति जिनधर्म की देशना का पात्र होता है। रागादि को जीतने वाले जिन होते हैं। जिनेन्द्र भगवान का धर्म जिन धर्म कहलाता है। उनकी देशना या शासन को जिनधर्मदेशना कहते हैं। अभक्ष्य भक्षण के त्याग बिना तत्त्वार्थ का श्रवण, ग्रहण, धारणादि नहीं हो सकता है ॥७४॥

पाप खान इन आठ को, तज गह तू गुण आठ।
शुद्धबुद्धि ही पात्र हैं, सुनने को श्रुत पाठ॥७४॥

अथ त्रसहिंसां मोचयितुमुत्साहयन्ति -

धर्ममहिंसा - रूपं संश्रृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।

स्थावरहिंसा - मसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु॥७५॥

मं.टी. - धर्ममित्यादि - धर्मं धर्मोऽहिंसारूपस्तं अहिंसालक्षणं स्वपरजीवदयारूपमिति। ''धम्मो दयाविसुद्धो'' इति वचनात्। इति संश्रृण्वन्तोऽपि सं समीचीनतया श्रवणविषयं कुर्वन्तोऽपि। ये केचिज्जनाः। स्थावरहिंसां स्थावराणां पृथिव्यादीनां हिंसा हिंसनं। परित्यक्तुं वर्जयितुं। असहाः असमर्थाः भवन्ति। तेऽपि जनाः। त्रसहिंसां द्वीन्द्रियादिजीवानां हिंसां। मुञ्चन्तु बुद्धिपूर्वकं नियमतया त्यजन्तु इत्यर्थः। ''मुच्लृमोक्षणे'' लोट्॥७५॥

उत्थानिका-अब त्रस हिंसा का त्याग कराने के लिए उत्साहित करते हैं-

अन्वयः-ये अहिंसारूपं धर्मं संश्रृण्वन्तः अपि स्थावरहिंसां परित्यक्तुम असहाः तेऽपि त्रसहिंसां मुञ्चन्तु॥

अन्वयार्थ-(ये अहिंसारूपं) जो अहिंसा रूप (धर्मं) धर्म को (संश्रृण्वन्तः अपि) श्रवण करके भी (स्थावर हिंसां) स्थावर जीवों की हिंसा को (परित्यक्तुं) छोड़ने में (असहाः) असर्मथ हैं (तेऽपि) वे भी (त्रसहिंसा) त्रस जीवों की हिंसा को (मुञ्चन्तु) छोड़ें ॥

टीकार्थ-स्व और पर जीव की दया रूप अहिंसा धर्म है। '**धर्म दया से विशुद्ध होता है**' ऐसा कहा गया है। उसको अच्छी तरह से सुनकर के भी जो पृथिवीकाय आदि पाँच स्थावरों की हिंसा को छोड़ने में असमर्थ हैं, वे पुरूष भी द्विइन्द्रियादि त्रस जीवों की हिंसा को बुद्धिपूर्वक नियम से छोड़ें, यह कथन का तात्पर्य है ॥७५॥

धर्म अहिंसा ब्रह्म है जान समझ कर आप।
थावर अघ यदि ना तजो, तज दो त्रस वध पाप ॥७५॥

गृहमेधिनां सर्वथा त्यागवृत्तेरसम्भवत्वादपि यथासंभवं विधिर्विधीयते -

कृतकारितानुमननै - र्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा।

औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपाऽपवादिकी त्वेषा॥७६॥

मं.टी. - कृतेत्यादि - औत्सर्गिकी निवृत्तिः उत्सर्गो मुख्यः प्राधान्यमिति यावत्। उत्सर्गः प्रयोजनमस्य औत्सर्गिकी ''श्रद्धादिभ्योऽण्'' सा चासौ निवृत्तिर्विरमणं तत्तथोक्ता। इष्यते प्रकीर्त्यते। किमित्याह - कृतकारितानुमननैः कृतशब्दः स्वापेक्षकः, कारितवचनं परापेक्षकं, अनुमननमनुमतिर्मनोऽपेक्षि। एतैस्त्रिभिः वाक्कायमनोभिः सह नवधा नवप्रकाराः। आपवादिकी निवृत्तिः अपवादः उपचारो विशेष इति यावत्। अपवादः प्रयोजनमस्य आपवादिकी सा चासौ निवृत्तिः। तु अवधारणे। एषा प्रतीयमाना अग्रे कथितप्रकारा इष्यते। सा च किं विशिष्टा ? विचित्ररूपा विचित्रं नानाभेदभिन्नं रूपं स्वरूपं च यस्याः सा अनेकभेदयुता इत्यर्थः॥७६॥

उत्थानिका-गृहस्थों के सर्वथा त्यागवृत्ति संभव न होने से यथासम्भव विधि बताते हैं-

अन्वयः- औत्सर्गिकी निवृत्तिः कृतकारितानुमननैः वाक्कायमनोभिः नवधा इष्यते एषा आपवादिकी तु विचित्ररूपा ॥

अन्वयार्थ- (औत्सर्गिकी निवृतिः) उत्सर्ग रूप (सामान्य) निवृति अर्थात् त्यागवृति (कृतकारितानुमननैः) कृत, कारित, अनुमोदना, (वाक्कायमनोभिः) वचन, काय और मन के भेद से (नवधा इष्यते) नव प्रकार की कही गई है (एषा आपवादिकी तु) किन्तु अपवाद रूप निवृति (विचित्ररूपा) अनेक प्रकार की है।

टीकार्थ- औत्सर्गिकी निवृति अर्थात मुख्य त्याग। वह त्याग है प्रयोजन जिसका इस अर्थ में 'श्रद्धादि भ्योऽण्' इस सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होकर औत्सर्गिकी शब्द बना है। वह त्याग जिसका प्रयोजन है वह औत्सर्गिकी निवृति कही जाती है। कृत, कारित, अनुमोदना के द्वारा त्याग करना चाहिए। स्व की अपेक्षा कृत शब्द जानना चाहिए। पर की अपेक्षा कारित, वचन और मन की अपेक्षा अनुमोदना होती है। मन, वचन, काय इन तीनों को परस्पर गुणा करने पर नव प्रकार का त्याग होता है। अपवादिकी निवृति अर्थात् उपचार या विशेष निवृति होती है। अपवाद है प्रयोजन जिसका वह अपवादिकी निवृति कहलाती है ।'तु' शब्द अवधारणा अर्थ में प्रयुक्त है। यह निवृत्ति आगे कहे गये भेद वाली है और किस विशेषता वाली है? भिन्न-भिन्न है स्वरूप जिसका ऐसी वह निवृति अनेक भेदों से युक्त मानी गई है ॥७६॥

भावार्थ- जो त्याग मन,वचन,काय और कृत, कारित, अनुमोदना अर्थात् किसी कार्य का त्याग मन से,

---

कृत कारित अनुमोदना, मन वच तन से त्याग।
सबसे ही उत्कृष्ट है यदि ना, कुछ कर, जाग॥७६॥

अथ तानप्रयोजनीयस्थावरहिंसानिवृत्त्यै प्रेरयति -

स्तोकैकेन्द्रिय - घाताद् गृहिणां सम्पन्न - योग्यविषयाणाम्।

शेषस्थावर - मारणविरमण - मपि भवति करणीयम्॥७७॥

मं.टी. - स्तोक इति। गृहिणां गृहं स्त्री यस्य विद्यते स गृही ''तदस्यास्तीति मन्त्वन्त्वीन्'' इत्यनेनेनप्रत्ययः तेषाम्। कथम्भूतानाम् ? सम्पन्नयोग्यविषयाणां योग्यविषया इन्द्रियविषयास्तैः सम्पन्नाः परिपूर्णा ये ते तेषां योग्येन्द्रियविषयसेवमानानाम्। स्तोकैकेन्द्रियघाताद् स्तोकानां अल्पानां च तेषां एकेन्द्रियाणां प्राणानां च घातो विनाशः तस्मादवधानतया प्रवर्तनादित्यर्थः। आवश्यककार्यमन्तरेणानावश्यककार्येण या सञ्जाता हिंसा सा पापप्रदा। तां कथं निवर्तेतेत्याह-शेषस्थावरमारणविरमणं शेषस्थावराणां शेषाश्चामी स्थावराः शेषस्थावरास्तेषां। ''स्थेशभास्पिस्करोवरः'' इति सूत्रात् स्थावरः। मारणं हिंसनं तस्माद्विरमणं बुद्धिपूर्वकं निवर्तनं। अपि सम्भावनायाम्। करणीयं कर्त्तव्यं भवति। तेनाप्रयोजनीयपापादात्मनो रक्षा॥७७॥

वचन से, काय से स्वयं करना, दूसरों से कराना, करते हुए की प्रशंसा करना, इन नौ प्रकारों से किया जाता है, वह उत्सर्ग त्याग कहा जाता है। उत्सर्ग, सर्वथा, सामान्य त्याग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। किन्तु जो त्याग इन नव भेदों में से किसी एक व दो आदि भेदों से किया जाता है वह अपवाद त्याग कहा जाता है। अपवाद, विशेष, आंशिक त्याग ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। जिस प्रकार व्रतियों के दो भेद हैं मुनि और श्रावक, उसी प्रकार त्याग के भी दो भेद हैं सर्वथा त्याग और एकदेश त्याग।

उत्थानिका- अब अप्रयोजनीय स्थावर हिंसा की निवृति के लिए श्रावकों को प्रेरित करते हैं -

अन्वयः-संपन्नयोग्यविषयाणां गृहिणां स्तोकैकेन्द्रियघातात् शेषस्थावरमारणविरमणं अपि करणीयं भवति॥

अन्वयार्थ- (सम्पन्नयोग्यविषयाणां) इन्द्रिय विषयों को न्यायपूवर्क सेवन करने वाले (गृहिणां) गृहस्थों को (स्तोकैकेन्द्रियघातात्) अल्प एकेन्द्रिय के घात के अलावा (शेषस्थावरमारणविरमणं अपि) शेष स्थावर जीवों के मारने का त्याग भी (करणीयं भवति) करने योग्य है।

टीकार्थ - गृही- घर या स्त्री जिसके होती है उसे गृही कहते हैं। इन्द्रिय विषयों से जो परिपूर्ण हैं अर्थात् जो योग्य इन्द्रियों के विषयों का सेवन करते हैं। उनको व्यर्थ एकेन्द्रिय जीवों के प्राणों का घात न हो ऐसी सावधानी पूवर्क प्रवृति करनी चाहिए । आवश्यक कार्य के अतिरिक्त अनावश्यक कार्य में होने वाली जो हिंसा है वह पाप को देने वाली है। इसलिए उससे कैसे निवृति हो ? शेष स्थावर जीवों की हिंसा को बुद्धिपूवर्क त्याग करना चाहिए, जिससे अप्रयोजनीय पाप से आत्मा की रक्षा हो ॥७७॥

गृहिजन के ना योग्य है, थावर हिंसा त्याग।
पर जो आवश्यक नहीं, उसका तो कर त्याग॥७७॥

अथाहिंसाधर्मरतानां धर्मे दृढयन्नाह -

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसा - रसायनं लब्ध्वा।

अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम्॥७८॥

मं. टी. - अमृतत्वेति - परममुत्कृष्टं सर्वश्रेष्ठं। किं तत् ? अहिंसारसायनं अहिंसाधर्म एव रसायनं। ''रसायनं जराव्याधिहरे विषविडङ्गयोः'' इति वि.लो.। औषधिः सारो वा तं। कथम्भूतम् ? अमृतत्वहेतुभूतं अमृतं पीयूषं रसायनपक्षे धर्मपक्षे तु अमृतं मृतेरभावोऽमरणं निःश्रेयसमित्यर्थः तस्य भावस्तस्य च हेतुभूतं कारणम्। लब्ध्वा सम्प्राप्य। बालिशानां बाडिंश्यति इति बाडिशः डलयोरभेदात् बालिशस्तेषां मूर्खाणां अविदितपरमार्थानां वा। असमञ्जसं न समञ्जसं असमञ्जसं नञ् समासात्। अनुचितमित्यर्थः। अवलोक्य दृष्ट्वा। आकुलैर्न भवितव्यं हर्षविषादं न कर्तव्यमित्यर्थः। अधर्मपराणां हिंसारतानां जनानामुत्कर्षमवलोक्याहिंसाधर्मरतैरहिंसाधर्मे संशयानो न भवितव्यः पुराकृतपापानुबन्धिपुण्यफलमिति मत्वा मध्यस्थो भवेत्॥७८॥

उत्थानिका-अब अहिंसा धर्म में लीन रहने वालों को दृढ़ करने के लिए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः- अमृतत्वहेतुभूत परमं अहिंसारसायनं लब्ध्वा बालीशानां असमंजसं अवलोक्य आकुलैः न भवितव्यम् ॥

अन्वयार्थ-(अमृतत्वहेतुभूतं) मोक्ष के कारणभूत (परमं) उत्कृष्ट (अहिंसारसायनं लब्ध्वा) अहिंसा रूपी रसायन को पाकर (बालिशानां असमंजसं) अज्ञानी जीवों के अयोग्य अथवा प्रतिकूल बर्ताव को (अवलोक्य) देखकर (आकुलैः न भवितव्यम्) व्याकुल नहीं होना चाहिए।

टीकार्थ-रसायन, औषधि अथवा सार को कहते हैं। अहिंसा ही धर्म रूपी सर्वश्रेष्ठ रसायन है। कैसा है वह ? रसायन पक्ष में अमृत किन्तु धर्म पक्ष में अमृत अर्थात् मृत्यु के अभाव स्वरूप मोक्ष। उस मोक्ष के कारणभूत अहिंसा रसायन को पाकर परमार्थ से अनभिज्ञ जीवों के अनुचित कार्यों को देखकर आकुलता अर्थात् हर्ष विषाद नहीं करना चाहिए और अधर्म में तत्पर रहने वाले लोगों के उत्कर्ष को देखकर अहिंसा धर्म में संशय नहीं करना चाहिए , क्योंकि यह उनके पूर्व में बाँधे हुए पापानुबन्धी पुण्य का फल है ऐसा मानकर मध्यस्थ रहना चाहिए ॥७८॥

जन्म-मरण के नाश का परम रसायन एक।
धर्म अहिंसा धार ले, मूढ़ों को मत देख॥७८॥

इदानीं मीमांसकवादिनामभिमता वेदविहितहिंसा धर्मार्थमत्र निरस्यते-

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।

इति धर्ममुग्धहृदयै र्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः॥७९॥

मं. टी. - सूक्ष्म इत्यादि - भगवद्धर्मः भगवता ईश्वरेण प्रोक्तः धर्मः मध्यपदलोपीसमासात् सः। सूक्ष्मः परैरगम्यः। इत्यवगम्य धर्मार्थं धर्माय। हिंसने हिंसाकार्ये। न दोषोऽस्ति धर्महेतुत्वात्। धर्मार्थहिंसनाद् देवतातिथि - पितृणां प्रीतिर्जायते। तेन वृष्ट्यादिफलमनुग्रहसम्पादितम्। इति एवं कथितं। धर्ममुग्धहृदयैः धर्मः हिंसात्मकः तेन मुग्धं मोहितं हृदयं मनो येषां तैः मूढजनैः। भूत्वा मताववधार्य। न जातु न कदाचिदपि। शरीरिणः शरीरं यस्य विद्यते स शरीरी प्राणधृत् ते। हिंस्याः हिंसितुं योग्याः। यतश्च यद्धर्मस्य कारणं न तत्परपीडाप्रत्ययः। परपीडाकरणं हिंसा। हिंसा एवाधर्मः। न च हिंसा एकाऽपि धर्माधर्मरूपा स्यात्परस्परविरूद्धत्वात् वन्ध्यामातृवत्। भवतामपि मते जिनायतनादिनिर्माणे पृथिव्यादिजन्तुविघातेऽल्प-धर्मनाशसम्भवेऽपि बहुपुण्यसम्पादनसमर्थत्वात् ''सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ'' इत्यभिधानात्। तन्न, न च पृथिव्यादि - जीवानामल्पज्ञानप्राणधृतामवधानतया प्रयतमानेऽपि

उत्थानिका-वेद में कही हुई हिंसा धर्म के लिए है ऐसा मानने वाले मीमांसकों का यहाँ निराकरण करते हैं -

अन्वयः -भगवद्धर्मः सूक्ष्मः धर्मार्थं हिंसने न दोषः अस्ति इति धर्ममुग्धहृदयैः भूत्वा जातु शरीरिणः न हिंस्याः॥

अन्वयार्थ -(भगवद्धर्मः सूक्ष्मः) भगवान का बताया हुआ धर्म सूक्ष्म है, (धर्मार्थं हिसने) धर्म के लिए हिंसा करने में (न दोषः अस्ति) दोष नहीं है (इति) इस प्रकार (धर्ममुग्धहृदयैः) धर्म में मूढ़ बुद्धि (भूत्वा) होकर (जातु) कभी (शरीरिणः) प्राणियों की (न हिंस्याः) हिंसा नहीं करना चाहिए।

टीकार्थ - भगवान् के द्वारा कहा हुआ धर्म सूक्ष्म है, पर के द्वारा अगम्य है। ऐसा जानकर धर्म का हेतु होने से धर्म के लिए हिंसा करने में कोई दोष नहीं है। धर्म के लिए हिंसा करने से देवता, अतिथि और पितरों में प्रीती उत्पन्न होती है। उनसे वर्षादिफल रूप उपकार संपादित होते हैं। इस प्रकार कहा गया है। इस प्रकार हिंसात्मक कार्य से मोहित है मन जिनका ऐसे मूढ़जनों के मत को कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए। शरीर जिनके होता है उन्हें शरीरी अर्थात् जीव कहते हैं। हिंसा के योग्य जो होते हैं उन्हें हिंस्य कहते हैं। अतः जो धर्म का कारण होता है वह पर पीड़ा करने वाला नहीं होता। पर को पीड़ा पहुँचना ही हिंसा है और हिंसा ही अधर्म है। परस्पर विरूद्ध होने से एक ही हिंसा धर्म और अधर्म दोनों के लिए नहीं हो सकती। जैसे एक ही स्त्री वन्ध्या और माता दोनों नहीं हो सकती।

पाप नहीं है जीव-वध, यदि करता धर्मार्थ।
यह छलने का धर्म है, मत कर अघ हे पार्थ॥७९॥

सम्भवद्धिंसा वराकपञ्चेन्द्रियजीवानश्व-छागादीन् निर्दयतो मारयतां तुल्यतां बिभर्ति महाज्ञानप्राणविनाशात्। वैदिकवधविधाने न कश्चित् पुण्यार्जनगुणो दृश्यते विवेकाशयैः। ''आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'' इति लोकोक्तिः सर्वसाधारणजनमनःप्रातीतिकी। इत्यशिष्ट-विधानमवलोक्य केचित् सहृदयजना हिंसाप्रामुख्यवचनमहिंसकपद्धत्या प्ररूपयन्ति तेन वेदस्याप्रामाण्यप्रतीतिरवसरानु-कूलव्याख्यानात्। इत्थमपि वदन्ति ते-

अन्धे तमसि मज्जामः पशुभिर्ये यजामहे ।
हिंसा नाम भवेद्धर्मो न भूतो न भविष्यति॥

तथा च

प्राणिघातात् तु यो धर्ममीहते मूढमानसः।
स वाञ्छति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात्॥

शंका-आपके मत में भी (मीमांसक, जैनों से प्रश्न करता है) मंदिर आदि के निर्माण हेतु पृथिवीकाय आदि जीवों का विघात होने से धर्म का अल्प नाश होने पर भी वह बहुत पुण्य के संपादन में समर्थ होता है। धार्मिक कार्यों में होने वाली अल्पहिंसा बहुत पुण्य का संपादन करने वाली होती है। ऐसा **स्वयंभूस्तोत्र** में कहा है ।

समाधान - आपका ऐसा कहना ठीक नहीं है, सावधानी पूवर्क कार्य किये जाने पर भी अल्पज्ञान और अल्प प्राण वाले पृथिवीकायिक आदि जीवों की हिंसा एवं घोड़े बकरी आदिक बेचारे पंचेन्द्रिय जीवों की निर्दयता पूर्वक होने वाली हिंसा में तुल्यता नहीं है, क्योकि पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा में बहुत ज्ञान और बहुत प्राणों का नाश होता है।

वैदिक हिंसा के विधान में ज्ञानियों को कोई पुण्य दिखाई नहीं देता 'जो आचरण अपने लिए प्रतिकूल है वह दूसरों के साथ नहीं करना चाहिए' यह लोकोक्ति सर्वजन प्रसिद्ध है। इस प्रकार अशिष्ट लोगों के कार्यों को देखकर कितने ही सज्जन पुरूष हिंसा की प्रमुखता वाले वचनों को अहिंसक पद्धति से प्ररूपण करते हैं। इससे वेद की अप्रमाणता की प्रतीति होती है क्योंकि वे अवसर के अनुसार व्याख्यान करते हैं - वे इस प्रकार भी कहते हैं -''**यदि हम पशुओं से यज्ञ करें तो घोर अंधकार में पड़ेगे, हिंसा में न धर्म था और न होगा ऐसा वेदान्तियों का मत है।**''

''**जो मूढ़प्राणी जीवों के घात से धर्म की इच्छा करता है वह काले सर्प के मुख रूपी कोटर से अमृत की वृष्टि चाहता है**'' इस प्रकार का अहिंसापरक वर्णन भी मिलता है ॥७९॥

पुनश्च –

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।

इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः॥८०॥

मं.टी. – धर्मेत्यादि – धर्मो वेदविहितः इतरजनमानितो वा। हि निश्चयेन। देवताभ्यः प्रभवति उत्पन्नो भवति उत्पन्नार्थेऽपादानं साधु तस्मात्। इह अस्मिन् लोके। प्रदेयं दातव्यम्। किमितिचेत् ? सर्वं मांसादिकं। इति एवम् प्रकारम्। धिषणां बुद्धिं। कथम्भूताम् ? दुर्विवेककलितां दुष्टो विवेको दुर्विवेको मूढ इत्यर्थः तेन कलिता युक्ता सा ताम्। प्राप्य गृहीत्वा। देहिनः प्राणिनः। न हिंस्याः न हिंसा कर्तव्या। धर्मस्तु स्वकीयशुभपरिणामात् प्रभवति। न च देवता वैक्रियिकशरीरभूता मांसादिकं स्वीकुर्वते मानसाहारपरत्वात्। इति विविक्तबुद्धयः सन्तः हिंसाभ्यो निर्वर्तेरन्नितिभावः॥८०॥

उत्थानिका–और भी कथन करते हैं–

अन्वयः –हि धर्मः देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः इह सर्वं प्रदेयं इति दुर्विवेककलितां धिषणां प्राप्य देहिनः न हिंस्याः॥

अन्वयार्थ–(हि) वास्तव में (धर्मः) धर्म (देवताभ्यः) देवताओं से (प्रभवति) उत्पन्न होता है इसलिए (ताभ्यः) उनके लिए (इह) इस लोक में (सर्वं) सब कुछ (प्रदेयं) दे देना चाहिए। (इति) इस प्रकार (दुर्विवेककलितां) अविवेकपूर्ण (धिषणां) बुद्धि को (प्राप्य) पाकर के (देहिनः न हिंस्याः) जीवों को नहीं मारना चाहिए ।

टीकार्थ –जैन सिद्धान्त के अलावा अन्य जन के द्वारा माना हुआ वेदविहित धर्म निश्चय से देवताओं से उत्पन्न हुआ माना जाता है। जिससे जो उत्पन्न होता है उसमें पञ्चमी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है, देवताभ्यः यह पञ्चमी विभक्ति का बहुवचन सूत्र में आया है। अतः धर्म को उत्पन्न करने वाले उन देवताओं को मांसादि सब कुछ देना चाहिए। इस प्रकार दुर्विवेक अर्थात खोटी बुद्धि को प्राप्त होकर जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए। धर्म तो स्वयं के शुभ परिणामों से उत्पन्न होता है तथा वैक्रियिक शरीर वाले देवता लोग मांसादि स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि देवताओं का मानसिक आहार होता है । इसलिए पवित्र बुद्धि वाले सज्जन पुरूष जीवों की हिंसा से निवृत्त हों, यह कथन का तात्पर्य है ॥८०॥

धर्म देवता जन्य है, उनको सब कुछ देय।
यह विचार अविवेक से, हिंसा सदा हि हेय॥८०॥

अतिथिप्रीत्यै अपि प्राणिघातोऽत्र प्रतिषिध्यते -

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति सम्प्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्॥८१॥

मं.टी. - पूज्येति - छागादीनां छागः आदिर्येषां तुरङ्गममत्स्यमेषगवादीनां तेषां। घाते विनाशे प्राणव्यपरोपणे। न कोऽपि दोषोऽस्ति धर्मानुष्ठानात्। कं निमित्तम् ? पूज्यनिमित्तं पूज्याः पितृदेवतातिथयस्तेषां निमित्तं हेतुः। यतश्च तन्मते प्रोक्तत्वादतिथिविषये - ''महोक्षं वा महाजं वा श्रोत्रियायोपकल्पयेत्''। पितृप्रीत्यर्थस्तु -

द्वौ मासौ मत्स्यमांसेन त्रीन् मासान् हारिणेन तु।
औरभ्रेकाय चतुरः शाकुनेनेह पञ्च तु॥

इति सम्प्रधार्य मनसि विचिन्त्य। अतिथये अतिथिनिमित्तम्। सत्त्वसंज्ञपनं सत्त्वानां जीवानां संज्ञपनं घातः। न कार्यं न कर्तव्यमिति॥८१॥

उत्थानिका-अतिथि को प्रीति उत्पन्न करने के लिए भी प्राणघात का यहाँ पर निषेध करते हैं -

अन्वयः-पूज्यनिमित्तं छागादीनां घाते न कोऽपि दोषोऽस्ति इति सम्प्रधार्य अतिथये सत्त्वसंज्ञपनम् न कार्यम्॥

अन्वयार्थ- (पूज्यनिमित्तं) पूज्य पुरूषों के निमित्त (छागादीनां घाते) बकरे आदि का घात करने में (न कोऽपि दोषऽस्ति) कोई दोष नहीं है (इति) इस प्रकार (सम्प्रधार्य) निश्चय करके (अतिथये) अतिथि के लिए (सत्त्वसंज्ञपनं) प्राणियों की हिंसा (न कार्यम्) नहीं करना चाहिए ।

टीकार्थ- छागादि अर्थात् बकरी, घोड़ा, मछली, भेड़, गाय आदि जीवों का धर्म के निमित्त से घात करने में कोई दोष नहीं है। पूज्य के निमित्त अर्थात् पितर, देवता, अतिथि के निमित्त जीवों का घात करने में दोष नहीं है क्योंकि उनके मत में अतिथि विषय में कहा है -''बड़े बैल (सांड) अथवा बड़े बकरे को ब्राह्मण के लिए मार डालना चाहिए ।'' ''मछली के मांस से दो महीने, हरिण के मांस से तीन महीने, मेढ़े के मांस से चार महीने और पक्षी के मांस से पाँच महीने तक पितरों को तृप्ति होती है।'' ऐसा मन में विचार कर अतिथि के लिए जीवों का घात नहीं करना चाहिए ॥८१॥

पूज्य पुरुष या अतिथि को, हिंसा से सत्कार।
बकरादिक की बलि चढ़ा, करो न यह अघकार॥८१॥

अथ मांसाशिनां कुतर्कमपाकुर्वन्नाह -

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थं।

इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु॥८२॥

मं.टी. - बहुइत्यादि - अशनात् भोजनात्। किं विशिष्टात् ? बहुसत्त्वघातजनितात् बहुसत्त्वानामनेकस्थावराणां घातो विनाशस्तेन जनितः उत्पन्नः तस्मात्। वरं श्रेष्ठं। किमित्याह - एकसत्त्वघातोत्थं एकः पञ्चेन्द्रियो महाकायः सत्त्वो जीवस्तस्य घातो हिंसा तेनोत्थमुपपन्नं भोजनमिति। इति एवं प्रकारं मांसभक्षणप्रियाणामभिप्रायो न युक्तो भवति। यतश्च हिंसा प्राणानामल्पबहुसंख्यातोऽल्पबहुत्वेन जायते। स्थावरजीवा वनस्पत्यादयः स्पर्शनेन्द्रियकायबलायुः-श्वासोच्छ्वासरूपचतुःप्राणभूताः सन्ति। तदपेक्षया विकलेन्द्रियाणां प्राणविनाशेऽधिका हिंसा। पञ्चेन्द्रियेष्वपि योग्यताऽनुसारेण बहुपापाद्विलिम्पति सामान्यव्यक्तिहिंसातो मुनिघाते पापप्राचुर्यात्। किञ्च एकेन्द्रियजीवेषु रुधिरपिशितरहितशरीरेषु सातत्येन जीवोत्पत्तेरभावात्मांस - व्यपदेशव्यपेतत्वाच्च मांसभक्षणदोषो न प्रादुर्भवति। न चैकेन्द्रियपञ्चेन्द्रिययोर्विघाते समाना हिंसा कषायाणां

उत्थानिका - अब मांसभक्षियों के कुतर्क को दूर करने के लिए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः-बहुसत्त्वघातजनितात् अशनात् एकसत्त्वघातोत्थं वरं इति आकलय्य महासत्त्वस्य हिंसनं जातु न कार्यम्॥

अन्वयार्थ- (बहुसत्त्वघातजनितात्) बहुत से जीवों के घात करने से तैयार होने वाले (अशनात्) भोजन से (एकसत्त्वघातोत्थम्) एक जीव के घात से उत्पन्न भोजन (वरं) श्रेष्ठ है (इति) इस प्रकार (आकलय्य) विचार करके (महासत्त्वस्य) एक विशाल त्रस जीव की (हिंसनं) हिंसा (जातु) कभी (न कार्यम्) नहीं करनी चाहिए।

टीकार्थ- अनेक स्थावर जीवों के घात से उत्पन्न भोजन की अपेक्षा एक पंचेन्द्रिय जीव के घात से उत्पन्न भोजन अच्छा है, ऐसा मांस भक्षण करने वालों का अभिप्राय ठीक नहीं है। क्योंकि अल्प प्राणों की संख्या से और अधिक प्राणों की संख्या से हिंसा में हीनाधिकता होती है। वनस्पति आदि स्थावर जीवों के स्पर्शन इन्द्रिय, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास रूप चार प्राण होते हैं। स्थावरों की अपेक्षा विकलत्रयों के अधिक प्राण होते है अतः उनका घात करने पर अधिक हिंसा होती है। पञ्चेन्द्रियों में भी योग्यता के अनुसार बहुत पाप होता है जैसे सामान्य व्यक्ति की हिंसा से मुनिराज की हिंसा करने में बहुत अधिक पाप होता है और एकेन्द्रिय जीवों के रक्त मांस से रहित शरीरों में निरन्तर जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है इसलिए मांस व्यपदेश से रहित होने से मांस भक्षण का दोष भी उत्पन्न नहीं होता है। कषायों की हीनाधिकता होने से एकेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवों की हिंसा भी समान नहीं है। एकेन्द्रिय जीव संपूर्ण लोक में भरे होने से उनकी हिंसा की निवृत्ति अशक्य है,

---

शाक-भजि फल-फूल में, जीव अनन्त विघात।
यह विचार कर मत करो, महा जीव इक घात॥८२॥

हीनाधिककारणत्वात्। यथा चैकेन्द्रियजीवानां सर्वलोका-पूरितत्वाद्धिंसानिवृत्तिरशक्या न तथा पञ्चेन्द्रियस्य हिंसा संकल्पकृतत्वात्। इति आकलय्य सञ्चिन्त्य। महासत्त्वस्य महाप्राणधृतो जीवस्य। हिंसनं हिंसाविधानम्। न जातु कदाचिदपि। कार्यं विधातव्यमिति॥८२॥

अथैकसत्त्वघाते सति बहुसत्त्वानं रक्षा भवेत्तदपि तत्सत्त्वघातनं न विधेयमिति विधीयते -

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्॥८३॥

मं.टी. - रक्षेति। एकस्य हिंस्रस्य। एव निश्चयार्थे। अस्य जीवस्य। जीवहरणेन जीवः प्राणाः तस्य हरणं विनाशस्तेन। बहूनां अधिकानां जीवानामित्यर्थः। रक्षा भवति प्राणहरणं न स्यात्। इति एवं प्रकारं। मत्वा विचार्य। हिंस्रसत्त्वानां हिंस्रः ''नमि कम्पि'' इत्यादिना र प्रत्ययः, हिंस्रं च तत्सत्तवं तेषां। हिंसनं घातः। न कर्तव्यं न विधेयम्। ते हिंस्रा जीवाः स्वकर्मोदयेन जातास्तेषां हिंसनेऽपि हन्ता स्वयमेव हिंसको भवेत्। तदपि हिंसक इति मत्वाऽन्यो यदि घातयति तं तर्हि सोऽपि हिंस्रस्तेनानवस्था - प्रसङ्ग। यतश्च

पंचेन्द्रिय जीवों के साथ ऐसा नहीं है उनकी हिंसा संकल्प पूर्वक होती है। ऐसा विचार कर बड़े जीवों की हिंसा कभी नहीं करना चाहिए ॥८२॥

उत्थानिका -एक जीव का घात करने पर बहुत जीवों की रक्षा होती है तो भी हिंसक जीव का घात नहीं करना चाहिए। ऐसा कथन करते हैं -

अन्वयः- अस्य एकस्य एव जीवहरणेन बहूनां रक्षा भवति इति मत्वा हिंस्रसत्त्वानां हिंसनं न कर्त्तव्यम् ॥

अन्वयार्थ- (अस्य एकस्य एव) इस एक ही हिंसक जीव के (जीवहरणेन) प्राण नष्ट करने से (बहूनां रक्षा भवति) बहुत जीवों की रक्षा होती है (इति) इस प्रकार (मत्वा) मान करके (हिंस्रसत्त्वानां) हिंसा करने वाले जीवों की (हिंसनं न कर्त्तव्यम्) हिंसा नहीं करना चाहिए ।

टीकार्थ - इस एक हिंसक जीव के प्राणों का विनाश करने से ही अनेक जीवों की रक्षा होती है। इस प्रकार विचार करके हिंसक जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए । वे हिंसक जीव अपने कर्म के उदय से उत्पन्न हुए हैं। उनकी हिंसा करने पर भी उनको मारने वाला स्वयं ही हिंसक होता है। हिंसक जीव को ऐसा मानकर यदि अन्य उसका घात करवाता है तो वह भी हिंसक है इससे अनवस्था दोष का प्रसंग आता है। क्योंकि सिंह, मयूर, अश्व, गज, बिल्ली, पक्षी, मनुष्य आदि परस्पर एक दूसरे के विरोधी हैं इसलिए परस्पर की हिंसा से हिंसा का अभाव संभव नहीं है। अहिंसक वृत्ति से ही वास्तव में हिंसक जीवों की हिंसावृत्ति से निवृत्ति

बहुतों की रक्षा बने, एक हिंस्र को मार।
यह विचार भी पाप है, हिंसा का आधार॥८३॥

सिंहमयूराश्वगजमार्जारपक्षिगणमनुष्याः परस्परविरोधिनस्ततः परस्परहिंसातो हिंसाऽभावोऽसम्भवेत्। अहिंसकवृत्त्या हि हिंस्रस्य हिंसावृत्तेर्निवृत्तिः। ''अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः'' इति प्रसिद्धिः। तच्च दृश्यते परममुनेः सन्निधौ सर्वसत्त्वेषु अभयः॥८३॥

पुनश्च कुतर्कं निरस्यन्नाह -

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।

इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥८४॥

मं.टी. - **बहुसत्त्वेत्यादि** - अमी प्रतीयमाना जीवाः। बहुसत्त्वघातिनः बहूनां सत्त्वानां घाती विनाशीत्येवंशीलास्ते। जीवन्तः प्राणान् धारयन्तः। गुरुपापं गुरु महच्च तत्पापमत्यधिकपापं नरकादिगतिकारणम्। उपार्जयन्ति अर्जनं कुर्वन्ति। इति एवं विचिन्त्य। अनुकम्पां दयां तदुपरि कृत्वा विधाय। शरीरिणो देहिनः। किं विशिष्टाः ? हिंस्रा हिंसनशीलाः। न हिंसनीयाः न मारणीयाः॥८४॥

करनी चाहिए ।'**अहिंसा की प्रतिष्ठा होने पर उस की सन्निधि में बैर का त्याग होता है**' ऐसा प्रसिद्धि है। इसीलिए तो वीतरागी मुनियों की निकटता में सब जीवों में अभय भाव देखा जाता है ॥८३॥

उत्थानिका-पुनः कुतर्क का निराकरण करते हुए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः- अमी बहुसत्त्वघातिनः जीवन्तः गुरूपापं उपार्जयन्ति इति अनुकम्पां कृत्वा हिंस्राः शरीरिणः न हिंसनीयाः ॥

अन्वयार्थ- (अमी बहुसत्त्वघातिनः) ये बहुत जीवों की हिंसा करने वाले हिंसक जीव (जीवन्तः) जीते हुए (गुरूपापं उपार्जयन्ति) बहुत पापों का उपार्जन करते हैं (इति अनुकम्पां कृत्वा) इस प्रकार अनुकम्पा करके (हिंस्रा :) हिंसा करने वाले (शरीरिणः) जीवों की (न हिंसनीयाः) हिंसा नहीं करनी चाहिए।

टीकार्थ- अनेक जीवों का घात करना जिनका स्वभाव है ऐसे जीव यदि जीवित रहते हैं तो नरक आदि गति के कारणभूत बहुत अधिक पाप का उपार्जन करते हैं। ऐसा विचार कर और अनुकम्पा करके उन हिंसक जीवों की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए ॥८४॥

हिंस्र जीव बहु जीव को, मार करें बहु पाप।
ऐसी करुणा से कभी, मार उसे मत आप॥८४॥

अधुना दुःखिनो जीवा अपि न हिंस्या इति प्रस्तौति -

बहुदुःखाः संज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।

इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः॥८५॥

मं. टी. - बहुदुःखा इत्यादि - प्रयान्ति पाप्नुवन्ति। ''या प्रापणे'' लट्। किमिति चेत् ? दुःखविच्छित्तिं दुःखस्य विच्छित्तिर्विनाशस्ताम्। अचिरेण शीघ्रं। तु अवधारणे। के ते ? बहुदुःखाः स्वकीयासाताकर्मोदयेनातीवसंक्लिष्टा जीवाः। किं विशिष्टाः ? संज्ञपिताः पीडिता इत्यर्थः। ''ज्ञप अवबोधनमारणतोषणनिशामनेषु'' इति वचनात्। क्वचित् बहुदुःखसंज्ञपिता इत्येकपदं कृत्वापि पठ्यते। इति वासनाकृपाणीं एवं वासनासंस्कारधारा सा एव कृपाणी असिः ताम्। आदाय गृहीत्वा। न हन्तव्याः न हिंसनीयाः। के ते ? दुःखिनः संक्लिष्टजीवाः। अपि निश्चयार्थम्॥८५॥

उत्थानिका- अब यह बतलाते हैं कि दुःखी जीव भी हिंसा के योग्य नहीं हैं -

अन्वयः- बहुदुःखाः संज्ञपिताः तु अचिरेण दुःखविच्छित्तिम् प्रयान्ति इति वासनाकृपाणीं आदाय दुःखिनः अपि न हन्तव्याः ॥

अन्वयार्थ- (बहुदुःखा संज्ञपिताः) बहुत दुःखी जीव मार देने पर (तु अचिरेण) शीघ्र (दुःखविच्छित्तिम्) दुःख के नाश को (प्रयान्ति) पा जायेगें (इति वासनाकृपाणीं) इस प्रकार वासना रूपी तलवार को (आदाय) लेकर (दुःखिनः अपि) दुःखी जीवों को भी (न हन्तव्याः) नहीं मारना चाहिए।

टीकार्थ - अपने असातावेदनीय कर्म के उदय से तीव्र संक्लेश परिणाम वाले पीड़ित दुःखी जीवों को मार देने पर दुःख के विनाश को शीघ्र पा जायेंगे। इस प्रकार के संस्कार या विचार धारा रूपी तलवार को लेकर दुःखी जीवों को नहीं मारना चाहिए। अपि शब्द निश्चय के अर्थ में आया है ॥८५॥

बहुत दुखी ये जीव हैं, दुख मुक्ती मिल जाय।
इस विचार से भी कभी, मत कर वध दुखदाय॥८५॥

तथैव सुखिनोऽपि न हिंस्या इत्यभिष्टौति -

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।

इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः॥८६॥

मं.टी. - कृच्छ्रेणेत्यादि - सुखावाप्तिः सुखस्य पञ्चेन्द्रियविषयभूतार्थस्य अवाप्तिः प्राप्तिः। कृच्छ्रेण महता कष्टेन। स्यादित्यध्याहारः। ततः। सुखिनः सुखमस्यास्तीति सुखी ते तथोक्ताः। हताः घातिताः। सुखिनः पुनरपि तथैव भवन्ति। इति तर्कमण्डलाग्रः एवं तर्को विचारः स एव मण्डलाग्रः खड्गः ''तरवारिर्मंडलाग्रः खड्गनामावलिर्मता'' इत्यभिधानात्। सुखिनां जीवानां घाताय विनाशाय। न आदेयः न अङ्गीकर्तव्यः पुनर्भवो जीवपरिणामनिर्भरत्वात्॥८६॥

उत्थानिका- उसी प्रकार 'सुखी जीव भी हिंसा के योग्य नहीं' इस अभिप्राय को प्रकट करते हैं -

अन्वयः- सुखावाप्तिः कृच्छ्रेण सुखिनः हताः सुखिन एव भवन्ति इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय न आदेयः॥

अन्वयार्थ - (सुखावाप्तिः कृच्छ्रेण) सुख की प्राप्ति बड़ी कठनाई से होती है इसलिए (सुखिनः हताः) सुखावस्था में मारे हुए जीव (सुखिन एव भवन्ति) सुखी ही होते हैं (इति) इस प्रकार की (तर्कमण्डलाग्रः) कुतर्क रूपी तलवार (सुखीनां घाताय) सुखी जीवों के घात के लिए (न आदेयः) ग्रहण नहीं करना चाहिए।

टीकार्थ - पञ्चेन्द्रिय के विषयभूत पदार्थों की प्राप्ति बडी कठनाई से होती है। 'स्यात्' क्रिया का अध्याहार करना चाहिए। इसलिए सुखी जीवों के घात से जीव जन्मान्तर में भी सुखी ही होता है। इस प्रकार की कुतर्क रूपी तलवार सुखी जीवों के घात के लिए स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योकि जीवों के परिणामों के अनुसार अगले भव की प्राप्ति होती है॥८६॥

सुख मिलता है कष्ट से, अतः घात का कष्ट।
सहें जीव तब सुखी हों, सोच निरी है भ्रष्ट्॥८६॥

न चैवमपि कर्तव्यम् -

उपलब्धसुगति - साधन - समाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।

स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलषता॥८७॥

मं. टी. - उपलब्धेत्यादि - न कर्तनीयं न छेत्तव्यं। किं तत्। शिरो मस्तकं। कस्य ? स्वगुरोः शिक्षादीक्षाप्रदायकस्य। कथम्भूतस्य ? उपलब्धसुगतिसाधनसमाधिसारस्य समाधिर्योगस्यान्त्याङ्गः तस्य सारोऽनुभवो रसो वा स एव सुगतेर्देवादेः साधनं निमित्तं यस्योपलब्धः प्राप्तस्तस्य। केन विधिना ? भूयसोऽभ्यासात् भूयसोऽनेकशः अभ्यासीकरणमभ्यासः ''यथावरणक्षयोपशममात्मनः सकृदसकृद्धा स्वार्थसंवेदनेऽभ्यासोपपत्तेः'' इति विद्यानन्दि। तस्मात्। केन ? शिष्येणाऽन्तेवासिना। किं निमित्तं कुर्वता ? सुधर्ममभिलषता सुष्ठु धर्मः सुधर्मः तमभिलषतीत्यभिलषन् तेन। समाधिनिमग्नस्यानुष्ठितव्रतकर्माभ्यस्तस्य स्वगुरोरिदानीं यदि मरणं भवेत् तर्हि तस्योच्चपदावाप्तिः स्यादित्यनुध्याय गुरोर्मूर्ध्नो विच्छेदो न कर्त्तव्यो महापापानुषङ्गात्॥८७॥

उत्थानिका -इस प्रकार भी नहीं करना चाहिए -

अन्वयः-सुधर्म अभिलषता शिष्येण भूयसः अभ्यासात् उपलब्धसुगतिसाधनसमाधिसारस्य स्वगुरोः शिरः न कर्त्तनीयम्॥

अन्वयार्थ-(सुधर्मं अभिलषता शिष्येण) श्रेष्ट धर्म (अहिंसा) के अभिलाषी शिष्य के द्वारा (भूयसः अभ्यासात्) बहुत आभ्यास से (उपलब्धसुगतिसाधनसमाधिसारस्य) सुगति के कारणभूत समाधि के सार तत्त्व को प्राप्त करने वाले (स्वगुरोः) अपने गुरू का (शिरः)सिर (न कर्त्तनीयम्) नहीं काटा जाना चाहिए॥

टीकार्थ-शिक्षा-दीक्षा प्रदायक अपने गुरू का सिर नहीं काटना चाहिए। समाधि साधना का सार है और सुगति देवादि गति की प्राप्ति का कारण है। इसलिए सुधर्म के अभिलाषी शिष्य के द्वारा 'समाधी में निमग्न व्रतकर्म का अनुष्ठान करने वाले अपने गुरू का यदि इस समय मरण होवे तो इन्हें उच्च पद की प्राप्ति हो जायेगी' इस प्रकार का विचार करके भी गुरू के सिर का विच्छेद नहीं करना चाहिए क्योंकि स्व अथवा पर का घात करना बहुत बड़े पाप का कारण है । समाधि किस विधि से होती है ? अनेक बार अभ्यास करने से होती है । '**अपने अपने क्षयोपशम के अनुसार आत्मा का अपने बिषय में एक बार या बार बार संवेदन करना अभ्यास है।**' ऐसा विद्यानंदस्वामी ने कहा है ॥८७॥

विशेषार्थ - 'गुरु का भला हो' इस बुद्धि से ध्यान में बैठे हुए गुरु का शिर काट देना यह भी महामूर्खता है। समाधि में बैठे हुए गुरु यदि मार दिये जायेंगे तो वे इस शुभ कार्य से अवश्य ही सुगति में चले जायेंगे। ऐसी बुद्धि रखकर गुरु के प्रति कृतज्ञता प्रगट करने वाला एवं उनकी भलाई चाहने वाला शिष्य यदि गुरु के प्राण हरण करता है तो उसके बराबर कोई अज्ञानी नहीं है। ध्यान के द्वारा शुभ परिणामों से पुण्य बन्ध करने वाले गुरु को प्राणदंड देकर उनके परिणामों को कलुषित बनाकर बिना कारण उन्हें पाप बन्ध कराता है और स्वयं भी गुरुकी गुरुतम हिंसा करके पाप बन्ध करता है। बिना विवेक के मनुष्य उपकार के बदले अपकार कर डालता है॥८७॥

इस समाधि से सुगति को, प्राप्त करें गुरु देव।
मस्तक उनका काटता, शिष्य बना अघदेव ॥८७॥

अथ खारपटिकानां मतं खण्डयन्नाह -

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयतां।

झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम्॥८८॥

मं.टी. - धनलवेत्यादि - नैव श्रद्धेयं न च विश्वास्यम्। केषां दर्शयतां दर्शयतीति दर्शयन् तेषामवलोकयतामित्यर्थः किं तत् ? घटचटकमोक्षम् घटस्थितचटकस्य मोक्षो मुक्तिस्ताम्। झटिति शीघ्रं। केषां ? खारपटिकानाम् यथा घटे चटकस्तथात्मा देहेऽवतिष्ठते। घटस्य स्फोटिते चटकमुक्तिरिवात्मापि देहविनाशे मुक्तः स्यादिति मन्यमानानाम्। किं विशिष्टानाम् ? धनलवपिपासितानां धनं हिरण्य-सुवर्णमुद्रादि तस्य लवो लेशोऽल्पता तेन पिपासिता प्राप्तुं वाञ्छिता येषां तेषां। किमर्थं ? विनेयविश्वासनाय विनेयाः शिष्यास्तेषां विश्वासो विश्रम्भस्तस्मै॥८८॥

उत्थानिका-अब खारपटिकों के मत का खण्डन करते हुए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः- धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय झटिति घटचटकमोक्षं दर्शयतां खारपटिकानां नैव श्रद्धेयम्॥

अन्वयार्थ- (धनलवपिपासितानां) धन के थोड़े अंश के प्यासे (विनेयविश्वासनाय) शिष्यों को विश्वास उत्पन्न करने के लिए नाना प्रकार की रीतियाँ दिखलाने वाले (झटिति घटचटकमोक्षं) शीघ्र ही घट के फूटने से उड़ने वाली चिड़िया के समान मोक्ष को (दर्शयतां) दिखाने वाले (खारपटिकानां) खारपटिकों का (नैव श्रद्धेयम्) श्रद्वान नहीं करना चाहिए ।

टीकार्थ- घट में स्थित चिड़िया के मोक्ष की तरह मुक्ति मानने वालों का विश्वास नहीं करना चाहिए। किनके मत में ऐसा माना है? खारपटिकों के मत में। जैसे घड़े मे चिड़िया है उसी प्रकार शरीर में आत्मा रहती है। जिस प्रकार घट के फूट जाने पर चिड़िया की मुक्ति हो जाती है उसी तरह आत्मा को भी देह के विनाश हो जाने पर मोक्ष होता है। इस प्रकार खारपटिक मत में माना है। क्यों ? धन-सोना चाँदी मुद्रादि में थोड़े से धन को पाने की इच्छा रखने वाले शिष्यों को विश्वास दिलाने के लिए। अतः उनके मत का विश्वास नहीं करना चाहिए ॥८८॥

विशेषार्थ -जिस प्रकार घड़े में बैठी हुई चिड़िया घड़े के फोड़ देने से तत्काल उड़ जाती है उसी प्रकार जीव को मार देने से तत्काल मोक्ष हो जाता है। इस प्रकार झूठा विश्वास दिलाते हैं और बनावटी भेष धारण कर संसार को ठगते हैं। ऐसे लोग पहले काशी आदि तीर्थों में रहते थे। कोई भक्त वहाँ पहुँचा तो काशी में मरने से मुक्ति होती है यह सिद्धान्त समझा कर करौंत के नीचे उसका सिर रख देते थे और उसका सब धन स्वयं लेकर उसे परलोक पहुँचा देते थे ॥८८॥

खारपटिक मत मान्य ना, धन ले शिष्य बनात।
घट फूटा चिड़िया उड़ी, मुक्तिमिली बहलात ॥८८॥

अथ बुभुक्षितानामपि पिशितप्रदानं पापमिति प्रपञ्चयति -

दृष्टवा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि॥८९॥

मं. टी. - दृष्ट्वेत्यादि - न आलभनीयः न घातनीयः। ''डुलभष्प्राप्तौ'' इति प्राप्त्यर्थे हिंसार्थेऽत्र यतः उपसर्गवशाद् धात्वर्थं बलादन्यत्र नीयते। तदुक्तम् -

कश्चिद् मृदनाति घोरर्थं कश्चित्तामनुवर्तते।
तमेव विशिनष्ट्यन्यो गीनां च त्रिविधा गतिः॥

किं तत् ? आत्मापि च स्वकीय इत्यर्थः। कस्मात् कारणात् ? निजमांस - दानरभसात् निजस्य स्वशरीरस्य मांसं तस्य दानमतिसर्जनं तस्य रभसः आतुरता तस्मात्। कैः कृत्वा ? दृष्ट्वा संदृश्य। कं ? अन्यत्। किम्भूतम् ? आयान्तं आगतं। कथम्भूतम् ? क्षामकुक्षिं क्षामः परिक्षीणश्च तत्कुक्षिः उदरस्तं। क्षामं क्षान्तं कृशं क्षीणमितिवचनात्। क्व ? पुरस्तादग्रे। किमर्थं ? अशनाय भोजनाय॥८९॥

उत्थानिका -अब यह प्रकट करते हैं कि भूखे लोगों को भी मांस देना पाप है -

अन्वयः- च अशनाय पुरस्तात् आयान्तं परं क्षामकुक्षिं दृष्ट्वा निजमांसदानरभसात् आत्मा अपि न आलभनीयः॥

अन्वयार्थ-(च) और (अशनाय) भोजन के लिए (पुरस्तात्) सामने (आयान्तं) आये हुए (परं) किसी (क्षामकुक्षिं दृष्टवा) भूखे जीवों को देखकर (निजमांसदानरभसात्) अपना मांस देने की आतुरता से (आत्मा अपि) अपनी भी (न आलभनीयः) हिंसा नहीं करनी चाहिए ।

टीकार्थ -आलभनीय 'डुलभष्' धातु प्राप्ति अर्थ वाली है किन्तु 'आ' उपसर्ग लगने से हिंसा अर्थ हो गया है क्योंकि उपसर्ग के वश से धातुओं का अर्थ बलात् बदल जाता है। जैसा कि कहा है -

''किसी धातु के साथ उपसर्ग लगने से धातु का अर्थ बदल जाता है, कोई उपसर्ग धातु का ही अनुसरण करता है, किसी उपसर्ग से धातु का विशेष हो जाता है। इस प्रकार उपसर्गों की तीन प्रकार की गति होती है।'' किस कारण से घात नहीं करना चाहिए ? अपने शरीर के मांस के त्याग की आतुरता से। किसी सामने आए हुए भूखे व्यक्ति को देख करके उसके भोजन के लिए अपने शरीर का घात नहीं करना चाहिए । क्षाम, क्षान्त, क्षीण, हीन ये सभी शब्द एकार्थवाची हैं ॥८९॥

विशेषार्थ- यदि कोई भूखा व्यक्ति आकर के मांस की याचना करे तो भी उसे अपने शरीर का मांस नहीं देना चाहिए। क्योंकि निज और पर के प्राणों की रक्षा का नाम दया है। वह मांसलोलुपी दया का पात्र नहीं है जो अनन्त जीवों के पिण्ड स्वरूप मांस को खाने के लिए तैयार है। वह भी दयालु नहीं कहा जा सकता जो अपने शरीर का मांस देकर अपने परिणामों को कलुषित करता है और दूसरों को पापमय प्रवृति में लगाता है। इसलिए किसी भूखे को मांसादि अभक्ष्य पदार्थ कभी नहीं देना चाहिए और न धर्म के निमित्त आत्म घात करना चाहिए क्योंकि आत्मघात के समान कोई दूसरा पाप नहीं है ॥८९॥

भूखे का लख कष्ट जो, मांस दान निज देत।
वह भी हिंसा पाप है, मांस न भिक्षा हेत ॥८९॥

एवं प्रबुद्धनयचक्रसंचाराणां गुरूणां शरणं प्रपद्य कुत्र विमोहितमतेरवकाश इत्यहिंसाप्रकरणमुपसंहारन्नाह-

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून्।

विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः॥९०॥

मं. टी. - को नामेत्यादि। -गुरून् भव्यैकशरणभूतान्। कथम्भूतान् ? नयभङ्गविशारदान् नयस्य भङ्गा भेदोपभेदाः तेषु तेषां वा विशारदो विचक्षणः पण्डितस्तान्। उपास्य संसेव्य। विदितजिनमतरहस्यः विदितो विज्ञातो जिनमतानां स्याद्वादामोघलाञ्छनानां रहस्यः सारस्तत्त्वं येन सः। पुनश्च किं विशिष्टः ? विशुद्धमतिः विशुद्धा निर्मला मतिर्बुद्धिर्यस्य सः। किं कुर्वन्निति चेत् ? अहिंसां श्रयन् सेवमानः। को नाम मोहं विशति कोऽत्र विमोहितो भवेन्न कोऽपीत्यर्थः। नामेति प्रसिद्धौ॥९०॥

उत्थानिका - इस प्रकार जाना है नयचक्र के संचार को जिन्होंने ऐसे गुरूओं की शरण प्राप्त होने पर मतिभ्रम को अवकाश कहाँ है, अर्थात उनकी मति मोहित नहीं होती है। इस प्रकार अहिंसा के प्रकरण का उपसंहार करते हुए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः- नयभङ्गविशारदान् गुरून् उपास्य विदितजिनमतरहस्यः विशुद्धमतिः अहिंसां श्रयन् को नाम मोहं विशति॥

अन्वयार्थ - (नयभङ्गविशारदान्) नयों के भङ्गों को जानने में प्रवीण (गुरून् उपास्य) गुरूओं की उपासना करके (विदितजिनमतरहस्यः) जिनमत के रहस्य को जानने वाला (विशुद्धमतिः) निर्मल बुद्धि (अहिंसां श्रयन्) अहिंसा का आश्रय करने वाला (को नाम) कौन पुरूष (मोहं विशति) मोह को प्राप्त होता है अर्थात् कोई नहीं।

टीकार्थ - भव्य जीवों के लिए शरणभूत नयों के भेद उपभेदों को जानने में विचक्षण गुरूओं की उपासना करके तथा स्याद्वाद है अमोघ चिह्न जिसका ऐसे जिनमत के रहस्य को जानने वाले निर्मल बुद्धि के धारक, अहिंसा धर्म का आश्रय करने वाले पुरूष क्या मोह को प्राप्त होते हैं अर्थात नहीं होते हैं।

विशेषार्थ - नयों के भेद-उपभेदों को जानने वाले गुरू भव्य जीवों के लिए शरणभूत होते हैं। उन विचक्षण गुरूओं की जो उपासना करते हैं वे स्याद्वाद रूप सफल चिह्न के माध्यम से जिनमत के रहस्य को समझ लेते हैं और वे निर्मल बुद्धि वाले अहिंसा का आश्रय लेते हैं अतः कभी भ्रमित नहीं होते हैं ॥९०॥

तत्त्व विशारद गुरुजनों, की सेवा मन शुद्ध।
जान रहस जिनशास्त्र का, मोह कहाँ प्रतिबुद्ध ॥९०॥

अथासत्यलक्षणमुपलक्ष्यते –

यदिदं प्रमादयोगा – दसदभिधानं विधीयते किमपि।

तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः॥९१॥

मं. टी. – यदिदमित्यादि – प्रमादयोगात् प्रमाद्यतीति प्रमादः कर्तृविवक्षायां स्वचेतनायाः प्रज्ञापराध उच्यते। प्रमाद्यते येनात्मेति प्रमादः करणविवक्षायां कषायाणामुद्रेक इष्यते। तस्य योगात् मनोवक्कायव्यापारात् अथवा प्रमादस्य संयोगात्। यत् किमपि इदं वक्ष्यमाणलक्षणम्। किं तत् ? असत् अभिधानं, सत् सत्यं यथार्थं, न सत् असत् तस्याभिधानं वाचकशब्दः। विधीयते उच्चार्यते। तदनृतं न ऋतं सत्यमनृतं विज्ञेयं ज्ञातव्यम्। अपि निश्चयेन। तद्भेदाः तदनृतं तस्य भेदाः भङ्गाः। चत्वारः चतुः प्रकाराः। सन्ति भवन्ति॥९१॥

उत्थानिका – अब असत्य का लक्षण बताते हैं –

अन्वयः– यत् किं अपि प्रमादयोगात् इदं असत् अभिधानं विधीयते तत् अनृतं विज्ञेयं तदभेदाः अपि चत्वारः सन्ति ॥

अन्वयार्थ– (यत् किं अपि) जो कुछ भी (प्रमादयोगात्) प्रमाद के योग से (इदं असत् अभिधानं) यह असत्य कथन (विधीयते) किया जाता है (तत् अनृतं विज्ञेयं) उसे असत्य जानना चाहिए (तद्भेदाः चत्वारः सन्ति) उस असत्य के चार भेद हैं ।

टीकार्थ– प्रमाद के योग से अर्थात् उन्माद को प्राप्त आत्मा को प्रमादी कहते हैं। यह कर्त्तृवाच्य की विवक्षा में है। अपने आत्मा के या प्रज्ञा के अपराध को प्रमाद कहते हैं। जिसके द्वारा आत्मा प्रमाद को प्राप्त हो वह प्रमाद है, कर्मवाच्य की विवक्षा में यह जानना चाहिए । कषाय के उद्रेक या तीव्रता को भी प्रमाद कहते हैं। जो वास्तविक सत् नहीं है उसका कथन करने वाले शब्द को अनृत कहते हैं। जो ऋत अर्थात सत्य नहीं है उसे असत्य या अनृत कहते है। उस असत्य के चार भेद, भंग या प्रकार होते हैं। तीव्र कषाययुक्त मन, वचन, काय के व्यापार से अथवा प्रमाद के संयोग से जो कुछ भी कहा जाने वाला है वह असत्य है ॥९१॥

वचन असत का हेतु है एक प्रमाद महान।
चार भेद उस असत के हिंसा यह पहिचान ॥९१॥

तावत् प्रथमभेदं प्ररूपयन्नाह -

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।

तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र॥९२॥

मं.टी. - स्वक्षेत्रेत्यादि - सदपि सत् विद्यमानार्थे। अपि सम्भावनायाम्। हि निश्चयेन। वस्तु वसन्ति यस्मिन् गुणपर्यायास्तत्। कैरिति चेत् ? स्वक्षेत्रकालभावैः, क्षेत्रं वस्तुप्रदेशाः, कालस्तत्प्रदेशस्य वस्तुनि कालकृत-परिणमनम्, भावो धर्मः, स्वशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, स्वक्षेत्रं च स्वकालश्च स्वभावश्च तैरिति। यस्मिन् वचने। निषिध्यते निषेधः क्रियते। तत्प्रथममाद्यम्। असत्यमनृतप्रकारः। स्यात् अस्ति। अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयन्नाह यथाऽत्र देवदत्तो नास्ति स्वकीयक्षेत्रे सन्तिष्ठमानः स्वकालेन परिणतः स्वभावेन संस्थितोऽपि प्रतिषेध्यवचनमसत्यमित्यर्थः॥९२॥

उत्थानिका- असत्य के चार भेदों में से प्रथम भेद का वर्णन करते हैं -

अन्वयः- स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि वस्तु यस्मिन् निषिध्यते तत् प्रथमं असत्यं स्यात् यथा अत्र देवदत्तः नास्ति॥

अन्वयार्थ - (स्वक्षेत्रकालभावैः) अपने क्षेत्र, काल और भाव से (सदपि हि) विद्यमान भी (वस्तु) वस्तु (यस्मिन्) जिस वचन से (निषिध्यते) निषेध की जाती है (तत् प्रथमं असत्यं स्यात्) वह पहला असत्य है (यथा) जैसे (अत्र) यहाँ पर (देवदत्तः नास्ति) देवदत्त नहीं है ॥

टीकार्थ- सत् विद्यमान के अर्थ में है। अपि सम्भावना अर्थ में है। हि वास्तविकता को बतलाने वाला है। स्वक्षेत्र काल और भाव से गुण और पर्यायें जिसमें रहती हैं उसे वस्तु कहते हैं। वस्तु के प्रदेशों को स्वक्षेत्र कहते हैं। वस्तु में काल द्रव्य के द्वारा परिणमन को स्वकाल कहते हैं। भाव वस्तु का स्वभाव है। स्व शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए। जैसे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव। जिस वचन में विद्यमान भी वस्तु का निषेध किया जाता है वह पहला असत्य है । इसी को दृष्टांत पूवर्क समझाते हैं। जैसे यहाँ पर देवदत्त नहीं है। चूँकि देवदत्त अपने क्षेत्र में रह रहा है, अपने काल से परिणमन कर रहा है, अपने स्वभाव में स्थित है , फिर भी निषेध करने वाले वचन को प्रथम असत्य मानना चाहिए ॥९२॥

स्वीय द्रव्य से क्षेत्र से, काल भाव से अर्थ।
सत्तामय इस सत्य को, झूठे नकारे व्यर्थ॥९२॥

क्रमप्राप्तद्वितीयप्रकारोऽत्र वर्ण्यते -

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।

उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन्यथास्ति घटः॥९३॥

मं. टी. - असदपीत्यादि - असदपि अविद्यमानमपि। वस्तुरूपं द्रव्यं पदार्थो वा। हि निश्चये। तैः परक्षेत्रकालभावैः कमपि वस्तु स्वद्रव्यक्षेत्राद्यपेक्षयास्ति परक्षेत्राद्यपेक्षयैव नास्ति सर्वथा वस्त्वभावासम्भवत्वात्, तस्मात् परक्षेत्रे परकालापेक्षया परभावेनाविद्यमानैरिति। यत्र वचनविधौ। उद्भाव्यते उच्यते। तदनृतं असत्यं। द्वितीयं अस्तीति क्रियाध्याहारः। तद्यथा अस्मिन् कस्मिन्नपि क्षेत्रे घटोऽस्ति, अनुपलब्धेरपि सद्भाववचनत्वादितिभावः॥९३॥

उत्थानिका - क्रम प्राप्त द्वितीय प्रकार के असत्य का वर्णन करते हैं -

अन्वयः- यत्र असत् अपि हि वस्तुरूपं तैः परक्षेत्रकालभावैः उद्भाव्यते तत् द्वितीयं अनृतं यथा अस्मिन् घटः अस्ति॥

अन्वयार्थ - (यत्र) जिस वचन में (असत् अपि हि वस्तुरूपं) अविद्यमान भी वस्तु के स्वरूप को (तैः परक्षेत्रकालभावैः) उन भिन्न क्षेत्र, भिन्न काल, भिन्न भावों के द्वारा (उद्भाव्यते) कहा जाता है (तत् द्वितीयं अनृतं) वह दूसरे प्रकार का झूठ है (यथा अस्मिन् घटः अस्ति) जिस प्रकार इस जगह में घड़ा है ॥

टीकार्थ -वस्तु वास्तव में पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से अविद्यमान है, स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा नहीं। वस्तु का सर्वथा अभाव नहीं है। इसलिए परक्षेत्र परकाल और परभाव की अपेक्षा अविद्यमान वस्तु को जहाँ विद्यमानवत् प्रकट किया जाता है वह द्वितीय प्रकार का असत्य है। अस्ति क्रिया का अध्याहार करना चाहिए। जैसे - यहाँ किसी क्षेत्र में घट की अनुपलब्धि होने पर भी घट के सद्भाव का वचन कहना द्वितीय असत्य है ॥९३॥

क्षेत्र काल अरु भाव से, द्रव्य न तिष्ठत होय।
तो भी 'है' यह बोलना, झूठ दूसरा होय ॥९३॥

तृतीयप्रकारं निरूपन्नाह -

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।

अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः॥९४॥

मं. टी. - वस्त्वित्यादि - स्वरूपात् स्वक्षेत्रकालभावात्। सदपि विद्यमानमपि। वस्तु पदार्थः। यस्मिन् वचनप्रणालिकायाम्। पररूपेण परक्षेत्रादिरूपेण। अभिधीयते निरूप्यते। इदं तत् तृतीयं प्रकारमनृतमसत्यं। विज्ञेयमवसेयम्। च समुच्चये। यथाऽश्वः गौरिति दृष्टान्तोऽन्यथाप्ररूपणात् सुघटः॥९४॥

तुरीयमसत्यस्वरूपमाह -

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।

सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु॥९५॥

उत्थानिका - तृतीय प्रकार के असत्य का निरूपण करते हुए आगे कहते हैं -

अन्वयः- यस्मिन् स्वरूपात् वस्तु सत् अपि पररूपेण अभिधीयते च इदं तृतीयं अनृतं विज्ञेयं यथा गौ अश्वः इति॥

अन्वयार्थ - (यस्मिन्) जिस वचन में (स्वरूपात् वस्तु सत् अपि) अपने स्वरूप से वस्तु विद्यमान है फिर भी (पररूपेण अभिधीयते) पर स्वरूप से कही जाती है (च इदं तृतीयं अनृतं विज्ञेयं) यह तीसरा असत्य जानना चाहिए (यथा गौ अश्वः इति) जिस प्रकार बैल को घोड़ा कह देना ॥

टीकार्थ -स्वक्षेत्र काल भाव की अपेक्षा विद्यमान भी वस्तु जिस वचन में पर क्षेत्र आदि के रूप से कही जाती है वह तृतीय प्रकार का असत्य जानना चाहिए जैसे घोड़ा बैल है, चूँकि भार ढोने का काम दोनों से लिया जाता है फिर भी अन्य प्रकार से प्ररूपण होने से यह तृतीय प्रकार का असत्य है ॥९४॥

उत्थानिका -अब चतुर्थ प्रकार के असत्य के स्वरूप को कहते हैं -

अन्वयः- यत् वचनरूपं गर्हितं अवद्यसंयुतं अपि अप्रियं भवति तु इदं तुरीयं अनृतं सामान्येन त्रेधा मतम् ॥

अन्वयार्थ - (यत्वचनरूपं) वचन का जो स्वरूप (गर्हितं) निंदनीय (अवद्यसंयुतं) दोष सहित (अपि अप्रियं) और अप्रिय अर्थात् कठोर (भवति) होता है (तु इदं) इस प्रकार यह (तुरीयं अनृतं) चौथा असत्य

प्रति वस्तू निजरूप से, पर सापेक्ष अभाव।
पर पर के सापेक्ष से, झूठ कहे सद्भाव ॥९४॥
अप्रिय, निंदा के वचन, वा हिंसा के काज।
जो बोले वह झूठ है, व्रति को आवे लाज॥९५॥

मं. टी. - गर्हितमित्यादि - यत् किञ्चिदपि। वचनरूपं वचनस्य स्वरूपं। तुरीयं चतुर्थभेदरूपं। मतं कथितं। तु अवधारणे। तदनुक्तमपि वाच्यं सम्बन्धविशेषात्। ''यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्'' इति वचनम्। अतः तदनृतं। त्रेधा त्रिविधं सामान्येन स्थूलतया, सूक्ष्मरूपेण तु यावन्तो भावास्तावन्त एव वचनभेदाः पञ्चेन्द्रियेषु वचनप्रयोगो मनोयोगनिबन्धनत्वात्। तत्किमित्याह - प्रथमं गर्हितं निन्दनीयं सद्भिरिति। द्वितीयं अवद्यसंयुतं दोषसहितं प्राणिपीडाकरमिति। तृतीयं अप्रियं प्रेमरहितं कठोरमिति। अपि समुच्चये॥९५॥

किं नाम गर्हितमिति निगदति -

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।

अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्॥९६॥

मं. टी. - पैशून्येत्यादि - पैशून्यहासगर्भं पिशुनस्यभावः पैशून्यं पृष्ठमांसाशनं निर्दोषेऽपि दोषारोपणमसूयेति। हासः हसनं हास्यनोकर्मोदय - प्रभवः तयोर्गर्भः सहितं वचनम् तत्। तथा च कर्कशं सन्तापप्रदं

(सामान्येन) सामान्य रीति से (त्रेधा मतम्) तीन प्रकार का माना गया है ।

टीकार्थ - जो वचन स्वरूप चौथे भेद रूप कहा है वह अनृत तीन प्रकार का है ।'तु' अवधारण अर्थ में आया है।'यत् और तत् शब्द का नित्य सम्बन्ध होता है'। सामान्य से, स्थूल रूप से और सूक्ष्म रूप से जितने भाव हैं उतने ही वचन के भेद हैं। पंचेन्द्रिय जीवों में वचन का प्रयोग मनोयोग के सम्बन्ध से होता है। पहले गर्हित वचन को सज्जनों ने निन्दनीय वचन कहा है। दूसरा प्राणीयों को पीड़ा करने वाला दोष सहित पाप युक्त वचन कहलाता है। तीसरा- स्नेह रहित कठोर, अप्रिय वचन है॥९५॥

उत्थानिका - गर्हित वचन किसे कहते हैं ? इसका कथन कहते हैं -

अन्वयः - पैशून्यहासगर्भं कर्कशं असमञ्जसं प्रलपितं च अन्यत् अपि यत् उत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हित गदितम्॥

अन्वयार्थ - (पैशून्यहासगर्भं) दुष्टता रूप अथवा चुगली और हास्ययुक्त (कर्कशं) कठोर (असमंजसं) कुछ का कुछ असंबद्ध (प्रलपितं च) प्रलापरूप तथा (अन्यदपि) और भी (यत् उत्सूत्रं) जो शास्त्रविरूद्ध वचन है (तत्सर्वं गर्हितं) वे सब गर्हित अर्थात् निंद्यवचन (गदितं) कहे गये हैं ॥

टीकार्थ- हँसी मिश्रित वचन को **हास्य** गर्भ वचन कहते हैं। पीठ पीछे निन्दा करने को **पैशून्य** कहते हैं। इसलिए पैशून्य को कोशकार पृष्ठमांसभक्षी भी कहते हैं अर्थात् निर्दोष में भी दोषों का आरोपण करने को पैशून्य कहते हैं उसी को **असूया** भी कहते हैं। हास्य नोकर्म के उदय से उत्पन्न हँसी को हास्य कहते हैं। पैशून्य और हास्य से युक्त वचन पैशून्य हास्य गर्भ कहलाता है। संताप को देने वाले वचन को **कर्कश वचन** कहते

चुगली, हंसना, व्यंग से, कर्कश, औ बकवास।
श्रुत से जो विपरीत है, वह गर्हित है भाष ॥९६॥

''मूढस्त्वमुदरमात्रपोषी'' इत्यादि। असमञ्जसं प्रलपितं असम्बद्धप्रलापमनर्थकमसभ्यमिति यावत्। च समुच्चये। अन्यदपि यदुत्सूत्रं अन्यप्रकारमपि यत् सूत्रात् आगमात् उज्झितं रहितमननुवीचिभाषणमित्यर्थः। तत्सर्वं गर्हितं निन्दनीयवचनं गदितं कथितमिति॥९६॥

अथ सावद्यवचनं वर्ण्यते -

छेदन-भेदन-मारण - कर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते॥९७॥

मं. टी. - **छेदनेत्यादि** - छेदनं प्राण्यङ्गपीडाकरणं, भेदनं प्राणव्यपरोपणं, मारणं प्राणवियोगकरणं, कर्षणमुत्खातनं भूम्यादीनाम्। वाणिज्यं वणिक् कर्म, चौर्य स्तेयं तदात्मकं वचनमादि येषां तच्छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि। तत्सर्वमुदितं। सावद्यं सह अवद्येन पापेन वर्त्तते तत्सावद्यं हिंसादिपापागमनरूपम्। यस्मात् हेतोः। प्राणिवधाद्याः प्राणिवधः आदिर्येषां छेदनादीनां ते सावद्यकार्याः। प्रवर्तन्ते सम्भवन्ति। ''वृत् वर्तने'' लट्॥९७॥

हैं। जैसे तुम मूर्ख हो , तुम मात्र उदरम्भरी हो ऐसे वचन कर्कश कहलाते हैं ।

असमञ्जस प्रलाप अर्थात् अनर्थक असभ्य वचन को असमञ्जस प्रलाप कहते हैं ।'च' शब्द समुच्चय के अर्थ में प्रयुक्त है ।अन्य भी जो आगम के विरूद्ध, साररहित वचन हैं वे सभी निन्दनीय गर्हित वचन कहे गये हैं ॥९६॥

उत्थानिका - अब सावद्य वचन का वर्णन करते हैं -

अन्वयः- छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि तत् सावद्यं यस्मात् प्राणीवधाद्याः प्रवर्तन्ते।

अन्वयार्थ- (छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि) छेदना,भेदना, मारना, खेती, वाणिज्य और जो चोरी आदि के वचन हैं (तत् सावद्यं) वे दोष सहित वचन हैं (यस्मात्) इनसे (प्राणीवधाद्याः) प्राणियों के वध आदि हिंसा के कार्य (प्रवर्तन्ते) होते हैं।

टीकार्थ - छेदन अर्थात् नाक, कान, पूंछ, जीभ आदि प्राणियों के अंगो को पीड़ा करने वाले वचन, भेदन अर्थात अंगुली, गर्दन आदि काटने के वचन, मारण अर्थात् प्राणों का वियोग करने वाले वचन, कर्षण अर्थात् पृथ्वी आदि को खोदने या जोतने के वचन, वाणिज्य अर्थात् व्यापार के वचन एवं चोरी आदि के वचन ये सभी सावद्य अर्थात् हिंसादि पाप आस्रव के वचन कहे जाते हैं। चूँकि छेदन आदि के वचन सावद्य वचन कहे गये हैं। इसलिए इन्हें नहीं बोलना चाहिए ॥९७॥

छेदो, भेदो, मार दो, खोदो, कर व्यापार।
प्राणी वध के हेतु ये, वचन सदोष प्रकार ॥९७॥

अथाप्रियं प्ररूप्यते -

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरं।

यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्॥९८॥

मं. टी. - अरतीत्यादि - तद्वचनं। सर्वमशेषं। अप्रियं मनःप्रीतिरहितं। ज्ञेयं विज्ञातव्यं। यत्किमित्याह - अरतिकरं आधिक्येनारुचिररतिस्तं करोतीति तत्। भीतिकरं भयप्रदं। खेदकरं खेदः इष्टवियोगे मनोऽन्यथा भवनं तत्करम्। वैरशोककलहकरं - वैरं द्विष्टता, शोकः इष्टवियोगे मनः शोचनं, क्रोधातिरेकप्रभवो वा, कलहः प्रसिद्धः, वैरश्च शोकश्च कलहश्च वैरशोककलहास्तान् करोतीति तत्। यदपरमपि यच्चान्यदपि। परस्यान्यस्य तापकरं सन्तापजनकं। तदप्यप्रियं ज्ञेयम्॥९८॥

उत्थानिका- अब अप्रिय वचन का वर्णन करते हैं -

अन्वयः- अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्। यत् अपरं अपि परस्य तापकरं तत् सर्वं अप्रियं ज्ञेयम् ॥

अन्वयार्थ- (अरतिकरं) अप्रीति करने वाला, (भीतिकरं) भय उत्पन्न करने वाला, (खेदकरं) चित्त में खेद अर्थात् पश्चात्ताप उत्पन्न करने वाला, (वैरशोककलहकरम्) शत्रुता, शोक, झगड़ा उत्पन्न करने वाला (यत् अपरं अपि) और जो भी (परस्य) दूसरों को (तापकरं) संताप अर्थात् कष्ट देने वाले वचन है (तत् सर्वं अप्रियं) वह समस्त अप्रिय वचन (ज्ञेयम्) जानना चाहिए ।

टीकार्थ - अरूचि अर्थात् अप्रीति उत्पन्न करने वाले वचनों को अरतिकर वचन कहतें हैं। भय पैदा करने वाले वचनों को भीतिकर कहते हैं। इष्टवियोग आदि के होने पर मन को अन्यथा करने वाले वचनों को खेदकर वचन कहते हैं। शत्रुता पैदा करने वाले वचन को वैरकर कहते हैं। इष्ट वियोग होने पर मन को चिन्तित करने वाले वचन अथवा अत्यधिक क्रोध से उत्पन्न वचन शोककर वचन कहलाते हैं और कलह अर्थात् झगड़ा करने वाले वचनों को कलहकर कहतें हैं और जितने भी अन्य संताप करने वाले वचन हैं वे सब अप्रिय वचन जानने चाहिए ॥९८॥

सुनकर जिन के वचन को, घृणा भीति हो शोक।
बैर कलह मन खिन्न हो, अप्रिय वच तू रोक ॥९८॥

एतेषामसत्यभेदानामन्तरङ्गहेतुरेक एवेति समाख्याति -

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।

अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवसरति॥९९॥

मं. टी. - सर्वेत्यादि - अस्मिन् सर्वस्मिन् अपि कथितासत्यभेदेषु। यत् यस्मात हेतोः। प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं प्रमत्तयोगः प्रमादव्यापारः स चैव एकः प्रधानं मुख्यो वा हेतुः कारणं स चैव कथनं वाच्यभूतं। तस्मात् कारणात्। नियतं निश्चितं। अनृतवचनेऽपि असत्यकथनेऽपि। हिंसा पापं। समवसरति धावति। समवपूर्वकं ''सृ गतौ'' लट्। क्वचित् समवतरतीति पाठः आयातीत्यर्थः। ततः स्थितं प्रमत्तयोगाख्याभ्यन्तरप्रत्यये सति हि अनृतस्योपपत्तिः॥९९॥

उत्थानिका- असत्य के इन भेदों का अन्तरङ्ग हेतु एक ही है, इसका व्याख्यान करते हैं -

अन्वयः- यत् अस्मिन् सर्वस्मिन् अपि प्रमत्तयोगैक हेतु कथनं तस्मात् अनृतवचने अपि हिंसा नियतं समवसरति ॥

अन्वयार्थ- (यत्) क्योकिं (अस्मिन् सर्वस्मिन् अपि) इस समस्त कथन में (प्रमत्तयोगैकहैतुकथनं) एक प्रमाद का योग ही कारण कहा गया है। (तस्मात्) इसलिए (अनृतवचने अपि) झूठ वचन में भी (हिंसा नियतं) हिंसा नियम से (समवसरति) उत्पन्न होती है ॥

टीकार्थ- असत्य के इन समस्त प्रकारों में प्रमाद का योग ही एक प्रधान कारण है इसलिए असत्य वचन में भी हिंसा अर्थात् पाप होता है। (कहीं पर समवतरति ऐसा भी पाठ आया है।) इससे यह सिद्ध हुआ कि प्रमाद योग रूप अन्तरंग प्रत्यय के होने पर ही झूठ की उत्पत्ति होती है ॥९९॥

बिन प्रमाद के ये कभी, वचन कहे ना जाय।
अतः झूठ में जान लो, हिंसा पाप समाय ॥९९॥

प्रमत्तयोगैर्विना गर्हितादिवचनानामनृतत्वस्याभाव इति समुच्यते -

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानां।

हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम्॥१००॥

मं. टी. - हेतावित्यादि - सकलवितथवचनानां सकलं सम्पूर्णं च तद्वितथमसत्यं तच्च तद्वचनं तेषामनेकासत्यवचनभेदानाम्। प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे - प्रमत्तयोगस्य हेतुतायां कथिते सति। किं सिद्ध्यतीत्याह- हेयानुष्ठानादेः हेयो हातुं योग्यस्त्याज्य इत्यर्थः तस्यानुष्ठानं विधानं आदौ यस्य तस्य। अनुवदनं अनतिक्रमेण वदनं यथार्थकथनमित्यर्थः। ''झिः सुब्ण्यृद्धयद्वयर्था'' इति वचनात्। असत्यं न भवति प्रमत्तयोगाभावादित्यर्थः। तेनायाति पापप्रपञ्चप्रचुरात्मकाभक्ष्यभक्षणादिपरित्यागकाले क्वचिन्निष्ठुराप्रियवचनस्य सम्भवेऽपि न दोषाय कल्प्यतेऽप्रमत्तयोगादिति॥१००॥

उत्थानिका - प्रमत्त योग के बिना गर्हित आदि वचनों में असत्यपने का अभाव है, इस कथन को प्रकट करते हैं -

अन्वयः- सकलवितथवचनानां प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे हेयानुष्ठानादेः अनुवदनं असत्यं न भवति ॥

अन्वयार्थ- (सकलवितथवचनानां) समस्त असत्य वचनों का (प्रमत्तयोगे हेतौ निर्दिष्टे) प्रमाद योग को ही कारण बतलाने पर (हेयानुष्ठानादेः अनुवदनं) हेय उपादेय आदि अनुष्ठानों का कहना (असत्यं न भवति) असत्य नहीं है ॥

टीकार्थ- सम्पूर्ण असत्य वचनों का अर्थात् असत्य वचन के अनेक भेदों का प्रमाद योग ही हेतु कहा जाता है। हेय अर्थात् त्यागने योग्य और विधान अर्थात् उसके अनुष्ठान का कथन करना यर्थाथ कथन है। प्रमत्त योग का अभाव होने से असत्य नहीं होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पाप की प्रचुरता स्वरूप अभक्ष्य भक्षण आदि के परित्याग के लिए बोलते समय निष्ठुर और अप्रिय वचन के होने पर भी उसे दोष के लिए नहीं माना गया है क्योंकि इसमें प्रमत्त योग का अभाव होता है ॥१००॥

त्यागो तुम सब पाप को इस हेतु जो बोल।
भले कष्ट प्रद, सत्य हैं, बिन प्रमाद अनमोल ॥१००॥

अथ गृहाश्रमयोग्यानृतेभ्योऽन्यत्र सर्वं परिहर्त्तव्यमित्युदाहृतिः -

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुं ।

ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥१०१॥

मं.टी. - भोगोपभोगेत्यादि - ये केचिज्जनाः। सावद्यमनृतं पापोत्पादकवचनम्। कथम्भूतं ? भोगोपभोगसाधनमात्रं भोगः सकृद्भुक्तिरशनपानादिः उपभोगः मुहुर्मुहुर्भोग्यो वस्त्रपात्रादिः - उक्तञ्च -''भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः। उपभोगोऽशनवसनप्रभृतिपञ्चेन्द्रियो विषयः''॥ तयोः साधनमात्रं कारणमात्रं मोक्तुं परित्यक्तुं। अक्षमाः असमर्थाः भवन्ति। तेऽपि जनाः शेषमनृतं भोगोपभोगेभ्योऽन्यत्र समस्तं सर्वमसत्यवचनमपि। नित्यमेव सर्वकालं। एवकारो निश्चयार्थे। मुञ्चन्तु परिहरन्तु येनाप्रयोजनीयपापैः रक्ष्यन्ताम् ॥१०१॥

उत्थानिका- अब गृहस्थाश्रम के योग्य असत्य को छोड़कर शेष सभी प्रकार के असत्य का त्याग करना चाहिए, इस कथन को उदाहरण पूर्वक समझाते हैं-

अन्वयः- यक भोगपभोगसाधनमात्रं सावद्यं मोक्तुं अक्षमाः ते अपि शेषं समस्तं अपि अनृतं नित्यं एव मुञ्चन्तु॥

अन्वयार्थ- (ये) जो पुरूष (भोगोपभोगसाधनमात्रं) भोग उपभोग सामग्री के इकट्ठा करने में कारण मात्र (सावद्यं) सदोष वचन को (मोक्तुं अक्षमाः) छोड़ने में असमर्थ हैं (ते अपि) वे भी (शेषं समस्तं अपि अनृतं) बाकी समस्त झूठ को (नित्यं एव मुञ्चयन्तु) सदा ही छोड़ देवें।

टीकार्थ - जो पुरूष भोग और उपभोग के साधनभूत पापोत्पादक वचन छोड़ने में असमर्थ हैं उनको भोग -उपभोग के अलावा शेष समस्त असत्य वचन हमेशा के लिए त्याग कर देने चाहिए।

जो भोजन -पान आदि एक बार भोग कर छोड़ दिया जाता है उसे भोग कहते हैं। जो बार -बार भोगने में आने वाले वस्त्र, पात्रादि हैं उनको उपभोग कहते हैं, जैसे **समन्तभद्र स्वामि** ने **रत्नकरण्य श्रावकाचार्य** में कहा है -

''भोजन वस्त्र आदिक पाँचों इन्द्रिय सम्बन्धी जो विषय भोग करके छोड़ दिये जाते हैं वे भोग कहलाते हैं और भोग करके पुनः भोगने योग्य वस्तुओं को उपभोग कहते है''।

अतः भोग और उपभोग के अलावा शेष सभी असत्य वचनों को छोड़ देवें जिससे अप्रयोजनीय पाप से अपनी रक्षा होवे ॥१०१॥

दिन प्रतिदिन जो काम के, भोग और उपभोग।
उस कारज के, अन्य जो, तज वह भाषा योग ॥१०१॥

इदानीं चौर्यकर्म विचारयति -

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।

तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्॥१०२॥

मं. टी.- अवितीर्णस्येत्यादि - तत् स्तेयं स्तेनस्य भावः स्तेयं यत्प्रत्ययेन न लोपात्। तत्र चौर्यकर्म। प्रत्येयं विज्ञेयम्। यत् यत्र। प्रमत्तयोगात् प्रमादयोगस्य हेतुतया। परिग्रहस्य परिआ समन्तात् ग्रहणमात्मनः कर्मभिस्तद्द्रव्यं परिग्रहो भावो वा तस्य। परिग्रहणं परिग्रहः ''स्वरवृदृगमिग्रहामल'' इत्यनेन भावेऽल् प्रत्ययः। कथम्भूतस्य? अवितीर्णस्य वितीर्णो दत्तः न वितीर्णोऽवितीर्णस्तस्य अदत्तस्याप्रदानस्येत्यर्थः। ग्रहणं स्वीकृतिः। अदत्तादानस्य प्रमादयोगेन ग्रहणं स्तेयं भवति। तदेव सा पूर्वोक्ता हिंसा एव। च समुच्चये। कस्मादितिचेत् ? वधस्य हेतुत्वात् वधः प्राणघातस्तस्य कारणत्वादिति॥१०२॥

उत्थानिका - अब चौर्य कर्म का विचार करते हैं -

अन्वयः- यत् प्रमत्तयोगात् अवितीर्णस्य परिग्रहस्य ग्रहणं तत् स्तेयं प्रत्येयं सा एव च वधस्य हेतुत्वात् हिंसा ॥

अन्वयार्थ -(यत्) जो (प्रमत्तयोगात्) प्रमाद के योग से (अवितीर्णस्य) बिना दिये हुए (परिग्रहस्य) परिग्रह का (ग्रहणं) ग्रहण करना है (तत्) उसे (स्तेयं प्रत्येयं) चोरी जानना चाहिए (सा एव च) और वही (वधस्य हेतुत्वात्) प्रणघात का कारण होने से (हिंसा) हिंसा है ॥

टीकार्थ- स्तेन का भाव स्तेय कहलाता है। स्तेन शब्द से यत् प्रत्यय करने से स्तेन के 'न' का लोप होकर स्तेय शब्द बनता है। इसे चौर्यकर्म जानना चाहिए। जहाँ जहाँ प्रमाद का योग है वहाँ-वहाँ चौर्य कर्म होता है। परिग्रह परि अर्थात् कर्म के द्वारा आत्मा को सब ओर से ग्रहण करे उसे परिग्रह कहते हैं। प्रमाद के योग से बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करना चोरी है। प्राणों के घात का कारण होने से चौर्य कर्म में पूर्वोक्त हिंसा ही है। च समुच्चय अर्थ में ग्रहण करना चाहिए ॥१०२॥

बिना दिये पर - वस्तु को, ग्रहण करे तो पाप।
चोरी उसको ही कहा, हो प्रमाद की छाप ॥१०२॥

कथमत्यन्तपृथग्भूतस्य वस्तुनो ग्रहणात् प्राणघातप्रसङ्गः प्रसज्येतेति निश्चीयते-

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।

हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्॥१०३॥

मं. टी. - अर्था इत्यादि - ये केचित् एते अमी प्रत्यक्षीभूता अर्था नाम अर्थो धनं नामेति प्रसिद्धौ तमुपलक्षणमालक्ष्य धान्याभूषणवाहनकुप्यादिपदार्था विज्ञेयाः। ते ''यत्तदोर्नित्यसम्बन्धाद'' नुक्तेऽपि ग्रहणं। एते अर्थाः। पुंसां पुरुषाणां। स्त्रीणां नास्तीति न वक्तव्यमात्मार्थे पुंस्प्रयोगात्। ''क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः'' इत्यमरः। प्राणास्तु श्वासोच्छ्वासप्रभृतयोऽभिहिता इति नाऽशङ्कनीयास्तत्र भावप्राणाभिधानादभ्यन्तरा विवक्षिताः, अत्र तु बहिश्चराः बहिर्बाह्ये विचरन्तीति बहिश्चराः ''चरेष्टा इत्यनेन ट प्रत्ययः''। मूर्च्छाभावानुषङ्गात् प्राणनाम्नोपचर्यन्ते ''धनं प्राणाः'' इति वचनात्। ततः स्थितं-यो जनः कश्चित् पुमान्। यस्य जनस्य। अर्थान् बाह्यपदार्थान्। हरति चोरयति। स जनः। तस्य जनस्य। प्राणान् बाह्याभ्यन्तरान्। हरति चोरयति विनाशयति वा। प्रोक्तं च-

---

उत्थानिका - अत्यन्त पृथग्भूत वस्तु के ग्रहण करने से प्राणों के घात का प्रसंग कैसे हो सकता है, इसका निर्णय करते हैं -

अन्वयः- ये एते अर्था नाम एते पुंसां बहिश्चराः प्राणाः यः जनः यस्य अर्थान् हरति सः तस्य प्राणान् हरति॥

अन्वयार्थ - (ये एते अर्था नाम) जितने भी धन-धान्य आदि पर्दाथ हैं (एते पुंसां बहिश्चराः प्राणाः) ये पुरूषों के बाह्य प्राण हैं (यः जनः) जो पुरूष (यस्य अर्थान् हरति) जिसके धन-धान्य आदि पदार्थों का हरण करता है (सः) वह (तस्य प्राणान् हरति) उसके प्राणों का हरण करता है।

टीकार्थ - जो ये प्रत्यक्षीभूत पदार्थ धन नाम से लोक में प्रसिद्ध हैं, धन मात्र उपलक्षण जानना किन्तु धान्य, आभूषण, वाहन, कुप्य, आदि पदार्थों को यहाँ अर्थशब्द से स्वीकार करना चाहिए। यत् और तत् शब्द का सम्बन्ध होता है इसलिए अनुक्त पदार्थों को भी ग्रहण करना चाहिए। यहाँ पुरूष कहा तो इसका मतलब यह नहीं कि स्त्रियों का ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि आत्मा के अर्थ में पुरूष शब्द का प्रयोग किया गया है। क्षेत्रज्ञ , आत्मा, पुरूष ये एकार्थवाची शब्द हैं ।

प्राण शब्द से तो श्वासोच्छ्वास आदि दस प्राणों को कहा गया है ऐसी शंका यहाँ पर नहीं करनी चाहिए क्योंकि वहाँ पर प्राण शब्द से भाव प्राण, अभ्यन्तर प्राण विवक्षित है। यहाँ पर तो 'बहिश्चराः शब्द से बाह्य प्राणों का ग्रहण किया है। जो बाहर में विचरण करतें है उन्हें बहिश्चराः कहते हैं। 'चर्' धातु से 'ट' प्रत्यय होकर बहिश्चराः बना है । मूर्च्छा भाव का कारण होने से धन को भी प्राण उपचार से कहते हैं। कहा भी है कि

धन-धान्यादिक जीव के, कहे बाहरी प्राण।
जो पर-वस्तू को हरे, हरता उसके प्राण ॥१०३॥

यदेतद् द्रविणं नाम प्राणा ह्येते बहिश्चराः।

स तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनं॥१०३॥

हिंसास्तेययोरव्याप्तिर्न योज्येति योजयति-

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघट एव सा यस्मात्।

ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः॥१०४॥

मं. टी. - हिंसाया - इत्यादि - हिंसायाः हिंसाक्रियायाः। च स्तेयस्य चौर्यकर्मणः। न नास्ति। अव्याप्तिर्नाम दोषः साध्ये त्वेकदेशतया लक्षणस्य व्याप्तिव्याप्तिरुच्यते। यस्मात् कारणादित्याह - अन्यैः अपरैः। स्वीकृतस्य द्रव्यस्य स्वामित्वेन विषयभूतस्य वस्तुनः। ग्रहणे स्वीक्रियमाणे। अन्यैरित्युभयत्र योज्यो ''मध्यमणिन्यायेन''। प्रमत्तयोगः प्रमत्तस्य पञ्चदशप्रमादेनोन्मत्तस्य योगः कायादिव्यापारः। सुघट एव सुष्ठुतया घटत एव। तस्मात् ''यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्''। सा हिंसा। अस्त्येवेति क्रियाध्याहारः। अत्रायमर्थः अन्येन प्रमादतया परकीयवस्तु

धन ही प्राण हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो पुरूष जिसके बाह्य पदार्थों का हरण करता है वह उसके बाह्याभ्यन्तर प्राणों का ही हरण करता है। जैसा कि कहा है - ''**यह जो धन है वह उसके बाह्य प्राण हैं इसलिए जो किसी के धन का हरण करता है वह उसके बाह्य प्राणों का ही हरण करता है**'' ॥१०३॥

उत्थानिका - हिंसा और चोरी में अव्याप्ति दोष नहीं है, यह बात प्रकट करते हैं -

अन्वयः- हिंसायाः च स्तेयस्य न अव्याप्तिः यस्मात् अन्यैः स्वीकृतस्य द्रव्यस्य ग्रहणे प्रमत्तयोगः सुघट एव (तस्मात्) सा (अस्ति एव)।

अन्वयार्थ - (हिंसायाः च) हिंसा की और (स्तेयस्य) चोरी की (न अव्याप्तिः) अव्याप्ति नहीं है (यस्मात्) क्योंकि (अन्यैः स्वीकृतस्य द्रव्यस्य) दूसरों के द्वारा स्वीकार किये गये द्रव्य के (ग्रहणे) ग्रहण करने में (प्रमत्तयोगः) प्रमाद योग (सुघट एव) घटता ही है इसलिए (सा) हिंसा वहाँ होती ही है।

टीकार्थ - हिंसा क्रिया में और चौर्य कर्म में अव्याप्ति दोष नहीं है। साध्य में लक्षण की एकदेश व्याप्ति को अव्याप्ति दोष कहते हैं। अन्य के द्वारा स्वीकृत द्रव्य का स्वामित्व रूप से ग्रहण करने पर प्रमाद योग होता है। पन्द्रह प्रकार के प्रमाद से कायादि का व्यापार अच्छी तरह से घटित होता ही है इसलिए वह हिंसा ही है। 'अन्यैः' शब्द मध्यम मणि न्याय से दोनों ओर लगाना चाहिए जैसे अन्य के द्वारा या अन्य की वस्तु अपने द्वारा ग्रहण करना ।'अस्ति क्रिया' का अध्याहार करना चाहिए । यहाँ पर कथन का तात्पर्य यह है कि अन्य के द्वारा प्रमाद से दूसरे की वस्तु ग्रहण करने पर चोरी होती है और प्रमाद का योग होने से हिंसा भी होती है।

सह प्रमाद पर वस्तु का, हरण तु हिंसा जान।
लक्षण चोरी का कहा, बिन अव्याप्ती मान ॥१०४॥

गृह्यमाणे स्तेयं स्यात्तेन हिंसाऽपि प्रमादयोगलक्षणा। येन यत्र यत्र स्तेयं तत्र तत्र हिंसा प्रमत्तयोगत्वात् सर्वत्र साध्ये सिध्यति तेनाव्याप्तिर्निराकृता। प्रमत्तविरतसंयते प्रमत्तत्व-संभवेऽपि किं हिंसाप्रसक्तिर्न स्यादिति चेत् तन्न, प्रमत्तविरतेः सञ्ज्वलनकषायनोकषायाणामुदये संयमभावस्तन्मलजनकप्रमादश्चोत्पद्येते प्रत्युत प्रमत्तयोग इत्याख्याते सति प्रमत्तशब्देन पञ्चदशप्रमादेषु प्रवर्तनमवसेयम्। द्वादशकषायानुवर्तिप्रमादोऽविरतिप्रत्ययो मुख्यत्वेन प्रवर्तते। तेन षष्ठगुणस्थाने प्रमादसद्भावेऽपि न हिंसादोषः, सर्वविरतेः सङ्कल्पनात्। प्रमत्तविरतसंयत इति प्रयुक्तप्रमत्तशब्दस्य प्रमत्तयोगे प्रयुक्तप्रमत्तशब्देन भेदोऽभ्युपगन्तव्यस्ततो नाव्याप्तिप्रसङ्गः॥१०४॥

तथैवातिव्याप्तिरपि न सम्भवतीत्यत आह-

नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।

अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात्॥१०५॥

मं. टी. - नातीत्यादि - नीरागाणां निर्गतो रागो यस्मादात्मनः सः। ''रो रे लोपं स्वरश्च पूर्वोदीर्घः''

इसलिए जहाँ -जहाँ चोरी है प्रमाद का योग होने से वहाँ-वहाँ हिंसा है। हिंसा सर्वत्र साध्य में सिद्ध होती है। इसलिए अव्याप्ति दोष नहीं आता है ।

शंका- प्रमत्तविरत संयत के छठे गुणस्थान में प्रमत्तत्व संभव होने पर भी क्या उनको हिंसा का प्रसंग नहीं आता है ?

समाधान- आपका यह कहना ठीक नहीं है, प्रमत्तविरत के सञ्ज्वलन कषाय और नोकषाय के उदय में संयम भाव होता है किन्तु उस संयम में मल उत्पन्न करने वाला प्रमाद भी उत्पन्न होता है। प्रमत्तयोग ऐसा कहे जाने पर प्रमत्त शब्द से पन्द्रह प्रकार के प्रमादों में प्रवृत्ति करते हैं ऐसा जानना चाहिए। बारह कषायों में अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याखान, प्रत्याखान आदि कषायों में रहने वाला प्रमाद अविरति प्रत्यय की मुख्यता से होता है। अतः छठे गुणस्थान में प्रमाद का सद्भाव होने पर भी हिंसा का दोष नहीं होता है क्योंकि मुनिराज के सर्वविरति का संकल्प होता है। 'प्रमत्तविरतसंयत' इस प्रकार यहाँ प्रयुक्त प्रमत्त शब्द का और 'प्रमत्तयोग' यहाँ प्रयुक्त प्रमत्त शब्द में बहुत भेद स्वीकारना चाहिए, इसलिए अव्याप्ति का प्रसंग नहीं आता है ॥१०४॥

उत्थानिका-उसी प्रकार हिंसा और चोरी में अतिव्याप्ति भी नहीं है -

अन्वयः-प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणां अविद्यमानत्वात् तयोः अतिव्याप्तिश्च न।

अन्वयार्थ - (प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्) प्रमाद योग रूप एक कारण का विरोध होने से (अपि) और (कर्मानुग्रहणे) कर्म के ग्रहण करने में (नीरागाणां) वीतराग मुनियों के (अविद्यमानत्वात्) प्रमाद योग का अभाव होने से (तयोः) उन चोरी और हिंसा में (अतिव्याप्तिश्च न) अतिव्याप्ति भी नहीं है।

वीतराग मुनि कर्म का, ग्रहण करें बिन राग।
अतिव्याप्ती का दोष ना, अप्रमत्त का भाग ॥१०५॥

इत्यनेन पूर्वस्वरस्य दीर्घत्वम्। तेषां वीतरागाणामप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिनामित्यर्थः। कर्मानुग्रहणे कर्मणामनुग्रहणं स्वभावानुसारेण तस्मिन् सति। अपि निश्चये। तयोः स्तेयहिंसयोः। न चातिव्याप्तिनाम दोषो जायते। कस्मादिति चेत् ? प्रमत्तयोगैककारणविरोधात् अविद्यमानत्वात् प्रमत्तानां षष्ठगुणस्थानपर्यन्तानां योगः कायादिभेदेन त्रिरूपकः स चादः एकं मुख्यं कारणं तस्य विरोधात्। किंविशिष्टात् अविद्यमानत्वात् असत्वात् अर्थात् प्रमत्तयोगरूपमुख्यकारणाद्विरोधो जायते। तत्कारणं तु तत्र नीरागाणमविद्यमानत्वादतिव्याप्तिर्न प्रसजतीति भावः। असाध्ये साधनदर्शनमतिव्याप्तिः। वीतरागमुनीनां स्तेयदोषस्याभाव एव प्रमत्तयोगादतिक्रामात्। प्रमत्ता हि साध्याः स्तेयसाधनस्य। अत्र साध्या वीतरागास्तस्मात्प्रमत्तयोगेन ग्रहणभूतसाधनस्य तेषु अभावादनतिव्याप्तिरेव। वायुकर्मग्रहणादि तत्रापि दृश्यते तेनातिव्याप्तिरिति न वक्तव्यं तद्ग्रहणे स्वाभिप्रायाभावात्। तथैव प्रमत्ताप्रमत्तविरतमुनिषु निःस्वामिका गिरिगुहावसतिका शुद्धयर्थं जलगोमयादयः स्वाध्यायकरणार्थं पुस्तकादि च न दोषाय निष्प्रमादत्वान्निष्परिग्रहत्वाच्च। बालाग्रकोटिमात्रमपि परिग्रहं न स्वीकुर्वते निष्किंचनत्वान्मुनयः॥१०५॥

टीकार्थ- जिनकी आत्मा से राग निकल गया उनको नीराग कहते हैं। प्रमत्तयोग रूप कारण का अभाव होने से उन प्रमत्तादि गुणस्थानवर्ती मुनियों के कर्मों के ग्रहण करने में निश्चय से हिंसा और चोरी में अतिव्याप्तिदोष भी नहीं होता है ।

इसलिए यह सिद्ध हुआ कि वीतराग मुनियों के राग का अभाव होने से अतिव्याप्ति दोष का प्रसंग नहीं आता है। अर्थात् प्रमत्तयोग का अभाव होने से वीतराग मुनियों के चोरी के दोष का अभाव ही है।

असाध्य में साधन का होना अतिव्याप्ति कहलाती है। स्तेय साधन है तो उसका साध्य प्रमत्त मुनि होते हैं। यहाँ वीतरागी मुनि साध्य हैं इसलिए प्रमत्तयोग के द्वारा ग्रहण किये साधन का उन वीतरागियों में अभाव होने से अतिव्याप्ति दोष नहीं है। वायु (हवा) और कर्म (ज्ञानावरणादि) आदि का ग्रहण तो वीतराग मुनियों में भी देखा जाता है इसलिए अतिव्याप्ति नहीं कहना चाहिए, क्योंकि वायु और कर्मों के ग्रहण करने में मुनिराज के अभिप्राय का अभाव होता है। उसी प्रकार प्रमत्त विरत और अप्रमत्त विरत मुनियों में स्वामित्व से रहित पर्वत, गुफा, वसतिका, पानी, भस्म आदि शुद्धि के लिए और पुस्तक आदि स्वाध्याय के लिए ग्रहण करना दोष के लिए नहीं है क्योंकि मुनिराज प्रमाद और परिग्रह से रहित होते हैं तथा निष्परिग्रही होने से बालाग्रभाग जितने भी परिग्रह को स्वीकार नहीं करते हैं ॥१०५॥

अथ गृहवर्तिनामल्पादप्यल्पं पापं भवेदित्युपदिशति -

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम्॥१०६॥

मं. टी. - असमर्था इत्यादि - ये केचन जनाः। निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिं निपानं कूपस्तस्य जलमादिर्येषां मृत्तिकाग्रहणादीनां तेषां हरणमप्रदानग्रहणं तस्मात् विनिवृत्तिर्विरतिस्तां। कर्तुं करणार्थं। असमर्थाः अशक्याः। तैः गृहमेधिनै र्व्रतिकैः। अपि सम्भावनायां। नित्यं सर्वकालं। अपरं अन्यत्। समस्तं सकलं। अदत्तं विना प्रदानेन वस्तु ग्रहणं। परित्याज्यं परिहर्तव्यम्। अन्यत्र कूपतोयमृत्तिकादिभ्योऽपरं सम्पूर्णं वस्तु प्रत्याख्येयमिति भावः॥१०६॥

उत्थानिका-अब गृहस्थों के 'अल्प से भी अल्प पाप हो' इसका उपदेश देते हैं -

अन्वयः- ये निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम् कर्तुं असमर्थाः तैरपि अपरं समस्तं अदत्तं नित्यं परित्याज्यम्॥

अन्वयार्थ- (ये) जो लोग (निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिं) कुए के जल आदि के ग्रहण करने का त्याग (कर्तुं) करने में (असमर्थाः) असमर्थ हैं (तैःअपि) उन पुरूषों के द्वारा भी (अपरं समस्तं अदत्तं) अन्य समस्त बिना दी हुई वस्तुओं को (नित्यं) सदा (परित्याज्यम्) छोड़ देना चाहिए ।

टीकार्थ - जो पुरूष कुए के जलादि और मिट्टी के ग्रहण आदि का त्याग करने में असमर्थ हैं, उन गृहस्थ व्रतियों के द्वारा भी अन्य समस्त बिना दी हुई वस्तुओं के ग्रहण का हमेशा के लिए त्याग किया जाना चाहिए । अर्थात् उन्हें कूपजल और मिट्टी के अलावा अन्य समस्त वस्तुओं के स्वतः ग्रहण का त्याग करना चाहिए ॥१०६॥

कूपादिक का नीर भी, बिना देय है चौरि।
बिन उसके सब अन्य का, त्याग करो मन मोड़ि॥१०६॥

अथ मैथुनं किमित्युच्यते -

यद्वेदराग- योगान्मैथुनम - भिधीयते तदब्रह्म।

अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्॥१०७॥

मं. टी. - यद्वेदेत्यादि - वेदरागयोगात् वेदो द्विविधो द्रव्यभावभेदात्। तत्र द्रव्यवेदो वेदनामकर्मजनिताङ्गोपाङ्गविशेषः, भाववेदस्तु चारित्रमोहनीयकर्मोदयजनितभावविशेषः। उभयो हि वेदस्त्रिविधः पुंस्त्रीनपुंसकभेदात्। भाववेदानुषङ्गिणी रिरंसा। न च वेदमात्रेणोदयरूपेण रिरंसा, अहमिन्द्रमुनिजनादिषु तदभावदर्शनात्। किन्तु वेदे नोकषायभूते रागयोगात् कषायरूपात् वेदरागयोगादिति सूक्तम्। तस्मात् वेदरागयोगात् प्रमत्त - योगादित्यर्थः। यत् मैथुनं मिथुनस्यभावः कर्म वा द्विष्ठस्य मेलनं कामक्रीडेति तद्अब्रह्म। ततो वीर्यरक्षणं विद्याध्ययनमात्मज्ञानचिन्तनं वा ब्रह्म। न ब्रह्म अब्रह्म। अभिधीयते कथ्यते। तेन समानासमानलिङ्गिका वेदरागयोगात् मैथुनकर्मणि प्रवृत्ता भवन्तीति कथितम्। हस्तमैथुनमत्रैवान्तर्भवति तीव्ररागोद्रेकप्रभवनात्। तिर्यञ्च-योनिष्वपि

उत्थानिका - अब मैथुन का स्वरूप बतलाते हैं -

अन्वयः- यद्वेदरागयोगात् मैथुनं तत् अब्रह्म अभिधीयते तत्र वधस्य सद्भावात् सर्वत्र हिंसा अवतरति।

अन्वयार्थः-(यद्वेदरागयोगात्) जो वेद सम्बन्धी राग के योग से (मैथुनं) कामचेष्टा होती है (तत्) वह (अब्रह्म अभिधीयते) अब्रह्म अर्थात् कुशील कही जाती है। (तत्र वधस्य सद्भावात् सर्वत्र) वहाँ सब अवस्थाओं में जीवों का वध होने से (हिंसा अवतरति) हिंसा नियम से होती है।

टीकार्थ - द्रव्यवेद और भाववेद के भेद से वेद दो प्रकार का है। उनमें वेद नाम कर्म के उदय से उत्पन्न अङ्गोपांग विशेष को **द्रव्यवेद** कहते हैं तथा चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न भाव विशेष को **भाववेद** कहते हैं। स्त्रीवेद, पुरूषवेद और नपुंसक वेद के भेद से दोनों वेदों के तीन-तीन भेद हैं।

भाववेद के अनुसार स्त्री पुरूष में परस्पर रमण करने की इच्छा को मैथुन कहते हैं। वेद मात्र के उदय में रमने की इच्छा नहीं होती है, क्योंकि अहमिन्द्रों के और मुनिराजों के वेद का उदय तो देखा जाता है किन्तु रमने की इच्छा का उनमें अभाव पाया जाता है। वेद नोकषाय रूप है। राग कषाय रूप है। इसलिए कषाय और नोकषाय के संयोग को यहाँ वेद राग योग कहा गया है। इसे ही प्रमादयोग कहते हैं। प्रमाद के योग से जो मिथुन का भाव रूप कर्म है अथवा राग के योग से स्त्री पुरूष का मिलना कामक्रीड़ा है वह मैथुन कहलाता है।

वेद उदय से राग से, नर नारी का मेल।
वध जीवों का नियम से, मैथुन अघ का खेल ॥१०७॥

तथैव विज्ञेयं तत्रापि वेदत्रयोद्रेकस्योत्पत्तेः। न च मिथुनकर्मणि सर्वकर्माणि मातृपुत्रभगिनीभ्रात्र्यादीनि गृहीतव्यानि तत्र वेदरागयोगादिति हेतोरसम्भवत्वात्। तेन सुरतसुखाय विहितचेष्टितमुभयस्यात्राब्रह्मावसेयम्। तत्र सर्वत्र अब्रह्मपापे। हिंसा महत् पापं। अवतरति घटते। कस्मादित्याह - वधस्य सद्भावात् मैथुने प्राणवधोऽवश्यंभावीति कारणात्॥१०७॥

न दृश्यते मैथुने हिंसेति कस्यचिदारेका तामपाकुर्वन्नाह -

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।

बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥१०८॥

मं. टी. - हिंस्यन्त इत्यादि - यद्वत् यथाहि। तिलनाल्यां तिलस्य नाली प्रणाली तस्यां। तप्तायसि विनिहिते तप्तो वह्निनोष्णीकृतमयो लोहपिण्डः तस्मिन् विनिहिते प्रविष्टे सति। तिलाः हिंस्यन्ते पीड्यन्ते म्रियन्त इत्यर्थः। ''हिसि हिंसने'' कर्मणि लट्। तद्वत् तथैव। योनौ योनिरुत्पत्तिस्थानां तस्यां। मैथुने रतिसुखार्थकर्मणि सति।

इसलिए वीर्यरक्षण, विद्याध्ययन, आत्मज्ञान, चिन्तन को ब्रह्म कहते हैं। जहाँ ब्रह्म नहीं है वह अब्रह्म कहलाता है। इसलिए समान असमान लिङ्ग वाले वेदराग के योग से मैथुन कर्म में प्रवृत्त होते हैं, ऐसा कहा है।

तीव्रराग के उद्रेक से उत्पन्न होने वाले हस्तमैथुन आदि का भी मैथुन में अन्तर्भाव हो जाता है। तिर्यञ्च योनि में भी उसी प्रकार जानना चाहिए क्योंकि वहाँ पर भी तीनों वेदों के उद्रेक की उत्पत्ति होती है। परस्पर में दो लोगों के द्वारा किये जाने वाले सब कार्यों में माता, पुत्र, बहिन, भाई आदि को ग्रहण नहीं करना चाहिए क्योंकि उनमें वेद सम्बन्धी राग असंभव है। इसलिए रति सुख के लिए दोनों के द्वारा की गई चेष्टा को अब्रह्म जानना चाहिए । अब्रह्म पाप में नियम से हिंसा घटित होती है। मैथुन में प्राणियों के घात का सद्भाव होने से हिंसा नियम से होती है ॥१०७॥

उत्थानिका - मैथुन कर्म में हिंसा दिखाई नहीं देती है, इस शंका का निराकरण करते हुए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः -यद्वत् तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिलाः हिंस्यन्ते तद्वत् योनौ मैथुने बहवो जीवाः हिंस्यन्ते ॥

अन्वयार्थ - (यद्वत्) जिस प्रकार (तिलनाल्यां) तिल की नाली में (तप्तायसि विनिहिते) तपाये हुए लोहे के डालने पर (तिलाः हिंस्यन्ते) तिल जल जाते हैं (तद्वत्) उसी प्रकार (योनौ) योनि में (मैथुने) मैथुन करते समय (बहवो जीवाः) अनेक जीव (हिंस्यन्ते) मर जाते हैं।

टीकार्थ - जिस प्रकार तिल की नाली में अग्नि से तपाया हुआ लोहे का पिण्ड डालने पर तिल भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार रति सुख के लिए मैथुन कर्म करने पर असंख्यात जीवों की हिंसा होती है। ''हिसि हिंसने''धातु से कर्म वाच्य के लट् लकार में 'हिंस्यन्ते' रूप बनता है।

स्त्रियों के गुप्तांग और शरीर के अन्य अवयवों में सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय संज्ञी जीवों की उत्पत्ति की

तप्त लोह संयोग से, नालीगत तिल नाश।
त्यों मैथुन के योग से, बहु जीवों का नाश ॥१०८॥

बहवो जीवा असंख्येयशरीरिणः। हिंस्यन्ते म्रियन्ते। स्त्रीणां गुप्ताङ्गावयवेषु पञ्चेन्द्रियसञ्ज्ञिजीवानामुत्पत्तेराधिक्येन भवनादपि कामकेलौ तेषां विनाशोऽर्थापत्तिन्यायेनानिवारित एव। ''लिंग हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु। भणिदो सुहुमुप्पादो तासि'' मिति वचनात्। मैथुनकर्मणि समारम्भेऽपि तीव्ररागोदयश्च तन्निष्ठितेऽपि रागसंस्कारो बाढं गाढं जायते तेनावार्या भूयसी हिंसा॥१०८॥

योनिनिषेवणाद्विनाऽनङ्गमात्रक्रीडायामहिंसाविराधना नास्तीति कुतर्कः प्रतिक्षिप्यते -

यदपि क्रियते किंचिन्मदनोद्रेकादनंगरमणादि।

तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्॥१०९॥

मं. टी. - **यदपीति।** यत् किञ्चिदपि अनङ्गरमणादि अङ्गं योनिः काममुख्यत्वात् न अङ्गं अनङ्गं कुचादि तत्र रमणं रतिरादौ यस्यावलोकनचिन्तनाङ्गनिरीक्षणादिक्रियासु तत्। मदनोद्रेकात् मदनः कामो भाववेदः तस्योद्रेकात् तीव्रानुभागात्। क्रियतेऽनुष्ठीयते। तत्रापि क्रियायाम्। हिंसा भवति अर्हत्प्रवचने भावहिंसाप्रधानत्वात्। कस्मादिति

अधिकता होने से काम क्रीड़ा करने पर उन जीवों का विनाश अर्थापत्ति न्याय से नियम से होता ही है। जैसा कि **कुन्दकुन्द स्वामी** ने प्रवचनसार की **चरणानुयोग चूलिका** में कहा है -

''स्त्रियों की योनि, स्तन, नाभी, (काँख) बगलों में अनेक सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती है।''

मैथुन कर्म का प्रारम्भ होने पर तीव्र राग का उदय होता है और उसके होने पर राग का संस्कार तीव्र हो जाता है अतः बहुतर हिंसा को रोका नहीं जा सकता है ॥१०८॥

उत्थानिका-योनिसेवन के बिना अनङ्गक्रीड़ा मात्र में अहिंसा की विराधना नहीं होती है, ऐसा कुतर्क करने वालों के लिए उत्तर देते हैं -

अन्वयः-यदपि किञ्चित् मदनोद्रेकात् अनङ्गरमणादि क्रियते तत्रापि रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात् हिंसा भवति॥

अन्वयार्थ-(यदपि) जो भी (किञ्चित् मदनोद्रेकात्) कुछ काम के उद्रेक से (अनङ्गरमणादि क्रियते) अनंग क्रीड़ा आदि की जाती है (तत्रापि) वहाँ पर भी (रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्) रागादिक की उत्पत्ति की प्रधानता होने से (हिंसा भवति) हिंसा होती है।

टीकार्थ- जो भी अनंगरमणादि काम की मुख्यता से कामसेवन के अंग को छोड़कर कुच आदि में रमण करना, देखना, तत्सम्बन्धी चिन्तन करना, अंगो का बार-बार निरीक्षण, आदि के करने पर काम के उद्रेक से जो किया जाता है उसमें भी हिंसा होती है। क्योंकि जिनमत में भाव हिंसा की प्रधानता है। वेद के उदय के साथ

अन्य अंग से रमण में, भी हिंसा का दोष ।
तीव्र काम की वेदना, निश्चय से अघ कोष ॥१०९॥

चेदाहरागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात रागो वेदोदयेन सह कषायः आदौ यस्य तस्य उत्पत्तिः प्रसूतिरेव तन्त्रं प्रधानभूतस्तस्य भावस्तस्मात्। हिंसाविधाने मौख्यवृत्त्या स्वात्मनि हि रागाद्याः समुत्पद्यन्ते मिथुने तु स्वपरेषु गौणवृत्त्याऽन्येषु दृश्यमानेषु चेति हिंसा द्विगुणी स्यात्॥१०९॥

न स्यात् समर्थो यदि रागोद्रेकनिरोधने तर्हि किं कर्तव्यमित्याह -

ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवंति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्॥११०॥

मं. टी. - य इति। ये केचित् गृहस्थाः। मोहात् विशेषरागोदयात्। निजकलत्रमात्रं स्वदारमात्रं। परिहर्तुं त्यक्तुं। न हि शक्नुवन्ति समर्था न भवन्ति। तैरपि जनैः। निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं निःशेषा समस्ता च शेषयोषित् स्वस्त्रीं विहायावशिष्टस्त्रीसमूहः तस्याः निषेवणं कामाभिलाषा। न कार्यं न कर्तव्यमिति। स्वदारमात्रसन्तोषेऽशेषेच्छासमुद्रशोषणाद् देशव्रती भवतीतरथा व्यभिचारप्रसक्तिः। अनेन व्रतेन गृहमुपवसन्नपि ब्रह्मचर्यं प्रतिष्ठितम्। अयं तूपदेशः गृहस्थाश्रम-प्रविष्टानामस्ति यस्माद्धि ब्रह्मचर्याश्रमे कुतः कामावकाशो

कषाय की उत्पत्ति की प्रधानता होने से, हिंसा के विधान में मुख्यता से अपनी आत्मा में रागादि की उत्पत्ति होती है, किन्तु मैथुन कर्म के होने पर स्व और पर में तथा गौणरूप से अन्य दिखाई देने वालों में हिंसा दुगुणी हो जाती है ॥१०९॥

उत्थानिका- जो राग के उद्रेक को रोकने में समर्थ नहीं है उसे क्या करना चाहिए। उसके लिए सूत्र कहते हैं।

अन्वयः- ये मोहात् निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं न हि शक्नुवन्ति तैरपि निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं न कार्यम्॥

अन्वयार्थ-(ये) जो पुरूष (मोहात्) चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से (निजकलत्रमात्रं) अपनी स्त्री मात्र को (परिहर्तुं) छोड़ने के लिए (न हि शक्नुवन्ति) वस्तुतः समर्थ नहीं हैं (तैरपि) उन्हें भी (निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं) शेष समस्त स्त्रियों का सेवन (न कार्यम्) नहीं करना चाहिए।

टीकार्थ-जो गृहस्थ मोह से अर्थात् विशेष राग के उदय से अपनी स्त्री का त्याग करने में समर्थ नहीं हैं, उन पुरूषों को भी अपनी स्त्री को छोड़कर शेष समस्त स्त्रियों में काम की अभिलाषा नहीं करनी चाहिए। स्व स्त्री में सन्तोष होने पर बाकी समस्त स्त्रियों में इच्छा रूपी समुद्र के शोषण से देशव्रती संज्ञा होती है, अन्यथा व्यभिचार का प्रसंग आयेगा।

इस व्रत के पालन से गृहस्थ गृह में रहता हुआ भी ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठित होता है, किन्तु यह उपदेश गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने वालों के लिए है, क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या अध्ययन का श्रेष्ठ काल होने से काम को अवकाश कैसे हो सकता है ।

निज पत्नी को त्यागने, जो नहिं होय समर्थ।
उन्हें अन्य सब नारियाँ, तजने की हो शर्त ॥११०॥

विद्याध्ययनस्य श्रेष्ठकालात्।''विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या'' इत्युक्तेर्विद्याध्ययनकाले ब्रह्मचर्यं रक्ष्यं पश्चाद्धि गृहस्थधर्मोऽङ्गीकर्तव्यः॥११०॥

अथ परिग्रहस्य लक्षणमालक्ष्यते -

या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः॥१११॥

मं. टी. - येति। या काचित्। इयं प्रतीयमाना जगत्भूतसंघातैः। मूर्च्छा मूर्च्छनं। एष साक्षात्। हि निश्चयेन। परिग्रहोऽन्त्यपापस्य नाम। विज्ञातव्यः। का नाम मूर्च्छेति पृष्टे सत्याह- ममत्वपरिणामः अस्मद्शब्दस्य षष्ठ्यामेकवचने मम। ''तव मम ङसि'' इति सूत्रात्। तस्य भावः स चासौ परिणामः प्रणिधानं उपयोगो वेत्यनर्थान्तरम् अनात्मीयेषु आत्मभाव इत्यर्थः। कथम्भूतः ? मोहोदयादुदीर्णः - मोहो मोहनीयकर्म दर्शनचारित्रभेदभिन्नः तस्योदयस्तस्मादुदीर्णः उदीरितः। तु अवधारणे। मूर्च्छा भवतीति क्रियाध्याहारः॥१११॥

'वास्तव में ब्रह्मचर्य से प्राप्त की गई विद्या ही विद्या है।' ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्या शीघ्र आती है एवं स्थिर हो जाती है। ऐसा कहा गया है इसलिए विद्या अध्ययन के काल में ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए । बाद में ब्रह्मचर्य आश्रम में रहना सम्भव न हो तो गृहस्थ धर्म स्वीकार करना चाहिए॥११०॥

उत्थानिका -अब परिग्रह का लक्षण कहते हैं -

अन्वयः- या इयं मूर्च्छा नाम एषः हि परिग्रहः विज्ञातव्यः तु मोहोदयात् उदीर्णः ममत्वपरिणामः मूर्च्छा ॥

अन्वयार्थ -(या) जो (इयं मूर्च्छा नाम) यह मूर्छा है (एषः हि परिग्रहः) इसे ही परिग्रह (विज्ञातव्यः) जानना चाहिए (तु) और (मोहादयात्) मोहनीय कर्म के उदय से (उदीर्णः) उत्पन्न हुआ (ममत्वपरिणामः) ममता रूप परिणाम ही (मूर्च्छा) मूर्च्छा कहलाता है ।

टीकार्थ - जो यह संसारी जीवों के द्वारा अनुभव में आने वाली मूर्च्छा है वही वास्तव में परिग्रह है। अन्तिम पाप का नाम परिग्रह जानना चाहिए। मूर्च्छा किसे कहते हैं ऐसा प्रश्न किये जाने पर उत्तर देते हैं - ममत्व परिणाम को मूर्च्छा कहते हैं। अस्मद् शब्द से षष्ठी विभक्ति के एकवचन में मम शब्द बनता है। अस्मद् शब्द के स्थान में ङस् प्रत्यय के आने पर मम आदेश ''तव मम ङसि'' सूत्र से होता है। उसका भाव ममत्व है। परिणाम, प्रणिधान, उपयोग ये सब एकार्थवाची हैं। अनात्मीय वस्तु में आत्म भाव होना ही ममत्व परिणाम कहलाता है।

ममत्व परिणाम किस प्रकार होता है। दर्शनमोह और चारित्रमोह के भेद वाले मोहनीय कर्म के उदय से मूर्च्छा परिणाम होता है। भवति क्रिया का अध्याहार करना चाहिए। तथा तु शब्द अवधारणार्थ है ॥१११॥

निश्चय से मूर्च्छा कही, सर्व परिग्रह मूल।
मोह उदय, ममता हुई, मूर्च्छा मूल व चूल ॥१११॥

मूर्च्छापरिग्रहयोरव्यभिचारिणीयं व्याप्तिरिति व्यनक्ति -

मूर्च्छा - लक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।

सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेषसङ्गेभ्यः॥११२॥

मं.टी. - मूर्च्छेत्यादि - परिग्रहत्वस्य परिग्रहो बाह्याभ्यन्तरभेदेन चतुर्विंशति - प्रकारः तस्य भावस्तस्य महापापस्य। मूर्च्छालक्षणकरणात् मूर्च्छा एव परिग्रहः सैव लक्षणं तस्य करणात् विधानात्। व्याप्तिः ''इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति'' चेति लक्षणा। तद् द्विविधाऽन्वयव्यतिरेकभेदात्। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरित्यन्वयव्याप्तिः। यत्र यत्र वह्नेरभावः तत्र तत्र धूमाभाव इति व्यतिरेकव्याप्तिः। सुघटा सुष्ठु साधुतया घटते। यतश्चात्यन्तविविक्तं वनमुपवसन्नपि मुनिः परिग्रहवान् तीव्रचारित्रमोहोदयात्, शेषसङ्गेभ्यः विनापि बाह्यपरिग्रहेण रहितोऽपि। किल निश्चयेन। सग्रन्थः ग्रन्थः परिग्रहस्तेन सहितः सपरिग्रह एवेति। यतश्च मूर्च्छावान् मूर्च्छा यस्य विद्यते सः। तेन मूर्च्छालक्षणः परिग्रहः सूक्तः। नास्ति यत्र यत्र मूर्च्छा तत्र तत्र परिग्रहो नास्ति यथा गृहे ससामयिको गृहस्थस्तथाहि यत्र यत्र मूर्च्छा तत्र तत्र परिग्रहो यथा वने समोहो मुनिरिति व्याप्तिः सुसिद्धा॥११२॥

उत्थानिका-मूर्च्छा और परिग्रह में व्यभिचार दोष नहीं है इस प्रकार की व्याप्ति प्रकट करते हैं -

अन्वयः- परिग्रहत्वस्य मूर्च्छालक्षणकरणात् व्याप्तिः सुघटा शेषसङ्गेभ्य विनापि मूर्च्छावान् किल सग्रन्थः॥

अन्वयार्थ- (परिग्रहत्वस्य) परिग्रहत्व का (मूर्च्छा लक्षण करणात्) मूर्च्छा लक्षण करने से (व्याप्तिः) व्याप्ति (सुघटा) भले प्रकार घटित होती है क्योंकि (शेष सङ्गेभ्यः) अन्य सम्पूर्ण परिग्रह के (विनापि) बिना भी (मूर्च्छावान्) मूर्च्छा करने वाला पुरूष (किल) निश्चय से (सग्रन्थः) परिग्रह संयुक्त है।

टीकार्थ- उस परिग्रह महापाप के बाह्य अभ्यन्तर के भेद से दो भेद हैं। बाह्य परिग्रह दस प्रकार का है और अभ्यन्तर परिग्रह के चौदह भेद हैं। इस प्रकार परिग्रह चौबीस प्रकार का जानना चाहिए। मूर्च्छा लक्षण करने से अर्थात् मूर्च्छा ही परिग्रह है। मूर्च्छा के होने पर ही परिग्रह होता है और नहीं होने पर नहीं होता है इस प्रकार व्याप्ति का लक्षण है। वह व्याप्ति अन्वय और व्यतिरेक के भेद से दो प्रकार की है, जैसे जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ -वहाँ अग्नि है यह अन्वय व्याप्ति का लक्षण है और जहाँ-जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ-वहाँ पर धूम का अभाव है यह व्यतिरेक व्याप्ति का लक्षण जानना चाहिए। मूर्च्छा यह परिग्रह का लक्षण अच्छी तरह से घटित होता है।

जो मुनि अत्यन्त एकान्त जंगल में निवास कर रहें है पर तीव्र चारित्रमोहनीय कर्म का उदय है तो वे परिग्रहवान ही हैं। क्योंकि बाह्य परिग्रह के बिना भी मूर्च्छा के होने पर वह परिग्रह से युक्त ही है। क्योंकि मूर्च्छा जिसके है वह मूर्च्छा लक्षण ही परिग्रह है यह ठीक ही कहा है। जहाँ-जहाँ मूर्च्छा नहीं है, वहाँ-वहाँ परिग्रह नहीं है जैसे सामायिक से युक्त गृहस्थ घर में रहता हुआ भी मूर्च्छा से रहित होने से रहित होने से अपरिग्रही ही है, उसी प्रकार जहाँ-जहाँ मूर्च्छा है वहाँ-वहाँ परिग्रह है जैसे मोह से युक्त मुनि वन में निवास करता हुआ भी मूर्च्छा होने से परिग्रहवान है, यह व्याप्ति सिद्ध है ॥११२॥

बाहर कुछ भी है नहीं, मन ममता की खान।
मूर्छा लक्षण से बनी, परिग्रह व्याप्ति मान ॥११२॥

यदि मूर्च्छा परिग्रह इति परिग्रहस्य लक्षणं भवेत्तर्हि गृहमधिवसन्नपि मोक्षस्य प्रसङ्ग, किमर्थं बाह्यवस्तुत्यागोपदेशश्चेति विरोधं समादधति -

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरङ्गः।

भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम्॥११३॥

मं. टी. - यद्येवमित्यादि - यदि एवं उक्तप्रकारं मूर्च्छालक्षणं स्यात्। तदा तर्हि न खलु निश्चयेन नास्ति। कोऽपि बहिरङ्गः परिग्रहः धनधान्यादिः। इत्याशङ्कां परिहरन्नाह - नितरां भवति सदा परिग्रहो बहिरङ्गपरिग्रहो भवति। किं कारणम् ? यतो यस्माच्च। असौ परिग्रहः मूर्च्छानिमित्तत्वं - मूर्च्छा आत्मनि ममत्वपरिणामः तस्याः उत्पत्तौ निमित्तं मध्यपदलोपीसमासात् तस्य भावस्तं। धत्ते धारयति। अर्थात् बाह्यपरिग्रहो मूर्च्छोत्पत्तये हेतुर्निमितं वा नैमित्तिकस्त्वात्मनो विभावपरिणामः। बाह्यपरिग्रहस्य निमित्ततयात्मनि मूर्च्छा प्रादुर्भवति। तेन कारणभूते बाह्यपरिग्रहे कार्यरूपमूर्च्छापरिणामोपचारात् बाह्यवस्तुपरिग्रहत्वेनोपचर्यते। अथवा मूर्च्छानिमित्तत्वं मूर्च्छा सा चैतन् निमित्तं तस्य भावस्तं परिग्रहं धत्त इत्यर्थः। अस्य परिग्रहोऽस्ति न वेति निश्चयो मूर्च्छाऽनुषङ्गाद् विज्ञायते।

उत्थानिका- यदि मूर्च्छा परिग्रह का लक्षण है तो ग्रहस्थों के भी मोक्ष का प्रसंग आ जाएगा एवं बाह्य परिग्रह के त्याग का उपदेश व्यर्थ होगा? इस शंका का समाधान करते हैं-

अन्वयः-यदि एवं तदा खलु बहिरंङ्गः परिग्रहो न कोऽपि भवति, भवति यतः असौ नितरां मूर्च्छानिमित्तत्वं धत्ते॥

अन्वयार्थ - (यदि एवं) यदि ऐसा है अर्थात् परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा ही है (तदा) तो (खलु) निश्चय से (बहिरङ्गः परिग्रहो कोऽपि न भवति) बहिरंग परिग्रह कुछ भी नहीं होता है, (भवति) होता है, ब्राह्य परिग्रह , परिग्रह होता है। (यतः) क्योंकि (असौ) वह बाह्य परिग्रह (नितरां) निरन्तर (मूर्च्छानिमित्तत्वं) मूर्च्छा के निमित्तपने को (धत्ते) धारण करता है ।

टीकार्थ - शंका- यदि परिग्रह का लक्षण मूर्च्छा है तो निश्चय से धन धान्यादि बहिरंग परिग्रह कुछ भी नहीं होगा?

समाधान - चूँकि वह बहिरंग परिग्रह मूर्च्छा का कारण है, उसके होने से आत्मा ममत्व परिणामों को धारण करता है अर्थात् बाह्य परिग्रह मूर्च्छा की उत्पत्ति का कारण है और आत्मा के विभाव परिणाम नैमित्तिक हैं अर्थात् कार्य है, क्योंकि बाह्य परिग्रह के निमित्त से आत्मा में मूर्च्छा उत्पन्न होती है। इसलिए कारणभूत बाह्य परिग्रह के होने पर उपचार से कार्यरूप मूर्च्छा परिणाम उत्पन्न होता है। अतः बाह्य वस्तु को उपचार से परिग्रह कहा जाता है। अथवा मूर्च्छा उस परिग्रहपने को प्राप्त हो जाती है, यह कथन का तात्पर्य है।

यदि ऐसा तो बाह्य में, रखना वस्तु न संग।
ऐसा मत कह भ्रात वह, मूर्च्छा का ही अंग ॥११३॥

ममेदमिति परिणामस्य कारणभूतस्य कार्यों बाह्यपरिग्रहग्रहः। तेन कार्ये कारणोपचारात् परिग्रहत्वेन बाह्यवस्तूपचर्यते। ततो बाह्यवस्तुनः परिग्रहत्वमुपचारेण सिद्धत्वात्तद्रूपेणैव स्वीकृतिरविप्रतिपत्तिका सर्वेषामिति भावः॥११३॥

इति लक्षणेनोपलक्षितः परिग्रहोऽतिव्याप्तिदोषरहित इत्यत आह -

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छाऽस्ति॥११४॥

मं. टी. - एवमित्यादि - एवमुक्तप्रकारलक्षणविधानम्। परिग्रहस्य परिग्रहः सर्वदोषाणां मूलस्तस्य। अतिव्याप्तिः लक्षणदोषः। स्यात् भवेत्। इति चेत् कश्चिदाशङ्कते तस्य निरसनार्थमाह नैवं भवेत् तन्न घटते। यस्मात् कारणात्। अकषायाणां वीतरागच्छद्मस्थानां मुनीनां। कर्मग्रहणे कर्मणां ज्ञानावरणादीनां ग्रहणमादानं तस्मिन् सत्यपि। न मूर्च्छा अस्ति तेषां मूर्च्छाऽभावादतिव्याप्तेरप्रसङ्गः। अलक्ष्यभूतेषु मुनिषु मूर्च्छालक्षणमतिव्याप्तितया नायाति यतस्तेषां ज्ञानावरणादीनां हेयत्वादनात्मस्वभावत्वादपरिग्रहत्वं मूर्च्छापरिणामस्याभावत्वादप्यपरिग्रहत्वञ्च सुघटनात्॥११४॥

इसके परिग्रह है या नहीं? इस प्रकार का निश्चय मूर्च्छा के सम्बन्ध से जाना जाता है। यह मेरा है इस प्रकार के कारणभूत परिणाम का कार्य बाह्यपरिग्रह का ग्रहण है। कार्य में कारण का उपचार होने से बाह्य वस्तु को उपचार से परिग्रह कहा जाता है। इसलिए बाह्य वस्तु के परिग्रहपना उपचार से सिद्ध है। उस रूप से ही विवाद रहित सबके मत में स्वीकार्य है, यह कथन का तात्पर्य है ॥११३॥

उत्थानिका - इस प्रकार के लक्षण से उपलक्षित परिग्रह अतिव्याप्ति दोष से रहित है, इसका कथन करते हैं -

अन्वयः - एवं परिग्रहस्य अतिव्याप्तिः स्यात् इति चेत् एवं न भवेत् यस्मात् अकषायाणां कर्मग्रहणे मूर्च्छा न अस्ति ॥

अन्वयार्थ - (एवं) इस प्रकार के (परिग्रहस्य) परिग्रह के लक्षण में (अतिव्याप्तिः स्यात्) अतिव्याप्ति होगी (इति चेत्) यदि ऐसी शंका है तो (एवं न भवेत्) ऐसा नहीं हो सकता (यस्मात्) क्योंकि (अकषायाणां) कषाय रहित मुनियों के (कर्मग्रहणे) कर्मो के ग्रहण करने में (मूर्च्छा न अस्ति) मूर्च्छा नहीं होती।

टीकार्थ - **शंका**- सब दोषों के मूल पूर्वोक्त लक्षण वाले परिग्रह के अतिव्याप्ति दोष आता है ?

समाधान- वह अतिव्याप्ति दोष घटित नहीं होता है क्योंकि कषायरहित वीतराग छद्मस्थ मुनियों के ज्ञानावरणादि कर्मो का ग्रहण होने पर भी मूर्च्छा का अभाव होता है तथा मूर्च्छा का अभाव होने से अतिव्याप्ति दोष का प्रसंग भी नहीं आयेगा। इसलिए अलक्ष्यभूत मुनियों में मूर्च्छालक्षण वाली अतिव्याप्ति प्राप्त नहीं होती है क्योंकि उनके लिए ज्ञानावरणादि कर्म हेय हैं और आत्मस्वाभाव से भिन्न स्वभाव वाले हैं, इसलिए वे अपरिग्रही हैं। उन विषयों में मूर्च्छा परिणाम का अभाव होने से भी वे परिग्रहपने को प्राप्त नहीं होते हैं ॥११४॥

इस लक्षण में दोष ना, अतिव्याप्ती का लेश।
मूर्छा से ना कर्म को, गहते मुनि जिन-भेष ॥११४॥

अथ परिग्रहः कतिविध इति समादधन्नाह -

अति संक्षेपाद् द्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।

प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु॥११५॥

मं. टी. - अतीत्यादि - स परिग्रहः। अति संक्षेपात् स्थूलतया। द्विविधः विधशब्दः प्रकारवाची द्वौ विधावस्येति द्विप्रकारः इत्यर्थः। किमिति चेदाह-प्रथम आद्यः। अभ्यन्तरः अन्तरङ्गः। सोऽपि कतिविधः ? चतुर्दश विधः द्विसप्तप्रकारः। भवेत् स्यात्। द्वितीयः अन्यो बहिरङ्गो वा। तु अवधारणे। द्विविधः द्विप्रकारः। भवति अस्ति॥११५॥

उत्थानिका- अब परिग्रह कितने प्रकार का है ? इसका समाधान करते हैं -

अन्वयः- सः अतिसंक्षेपाद् द्विविधः भवेत् आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च प्रथमः चर्तुदशविधः द्वितीयस्तु द्विविधः भवति ॥

अन्वयार्थ - (सः) वह परिग्रह (अतिसंक्षेपात्) अति संक्षेप से (द्विविधः भवेत्) दो प्रकार का है (आभ्यान्तराश्च बाह्यश्च) अभ्यन्तर और बाह्य। (प्रथमः) पहला अभ्यन्तर परिग्रह (चतुर्दशविधः) चौदह प्रकार का है। (द्वितीयस्तु) दूसरा बाह्य परिग्रह (द्विविधः भवति) दो प्रकार का होता है।

टीकार्थ - वह परिग्रह संक्षेप से दो प्रकार है। विधि शब्द प्रकार वाची है। दो हैं भेद जिसके वह दो भेद वाला कहलाता है। परिग्रह के दो भेद कौन से हैं ? पहला आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार का है। दूसरा बहिरंग परिग्रह चेतन और अचेतन के भेद से दो प्रकार का है। 'तु' शब्द का अवधारण अर्थ में प्रयोग हुआ है॥११५॥

बाह्याभ्यन्तर रूप से, परिग्रह के दो भेद।
पहले के दो भेद हैं, अपर चतुर्दश भेद ॥११५॥

अथादावुद्दिष्टस्यान्तरङ्गस्य भेदप्रतिपादनार्थमाह -

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः॥११६॥

मं. टी. - मिथ्यात्वेति - मिथ्यात्ववेदरागाः मिथ्यात्वं विपरीतश्रद्धानं, वेदस्त्रिविधः। वेदा एव रागा वेदरागाः, रागोत्पत्तिजनककार्यत्वान् नोकषायेष्वन्तर्भावाच्च। मिथ्यात्वं च वेदरागाश्च मिथ्यात्ववेदरागा इत्यर्थः। तथैव षड्दोषाः हास्यादयश्च हास्यः आदिर्येषां रत्यरतिशोकभयजुगुप्सानां ते षड्नोकषाया इति। चत्वारश्च कषाया क्रोधमानमायालोभाख्याः। एते सर्वे संपिण्डिता चतुर्दशप्रकाराः अभ्यन्तराः आत्मविभावभावा ग्रन्थाः परिग्रहा उच्यन्ते। उक्तञ्च पूर्वैरपि -

मिच्छत्तवेदराया तहेव हस्सादिया य छद्दोषा।
चत्तारि तह कषाया चउदस अब्भंतरं गंथा॥११६॥

उत्थानिका -पहले कहे गये अन्तरंग परिग्रह के भेदों को बतलाने के लिए सूत्र कहते हैं-

अन्वयः -मिथ्यात्ववेदरागाः तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः चत्वारश्च कषायाः चतुर्दश अभ्यन्तराः ग्रन्थाः ॥

अन्वयार्थ - (मिथ्यात्ववेदरागाः) मिथ्यात्व, पुंवेद, स्त्री वेद, नपुंसक वेद, (तथैव) उसी प्रकार (हास्यादयश्च षड्दोषाः) हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह दोष (चत्वारश्च कषायाः) और चार कषाय (चतुर्दश अभ्यन्तराः ग्रन्थाः) ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह कहलाते हैं ।

टीकार्थ - विपरीत श्रद्धा को मिथ्यात्व कहते हैं। वेद तीन प्रकार के हैं। वेद सम्बन्धी राग की उत्पत्ति का कार्य होने से और नोकषायों में अर्न्तभाव हो जाने से वेद ही राग है। मिथ्यात्व और वेदराग में इतरेतर योग द्वन्द्व समास है। हास्य है आदि में जिनके ऐसे रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा ये छह नोकषाय षड्दोष कहलाते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, ये चार कषायें हैं। ये सब मिलकर चौदह प्रकार के अभ्यन्तर परिग्रह कहलाते हैं। आत्मा के विभाव भाव को अभ्यन्तर परिग्रह कहते हैं।

पूर्वाचार्य प्रणीत ग्रन्थों में भी कहा गया है कि **मिथ्यात्व, तीन वेद सम्बन्धी राग, हास्यादि छह दोष तथा चार कषाय ये चौदह अभ्यन्तर परिग्रह कहलाते हैं** ॥११६॥

मिथ्यातम त्रय वेद औ हास्यादिक छह अंग।
चार कषायों से सहित चौदह अन्तर संग ॥११६॥

तदनन्तरमुद्दिष्टं परिग्रहं भेदप्रतिपित्सवः कथयन्ति -

अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेद्वौ द्वौ।

नैष कदाचित्सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्॥११७॥

मं. टी. - अथेत्यादि - अथ तदनन्तरमुद्दिष्टस्य। बाह्यस्य बहिर्भवं बाह्यं ''बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्च'' इत यञ् तस्य। परेषां चक्षुःगोचरस्य परिग्रहस्य धनधान्यादिः। द्वौ भेदौ प्रकारौ स्तः इति शेषः। किमात्मकौ तावेति चेदाह ? निश्चित्तसचित्तो निश्चित्तः निर्गतं चित्तं प्राणाः यस्मात् सोऽचेतनो वस्त्रावासादि। सचित्तः सह चित्तेन प्राणैर्यो विद्यते स सचेतनः स्त्रीपुत्राश्वादिः। निश्चित्तश्च सचित्तश्च निश्चित्तसचित्तौ चेतनाचेतनौ। तृतीयः प्रकारः सचेतनाचेतनरूपे यथा धनसहितभृत्योऽत्रैवान्तर्भवति द्वाभ्यामव्यतिरिक्तेः। सर्वोऽपि एष सङ्गः सकलोऽपि परिग्रहः। कदाचिन्न क्वापि काले न। हिंसामतिवर्तते अतिरिच्यते। अर्थात् यत्र यत्र सङ्गस्तत्र तत्र हिंसेति सुघटते सङ्गानुषङ्गितममत्वपरिणामानुषङ्गात्॥११७॥

उत्थानिका -इसके बाद कहे गये बाह्य परिग्रह के भेदों को प्रकट करने की इच्छा से आगे का सूत्र कहते हैं

अन्वयः - अथ बाह्यस्य परिग्रहस्य निश्चित्तसचित्तौ द्वौ भेदौ एषः सर्वोऽपि सङ्गः कदाचित् हिंसा न अतिवर्तते॥

अन्वयार्थ - (अथ बाह्यस्य परिग्रहस्य) बाह्य परिग्रह के भी (निश्चित्तसचित्तौ) अचेतन और सचेतन (द्वौ भेदौ) ये दो भेद हैं (एषः) यह (सर्वोऽपि सङ्गः) सम्पूर्ण परिग्रह (कदाचित्) कभी भी (हिंसा न अतिवर्तते) हिंसा का उल्लंघन नहीं करता है अर्थात् परिग्रह से सर्वदा हिंसा होती है ।

टीकार्थ - चक्षु इन्द्रिय के गोचर होने वाले धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रह के निश्चित और सचित्त की अपेक्षा दो भेद हैं। उन दोनों का क्या स्वरूप है? प्राणों से रहित अचेतन वस्त्रादि को निशिचित्त परिग्रह कहते हैं और प्राणों के साथ जो रहता है उसे सचित्त परिग्रह कहते हैं,जैसे स्त्री, पुत्र, घोड़ा आदि। सचित्त और निश्चित्त में इतरेतर योग द्वन्द्व समास है।

बाह्य परिग्रह - सचेतन,अचेतन और मिश्र अर्थात् सचेतनाचेतन के भेद से तीन प्रकार का भी होता है। तीसरा भेद जैसे धन सहित नौकर आदि को सचेतनाचेतन परिग्रह कहते हैं। इस तीसरे भेद का भी उन दोनों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। ये सभी प्रकार के परिग्रह किसी भी काल में हिंसा का उल्लंघन नहीं करते हैं अर्थात् जहाँ-जहाँ परिग्रह है वहाँ-वहाँ हिंसा नियम से होती है। परिग्रह का सम्बन्ध ममत्व परिणामों के सम्बन्ध से होता है ॥११७॥

बाह्य संग के भेद दो, देख अजीव सजीव।
जहाँ जहाँ यह संग है, वहाँ वहाँ अघ नींव ॥११७॥

तदर्थमेव परिग्रहपरित्यागायोत्साहयन्त्यार्या इति विज्ञापयति -

उभय - परिग्रहवर्जन - माचार्याः सूचयन्त्य - हिंसेति।

द्विविध - परिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः॥११८॥

मं. टी. - उभयेत्यादि - आचार्याः आचरन्ति स्वयमेव परानाचारयन्ति वा ते। कथम्भूताः ? जिनप्रवचनज्ञाः जिनाः रागादीनां जेतारः, तेषां प्रवचनं शासनमुपदेशो वा, तं जानन्ति ते ''आतोऽनुपसर्गात्कः'' इत्यनेन कप्रत्ययः। उभय परिग्रहवर्जनं बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहस्य वर्जनं सन्त्यजनं। अहिंसा परमब्रह्म। इति सूचयन्ति एवं वर्णयन्ति। ''हेतावेवं प्रकारादौ'' इत्यभिधानात्। तथा द्विविधपरिग्रहवहनं उभयपरिग्रहस्य धारणं। हिंसा महापापं। इति एवं प्रकारः। सूचयन्ति कथयन्तीति भावः। यत्र यत्र परिग्रहस्तत्र तत्रारम्भः यत्र यत्रारम्भस्तत्र तत्र हिंसेति हेतुहेतुमद्भावाद्धिंसाविनिवृत्तये परिग्रहान्निवृत्तिरवश्यं कार्या। तथा च प्रोक्तम् - अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमं...॥११८॥

उत्थानिका - दो आर्या छन्दों में उस परिग्रह के परित्याग के लिए उत्साहित करते हैं-

अन्वयः - जिनप्रवचनज्ञाः आचार्याः उभयपरिग्रहवर्जनं अहिंसा इति द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसा इति सूचयन्ति॥

अन्वयार्थ -(जिनप्रवचनज्ञाः) जिनागम के जानने वाले (आचार्याः) आचार्य परमेष्ठी (उभयपरिग्रहवर्जनं) दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करना (अहिंसा इति) अहिंसा है (द्विविधपरिग्रहवहनं) दोनों प्रकार के परिग्रह को धारण करना (हिंसा इति सूचयन्ति) हिंसा है, इस प्रकार सूचित करते हैं ॥

टीकार्थ - जो पञ्चाचार का स्वयं पालन करते हैं तथा दूसरों को कराते हैं उन्हें आचार्य कहते हैं और कैसे होते हैं वे आचार्य ? जिनप्रवचन के ज्ञाता होते हैं। रागादि को जीतने वाले जिन कहलाते हैं। उनके प्रवचन -उपदेश के ज्ञाता आचार्य परमेष्ठी दोनों प्रकार के परिग्रह के त्याग को अहिंसा कहते हैं और दोनों प्रकार के परिग्रह को धारण करना हिंसा महापाप है ऐसा सूचित करते हैं। जहाँ-जहाँ परिग्रह है वहाँ-वहाँ आरम्भ है और जहाँ-जहाँ आरम्भ है वहाँ-वहाँ हिंसा है इस प्रकार हेतु-हेतुमद्भाव से हिंसा की निवृत्ति के लिए परिग्रह का त्याग अवश्य करना चाहिए। जैसा कि समन्तभद्र स्वामि ने स्वयम्भू स्तोत्र में कहा है -

हे नमिनाथ भगवन्! **प्राणियों की अहिंसा लोक में परम ब्रह्म रूप से प्रसिद्ध है अर्थात् अहिंसा ही परम ब्रह्म है**, किन्तु वह अहिंसा उस आश्रम की विधि में नहीं है जहाँ पर थोड़ा भी आरम्भ होता है। इसलिए उस अहिंसा धर्म की सिद्धि के परम दयालु होकर आपने दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग किया था और यथाजात लिङ्ग के विरोधी वेष तथा परिग्रह में आसक्त नहीं हुए थे ॥११८॥

द्विविध परिग्रह त्याग से, पले अहिंसा धर्म।
द्विविध परिग्रह ग्रहण से, नित हिंसा का कर्म ॥११८॥

पुनश्च तमेवार्थं दृढयति -

हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्॥११९॥

मं. टी. - हिंसेत्यादि - अन्तरङ्गसङ्गेषु मिथ्यात्वरागादिषु अन्तरङ्गेषु परिग्रहेषु। तु अवधारणे। हिंसा सिद्धा हिंसापर्यायत्वात् मिथ्यात्ववेदकषायादयो निजात्मनः परिणामा हिंसायाः पर्यायाः नामानि तस्मात् तद्रूपात्मनः परिणमने सति हिंसा जायते परमविशुद्धनिर्मलस्वभावात्मकपरमब्रह्ममयाहिंसास्वरूपात् प्रच्युतिरेव हिंसा पारमार्थिकी सिद्धा। ''अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति'' प्राक्प्ररूपणात्। बहिरङ्गेषु बाह्यपरिग्रहेषु। तु अवधारणे। नियतं निश्चयेन। मूर्च्छा एवं हिंसात्त्वं प्रयातु। मूर्च्छानिमित्तत्वं हि हिंसात्वं सिध्यति नान्यथेति भावः॥११९॥

उत्थानिका- पुनः उसी अर्थ को दृढ़ करते हैं -

अन्वयः - हिंसापर्यायत्वात् अन्तरङ्गसङ्गेषु हिंसा सिद्धा तु बहिरङ्गेषु मूर्च्छा एव नियतं हिंसात्वं प्रयातु॥

अन्वयार्थ - (हिंसापर्यायत्वात्) हिंसा की पर्याय होने से (अन्तरङ्गसङ्गेषु) अन्तरङ्ग परिग्रह में (हिंसा सिद्धा) हिंसा स्वयं सिद्ध है (तु बहिरङ्गेषु) बहिरंङ्ग परिग्रह में (मूर्च्छा) ममत्व परिणाम (एव) ही (नियतं) निश्चय से (हिंसात्वं) हिंसा भाव को (प्रयातु) प्राप्त होता है।

टीकार्थ - मिथ्यात्व रागादि अन्तरंग परिग्रहों में हिंसा की पर्याय होने से हिंसा सिद्ध है। मिथ्यात्व वेद कषाय आदि निज आत्मा के परिणाम हिंसा की पर्याय होने से उस रूप आत्मा के परिणमन करने पर हिंसा होती है । परम विशुद्ध निर्मल स्वाभावत्मक परम ब्रह्ममय अहिंसा के स्वरूप से च्युत होना ही वास्तव में हिंसा है। जैसा कि पूर्व में कहा है - ''**वास्तव में रागादि भावों का प्रकट नहीं होना अहिंसा है।**''

बहिरंग परिग्रहों में नियम से मूर्च्छा ही हिंसापने को प्राप्त होती है। मूर्च्छा के निमित्त से ही हिंसा होती है। मूर्च्छा के अभाव में हिंसा सिद्ध नहीं होती, यह कथन का तात्पर्य है ॥ ११९॥

अंतरंग सब संग में, हिंसा तो है सिद्ध।
बाह्य संग हिंसा मयी, मूर्च्छा कारण सिद्ध ॥११९॥

मूर्च्छैव हिंसेति विशिष्यते -

एवं न विशेषः स्यादुन्दररिपुहरिण - शावकादीनाम्।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छा - विशेषेण॥१२०॥

मं. टी. - एवमित्यादि - एवं पूर्वोदितं बहिरङ्गपरिग्रहेष्वतिमूर्च्छैव हिंसालक्षणा तर्हि किमापत्तिरिति कथ्यते-न विशेषः स्यात्। हिंसाक्रिया क्रियान्तराद्विशिष्यते येन स विशेषः। विशिष्टिर्वा विशेषः। तत्र भवेदित्यर्थः। केषां ? उन्दररिपुहरिणशावकादीनां उन्दरो मूषकस्तस्य रिपुः शत्रुर्मार्जारः। हरिणशावकश्च हरिणानां शावकः शिशुर्नवजातशावकः। उन्दररिपुश्च हरिणशावकश्चोन्दररिपुहरिणशावकौ तावादौ येषां तेषाम्। अत्रादिशब्दः प्रकारवाची ततः शशकच्छपादीनां ग्रहणम्। यतश्च तेषां प्रागेव बाह्यपरिग्रहस्याभावो दृश्यते स्वोदरपूरणार्थं यत्किञ्चिद् भक्ष्यते तत्तु सदृश एव ममत्वपरिणामः सदृशप्रयोजनत्वादिति कश्चित् ? तदपोहनार्थमुच्यते। नैवं, भवता यदुक्तं तन्न युक्तम्। केन कारणेन ? मूर्च्छाविशेषेण मूर्च्छा ममत्वपरिणामस्तस्या विशेषो हीनाधिककषायोद्रेकस्तेन। केषाम् ? तेषां मार्जारमृगशावकादीनां। विशेषो भवति। अर्थात् मार्जारस्योन्दरहिंसायां हरिणशिशोस्तृणभक्षणे च प्राणवधहिंसाविशेषान् मूर्च्छा विशिष्यते॥१२०॥

उत्थानिका- मूर्च्छा ही हिंसा है, इसकी विशेषता बताते हैं -

अन्वयः- एवं उन्दररिपुहरिणशावकादीनां विशेषः न स्यात् , एवं न, तेषां मूर्च्छाविशेषेण विशेषः भवति ॥

अन्वयार्थ - (एवं) यदि ऐसा है अर्थात् बहिरंग परिग्रह में मूर्च्छा का उत्पन्न होना ही हिंसा है तो (उन्दररिपुहरिणशावकादीनां) बिल्ली तथा हरिण के बच्चे आदि में (विशेषः न स्यात्) कुछ विशेषता नहीं होगी, (एवं न) ऐसा नहीं है (तेषां मूर्च्छाविशेषेण) उनमें मूर्च्छाविशेष से (विशेषः भवति) विशेषता होती है।

टीकार्थ - इस प्रकार पूर्व में कहे हुए बहिरंग परिग्रहों में अतिमूर्च्छा ही हिंसा है तो इसमें क्या आपत्ति होगी। कोई विशेषता नहीं होगी, चूहे का शत्रु अर्थात् बिल्ली और नवजात हरिण के बच्चे में विशेषता है नहीं। यहाँ पर आदि शब्द प्रकारवाची है इससे खरगोश कच्छप (कछुआ) आदि का भी ग्रहण करना चाहिए। बिल्ली और हरिण के बच्चे में खाने की क्रिया एक सी होने से उन दोनों की हिंसा में कोई विशेषता नहीं होगी। क्योंकि उनके पहले ही बाह्य परिग्रह का अभाव देखा जाता है। अपनी उदरपूर्ति के लिए जो कुछ खाते हैं, वह तो समान प्रयोजन होने से समान ही ममत्व परिणाम देखा जाता है। ऐसा कोई **प्रश्न** करता है ? उसका **निराकरण** करने के लिए कहते हैं कि ऐसा नहीं है, जो आपने कहा है वह ठीक नहीं है, बिल्ली और हरिण के बच्चे में अर्थात् चूहे की हिंसा करने में बिल्ली के तृण के भक्षण करने वाले हरिण के बच्चे में प्राणवध की अपेक्षा हीनाधिक कषाय के उद्रेक से ममत्व परिणाम में विशेषता होती है। हिंसा विशेष से मूर्च्छा विशिष्ट होती है ॥१२०॥

मूर्च्छा की ही उपज से, यदि हिंसा सविशेष।
मृग बिल्ली के भाव में, ना हो कछू विशेष ॥१२०॥

तमेवार्थं स्पष्टयति -

हरिततृणाङ्कुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा।

उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा॥१२१॥

मं.टी. - हरितेति। मृगशावके मृगशिशौ विघातने। कथम्भूते ? हरिततृणाङ्कुरचारिणि हरिततृणाङ्कुरो हरितबालतृणं तं चरितुं सेवितुं शीलमस्येति तस्मिन्। मूर्च्छा ममत्वपरिणतिः। मन्दा स्वल्पा। भवति अस्ति। प्रत्युत मार्जारे ओतौ। कथम्भूते ? उन्दरनिकरोन्माथिनि उन्दरो मूषकस्तेषां निकरः समूहः तानुन्मथितुं शीलं यस्य स तस्मिन्। सा हिंसा। एव निश्चयार्थे। तीव्रा उत्कृष्टा। जायते भवति। तेन सिध्यति मार्जारे तीव्रकषायसद्भावात्तीव्रा हिंसा मृगशावके च पुनरत्यल्पसंक्लेशादल्पा हिंसति॥१२१॥

उत्थानिका- उसी अर्थ को स्पष्ट करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - हरिततृणाङ्कुरचारिणि मृगशावके मूर्च्छा मन्दा भवति सा एव उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे तीव्रा जायते ॥

अन्वयार्थ - (हरिततृणाङ्कुरचारिणि) हरी घास के अङ्कुर को खाने वाले (मृगशावके) हरिण के बच्चे में (मूर्च्छा) मूर्च्छा (मन्दा भवति) मन्द होती है और (सा एव) वही मूर्च्छा (उन्दरनिकरोन्माथिनि) चूहों के समूह का उन्मथन करने वाले (मार्जारे) बिलाव में (तीव्रा जायते) तीव्र होती है।

टीकार्थ - हरी घास के अङ्कुरों को खाने वाले हरिण के बच्चे में मूर्च्छा अर्थात् ममत्व परिणाम अल्प होता है। किन्तु चूहों के समूह का घात करने वाले बिलाव में वही मूर्च्छा नियम से अधिक होती है। इससे सिद्ध होता है कि बिलाव में तीव्र कषाय होने से तीव्र हिंसा होती है और हरिण के बच्चे में अल्प संक्लेश होने से अल्प हिंसा होती है ॥ १२१॥

मृग की मूर्च्छा मंद है, जिसका तृण आहार।
बिल्ली में वह तीव्र है, मूषक खाती मार ॥१२१॥

पुनरपि दृष्टान्तेन दृढयति -

निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।

औधस्यखण्डयोरिव माधुर्यप्रीतिभेद इव॥१२२॥

मं. टी. - निर्बाधमित्यादि - कारणविशेषात् कारणं हेतुस्तस्य विशेषात् विशिष्टकारणसद्भावात्। हि निश्चयेन। कार्यविशेषः फलविशिष्टता। निर्बाधं निर्गता बाधा यस्मात्तत् अप्रतिहततयेत्यर्थः। संसिध्येत् पूरयेत्। माजरि मूषकहिंसारूपविशेषकार्यदर्शनात् तत्राभ्यन्तरकषायहेतुतीव्रताऽनुमीयते। तथैव मृगशावके तृणमात्रसन्तुष्टे कार्यविशेषेऽन्तरङ्गकषायकारणमन्दता निश्चीयते। तदर्थसिद्धयेऽत्र दृष्टान्तः - औधस्यखंडयोरिव औधस्य दुग्धः खण्डः इक्षुविकाररस्तयोः। इव उपमार्थे। माधुर्यप्रीतिभेदः माधुर्यं रसविशेषस्तत्र प्रीतिः रतिस्तस्मिन् भेदो विभिन्नता। इव यथा दृश्यते तथा॥१२२॥

उत्थानिका -उसी कथन को पुनः दृष्टांत के द्वारा दृढ़ करते हैं -

अन्वयः -औधस्यखण्डयोः इव माधुर्य्यप्रीतिभेद इव हि कारणविशेषात् कार्यविशेषः निर्बाधं संसिद्ध्येत्॥

अन्वयार्थ -(औधस्यखण्डयोः इव) दूध और खांड की तरह (शक्कर में) (माधुर्य्यप्रीतिभेद इव) मधुरता के कारण रूचि में भेद होने के समान (हि) निश्चय से (कारणविशेषात्) कारण की विशेषता से (कार्यविशेषः) कार्य भी विशेष रूप से (निर्बाधं) बाधा रहित (संसिद्ध्येत्) भले प्रकार सिद्ध होता है।

टीकार्थ - कारण विशेष से वास्तव में कार्य विशेष निर्बाध रूप से सिद्ध होता है। बिल्ली में चूहों की हिंसा रूप विशेष कार्य देखा जाता है। उसमें अभ्यन्तर कषाय हेतु की तीव्रता देखी जाती है। उसी प्रकार हरिण के बच्चे में तृणमात्र में सन्तुष्ट रूप कार्य विशेष के होने पर अन्तरंग कषाय रूप कारण की मन्दता देखी जाती है ।

इस कार्य की सिद्धि के लिए यहाँ दृष्टान्त पूवर्क समझाते हैं - जैसे दूध और शक्कर दोनों की मधुरता में प्रीति का भेद देखा जाता है अर्थात् दूध की मधुरता से सन्तुष्ट होने वाले जीव में रस विशेष के प्रति आसक्ति कम होती है और शक्कर से सन्तुष्ट होने वाले जीव में मिष्ट रस के प्रति आसक्ति अधिक होती है ॥१२२॥

कारण के अनुरूप ही, दिखते कार्य विशेष।
दूध खांड माधुर्य में, कम बढ़ प्रीति विशेष ॥१२२॥

तत्कथमिति चेदत आह -

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये।

सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा॥१२३॥

मं. टी. - माधुर्येति। दुग्धे पयसि। कथम्भूते ? मन्दमल्पं च तत् माधुर्यं मिष्टता यस्मिन् तस्मिन्। किल निश्चयार्थे। माधुर्यप्रीतिः मिष्टरसास्वादः। मन्दाऽल्पा। एवावधारणे। सा माधुर्यप्रीतिः। एवावधारणे। खण्डे इक्षुविकारनिष्पन्ने। उत्कटमाधुर्ये उत्कृष्टमिष्टास्वादे। तीव्रा अधिका। व्यपदिश्यते कथ्यते। यथा तथा हि तीव्राल्पहिंसाकार्यप्रकटितेऽभ्यन्तरकषायाणां तीव्राल्पता विज्ञायते। यथा मिष्टरसलोलस्य दुग्धापेक्षया माधुर्यमयोत्कट-खण्डखिल्लिविषये प्रीतिविशेषोऽन्तरङ्गरागपरिणामस्योत्कृष्टतां प्रकटयति तथा हि बह्वारम्भपरिग्रहग्रहणं कुर्वाणस्यान्तरङ्गममत्वपरिणामाधिक्याद्धिंसाऽपि तीव्रा प्रसजति। न चाल्पारम्भपरिग्रहवतोऽयं हेतुर्विरुध्यतेऽन्तरङ्गे ममत्ववाञ्छादिसहितत्वात्॥१२३॥

उत्थानिका - वह किस प्रकार है, इसके लिए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः -किल मन्दमाधुर्ये दुग्धे माधुर्यप्रीतिः मन्दा एव व्यपदिश्यते सा एव उत्कटमाधुर्य्ये खण्डे तीव्रा ॥

अन्वयार्थ -(किल) निश्चय से (मन्दमाधुर्ये) अल्प मिठास वाले (दुग्धे) दूध में (माधुर्यप्रीतिः) मिठास की रूचि (मन्दा एव) थोड़ी ही (व्यपदिश्यते) कही जाती है (सा एव) वही मिठास की रूचि (उत्कटमाधुर्य्ये) अत्यन्त मिठास वाली (खण्डे) शक्कर में (तीव्रा) अधिक कही जाती है।

टीकार्थ - जैसे अल्प मिठास वाले दूध में लोगों की प्रीति अल्प होती है और अधिक मिठास वाली शक्कर में अधिक प्रीति होती है। उसी तरह इष्ट पदार्थों में अधिक और साधारण पदार्थों में कम रूचि होती है। जैसे -मिष्ट रस के लोलुपी पुरूष को दूध की मधुरता की अपेक्षा खाण्ड (शक्कर) में रूचि विशेष होने पर अन्तरंग के राग परिणाम की उत्कृष्टता प्रकट होती है। उसी प्रकार बहुत आरंभ और अधिक परिग्रह को ग्रहण करने वाले पुरूष के अन्तरंग में ममत्व परिणाम की अधिकता होने से तीव्र हिंसा का प्रसंग आता है। किन्तु अल्प आरंभ और अल्प परिग्रह वाले के यह हेतु विरोध को भी प्राप्त नहीं होता क्योंकि अन्तरंग में वह भी ममत्व और वांछा से युक्त होता है। अल्प परिग्रह होने पर भी मूर्च्छा अधिक होने से परिग्रही ही कहलाता है , यह कथन का तात्पर्य है ॥१२३॥

कम मीठे उस दूध को, पीने का कम राग।
खांड मधुरता तीव्र है, तीव्र राग ही आग ॥१२३॥

अथ सम्यग्दर्शनं को विनश्यतीति विचार्यते -

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।

सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः॥१२४॥

मं. टी. - तत्त्वार्थेत्यादि - प्रथममेव पुरैव। मिथ्यात्वं दर्शनमोहस्यैका प्रकृतिः। निर्युक्तं नियतम्। कस्मिन् विषये? तत्त्वार्थाश्रद्धाने तत्त्वार्थस्य जीवादेः अश्रद्धानमरुचिरप्रतीतिर्वा तस्मिन्। चात्र पक्षान्तरे ''च पादपूरणे पक्षान्तरे चापि समुच्चये'' इत्यभिधानात्। किं तत्पक्षान्तरमित्याह-चत्वारः चतुः संख्यकाः। प्रथमकषायाः अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभाः। सम्यग्दर्शनचौराः सम्यग्दर्शनस्य यथार्थश्रद्धानस्य चौराः परिपन्थिकाः। भवन्तीति क्रियाध्याहारः। न च मिथ्यात्वमेव तत्त्वार्थश्रद्धानस्य विनाशकं किन्तु अनन्तानुबन्धिकषाया अपीति निश्चीयन्ते, सासादनसम्यग्दृष्टौ किलोपशम-सम्यग्दर्शने किञ्चित्कालावशिष्टे सत्यनन्तानुबन्धिकषाय-चतुष्काणामन्यतमकषायोदये सम्यग्दृग्घातोपलम्भनात्। सासादन-गुणस्थानेऽपि सम्यग्दृष्टिरिति प्रवक्ति कथमिति चेत् ? नैगमनयावलम्बनात्। आसादन विराधना तया सहितो यः सद्दृष्टिः स सासादनसम्यग्दृष्टिरुच्यते।

उत्थानिका - सम्यग्दर्शन का घात कौन करता है, इसका विचार करते हैं -

अन्वयः - तत्वार्थश्रद्धाने मिथ्यात्वं प्रथमं एव निर्युक्तं चत्वारः प्रथमकषायाश्च सम्यग्दर्शनचौराः।

अन्वयार्थ - (तत्वार्थाश्रद्धाने) तत्त्वार्थ के अश्रद्धान करने में (मिथ्यात्वं) मिथ्यादर्शन (प्रथमं एव) पहले ही (निर्युक्तं) नियत है। (चत्वारः) चार (प्रथमकषायाश्च) प्रथम कषाय भी (सम्यग्दर्शनचौराः) सम्यग्दर्शन के चुराने वाले हैं॥

टीकार्थ - जीवादि तत्त्वार्थ के अश्रद्धान या अप्रतीति में दर्शन मोहनीय कर्म की एक प्रकृति मिथ्यात्व है। सूत्र में 'च' शब्द पक्षान्तर में पादपूर्ति अथवा समुच्चय के अर्थ में प्रयोग किया जाता है, वह पक्षान्तर क्या है ? अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये प्रथम चार कषायें सम्यग्दर्शन को चुराने वाली हैं। भवन्ति क्रिया का अध्याहार करना चाहिए। तत्त्वार्थ श्रद्धान का विनाश करने वाला सिर्फ मिथ्यात्व ही नहीं किन्तु अन्तानुबन्धिकषाय की चौकड़ी भी है, यह निश्चय किया जाता है।

उपशम सम्यग्दर्शन का कुछ काल शेष रहने पर अनन्तानुबन्धि कषाय चतुष्क में से किसी एक कषाय का उदय होने पर सम्यग्दर्शन का घात होने पर या सम्यक्त्व की विराधना होने पर सासादन गुणस्थान होता है।

शंका - सासादन गुणस्थान को भी सासादन सम्यग्दृष्टि कहा जाता है, उसे सम्यग्दृष्टि संज्ञा कैसे हो सकती है?

समाधान - नैगम नय की अपेक्षा ऐसा कथन किया जाता है। जो आसादना से सहित सम्यग्दृष्टि है उसे सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं। '**जिसने सम्यक्त्व का नाश कर दिया उसे सासादन सम्यग्दृष्टि कहते हैं**'। ऐसा आगम का वचन है। उस सासादन गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय का अभाव होने पर भी अनन्तानुबन्धी चतुष्क में से किसी एक का उदय होने पर मति, श्रुत, अवधिज्ञान, ये तीनों अज्ञान रूप ही होते हैं।

श्रद्धा ना हो तत्त्व में, कारण मिथ्यादर्श।
चार कषायें भी वहीं, चुरा रहीं समदर्श ॥१२४॥

''णासियसम्मत्तो सो सासणणामामुणेयव्वो'' इति वचनात् सम्यक्त्वस्य विनाशः प्रसिद्धः। तत्र च मिथ्यात्वोदयाभावेऽपि त्रीण्यपि ज्ञानानि अज्ञानानि भवन्त्यन्यतमकषायोदयात्। तेन यथार्थवृत्तया द्वितीय गुणस्थाने सम्यग्दर्शनस्य काल एवावशिष्टो न च सम्यग्दर्शनम्। न तत्रायुर्बन्धमरणादिविधानस्य भावोऽन्यथोपपत्तेरुपशमे तदभावात्। अन्तर्मुहूर्तकालपर्यन्तमुपशमनमापन्नेऽपि मिथ्यात्वे तत्कालमध्ये हि सम्यग्दर्शनविभूतिं चोरयन्त्यनन्तानुबन्धिनस्तेन सम्यग्दर्शनचौरा इति सूक्तम्। उपशमसम्यग्दृशि प्रथममनन्तानुबन्धिनः समुदयप्राप्तेः पश्चाद्धि मिथ्यात्वमाढौकते तेन बलीयांसोऽनन्तानुबन्धिनः प्रकामं प्रतीयन्ते। मिथ्यात्वं कषायो नास्ति प्रथमोपशमसम्यग्दृशं विराधयितुमशक्यत्वात् सिद्धं भवति। कषायास्तु चारित्रमोहनीयप्रकृतेर्भेदास्ततः कथं सद्दृकप्रकरणे निपतन्तीति चेन्न, अनन्तानुबन्धिप्रकृति-र्द्विमुखाहिवद्दृग्वृत्ते द्वे विनाशयति। तत्कथं विज्ञायते ? अनेनैव वचनेन ''सम्यग्दर्शनचौरा'' इत्युक्तेरन्यथाघटनात्। तथा चोक्तम् -

पढमो दंसणघाई विदिओ तह घाई देसविरइत्ति।
तइयो संजमघाई चउत्थो जहखायघाईया॥१२४॥

अथ देशचारित्रं के विराधयन्तीति प्रवदन्ति -

इसलिए वास्तव में देखा जाय तो द्वितीय गुणस्थान में सम्यग्दर्शन का काल ही अवशिष्ट है न कि सम्यग्दर्शन।

वहाँ पर आयुबन्ध और मरणादि के विधान का होना अन्यथा हो नहीं सकता, क्योंकि उपशम सम्यक्त्व में मरणादि का अभाव है।

अन्तर्मुहूर्त के लिए मिथ्यात्व के उपशमन होने पर भी उसी बीच में अनन्तानुबन्धी चतुष्क में से किसी एक का उदय सम्यग्दर्शन रूपी विभूति को चुरा लेता है। अर्थात् मिथ्यात्व का उदय नहीं होने पर भी अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व को समाप्त कर देती है अतः सम्यग्दर्शन को चुराने वाली अनन्तानुबन्धी कषाय है। यह ठीक ही कहा है ।

उपशम सम्यग्दृष्टि को सासादन सम्यग्दृष्टि होने में सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होता है । बाद में मिथ्यात्व का उदय होता है। इसलिए अन्तानुबन्धी को बलवान माना गया है।

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन की विराधना करने में असमर्थ होने से मिथ्यात्व, कषाय नहीं है यह सिद्ध होता है।

शंका - कषाय चारित्रमोहनीय कर्म की प्रकृति है इसलिए सम्यग्दर्शन के प्रकरण में उसको बीच में क्यों डाल दिया है ?

समाधान - अनन्तानुबन्धी कषाय द्विमुखी सर्प की तरह द्विमुखी मानी गयी है इसलिए वह दर्शन और चारित्र इन दोनों का विनाश करती है ।

शंका - यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान - 'सम्यग्दर्शनचौराः' सूत्र में आए इस वचन से ही जाना जाता है, अन्यथा घटित नहीं हो सकता। जैसे कि आगम में कहा है -

''अनन्तानुबंधीकषाय सम्यग्दर्शन का घात करती है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय देशचारित्र का घात करती है। प्रत्याख्यानावरण कषाय सकलचारित्र का घात करती है। सञ्ज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करती है''॥१२४॥

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सम्मुखायाताः।

नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति॥१२५॥

मं. टी. - प्रविहायेत्यादि - द्वितीयान् अप्रत्याख्यानाख्यकान् च कषायानित्यनुवर्तते। ''अन्वाचये समाहारेप्यन्योन्यार्थेऽवधारणे'' इति श्रीधरसेनः। प्रविहाय सन्त्यज्य। देशचरित्रस्य पञ्चपापानामेकदेशविरतिवृत्तस्य। सम्मुखायाताः मुखेन सङ्गतः सम्मुखः प्रादितत्पुरुषसमासात् सम्मुखमभिमुखमायाता आगता ये ते तथोक्ताः। ते हि कषाया अप्रत्याख्यानाः। नियतं निश्चितं। देशचरित्रं पञ्चमगुणस्थानयोग्यभावस्तम्। निरुन्धन्ति ''रुधिर्यो आवरणे'' कर्तरि लट् दूरीकुर्वन्ति। देशचारित्रमप्रत्याख्यानकषायभावे ह्याविर्भवति तेनाविरतिसद्दृष्टौ चारित्राभावोऽवसेयः। उक्तं च - ''चारित्तं णत्थि जदो अविरदअंतेसु ठाणेसु'' यदि चारित्रमविरतसद्दृष्टौ नास्ति तर्हि चारित्रगुणः स्वात्मनि किं करिष्यति मिथ्यात्वाभावे सतीति चेत् ? सत्यमुक्तम्, मिथ्यात्वाभावे सम्यक्त्वप्रादुर्भावे च चारित्रगुणो निजात्मनः सम्यक्त्वेन साकं वर्तनात् सम्यक्चारित्रमुदाहृतम्। तच्च चारित्रं व्रताभावे कथम् ? तन्न विरुद्धं, सम्यग्दर्शनज्ञानयोग्याचरणानुचरणात् सदाचरणं हि सम्यक् चारित्रमभिहितम्। सकलदेशचारित्रं प्रतिरुचिमौख्या-दनाचरणेऽपि चारित्रमुपचर्यते कार्यभूतचारित्रे कारणरूपदर्शनज्ञानस्योपचारात्॥१२५॥

उत्थानिका -अब देशचारित्र की विराधना कौन करता है, इसके लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - द्वितीयान् च प्रविहाय देशचरित्रस्य सम्मुखायाताः हि ते कषायाः नियतं देशचरित्रं निरून्धन्ति।

अन्वयार्थ - (द्वितीयान् च) द्वितीय कषाय अर्थात् अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ को (प्रविहाय) छोड़कर (देशचरित्रस्य) देशचारित्र के (सम्मुखायाताः) सम्मुख आते है (हि) क्योंकि (ते) वे (कषायाः) कषाय (नियतं) नियम से (देशचरित्रं) देशचारित्र को (निरून्धन्ति) रोकती हैं।

टीकार्थ - द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषाय को छोड़कर पाँच पापों के एकदेशत्याग रूप देशचारित्र के सम्मुख आता है ।

वह अप्रत्याख्यानावरण कषाय नियम से देशचारित्र अर्थात् पञ्चम गुणस्थान के योग्य भावों को रोकती है। 'रूधिर्' आवरणे धातु से लट्लकार में 'नि' उपसर्ग पूर्वक '**निरून्धन्ति**' रूप बनता है। देशचारित्र अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव में ही प्रकट होता है, इसलिए अविरत सम्यग्दृष्टि में अर्थात् चर्तुथ गुणस्थान में चारित्र का अभाव जानना चाहिए । जैसे - **जीव काण्ड** में कहा है '**अविरत है अन्त में जिनके ऐसे चतुर्थ गुणस्थान तक चारित्र नहीं होता है।**'

शंका - यदि चतुर्थ गुणस्थान में चारित्र नहीं होता तो मिथ्यात्व का अभाव होने पर चारित्र गुण आत्मा में क्या करेगा ?

समाधान - आपका कहना सत्य है, मिथ्यात्व का अभाव होने पर और सम्यक्त्व के उत्पन्न होने पर अपनी आत्मा का चारित्र गुण सम्यक्त्व के साथ होने से सम्यक्त्व के साथ होने से सम्यक् चारित्र कहा जाता है।

देशचरित को घाततीं, दूजी चार कषाय ।
जो इनको है घातता, देशव्रती कहलाय ॥१२५॥

अथ देशचारित्रमादाय शेषपरिग्रहपरित्यागः कथं क्रियत इत्यत आह -

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम्।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचदिभावनया॥१२६॥

मं. टी. - निजेत्यादि - शेषाणां अवशिष्टानाम्। सर्वेषां सम्पूर्णानां। अन्तरङ्गसङ्गानां कामक्रोधादीनाम्। निजशक्त्या स्वात्मशक्तिमवेक्ष्य। मार्दवशौचादिभावनया - मार्दवो मृदोर्भावः कर्म वा मृदुता, शौचो लोभत्यागः तौ आदि र्येषामाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यादीनां तेषां भावना तया। परिहारः त्यागः। कर्तव्यः कार्यः। अत्र देशचारित्रवतामन्तरङ्गभावशुद्धये प्रत्याख्यानकषायतनुकरणाय च मार्दवादिभावना भावनीयेति निगदितम्। सकलचारित्रार्थं किन्न खलूत्साहितमिति नाशङ्कनीयं प्रागेव निरूपणात्। अत्र देशचारित्रं मौख्येन प्रतिपाद्यते तेन तच्चारित्रप्राप्तवतां किं कर्त्तव्यमिति यथाशक्त्या पदेन सम्भावितम्। शक्त्यनुसारेणाचरितानां नास्ति दोषापत्तिः। शक्तिसद्भावेऽपि प्रमादेन प्रवृत्तानां वीर्यान्तरायकर्मबन्धादिदोषः केन वार्यते। उक्तञ्च-

---

शंका - वह चारित्र व्रत के अभाव में कैसे सम्भव है?

समाधान- वह विरूद्ध नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के योग्य आचरण का पालन करने से सदाचरण ही सम्यक्चारित्र कहलाता है। सकलचारित्र और देशचारित्र के प्रति रूचि होने की मुख्यता से अचारित्र भी उपचार से चारित्र कहलाता है क्योंकि कार्यभूत चारित्र में कारण रूप दर्शन ज्ञान का उपचार होता है ॥१२५॥

उत्थानिका - देशचारित्र को ग्रहण करके शेष परिग्रह का त्याग कैसे किया जाता है, इसके लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः-शेषाणां सर्वेषां अन्तरङ्गसङ्गानां निजशक्त्या मार्दवशौचादिभावनया परिहारः कर्त्तव्यः ॥

अन्वयार्थ -(शेषाणां सर्वेषां अन्तरङ्गसङ्गानां) शेष सभी अन्तरङ्ग परिग्रहों का (निजशक्त्या) अपनी शक्ति के अनुसार (मादर्वशौचादिभावनया) मार्दव शौचादि भावनाओं के द्वारा (परिहारः कर्त्तव्यः) त्याग कर देना चाहिए।

टीकार्थ - शेष सभी काम -क्रोधादि अन्तरंग परिग्रहों का अपनी आत्म -शक्ति को देखकर मार्दव, शौच, आकिञ्चन ब्रह्मचर्य आदि की भावना से त्याग करना चाहिए। मृदुता का भाव या कार्य मार्दव कहलाता है। यहाँ पर देशचारित्र का पालन करने वालों के अन्तरङ्ग भावों की शुद्धि के लिए और प्रत्याख्यान कषाय को मन्द करने के लिए मार्दवादि भावनाओं को भाना चाहिए, ऐसा कहा है। आप सकलचारित्र का पालन करने के लिए क्यों नहीं उत्साहित करते हैं ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उसका निरूपण तो पहले ही कर चुके हैं।

मृदुता से संतोष से शुचि भावों को धार ।
मन में जो भी संग है कर उसका परिहार ॥१२६॥

पुव्वुत्ततव गुणाणं चुक्को जं तेण वंचिउ होइ।

विरिय निगूही बंधदि मायं विरियंतरायं च॥१२६॥

तदर्थं बाह्यपरिग्रहस्य हापनायाभिधीयते -

बहिरङ्गादपि सङ्गाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोनुचितः।

परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा॥१२७॥

मं. टी. - बहिरङ्गेत्यादि - परिवर्जयेत् परित्यजेत्। किं ? तं परिग्रहं। कथम्भूतम् ? सचित्तं मातृपित्रादि वा अचित्तं गृहवस्त्रादि वा। किं विशिष्टम् ? अशेषं सम्पूर्णम्। कस्मात् कारणादिति चेदाह-यस्मात् कारणात्। बहिरङ्गात् सङ्गात् अपि गृहकुटुम्बादेरपि। अनुचितः असंयमः प्रभवति अप्रयोजनीभूतः पापबन्धमात्रहेतुरारम्भः समुत्पद्यते॥१२७॥

यहाँ पर देशचारित्र की मुख्यता से कथन किया गया है इसलिए उस चारित्र को प्राप्त करने वालों का क्या करना चाहिए? यह अर्थ निजशक्त्या पद से ग्रहण करना चाहिए। शक्ति के अनुसार आचरण करने वालों का इसमें कोई दोष नहीं है। शक्ति के होने पर भी प्रमाद में प्रवृति करने वालों के वीर्यान्तराय कर्म के बन्ध आदि का दोष किसके द्वारा रोका जा सकता है अर्थात् शक्ति होने पर भी चारित्र का पालन नहीं करने पर वीर्यान्तराय कर्म का बन्ध होता है। जैसा कि कहा है-'**पूर्वोक्त तप और गुणों के पालन में जो चूक जाता है वह ठगा जाता है क्योंकि वीर्य को छुपाने वाला माया और वीर्यान्तराय कर्म का बंध करता है।**'॥१२६॥

उत्थानिका - संयम की वृद्धि के लिए परिग्रह के त्याग का कथन करते हैं -

अन्वयः - यस्मात् बहिरङ्गादपि सङ्गात् अनुचितः असंयमः प्रभवति तम् अचित्तं वा सचित्तं वा अशेषं परिवर्जयेत् ॥

अन्वयार्थ -(यस्मात् बहिरङ्गादपि सङ्गात्) जिस कारण से बहिरंङ्ग परिग्रह से भी (अनुचितः असंयमः) अनुचित असंयम (प्रभवति) उत्पन्न होता है, इसलिए (तम् अचित्तं वा सचित्तं वा)उस अचित्त अथवा सचित्त (अशेषं) समस्त परिग्रह को (परिवर्जयेत्) छोड़ देना चाहिए ।

टीकार्थ- छोड़ देना चाहिए। किसे? परिग्रह को। कैसे परिग्रह को ? सचित्त माता पिता आदि को और अचित्त घर-वस्त्र आदि को। और किसे छोड़ देना चाहिए ? सम्पूर्ण परिग्रह को छोड़ देना चाहिए। क्यों छोड़ देना चाहिए ? क्योंकि घर कुटुम्ब आदि से भी निष्प्रयोजन मात्र पापबंध का कारणभूत आरंभ होता है ॥१२७॥

जिन बाहर की वस्तु से, बिना वजह हो पाप।
उनका भी परित्याग कर, सचित अचित संताप ॥१२७॥

अनुचितमपि त्यक्तुमशक्यो यः स किं कुरुतादित्याह -

योऽपि न शक्तस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।

सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम्॥१२८॥

मं. टी. - योऽपीत्यादि - यः कश्चिज्जनोऽपि। धनधान्यमनुष्यवास्तु - वित्तादि धनं अश्वगवादि, धान्यं ब्रीह्यादि, मनुष्यो भ्रातृपुत्रादि, वास्तु प्रासादादि, वित्तं सुवर्णरूप्यादि, आदि शब्दतः कुप्यभाण्डादिर्ग्राह्यते। धनं च धान्यं च मनुष्यश्च वास्तु च वित्तं च धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तानि तानि आदौ येषां स इतरेतरद्वन्द्वात्। सोऽपि परिग्रहोपि। तनूकरणीयः स्वल्पःकरणीय इत्यर्थः। यतः यस्मात् कारणात्। तत्त्वं आत्मनः स्वरूपम्। निवृत्तिरूपं सकलपरिग्रहरहितम्॥१२८॥

उत्थानिका -जो अनुचित परिग्रह का भी त्याग करने में असमर्थ हैं वे क्या करें, इसके लिए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः- अपि यः धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि त्यक्तुं न शक्तः सोऽपि तनूकरणीयो यतः तत्त्वं निवृत्तिरूपं ॥

अन्वयार्थ - (अपि) और (यः) जो पुरूष (धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि) धन, धान्य,मनुष्य, मकान, रूपया-पैसा आदि को (त्युक्तं न शक्तः) छोड़ने में समर्थ नहीं है (सोऽपि तनूकरणीयः) उसे भी (यह परिग्रह) कम करना चाहिए (यतः) क्योंकि (तत्त्वं निवृत्तिरूपं) आत्मा का स्वरूप त्याग रूप है ॥

टीकार्थ - जो पुरूष गाय बैल घोड़ा आदि धन, गेहूँ, चावल आदि धान्य, भाई -पुत्रादि मनुष्य मकान दुकान आदि वास्तु , चाँदी स्वर्ण आदि वित्त और आदि शब्द से कुप्य भाण्डादि को छोड़ने में असमर्थ है वह भी उस परिग्रह को अल्प करे, क्योंकि आत्मा का स्वरूप सकल परिग्रह के त्याग स्वरूप है ॥१२८॥

त्याग करन की शक्ति ना, यदि फिर सीमा बाँध।
सीमा भीतर उसे भी, त्याग-त्याग निज साध ॥१२८॥

अथ रात्रिभुक्तिं निषेधयति -

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥१२९॥

मं. टी. - रात्रिविति। यस्मात् कारणात्। रात्रौ सूर्यास्तवेलायां। भुञ्जानानां भोक्तुंशीलानां। अनिवारिता केनापि वारयितुमशक्या। हिंसा पापक्रिया। भवति अस्ति। तस्मात् कारणात्। हिंसाविरतैःहिंसा पञ्चपापात्मिका तस्याः ये विरता निवृत्तिंगतास्तैरणुव्रतधारिभिरित्यर्थः। रात्रिभुक्तिर्निशिभोजनं। अपि निश्चयार्थे। त्यक्तव्या परिहरणीया। पञ्चाणुव्रतकथनं सम्पाद्यात्र रात्रिभुक्तिविरतिः किमर्थमुक्तेतिचेत् ? अहिंसाणुव्रतनिर्दोषतया पालनार्थम्। अहिंसाव्रतधारिणि रात्रिभुक्तेर्विरतिरपि स्वयमेव भवेदहिंसाव्रतस्य व्यापकत्वादितिचेन्न, व्यापकत्वेऽपि यथा सत्यव्रतादिप्ररूपणं पृथक्त्वेन निरूपितं तथैव विस्ताररुचिशीलानां तद्विरतिरुक्ताऽन्यथा तन्निषेधः कुत इत्यनिवार्याकूतस्य प्रसङ्गः। सन्धारयन्नपि व्रतपञ्चकं निशि भोजने न प्रसरति हिंसापापमित्यभिमन्यमानानामभिमतं प्रतिक्षिप्तम्। रात्रिभुक्तेस्त्यागस्तु षष्ठप्रतिमाव्रतग्रहणक्षणे सम्भवतीत्यपि न वक्तव्यं तत्र नवकोटिभिः

उत्थानिका-अब रात्रिभुक्ति का निषेध करते हैं -

अन्वयः- यस्मात् रात्रौ भुञ्जानानां हिंसा अनिवारिता भवति तस्मात् हिंसाविरतैः रात्रिभुक्तिः अपि त्यक्तव्या॥

अन्वयार्थ- (यस्मात्) जिस कारण से (रात्रौ भुञ्जानानां) रात्रि में भोजन करने वालों के (हिंसा अनिवारिता भवति) हिंसा अनिवार्य रूप से होती है (तस्मात्) इसलिए (हिंसाविरतैः) हिंसा से विरक्त होने वाले पुरूषों को (रात्रिभुक्तिःअपि) रात्रिभोजन भी (त्यक्तव्या) छोड़ देना चाहिए।

टीकार्थ - जिस कारण से रात्रि में भोजन करने वालों के अनिवार्य रूप से हिंसा होती है, इसलिए अणुव्रतधारी जीवों को रात्रिभोजन का भी त्याग करना चाहिए। 'अपि' निश्चय अर्थ में प्रयुक्त है ।

शंका - पाँच अणुव्रतों के कथन को सम्पन्न करके यहाँ पर रात्रिभुक्तित्याग को किसलिए कहा जा रहा है?

समाधान- अहिंसाणुव्रत का निंदोष रूप पालन करने के लिए यह कथन किया जा रहा है ।

शंका -अहिंसाव्रतधारी जीवों के रात्रिभुक्ति का त्याग भी स्वयं ही हो जाता है, क्योंकि अहिंसा व्रत बहुत व्यापक है ।

समाधान- ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अहिंसा व्रत की व्यापकता होने पर भी जैसे सत्य व्रत आदि का कथन अलग से किया है उसी प्रकार विस्तार रूचि वाले जीवों को समझाने के लिए रात्रिभुक्तित्याग का भी कथन किया है, अन्यथा उसका निषेध कहाँ पर किया है? यह शंका निश्चित उत्पन्न हो जाने का प्रसंङ्ग आ जाएगा । पाँच व्रतों को धारण करते हुए भी रात्रिभोजन में हिंसा पाप नहीं होता, ऐसा मानने वालों के अभिप्राय का विरोध किया है।

शंका -रात्रिभुक्ति का त्याग तो छठी प्रतिमा के व्रत ग्रहण के समय में होता है।

समाधान- वहाँ पर नौ कोटि से त्याग होता है तथा इस व्रत को निरतिचार पालन करने की विवक्षा रहती है।

हिंसा है निशिभोज में, रोक सके ना कोय।
जो हिंसा से विरत वो, क्यों निशिभोजी होय ॥१२९॥

परित्यागान्निरतिचारपरिपालनस्य विवक्षा। न चासंयतसम्यग्दृष्टेरपि निशिभोजनं विधेयमव्रतत्वात्। यतः किलार्हत्कुलजन्मनामाजन्मतो निशिभुक्ति-परित्यागः पारम्पर्येण समायाति। जैनास्तु तोयतांबूलभैषजादीनि क्षपाकरे न भुञ्जते। ये तु खाद्यपदार्थमात्रं मुक्त्वान्यपेयाद्याहारं सेव्यमाना अपि रात्रि-भुक्ति व्रताभिमानास्ते नोचिताचारपरा मन्यन्ते॥१२९॥

किमिति रात्रौ भुञ्जानानामहिंसा न सम्भवेदित्युत्तरं प्रस्तौति -

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्ति - र्नातिवर्तते हिंसाम्।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न सम्भवति॥१३०॥

मं. टी. - रागाद्युदयेत्यादि - हिंसा हिंसा प्राणिवधदोषस्तम्। न अतिवर्तते न परिहारो भवति। का सेति चेत्। अनिवृत्तिः रात्रिभुक्तित्यागस्याकरणम्। कस्मादित्याह - रागाद्युदयपरत्वात् रागआदिर्येषां कषायाणां तस्योदयस्य परत्वादुत्कर्षाद् रागोद्रेकादित्यर्थः। रात्रिंदिवं रात्रौ च दिवा च ''नक्तंरात्रिमहोभ्यो दिवं'' इत्यनेन रात्रेः परं दिवमिति निपातनाद्द्भवति। आहरतः भुञ्जानस्य कस्यापि जनस्य। हिंसा हि कथं न सम्भवति इति प्रश्नाक्षेपः अर्थात् अवश्यमेव भवतीत्यर्थः॥१३०॥

अव्रती होने पर भी असंयत सम्यग्दृष्टि को भी रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि वास्तव में जैन कुल में जन्म लेने वाले जीवों का जन्म से ही रात्रिभुक्ति का त्याग परम्परा से हो जाता है ।

जैन लोग तो रात्रि में पानी, दवाई, ताम्बूल आदि कुछ भी सेवन नहीं करते हैं । जो लोग मात्र खाघ पदार्थ को छोड़कर अन्य पेय आदि आहार को सेवन करते हुए भी रात्रिभुक्तिव्रतपालन का अभिमान करते हैं वे लोग उचित आचरण में तत्पर नहीं माने जाते हैं ॥१२९॥

उत्थानिका - क्या रात्रिभोजन करने वालों के अहिंसा व्रत सम्भव नहीं ? इसका उत्तर देते हैं -

अन्वयः -अनिवृत्तिः रागाद्युदयपरत्वात् हिंसा न अतिवर्तते हि रात्रिंदिवमाहरतः हिंसा कथं न सम्भवति ॥

अन्वयार्थ - (अनिवृत्तिः) रात्रि भोजन का त्याग नहीं करना (रागाद्युदयपरत्वात्) रागादि भावों के उदय की उत्कृष्टतासे (हिंसा) हिंसा को (न अतिवर्तते) दूर नहीं करता है (हि) निश्चय से (रात्रिंदिवमाहरतः) रात दिन खाने वालों के (हिंसा) हिंसा (कथं न सम्भवति) कैसे संभव नहीं होती ? अर्थात् हिंसा अवश्य ही होती है ।

टीकार्थ - रात्रिभोजनत्याग किये बिना हिंसा दोष का परिहार नहीं होता है क्योंकि रात्रिभोजन करने से रागादि कषायों के उदय की तीव्रता होती है। इसलिए रात दिन खाने वाले पुरूषों के हिंसा कैसे सम्भव नहीं होगी ? अर्थात् होगी ही ॥१३०॥

निशिभोजन के पाप में, हिंसा कारण राग।
निशिदिन जो भोजन करें, हिंसा में है पाग ॥१३०॥

यदि रात्रिंदिवं भुञ्जानस्य रागोद्रेकात् हिंसापत्तिस्तर्हि दिवावन् निशायामेव तस्य किं दोष इति कश्चिदाह-

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः।

भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा॥१३१॥

मं. टी. - यद्येवमित्यादि - यद्येवं सदाकालमशनमवद्यम्। तर्हि तत एव। दिवा भोजनस्य परिहारः कर्त्तव्यः दिवसे भोजनं न करणीयम्। तु किन्तु। निशायां रजन्यां। भोक्तव्यं भोज्यम्। इत्थं एवंकरणे। हिंसा नित्यं न भवति सततपापप्रसङ्गादुपरतिः स्यात्॥१३१॥

तन्न युक्तमित्युच्यते -

नैवं वासरभुक्ते - र्भवति हि रागोऽधिको रजनि - भुक्तौ।

अन्नकवलस्य भुक्ते-र्भुक्ताविव मांसकवलस्य॥१३२॥

उत्थानिका - यदि रात - दिन खाने वाले पुरूष के राग के उद्रेक से हिंसा होती है तो दिन की तरह वह रात में ही खाये तो उसके क्या दोष हैं -

अन्वयः - यदि एवं तर्हि दिवा भोजनस्य परिहारः कर्त्तव्यः तु निशायां भोक्तव्यं इत्थं नित्यं हिंसा न भवति॥

अन्वयार्थ - (यदि एवं) यदि ऐसा है, अर्थात् सदाकाल (रातदिन) भोजन करने में हिंसा होती है (तर्हि) तो (दिवा भोजनस्य परिहारः कर्त्तव्यः) दिन में भोजन का त्याग करना चाहिए (तु निशायां भोक्तव्यम्) और रात्रि में भोजन करना चाहिए (इत्थं) ऐसा करने से (नित्यं हिंसा न भवति) हिंसा सदैव नहीं होगी।

टीकार्थ - यदि सदा काल अर्थात् रात दिन भोजन करने से हिंसा होती है तो दिन में भोजन का त्याग करना चाहिए अर्थात् दिन में भोजन नहीं करना चाहिए, रात्रि में ही भोजन करना चाहिए, ऐसा करने से सदाकाल हिंसा नहीं होगी अर्थात् सतत पाप के प्रसंग का त्याग हो जायेगा ? ॥१३१॥

उत्थानिका - आपका ऐसा कहना ठीक नहीं है, इसके लिए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - नैवं हि वासरभुक्तेः रजनि भुक्तौ रागोऽधिकः भवति अन्नकवलस्य भुक्तेः मांसकवलस्य भुक्तौ इव।

अन्वयार्थ - (न एवं हि) ऐसा नहीं है, क्योंकि (वासरभुक्तेः) दिन में भोजन करने की अपेक्षा (रजनिभुक्तौ) रात्रि में भोजन करने पर (रागः अधिकः भवति) राग अधिक होता है (अन्नकवलस्य भुक्तेः) अन्न का ग्रास खाने की अपेक्षा (मांसकवलस्य भुक्तौ इव) मांस का ग्रास खाने में राग की भाँति ।

यदि ऐसा तो दिवस में, भोजन का परिहार।
करके निशि भोजन करें, क्या इसमें बेकार ॥१३१॥
ऐसा ना, निशि भोज में, राग अधिक है भ्रात।
कवल मांस का अन्न का, एक नहीं है बात ॥१३२॥

मं. टी. - नैवमित्यादि - नैवं नैतद्युक्तं। हि यस्माच्च। वासरभुक्तेः वासरो दिवसः तस्मिन् भुक्तिर्भोजनं तस्याः। रजनि-भुक्तौ रजन्यां निशायां भुक्तिस्तत्र रागोऽधिको कषायस्य तीव्रता। भवति अस्ति। एतदर्थं दृष्टान्तेन दार्ढ्यम्-अन्न-कवलस्य अन्नं भक्तसूपकृशरादि तेषां कवलं ग्रासः। भुक्तेः भोजनात्। मांसकवलस्य मांसखण्डस्य। भुक्तौ भोजने। इव उपमार्थे। अर्थात् मांसाशने यथाऽन्नभुक्तेरपेक्षयाऽधिका हिंसा प्रभवति तथा हि दिवा भोजनात् रात्रिभुक्ताविति॥१३२॥

तत्कारणं निवेदयति -

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत्कथं हिंसां।
अपि बोधिते प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजन्तूनाम्॥१३३॥

मं. टी. - अर्केत्यादि - विना अर्कालोकेन सूर्यप्रकाशादृते। भुञ्जानः भुक्तिं कुर्वाणः। बोधितेऽपि प्रदीपे प्रज्वलितेऽपि दीपके। हिंसां पापक्रियां। कथं परिहरेत् व्युपरमेत् अर्थात् हिंसादोषाद्विरमणं न सम्भवेत्। केषामितिचेदाह-सूक्ष्मजन्तूनां सूक्ष्माश्चक्षुरगोचरा न चात्र सूक्ष्मनामकर्मोदयप्रभवा गृह्यन्तेऽतिप्रसङ्गात्। सूक्ष्माश्च ते जन्तवः प्राणभृतः तेषाम्। किं विशिष्टानाम् ? भोज्य - जुषां खाद्यसामग्रीयुक्तानाम्। सूर्यस्यास्तङ्गते सूक्ष्मजीवाः

टीकार्थ - आपका यह तर्क ठीक नहीं है क्योंकि दिन में भोजन करने की अपेक्षा रात्रि में भोजन करने में राग अधिक होता है अर्थात् कषाय की तीव्रता होती है। दृष्टांत पूर्वक इस बात को समझाते हैं कि जैसे अन्न कवल अर्थात् दाल, भात, खिचड़ी आदि भोज्य ग्रास खाने की अपेक्षा मांस के टुकड़े को खाने में अधिक राग होता है अर्थात् अन्न के भोजन की अपेक्षा मांस के खाने में अधिक हिंसा होती है उसी प्रकार दिन में भोजन करने की अपेक्षा रात्रि में भोजन करने से हिंसा अधिक होती है ॥१३२॥

उत्थानिका- उसका कारण बताते हैं -

अन्वयः-अर्कालोकेन बिना भुञ्जानः प्रदीपे बोधिते अपि भोज्यजुषां सूक्ष्मजन्तूनाम् हिंसा कथं परिहरेत् ॥

अन्वयार्थ - (अर्कालोकन विना) सूर्य के प्रकाश के बिना (भुञ्जानः) भोजन करने वाला (प्रदीपे बोधिते अपि) दीपक जला लेने पर भी (भोज्यजुषां सूक्ष्मजन्तूनाम्) भोजन में गिरने वाले या मिले हुए सूक्ष्म जीवों की (हिंसा) हिंसा (कथं) कैसे (परिहरेत्) दूर हो ? अर्थात् नहीं हो सकती है।

टीकार्थ - सूर्य के प्रकाश बिना भोजन करने वाला पुरूष दीपक जला ले तो भी हिंसा दोष को कैसे दूर कर सकता है ।

शंका - रात्रिभोजन में कौन से जीवों की हिंसा होती है ?

समाधान - सूक्ष्म जीवों की अर्थात् चक्षु इन्द्रिय से दिखाई न देने वाले क्षुद्र त्रस जीवों की। उन्हीं को सूक्ष्म नाम से कहा है न कि सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले एकेन्द्रिय जीवों को क्योंकि सूक्ष्मनाम कर्म

रवि प्रकाश बिन रात में, कृत्रिम भले प्रकाश।
भोजन प्रिय तनु जीव तो गिर मर तजते श्वास ॥१३३॥

स्वमेवोत्पद्यन्ते निसर्गतो योनिस्थाननिर्माणात्। तेषु केचिज्जीवा भोज्यपदार्थप्रियाः सन्ति तेषामापतनं बाहुल्येऽपि विद्युत्प्रकाशे सति न निवारयितुमर्हति। क्षपाकरेऽशनसम्पादने षट्कायजीवानां हिंसाऽग्रेऽग्रे धावति महारम्भत्वात्। दिवा सम्पादितेऽशनेऽपि निशायां सेवमानस्य षट्कायजीवभक्षणजनितपापमवश्यंभावि स्यात्। रविकरप्रचारसङ्कुचिते सति जठरे पाचनक्रियाया मन्दत्वात् शरीरस्वास्थ्यहानिस्तेनानिवार्यरोगप्रसक्तिः। विभिन्नजीवानां जठरे प्रवेशाद्रोगप्रादुर्भावाच्च वैद्या अपि प्रतिषेधयन्ति निशिभुक्तिम्॥१३३॥

अथाहिंसाव्रतचूलिका रात्रिभुक्तिनिवृत्तिरेवेति निगद्यते –

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचन-कायैः।

परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति॥१३४॥

मं.टी. – **किंवेत्यादि** – किं वा बहुप्रलपितैः बहुप्रलापेन किं भवति इति मत्वाऽलमतिप्रसङ्गेन। इति सिद्धं उपर्युक्तकथनात् सिध्यति। किमितिचेदाह – यः कोऽपि जनः। रात्रिभुक्तिं निशिभोजनं। मनोवचनकायैः त्रिभिर्योगैः।

का उदय सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों में ही होता है, त्रस जीव सूक्ष्म तो होते हैं पर उनके सूक्ष्म नाम कर्म का उदय नहीं होता है। ऐसे सूक्ष्म त्रस जीव खाद्य साम्रगी में मिले होते हैं। सूर्य के अस्त हो जाने पर स्वभाव से योनिस्थान का निर्माण होने से सूक्ष्म जीव स्वयं ही उत्पन्न होते हैं। उनमें कुछ जीव भोज्य पदार्थ के प्रेमी होते हैं। बहुलता से विद्युत् का प्रकाश होने पर उनका पतन भोजनादि में नियम से होता है, उनको रोकने में कोई भी समर्थ नहीं है इसलिए रात्रि में भोजन बनाने में महाआरम्भ होने से षट्कार्य के जीवों की हिंसा नियम से होती है। दिन में भोजन तैयार कर लेने पर भी रात्री में भोजन करने वाले के षट्काय के जीवों के भक्षण सम्बन्धी पाप अवश्य ही होता है ।

सूर्य की किरणों का प्रकाश मन्द होने पर जठर में पाचन क्रिया के मन्द होने से शरीर और स्वास्थ्य की हानि होती है और उससे अनिवार्य रूप से रोगों की उत्पत्ति होती है। अनेक प्रकार के जीवों का पेट में प्रवेश होने से अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति होती है। इसलिए वैद्य भी रात्रिभोजन का निषेध करते हैं ॥१३३॥

उत्थानिका – अब अहिंसा व्रत की पूर्णता रात्रिभुक्तित्याग से ही होती है इसका कथन करते हैं –

अन्वयः –बहुप्रलपितैः किं वा इति सिद्धं यः मनोवचनकायैः रात्रिभुक्तिं परिहरति सः सततं अहिंसा पालयति।

अन्वयार्थ – (बहुप्रलपितैः) ज्यादा कहने से (किं वा) क्या प्रयोजन है (इति) इस प्रकार (सिद्धं) यह सिद्ध है कि (यः मनोवचनकायैः) जो मन वचन काय से (रात्रिभुक्तिं परिहरति) रात्रिभोजन का त्याग करता है (सः) वह (सततं अहिंसां पालयति) वह निरन्तर अहिंसा व्रत का पालन करता है।

बहुत कथन से लाभ क्या, यह ही कथनी सार।
निशि भोजन से दूर जो, वहीं अहिंसक पार ॥१३४॥

परिहरति त्यजति। स आत्मा हि। सततमनवरतम्। अहिंसां परमोत्कृष्टधर्मम्। पालयति सेवते। ''पाल रक्षणे'' चुरादौ लट्॥१३४॥

अथ के मुक्तिं लभन्त इति प्रतिपादयति -

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।

अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

मं. टी. - इत्यत्रेत्यादि - ये केचन जनाः। कथम्भूताः ? स्वहितकामाः स्वस्यात्मनो हितं कल्याणं कामयन्ते ते। इति कथितप्रकारेण। अत्र अस्मिन्। त्रितयात्मनि मार्गे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मके। कस्य ? मोक्षस्य निःश्रेयसस्य। अनुपरतं सततम्। प्रयतन्ते सेवन्ते। ते जनाः। अचिरेण लघुकालेन। मुक्तिं सर्वकर्मविप्रमोक्षं। प्रयान्ति प्राप्नुवन्ति। ''या प्रापणे'' लट्॥१३५॥

टीकार्थ - अब ज्यादा कहने से क्या होता है ऐसा मान कर इस प्रसंग को विराम देते हैं उपर्युक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि जो पुरूष रात्रिभोजन का मन वचन काय इन तीन योगों से त्याग करता है, वही जीव निरन्तर परमोत्कृष्ट अहिंसा धर्म का पालन करता है ॥१३४॥

उत्थानिका - अब मोक्ष को कौन प्राप्त होते हैं, इसका प्रतिपादन करते हैं -

अन्वयः - इति अत्र ये स्वहितकामाः मोक्षस्य त्रितयात्मनि मार्गे अनुपरतं प्रयतन्ते ते अचिरेण मुक्तिं प्रयन्ति॥

अन्वयार्थ - (इति) इस प्रकार (अत्र) इस लोक में (ये स्वहितकामाः) जो अपने हित को चाहने वाले (मोक्षस्य) मोक्ष के (त्रितयात्मनि मार्गे) रत्नत्रयात्मक मार्ग में (अनुपरतं) सर्वदा (प्रयतन्ते) प्रयत्न करते हैं (ते) वे पुरूष (अचिरेण मुक्तिं प्रयान्ति) मोक्ष को शीघ्र ही प्राप्त होते हैं ।

टीकार्थ - जो पुरूष अपना कल्याण चाहते हैं कि वे इस प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रात्मक मोक्ष के मार्ग में निरन्तर प्रयत्न करते हैं। वे पुरूष शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होते हैं ॥१३५॥

रत्नत्रय मय मार्ग में, इस विधि करते यत्न।
मुक्तिरमा के कण्ठ का, भव्य वरें वह रत्न ॥१३५॥

व्रतानि परिपाल्यमानानां सप्तशीलान्यपि पालयितव्यानीति प्रलप्यन्ते -

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि॥१३६॥

मं. टी. - परिधय इवेत्यादि - इव औपम्यार्थे यथा। नगराणि पुराणि। परिधयः परकोटानि। तथा किल निश्चये। व्रतानि शीलानि सप्तकानि गुणव्रतशिक्षाव्रतानि। पालयन्ति रक्षन्ति। तस्मात् तत्कारणात्। व्रतपालनाय व्रतानामहिंसादीनां पालनाय निरतिचारेण सेवनाय। शीलानि अपि पालनीयानि शीलसप्तकमपि पालनीयमित्यर्थः। पुराकाले राजतन्त्रे राज्यनगरी - देशादिरक्षणाय दिक्षु चतुर्षु परकोटानि बहुबाहुल्यानि निर्मितानि भवन्ति परचक्रेणान्यथा रक्षितुमशक्यत्वात्। तथैव निर्दोषरीत्याऽहिंसादिमूलव्रतानुष्ठानाय सप्तशीलव्रतानि परकोटानीवावश्यं सेवितव्यानीति भावः॥१३६॥

अथ दिग्व्रतदेशव्रतानर्थदण्डव्रतनामानि त्रीणि गुणव्रतानि तत्राद्यं दिग्व्रतमाख्यातुकाम आहार्यार्द्वयम्-

प्रविधाय सुप्रसिद्धै - र्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता॥१३७॥

उत्थानिका - व्रतों का पालन करने वालों को सप्त शीलव्रतों का भी पालन करना चाहिए , यह कथन करते हैं-

अन्वयः- नगराणि परिधय इव किल व्रतानि शीलानि पालयन्ति तस्मात् व्रतपालनाय शीलानि अपि पालनीयानि॥

अन्वयार्थ - (नगराणि परिधय इव) जिस प्रकार नगरों की रक्षा परकोटा करते हैं (किल) वास्तव में उसी प्रकार (व्रतानि शीलानि पालयन्ति) व्रतों की रक्षा शीलव्रत करते हैं (तस्मात्) इसलिए (व्रतपालनाय) अहिंसादि पाँच अणुव्रतों का पालन करने के लिए (शीलानि अपि पालनीयानि) शीलव्रतों का भी पालन करना चाहिए ।

टीकार्थ - 'इव' उपमा अर्थ में प्रयुक्त है। जिस प्रकार नगर की रक्षा परकोटा निश्चय से करते हैं उसी प्रकार पाँच व्रतों की रक्षा सात शीलव्रत करते हैं। इसलिए अहिंसादि व्रतों का निरतिचार पालन करने के लिए सात शीलव्रतों का भी पालन करना चाहिए। प्राचीनकाल में राजतन्त्र में राजा लोग विरोधी राजाओं से अपनी रक्षा करने के लिए नगरी और देश आदि की रक्षा करने के लिए चारों दिशाओं में बड़े विशाल परकोटा बनाते थे । उसी प्रकार निर्दोष रीति से अहिंसादि मूलव्रतों का अनुष्ठान करने के लिए सात शीलव्रतों का परकोटे की तरह अवश्य ही पालन करना चाहिए ॥१३६॥

उत्थानिका - दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड व्रत हैं नाम जिनके ऐसे तीन गुणव्रतों में प्रथम दिग्व्रत नामक गुणव्रत का व्याख्यान करने के लिए दो छन्द कहते हैं-

---

परकोटों से नगर की, रक्षा जिस विधि होय।
शीलगुणों से व्रतों की , रक्षा उस विधि होय ॥१३६॥
ऊर्ध्व अधः प्राची तथा, दशों दिशा की सीम।
संकल्पित हो अचल हो, दिग्व्रत गुणव्रत नींव ॥१३७॥

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य।

सकलाऽसंयमविरहाद् भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम्॥१३८॥

मं.टी. -प्रविधायेत्यादि - सुप्रसिद्धैः अभिज्ञानैः परिचितसंकेतैः मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनैरित्यर्थः। मर्यादा सौम्नां। प्रविधाय कृत्वा। प्राच्यादिभ्यः प्राची आदौ यासामुदीचीप्रतीच्यपाच्यां ताभ्यः। दिग्भ्यः दिशाभ्यः। अविचलिता विरतिः कर्तव्या क्वचिल्लाभादिप्रसङ्गे सत्यपि निश्छल - निर्मोहतया गृहीतव्रतमाचरितव्यम्। तेन किं भवतीत्यत आह-इति एवं प्रकारः। यः कश्चन जनः। नियमितदिग्भागे नियमितो निश्चितः आजन्मपर्यन्तं दिग्भागः दिशानां विभागो यत्र। प्रवर्तते समाचरति। तस्य दिग्व्रतिनः। ततः नियमितक्षेत्रस्य। बहिर्बाह्यं। सकलासंयमविरहात् सकलः सम्पूर्णः स चासौ असंयमः स्थास्नुचरिष्णुप्राणघातस्तस्माद् विरहो रहितस्तस्मात् अवधेर्बहि र्महाव्रतत्वादित्यर्थः। अहिंसाव्रतं पूर्णं भवति देशव्रतिनोऽपि दिग्व्रतं धारयतः सकलविरतेः सकलाहिंसाव्रतमुपपन्नं स्यात्॥१३७-१३८॥

अन्वयः - सुप्रसिद्धैः अभिज्ञानैः सर्वतः अपि मर्यादां प्रविधाय प्राच्यादिभ्यः दिग्भ्यः अविचलिता विरतिः कर्त्तव्या। इति यः नियमितदिग्भागे प्रवर्तते तस्य ततः बहिः सकलासंयमविरहात् पूर्ण अहिंसाव्रतं भवति ॥

अन्वयार्थ - (सुप्रसिद्धैः अभिज्ञानैः) अत्यन्त प्रसिद्ध ग्राम, नदि, पर्वतादि स्थानों से (सर्वतः अपि) सब ओर से (मर्यादां प्रविधाय) मर्यादा करके (प्राच्यादिभ्यः) पूर्वादि दिशाओं से (अविचलिता विरतिः कर्त्तव्या) दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिए (इति) इस प्रकार (यः) जो (नियमितदिग्भागे) नियत दिशाओं के भाग में (प्रवर्तते) प्रवर्तन करता है (तस्य) उस पुरूष के (ततः बहिः) उस मर्यादित क्षेत्र से बाहर (सकलासंयमविरहात्) सम्पूर्ण असंयम का अभाव होने से (पूर्णं अहिंसाव्रतं भवति) पूर्ण अहिंसा व्रत होता है।

टीकार्थ - अत्यन्त प्रसिद्ध परिचित समुद्र, नदी, जंगल, पर्वत, जनपद आदि स्थानों की मर्यादा करके पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर आदि दिशाओं में दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिए। किसी दिशा में कोई विशेष लाभादि का प्रसंग होने पर भी निश्चल और निर्मोह होकर गृहीत व्रतों का निर्दोष रीति से पालन करना चाहिए । इस प्रकार जो व्रती जीवन पर्यन्त के लिए दिशाओं का विभाग करता है, उस दिग्व्रती के निश्चित क्षेत्र के बाहर सकल असंयम का अर्थात् त्रस स्थावर जीवों के घात का त्याग होने से सीमा के बाहर के क्षेत्र में उपचार से महाव्रत होता है।

दिग्व्रत को धारण करने वाले उस देशव्रती के भी सकल विरति होने से पूर्ण अहिंसा व्रत होता है ॥१३७-१३८॥

मर्यादा बहि भाग में, हिंसा से बच जाय।
अतः अहिंसा पूर्ण हो, निर्विकल्प हो जाय ॥१३८॥

अथ देशव्रतं निरूपयन्नाहार्यायुग्मम्-

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥१३९॥
इति विरतौ बहुदेशात्तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण॥१४०॥

मं. टी. - तत्रापीत्यादि - च समुच्चये। तत्रापि दिग्व्रतानां सीम्न्यपि। ग्रामापणभवनपाटकादीनाम् तत्र ग्रामः संवसथः, आपणो वस्तुविनिमयस्थानम्, भवनं गृहं, पाटको हस्तप्रमाणं, ''पाटकस्तुमहाकिष्कौ'' इति श्रीधरसेनः क्वचित् पाटकस्य स्थाने वाटिकेति पठ्यते पाठस्तेनोद्यानमिति योज्योऽर्थः। आदिशब्दतो देवालयादि गृह्यते, एतेषाम् ग्रामादीनाम्। नियतकालं नियतश्चासौ कालो नियतकालस्तं ''कालाध्वन्यविच्छेदे'' इत्यनेनात्यन्तसंयोगे द्वितीया। परिमितकालं संवत्सरऋत्वयनमासचतुर्मासपक्षनक्षत्रपर्यन्तमित्यर्थः। दिग्व्रतं यावज्जीवं, देशव्रतं नियतकालिकमिति

उत्थानिका - अब देशव्रत का निरूपण करते हुए दो आर्या छन्द कहते हैं -

अन्वयः -तत्रापि च ग्रामापणभवनपाटकादीनां परिमाणं नियतकालं प्रविधाय देशात् विरमणं करणीयं । इति बहुदेशात् विरतौ तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात् तत्कालं विमलमतिः विशेषण अहिंसा श्रयति ॥

अन्वयार्थ - (तत्रापि च) और उस दिग्व्रत में भी (ग्रामापणभवनपाटकादीनां) ग्राम, बाजार, भवन, मोहल्ला, आदि की (परिमाणं) मर्यादा को (नियतकालं प्रविधाय) निश्चित काल तक करके (देशात् विरमणं करणीयं) देश से विरक्ति कर लेनी चाहिए (इति) इस प्रकार (बहुदेशात् विरतौ) बहुदेश से विरति हो जाने पर (तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्) उस बहुदेश से उत्पन्न होने वाली हिंसाविशेष का त्याग हो जाने से (तत्कालं विमलमतिः) उस समय तक वह निर्मल बुद्धि वाला (विशेषण) विशेष रूप से (अहिंसां श्रयति) अहिंसा को पालता है।

टीकार्थ - 'च' शब्द समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त है। उन दिशाओं की सीमा में भी ग्राम, बाजार, गृह, पाटक अर्थात् ग्राम का कुछ हिस्सा या मुहल्ला आदि की सीमा करना है । कहीं पर पाटक के स्थान पर वाटिका पाठ मिलता है जिसका अर्थ उद्यान होता है। आदि शब्द से मन्दिर आदि को ग्रहण करना चाहिए । इन ग्रामादि का निश्चत काल अर्थात् एक बर्ष, छह माह, दो माह, एक माह, १५दिन का एक पक्ष, एक नक्षत्र आदि की मर्यादा

दिग्व्रत में भी ग्राम वन, गली बाग बाजार।
समय समय की सीम से, देशविरति को धार ॥१३९॥
इस विध उस-उस देश की, हिंसा का नहिं दोष।
विमल बुद्धि उस व्रती का, बढ़े अहिंसा कोष ॥१४०॥

विशेषोऽवगन्तव्यः। परिणाम मर्यादां। प्रविधाय कृत्वा। देशात् एकदेशात्, दिग्व्रतं व्यापकं देशव्रतं तु व्याप्यभावादेव देशः कथ्यते तस्मात्। विरमणं व्यावृत्तिः। करणीयं आचरणीयम्। देशव्रतफलं प्रदर्शयन्नाह इति एवमुक्तप्रकारम्। बहुदेशात् बाहुल्यात् विरतौ व्यावृत्तौ सत्याम्। किं भवतीत्युच्यते तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्-तत् बहुदेशार्थम् तस्मिन् उत्थः उत्थितः उद्भूतो वा हिंसाविशेषो देशव्रताभावात् पापप्रसङ्गस्तस्मात् परिहारात् व्युपरमात्, दिग्व्रताभ्यन्तरे हिंसाविरहादित्यर्थः। तत्कालं तत्समयपर्यन्तम्। विमलमतिः विमलाश्चासौ मतिर्बुद्धिर्यस्य सः। विशेषेण दिग्व्रतापेक्षया विशेषस्तेन। अहिंसां श्रयति पालयतीत्यर्थः। ''श्रिञ् सेवायां'' लट्॥१३९-१४०॥

अथ तृतीयस्य गुणव्रतस्यानर्थदण्डस्य मौख्येन पञ्चविधस्याद्यभेदमपध्यानसञ्ज्ञकं प्राह -

पापर्द्धि - जयपराजय - सङ्गरपरदार - गमन- चौर्याद्याः।

न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात्॥१४१॥

मं. टी. - पापर्द्धीत्यादि -पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः तत्र जयः सर्वोत्कृष्टेन वर्तनं स्वस्य स्वपक्षस्य वा, पराजयोऽभिभूतिः परस्य परपक्षस्य वा, सङ्गरो युद्धं, परदारगमनं परस्त्रिया सह रागोद्रेकाद् गमनं

करके शेष दिशा और देश से विरक्ति करना चाहिए। काल और मार्ग वाची शब्दों का अत्यन्त संयोग होने पर द्वितीया विभक्ति होती है इसलिए नियतकाल में द्वितीया विभक्ति का एक वचन है। दिग्व्रत व्यापक है और देशव्रत व्याप्त है। देशव्रत का फल बताते हैं - इस प्रकार बहुदेश से विरक्त हो जाने पर उस बहुदेश से उत्पन्न होने वाली हिंसाविशेष का त्याग हो जाने से उस समय वह निर्मल बुद्धि का धारी देशव्रती विशेष रूप से अहिंसा का पालन करता है ॥१३९-१४०॥

उत्थानिका - अब तृतीय गुणव्रत अनर्थदण्ड व्रत की मुख्यता से पाँच प्रकार के अनर्थदण्ड के भेदों में पहले अपध्यान का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः कदाचन अपि न चिन्त्याः यस्मात् केवलं पापफलम्॥

अन्वयार्थ - (पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमनचौर्याद्याः) शिकार, अपनी विजय, पर की पराजय , युद्ध, परस्त्रीगमन और चोरी आदि का (कदाचन अपि) कभी भी (न चिन्त्या) चिन्तन नहीं करना चाहिए (यस्मात्) क्योंकि ये (केवलं पापफलम्) सिर्फ पाप फल रूप ही हैं।

टीकार्थ - बिना प्रयोजन आरंभ या हिंसा आदि के कार्य करने को अनर्थदण्ड कहते हैं। अपनी अथवा अपने पक्ष की सर्वोत्कृष्टता होना जय कहलाता है । दूसरों की अथवा दूसरे पक्ष की हार चाहना पराजय है। युद्ध को संगर कहते हैं। परस्त्री गमन अर्थात् परस्त्री के साथ राग के उद्रेक से सम्मुख जाना, वार्तालाप करना, हास्य और क्रीड़ा आदि करना परदारगमन के अन्तर्गत आता है। चोरी अर्थात् परकीय वस्तु का हरण करना।

युद्ध होय, पर नारि से रमण करूँ, कर चोरि।
हार जीत यो सोचना, अपध्यान तू छोड़ि ॥१४१॥

सम्मुखतावार्तालापहासक्रीडादिकरणम्, चौर्यं स्तेयकर्म परवस्तुहरणम्, एतेषां द्वन्द्वविधानं योज्यम्। आदिशब्देन धनहानिपुत्रभ्रातृमरणदोषाविष्करणविधिवधादयो ग्राह्याः। पापस्य ऋद्धिर्वृद्धिः पापर्द्धिः सा चासौ जयादिस्ते तथोक्ताः पापफलभूयिष्ठत्वात्। कदाचनापि क्वापि काले। न चिन्त्याः न भाव्याः। कस्मादितिचेत् ? यस्मात् केवलं पापफलं भवति चिन्तनमपि पापफलप्रदायीतिभावः॥१४१॥

अथानर्थदण्डस्य द्वितीयं भेदं पापोपदेशाख्यमाख्याति-

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव कर्तव्यम्॥१४२॥

मं. टी. - विद्येत्यादि - नैव कर्तव्यं नैव विधेयम्। किं तत् ? पापोपदेशदानं पापस्योपदेशः पापसंयुक्तवचनं तस्य दानं कथनं तथोक्तम्। कदाचिदपि कस्मिन्नपि समये। केषाम् ? पुंसां पुरुषाणामणुव्रतधारिणामित्यर्थः। कथम्भूतानामित्याह - विद्येत्यादि तत्र विद्या द्विविधा धर्मकर्मभेदात् तत्र प्रथमानुयोगकरणानुयोगचरणानुयोगद्रव्यानुयोग-शिक्षाकल्पव्याकरणच्छन्दोऽलङ्कारज्योतिष्कनिरुक्तीतिहासपुराणमीमांसान्यायरूपा धर्मविद्या चतुर्दश पुण्यजनैः सेव्या। ब्रह्मचातुर्यबालवाहनदेशनाबाहुजलरसायनगानसंगीतव्याकरण-वेदज्योतिष्कवैद्यकाख्या चतुर्दश लौकिकैः सेव्या कर्मविद्या।

आदि शब्द से धनहानि , पुत्र, भ्रात का मरण, पर के दोषों को प्रगट करना , प्राणवधादि को भी ग्रहण करना चाहिए। इन सभी में पाप के फल की अधिकता होने से कभी भी इनका चिन्तन नहीं करना चाहिए। क्योंकि इनका चिंतन भी पापफल को ही देने वाला है ॥१४१॥

उत्थानिका - पापोपदेश नामक द्वितीय अनर्थदण्ड का कथन करते हैं -

अन्वयः - विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसा पापोदेशदानं कदाचित् अपि नैव कर्त्तव्यम् ॥

अन्वयार्थ - (विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसा) विद्या अर्थात् ज्ञान, व्यापार, स्याही अर्थात् लेखनी, खेती, चाकरी, शिल्प कला कौशल के द्वारा आजीविका करने वाले पुरूषों के लिए (पापोपदेशदानं) पाप के उपदेश का दान (कदाचित् अपि) कभी भी (नैव कर्त्तव्यम्) नहीं करना चाहिए ।

टीकार्थ - अणुव्रतधारी पुरूषों को पापोदेश अर्थात् पाप संयुक्त वचन कभी नहीं कहना चाहिए। धर्म और कर्म के भेद से विद्या दो प्रकार की है। उनमें प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द अलंकार, ज्योतिष, निरूक्ति, इतिहास, पुराण, मीमांसा, न्याय रूप धर्म विद्यायें चौदह प्रकार की हैं, जो पुण्य पुरूषों के द्वारा सेवनीय हैं।

ब्रह्म, चातुर्य, बाल, वाहन, देशना, बाहु, जल, रसायन, गान, संगीत, व्याकरण, वेद, ज्योतिष, वैद्यक के भेद से चौदह कर्म विद्यायें हैं जो लौकिक पुरूषों के द्वारा सेवन करने योग्य हैं। जीवी शब्द प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए ।

जो विद्या से आजीविका चलाता है वह विद्याजीवी है। वणिक् कर्म अर्थात् वस्तुओं के खरीदने और

असि, मसि, कृषि, विद्या, कला, सेवा वा व्यापार।
इनसे इनकी जीविका, नहीं सिखा सागार ॥१४२॥

द्वितयी हि विद्या सेवनीया। जीविन्निति प्रत्येकमभिसम्बध्यते। तद्यथा-विद्यया जीवति स विद्याजीवी। वाणिज्यं वणिक्कर्म क्रयविक्रयादि तेन जीवत्येवंशीलो वाणिज्यजीवी। तथैव मषीजीवी लिपिकारो लेखको वोच्यते। कृषिजीवी कृषकः। शिल्पजीवी काष्ठकारचर्मकारादिः। विद्या च वाणिज्यं च मषी च कृषिश्च सेवा च शिल्पं च विद्यावाणिज्य-मषीकृषिसेवाशिल्पानि इतरेतरद्वन्द्ववृत्तेः। तैर्जीवन्तीत्येवंशीलास्तथोक्तास्तेषाम्॥१४२॥

अथ प्रमादचर्यासञ्ज्ञकं तृतीयमनर्थदण्डं प्रभाषते -

भूखननवृक्षमोटन - शाड्वल - दलनाम्बु - सेचनादीनि।
निःकारणं न कुर्याद् दलफल - कुसुमोच्चयानपि च॥१४३॥

मं. टी. - भूखननेति। भूः पृथ्वी तस्याः खननं कुट्टनं च वृक्षास्तरवस्तेषां मोटनं उच्छेदनं च शाड्वलः ''नडशाडाद्वलः'' इति सूत्रात् शष्पस्तेषां दलनं मषणं च अम्बुसेचनं जलक्षेपणं च आदिर्येषामनलप्रज्वलनपवनकरणादीनां तानि भूखननवृक्षमोटनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि। च समुच्चये। दलफलकुसुमोच्चयान् अपि दलानि पत्राणि ''पत्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्'' इत्यमरः च फलं कृषिफलं च कुसुमं पुष्पं च तेषामुच्चय उच्छ्रायः समुच्चयो वा तान् अपि। निःकारणं प्रयोजनमन्तरेण। न कुर्यात् नाचरेत्। ''डुकृञ् करणे'' वि.लि.। अनावश्यकस्थावरघातेन सह त्रसहिंसाहननदोषत्वात्॥१४३॥

बेचने से आजीविका चलाता है वह वाणिज्यजीवी है। उसी प्रकार लिपिकार अथवा लेखक -मुनीमी आदि करके आजीविका चलाता है वह मषीजीवी है। जो कृषि करके आजीविका चलाता है वह कृषिजीवी है। काष्टकार अर्थात् बढई, लुहार, चर्मकार आदि ये शिल्पजीवी कहलाते हैं।

उन कार्यो के द्वारा जो अपना जीवन चलाते हैं उनको पाप का उपदेश कभी नहीं देना चाहिए ॥१४२॥

उत्थानिका -प्रमादचर्या नामक तृतीय अनर्थदण्ड का कथन करते हैं-

अन्वयः- भूखननवृक्षमोटनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि च दलफलकुसुमउच्चयानपि निःकारणं न कुर्याद्॥

अन्वयार्थ - (भूखननवृक्षमोटनशाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि) पृथ्वी खोदना, वृक्षों को उखाड़ना, घास को रौंदना या नष्ट भ्रष्ट करना, जल को फेंकना, इन कार्यो को (च) और (दलफलकुसुमउच्चयानपि) पत्ते , फल, फूल इनके ढेरों को भी (निःकारणं न कुर्याद्) बिना कारण नहीं करना चाहिए।

टीकार्थ - भूमि खोदना, वृक्ष उखाड़ना ,घास रौंदना या उसके ऊपर भागदौड़ करना, जल फेंकना, अग्नि जलाना, हवा करना , इत्यादि कार्यो को और पत्ते , फल, फूल, आदि के समूह का निष्प्रयोजन संग्रह नहीं करना चाहिए क्योंकि अनावश्यक स्थावर जीवों की हिंसा के साथ त्रस जीवों की हिंसा का दोष लगता है ॥१४३॥

जल सिंचन तरू काटना, भू खोदे बिन कार्य।
सब अनर्थ है पाप है, बचो-बचो हे! आर्य ॥१४३॥

अधुना चतुर्थं हिंसादानं कथयति -

असिधेनु - विषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात्॥१४४॥

मं. टी. - असीत्यादि - असिधेनुः क्षुरिका, विषं हालाहलं, हुताशनोऽग्निः, लाङ्गलं सीरं हलं वा, करवालः खड्गः, कार्मुकं धनुश्चैतानि आदीनि येषां श्रृंखलाखनित्रादीनां तेषां असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्। कथम्भूतानाम् ? हिंसायाः उपकरणानां प्राणवधहेतूनां। यत्नात् अवधानतया। वितरणं दानं अर्थात् हिंसादानमनर्थदण्डम्। परिहरेत् न दद्यात्। ''हृञ् हरणे'' परिपूर्वकं वि.लि. प्रयोगः॥१४४॥

एतर्हि दुःश्रुतिं विवृणोति -

रागादिवर्धनानां दुष्टकथानामबोध-बहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि॥१४५॥

मं. टी. - रागादीत्यादि - न कुर्वीत नाचरेत्। ''डुकृञ् करणे'' वि. लि. प्रयोगः। कदाचन जातुचित्। कानि च

उत्थानिका - अब हिंसादान नामक चर्तुथ अनर्थदण्ड का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम् हिंसायाः उपकरणानां वितरणं यत्नात् परिहरेत्॥

अन्वयार्थ - (असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्) छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि (हिंसायाः उपकरणानां) हिंसा के उपकरणों का वितरण (वितरणं) दूसरों को देने का (यत्नात् परिहरेत्) यत्नपूवर्क परिहार करें अर्थात् हिंसा के उपकरण दूसरों को कभी न देवें ।

टीकार्थ - छुरी, हलाहल विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष, सांकल, कुदाली, आदि प्राणघात के कारणभूत हिंसा के उपकरणों को अर्थात् हिंसा की वस्तुओं को दूसरों को कभी न देवें ॥१४४॥

उत्थानिका - इसी प्रकार पंचम अनर्थदण्ड दुःश्रुति का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - रागादिवर्धनानां अबोधबहुलानां दुष्टकथानां श्रवणार्जनशिक्षणादीनि कदाचन न कुर्वीत ॥

अन्वयार्थ - (रागादिवर्धनानां) रागादि को बढ़ाने वाली (अबोधबहुलानां) अज्ञान से भरी हुई (दुष्टकथानां) दुष्ट कथाओं का (श्रवणार्जनशिक्षणादीनि) सुनना, संग्रह, शिक्षण आदि (कदाचन) कभी (न कुर्वीत) नहीं करना चाहिए।

अग्नि छुरी विष हल धनुष डंडा रस्सी पाश।
हिंसा का यह दान है, अघ को अतः विनाश ॥१४४॥
भय दुस्साहस काम की, कथा सुनो ना बाँच।
दुःश्रुति पाप अनर्थ है, व्रत को लगती आँच ॥१४५॥

तानीत्याह श्रवणार्जनशिक्षणादीनि श्रवणं श्रुतिः, अर्जनं मननं धारणं वा, शिक्षणं शिक्षाकथनं चैतानि आदीनि येषां पाठनलेखनचर्यादिकरणानां तानि। केषाम् ? दुष्टकथानां मिथ्यावार्तानां। कथम्भूतानाम् ? रागादिवर्धनानां रागः आदिर्येषां मदनमदादीनां तस्य वर्धनमुपवृंहणं तेषां। पुनश्च किं विशिष्टानां ? अबोधबहुलानां अबोधोऽज्ञानस्तस्य बहुलं बहुलता येषां तेषामुपन्यासचित्रपटनाटक-विकथाक्रीडादीनाम्॥१४५॥

अधुना मुख्यानर्थदण्डो व्याख्यायते -

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात् परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्॥१४६॥

मं. टी. - सर्वानर्थेत्यादि - दूरात् अविचार्यैव। परिहरणीयं सन्त्याज्यम्। किंतत् द्यूतं कैतवमक्षेषु पणो वा ''होढाकृतं द्यूतमथाह नेता'' इति जयोदयः। किं विशिष्टम्। सर्वानर्थप्रथमं सर्वेषु चानर्थेषु चौर्यमदिरापानव्यभिचारासिंहासन-राज्यस्वस्त्रीवस्त्रपात्रादिहरणेषु प्रथममाद्यं द्यूतमुच्यते। शौचस्य निर्लोभस्य मथनं विनाशकमित्यर्थः यतो द्यूतरतस्य सन्तोषः कुतो जयपराजययोर्हि लोभवर्धनात्। पुनश्च मायायाः वञ्चनायाः सद्म स्थानं, मद्यपस्य निकृतिबहुलात्। तथा च चौर्यासत्यास्पदं-चौर्यं चुरा चासत्यं मृषा च तयोरास्पदं गृहं द्यूतमेव। तथा च प्रोक्तम् -

---

टीकार्थ - रागादि को बढ़ाने वाले अर्थात् मद, काम, क्रोध, लोभ आदि को बढ़ाने वाले,अबोध बहुल अर्थात् मिथ्याज्ञान से भरे हुए दुष्ट कथा अर्थात् कल्पित साहित्य, उपन्यास, चित्रपट, नाटक आदि विकथाओं के सुनने ,अर्जन करने, मनन करने, शिक्षा देने , पढ़ने, लिखने आदि का त्याग करना चाहिए।

उत्थानिका - अब मुख्य अनर्थदण्ड का व्याख्यान करतें हैं -

अन्वयः-सर्वानर्थप्रथमं शौचस्य मथनं मायायाः सद्म चौर्यासत्यास्पदं द्यूतं दूरात् परिहरणीयं ॥

अन्वयार्थ - (सर्वानर्थप्रथमं) सब अनर्थो में पहला अनर्थ (शौचस्य मथनं) निर्लोभता का विनाशक (मायायाः सदम्) मायाचार का घर (चौर्यासत्यास्पदं) चोरी और असत्य का स्थान (द्यूतं) जुआ को (दूरात् परिहरणीयम्) दूर से ही छोड़ देना चाहिए ।

टीकार्थ - सब अनर्थो में पहला अनर्थ जुआ है । पासा खेलना भी जुआ है । **जयोदयमहाकाव्य में कहा है कि होड़ (शर्त) लगाना जुआ कहा जाता है ।** चोरी, मदिरा पान, व्यभिचार, सिंहासन रहित कर देना और राज्य, स्व स्त्री, वस्त्र, पात्रादि के हरण में पहला जुआ है । यह निर्लोभता का विनाशक है, क्योंकि जुआरी के जय पराजय का लोभ बढ़ने से सन्तोष कैसे हो सकता है। जुआ माया का घर है क्योंकि जुआरी के मायाचार की बहुलता होती है। चोरी तथा असत्य का घर जुआ ही है। इसलिए जुआ को विचार किये बिना दूर से ही छोड़ देना चाहिए । जैसे अन्यत्र भी कहा है -

---

सर्व अनर्थों का मकाँ, जुआ खेल अभिशाप।
तोष मिटे छल-बल बढ़े, झूठे चोरि अघ बाप ॥१४६॥

क्रोधजेषु त्रिषूक्तेषु कामजेषु चतुर्षु च।

नापरं व्यसनं द्यूतान्निकृष्टं प्राहुरागमाः॥१४६॥

अनर्थदण्डस्य त्यागः सर्वदा सर्वथा करणीयोऽहिंसाभिवृद्धय इति ब्रूते -

एवं विधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।

तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते॥१४७॥

मं. टी. - एवमित्यादि - यः कश्चिज्जनः। एवं विधमुपर्युदितप्रकारं। अपरमपि अन्यदपि अनर्थदण्डं नार्थः प्रयोजनं येन सिध्यति सोऽनर्थः स चासौ दण्डः पापास्रवो दोषस्तं निष्प्रयोजनीयपापं। ज्ञात्वा विज्ञाय। मुञ्चति त्यजति ''मुच्लृ मोक्षणे'' लट्। तस्य पुरुषस्य। विजयं लभते सर्वोत्कृष्टता भवति। किं तत् ? अहिंसाव्रतं सर्वथा हिंसाविरतिरूपम्। कथम्भूतम् ? अनवद्यं-वद्यं दूष्यं, न वद्यमनवद्यं नञ् समासः निष्पापमिति। अनिशं सततं सर्वदा॥१४७॥

''क्रोध से उत्पन्न होने वाले तीन व्यसन तथा काम से उत्पन्न होने वाले चार व्यसन होते हैं । इन सात व्यसनों में द्यूत से बढ़कर कोई दूसरा व्यसन नहीं है ''॥१४६॥

उत्थानिका - अहिंसा धर्म की वृद्धि के लिए अनर्थदण्ड का त्याग हमेशा के लिए पूर्ण रूप से करना चाहिए -

अन्वयः - यः एवंविधं अपरं अपि अनर्थदण्ड ज्ञात्वा मुञ्चति तस्य अहिंसाव्रतं अनिशं अनवद्यं विजयं लभते ॥

अन्वयार्थ - (यः) जो पुरूष (एवंविधं) इस प्रकार (अपरं अपि) दूसरे भी (अनर्थदण्डं ज्ञात्वा) अनर्थदण्डों को जानकर (मुञ्चति) छोड़ देता है (तस्य) उसके (अहिंसाव्रतं) अहिंसा व्रत (अनिशं) निरन्तर (अनवद्यं) निर्दोष (विजयं लभते) विजय को प्राप्त होता है ।

टीकार्थ - जिससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो वह अनर्थ है। पापों का आस्रव दोष है। यह दोष ही दण्ड है । जो पुरूष उपर्युक्त प्रकार से अन्य अनर्थदण्डों को अर्थात् निष्प्रयोजनीय पापों को जानकर उन्हें छोड़ देता है, उस पुरूष के निरन्तर निर्दोष अहिंसा व्रत की विजय प्राप्त होती है ॥१४७॥

अन्य और भी व्यर्थ के, दण्ड अनर्थ पिछान।
निज मति से तज सुख लहो, बढ़े अहिंसा शान ॥१४७॥

इदानीं चतुःशिक्षाव्रतमाख्यातुकामः सामायिकस्वरूपं तावत् प्रथमं कथयति -

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।

तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्॥१४८॥

मं. टी. - **रागेत्यादि**-कार्यम् करणीयम्। क्व ? बहुशः बहुकालपर्यन्तम् वारंवारं वा। किं तत् ? सामायिकं सम्पूर्वकं इण् गतौ समयः इति निष्पत्तिः। अस्यार्थः समेकीभावे वर्तते। अयोऽयनं गमनं। तनैकीभावेनायनं समयः। समय एव सामायिकं युक्तार्थेऽपीकण्प्रत्ययात्। अत्र सं संगतं संयुक्तार्थे यथा संगतं घृतं संगतं तैलमित्यादिनैकीभूतमित्यर्थो गम्यते। अथवा सम समता समानार्थे यथा ''समलोष्टकाञ्चनः'' इति तेन समायः समता प्रयोजनं यस्येति वा सामायिकम् ''प्रयोजनं'' इति सूत्रात् प्रयोजनार्थे ठञ् स्यात्। सामायिकमिति वाचकमभेदरत्नत्रयस्य समतापरायणमुनेर्वा तेन महाव्रतत्वं वेदितव्यम्। इयति देशे एतावति काले इत्यवधिसन्धारिते सामयिके स्थितस्य श्रावकस्य सामयिकं शिक्षाव्रतं नाम सुप्रतीयते ''सर्वत्र च सामयिकाः सामयिकं नाम शंसन्ति'' इति वचनात्।

उत्थानिका -अब चार शिक्षाव्रतों में सर्वप्रथम सामायिक शिक्षाव्रत का स्वरूप कहते हैं -

अन्वयः - निखिलद्रव्येषु रागद्वेषत्यागात् साम्यं अवलम्ब्य तत्त्वोपलब्धिमूलं सामायिकं बहुशः कार्यम् ।

अन्वयार्थ - (निखिलद्रव्येषु) सम्पूर्ण द्रव्यों में (रागद्वेषत्यागात्) राग द्वेष के त्याग से (साम्यं अवलम्ब्य) समता भाव का अवलम्बन करके (तत्त्वोपलब्धिमूलं) आत्मोपलब्धि का मूल कारण (सामायिकं बहुशः कार्यम्) सामायिक बहुत बार करना चाहिए ।

टीकार्थ - 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'इण् गतौ' धातु से समय शब्द की निष्पत्ति होती है। 'सम्' उपसर्ग का अर्थ एक रूप है और 'अय' का अर्थ गमन है, एक रूप होना समय है और समय ही सामायिक है । युक्त अर्थ में भी 'समय' शब्द से 'इकण्' प्रत्यय होकर सामायिक शब्द बनता है ।

समायः समता प्रयोजनं यस्य सः सामायिकम् इस प्रकार सामायिक शब्द बनता है।

यहाँ सम् संगत संयुक्त अर्थ में है। जैसे 'घी संगत है, तैल संगत है इत्यादि संगत शब्द का अर्थ एकीभूत जाना जाता है। अथवा सम समान अर्थ में प्रयोग होता है जैसे 'लोष्ट और स्वर्ण में समानता है' इस अर्थ में समाय शब्द बनता है । समता है प्रयोजन जिसका वह सामायिक है । ''प्रयोजनं'' इस सूत्र से प्रयोजन अर्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है, जिससे सामायिक शब्द बनता है ।

सामायिक शब्द अभेद रत्नत्रय का वाचक है । अथवा समतापरायण मुनि के सामायिक चारित्र का ग्रहण करना चाहिए । इससे महाव्रतपना जानना चाहिए ।

राग द्वेष के हेतु तज, सकल द्रव्य में साम्य।
आत्म तत्त्व का हेतु जो, सामायिक है काम्य ॥१४८॥

अत्र समयः प्रयोजनमस्येति विगृह्य सामयिकशब्दस्य व्युत्पत्तेः। ''समयात् प्राप्तात्'' इत्यनेन ठञ् प्रत्ययात्। तथाप्यस्मिन् प्रसङ्गे सामायिकं नाम व्रतं श्रावकेभ्यो न विरुध्यते सामयिके स्थितोऽपि सामायिकमिति व्यवह्रियते कार्ये कारणोपचारात्। सामायिकव्रत-सामायिकप्रतिमासामायिकचारित्र सामायिकावश्यकेषु भेदोऽवगन्तव्यो विवक्षावशात्। तद्यथा- सामायिकव्रतं कालपरिच्छित्या श्रावकेषूपलभ्यते। सामायिकप्रतिमा त्रिसन्ध्यासु तृतीयपदसंकल्पे सति स्यात्। सामायिकचारित्रं सर्वसावद्ययोगविरतिरूपमाजन्मपर्यन्तं महाव्रतिनां भवति। सामायिकावश्यकस्तु पुनस्तच्चारित्रदोषनिवृत्त्यर्थं तेषामेव स्यात्। तत्किं विशिष्टं ? तत्त्वोपलब्धिमूलं तत्त्वं जीवादयः अथवा तत्त्वं भावो जीवादीनां तेषामुपलब्धिः प्राप्तिस्तस्याः मूलं कारणं सामायिकसमये हि शुद्धजीवस्वरूपप्रतिभासमानादित्यर्थः। तत्कथं स्यात्। साम्यं समस्य भावः समता वा तं। अवलम्ब्य आलम्बनं कृत्वा। केषुचिदिति चेत् ? निखिलद्रव्येषु मर्यादाभ्यन्तरेऽपि सकलपदार्थेषु। केन विधिना ? रागद्वेषत्यागात् रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तयोस्त्यागस्तस्मात्। तेषु न रागो न द्वेषो वा कुर्यात् तत्कालपर्यन्तमितिभावः॥१४८॥

इतने देश में और इतने काल तक की मर्यादा करके सामायिक में बैठे श्रावक के सामायिक शिक्षाव्रत कहा जाता है। क्योंकि **आगम के ज्ञाता गणधरादि देव समतावान के सब जगह अर्थात् मर्यादा के भीतर और बाहर भी सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं । इस प्रकार आचार्य समन्तभद्र** ने कहा है ।

यहाँ पर समय है प्रयोजन जिसका ऐसा विग्रह करके सामायिक शब्द भी बनता है। इसमें भी ठञ् प्रत्यय से सामायिक बना है। तो भी इस प्रसंग में सामायिक व्रत श्रावकों के लिए विरूद्ध नहीं है। सामायिक में स्थित होने पर कार्य में कारण का उपचार होने से व्यवहार से सामायिक वाला कहा जाता है। सामायिक व्रत, सामायिक प्रतिमा, सामायिक चारित्र, सामायिक आवश्यकों में विवक्षा के वश से भेद जानना चाहिए। जैसे - काल की मर्यादा पूर्वक सामायिक व्रत श्रावकों को प्राप्त होता है। तृतीय प्रतिमा का संकल्प होने पर तीनों संध्याओं में कृतिकर्म पूर्वक जो सामायिक की जाती है उसे सामायिक प्रतिमा कहते हैं ।

महाव्रतियों के जीवनभर के लिए सर्व सावद्ययोग का त्याग होता है उसे सामायिक चारित्र कहते हैं। पुनः उस चारित्र में लगे दोष की निवृति के लिए सामायिक आवश्यक उन्हीं महाव्रतियों के ही होता है। और उस सामायिक में क्या विशेषता है ? तत्व की उपलब्धि का अर्थात् जीवादि तत्वों की प्राप्ति का मूल कारण भूत है । सामायिक के समय में शुद्ध जीव के स्वरूप का प्रतिभास होता है। यह कथन का तात्पर्य है। वह कैसे प्राप्त होता है ? साम्य अर्थात् समता भाव का आलम्बन करके। सम्पूर्ण पदार्थो में रागद्वेष का त्याग होने से उतने काल तक जीव उन पदार्थो में न राग करें , न द्वेष करे । इससे वह सामायिक को प्राप्त हो जाता है ॥ १४८॥

सामायिकव्रतं कालपरिच्छित्या स्यादित्युद्दिष्टं तत्र न जानीमहे कालपरिच्छितिमिति प्रतिपादयन्नाह-

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।

इतरत्र पुनःसमये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम्॥१४९॥

मं. टी. - रजनीत्यादि - तत्सामायिकं। अवश्यं नियमेन। भावनीयं तस्य भावना करणीया। कथम् ? अविचलितं परीषहोपसर्गसंपातेऽपि योगत्रयेण दाढ्यं। कदा ? रजनीदिनयोरन्ते रजनी रात्रिः दिनं दिवसं तयोश्चान्ते परिसमाप्ते द्वयोः संध्ययोर्ग्रहणं तेन कृतं भवति। संध्याद्वये त्ववश्यमेव करणीयमन्यकाले कुर्यान्न वा तथापि मध्यदिने त्रितयीसन्ध्यायामपि करणं न दोषायेत्युच्यते-इतरत्र पुनः समये मध्याह्ने चान्यसमये च। कृतं न दोषाय तत्कुर्वतो न दोषो लगति। किं तर्हि ? तद् गुणाय कृतं तत्सामायिकं महाव्रतगुणाय कृतं स्यात् शिक्षाव्रतमन्यथा न घटते॥१४९॥

उत्थानिका - काल की मर्यादा पूर्वक सामयिक व्रत होता है ऐसा आपने कहा है , तो हम यह नहीं जानते कि काल की सीमा कब और कहाँ करनी चाहिए , इसका प्रतिपादन करते हुए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - तत् रजनीदिनयोः अन्ते अविचलितं अवश्यं भावनीयं पुनः इतरत्र समये कृतं तत् न दोषाय गुणाय कृतम ॥

अन्वयार्थ - (तत्) वह सामायिक (रजनीदिनयोः अन्ते) रात और दिन के अन्त में (अविचलितं) निश्चल रूप से (अवश्यं भावनीयं) अवश्य ही करनी चाहिए (पुनः इतरत्र समये कृतं) फिर अन्य समय में की गई (तत् न दोषाय) वह सामायिक दोष पैदा करने वाली नहीं होती है किन्तु (गुणाय कृतं) गुण पैदा करने वाली होती है।

टीकार्थ - उस सामायिक की अवश्य ही भावना करनी चाहिए । कैसे करनी चाहिए ? अविचलित रूप से अर्थात् परीषह और उपसर्ग के आने पर भी मन वचन काय की दृढ़ता रहनी चाहिए। कब करनी चाहिए? रात्रि और दिन के अन्त में दोनों सन्ध्या कालों में करनी चाहिए। दोनों सन्ध्याओं में तो अवश्य ही करनी चाहिए , अन्य काल में करो , तो भी दिन के मध्य में त्रितयी सन्ध्या में करना दोष के लिए नहीं है । फिर अन्य समय में की गई सामायिक दोष के लिए नहीं है अर्थात् अन्य समय में करने वालों को दोष नहीं लगता है। वह सामायिक महाव्रत आदि गुणों की प्राप्ति के लिए होती है अन्यथा शिक्षाव्रत घटित नहीं हो सकता है ॥१४९॥

रातदिवस के अन्त में कर सामायिक श्रेष्ठ।
अन्य काल में भी करे, फिर तो संवर पैठ ॥१४९॥

येन हेतुना सामयिकं सामायिकं भवेत्तदत्र कथयति -

सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।

भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य॥१५०॥

मं. टी. - सामायिकमित्यादि - महाव्रतं सर्वतो निवृत्तिः। भवति अस्ति। केषाम् ? एषां प्रासङ्गिकानां कथम्भूतानां ? सामायिकश्रितानां ''समता सर्वभूतेषु'' इति वृत्तिमादधानाम्। केन कारणेनेत्याह-समस्तसावद्ययोग-परिहारात् मर्यादीकृतदेशक्षेत्रादेर्बहिरभ्यन्तरपापचेष्टापरित्यागात् सङ्कल्पेन। तर्हि कथं विशिष्यते मुनेः स श्रावकः इत्युच्यते चारित्रमोहस्य उदयेऽपि प्रत्याख्यानावरणकषायस्योदयेऽपि मन्दोदयेऽपि प्रत्यासत्तेरुपचर्यते॥१५०॥

अधुना द्वितीयं प्रोषधोपवासशिक्षाव्रतं वर्णयन्नाह -

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुं।

पक्षार्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः॥१५१॥

उत्थानिका - जिस हेतु से सामयिक, सामायिक होती है उसका यहाँ कथन करते हैं -

अन्वयः - एषां सामायिकश्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहरात् चारित्रमोहस्य उदयेऽपि महाव्रतं भवति ॥

अन्वयार्थ - (एषां सामयिकश्रितानां) इन सामायिक करने वाले पुरूषों का (समस्तसावद्ययोगपरिहारात्) सम्पूर्ण पाप योगों का त्याग हो जाता है इसलिए (चारित्रमोहस्य उदयऽपि) चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने पर भी(महाव्रतं भवति) महाव्रत हो जाता है ।

टीकार्थ - सामायिक के समय 'सब जीवों में समता भाव' की वृत्ति को धारण करने वाले जीवों के समस्त सावद्य योग का त्याग होने से अर्थात् मर्यादा कृत क्षेत्रादि के बाहर और अन्तरंग में पापचेष्टा के परित्याग के संकल्प से वह श्रावक मुनि की तरह होता है ऐसा कहा जाता है। चारित्र मोहनीय कर्म का उदय होने पर भी अर्थात् प्रत्याख्यानावरण कषाय का मंद उदय होने पर भी निकटता की अपेक्षा , उपचार से महाव्रती होता है ॥१५०॥

उत्थानिका - शिक्षाव्रत के द्वितीय भेद प्रोषधोपवास का वर्णन करते हुए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - प्रतिदिनं आरोपितं सामायिकसंस्कारं स्थिरीकर्त्तुं द्वयोः अपि पक्षार्द्धयोः उपवासः अवश्यं कर्त्तव्यः॥

अन्वयार्थ - (प्रतिदिनं आरोपितं) प्रतिदिन किये जाने वाले (सामायिकसंस्कारं) सामायिक रूप संस्कार को

सकल पाप के त्याग से, सामायिक के काल।
चरित मोह का उदय पै, महाव्रती सा भाल ॥१५०॥
समता प्रतिदिन साधता, उसको दृढ़ करणार्थ।
प्रति-अष्टमी चतुर्दशी, कर उपवास महार्थ ॥१५१॥

मं. टी. - सामायिकेत्यादि - कर्तव्यः करणीयः। अवश्यं नियमेन। किमिति चेत् ? उपवासः प्रोषधोपवासः नामैकदेशेनापि पूर्णज्ञानात्। कदा ? पक्षार्धयोः पञ्चदशदिवसानामेकः पक्षः स्यात् तस्यार्धमष्टमीपर्वं पक्षाश्चार्धश्च पक्षार्धौ तयोश्चतुर्दशष्टमीपर्वणोः। कतम्भूतयोः ? द्वयोरपि शुक्लेतरपक्षयोरपि। किमर्थमित्याह स्थिरीकुर्तं प्रागस्थिरमिदानीं स्थिरकरणं तत्तथोक्तं। ''अभूततद्भावे कृभ्वस्तिषुविकरात्च्विः''। ''च्वौ चावर्णस्य ईत्वम'' इति अकारस्य ईकारः। दृढीकरणार्थमित्यर्थः। किंतत् ? आरोपितं मुख्याभावे स्थापितं अनेनोपचरितस्वभावो वै ख्यापितः। सामायिक संस्कारं पञ्चमहाव्रतपरिणतिरूपवासनाम्। प्रतिदिनं दिनं दिनं प्रति यदारोपितं तत्॥१५१॥

प्रोषधोपवासविधिमत्र प्रतिपादयन्नाह -

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिन-पूर्ववासरस्यार्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ॥१५२॥

मं. टी. - मुक्तेत्यादि - गृह्णीयात् स्वीकुर्यात्। ''ग्रहञ् उपादाने'' वि.लि. प्रयोगः। किं तत् ? उपवासं ''चतुराहारविसर्जनमुपवासः'' इति वचनात्। तम्। कदा ? प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे प्रोषधदिनमुपवासदिवसोऽष्टमी वा चतुर्दशी वा तस्य पूर्ववासरः प्राग्दिवसः सप्तमी वा त्रयोदशी वा तस्यार्द्धे उत्तरार्धे द्वितीयवेलायामित्यर्थः। किं

(स्थिरीकर्त्तुं) स्थिर करने के लिए (द्वयोः अपि पक्षार्द्धयोः) दोनों ही पक्षों के आधे-आधे समय में अर्थात् प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी में (उपवासः अवश्यं कर्त्तव्यः) उपवास अवश्य करना चाहिए।

टीकार्थ - नाम के एकदेश कथन करने से पूरे नाम का ज्ञान होता है इसलिए उपवास शब्द के प्रोषधोपवास ग्रहण करना चाहिए। पक्षार्ध में अर्थात् पन्द्रह दिन का एक पक्ष होता है, उसका आधा अष्टमी पर्व होता है अर्थात् एक पक्ष में अष्टमी और चतुर्दशी ये दो पर्व होते हैं। शुक्ल और कृष्ण के भेद से पक्ष के भी दो भेद हैं। उपवास किसलिए करना चाहिए ? पहले अस्थिर था अब स्थिर हो रहा है। इस अर्थ में अभूत तद्भावे इत्यादि सूत्र से 'च्वी' प्रत्यय होता है, च्वी पड़े रहते अकार को ईकार हो जाता है। आत्मस्वरूप में दृढ़ करने के लिए सामायिक संस्कार को आरोपित करना चाहिए।

श्रावक को उपचार से माने गये सामायिक के संस्कार को स्थिर करने के लिए अर्थात् सामायिक चारित्र को प्राप्त करने के लिए अष्टमी चतुर्दशी इन उपवास के दिनों में सामायिक अवश्य करनी चाहिए॥१५१॥

उत्थानिका - अब प्रोषधोपवास की विधि का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे मुक्तसमस्तारम्भः देहादौ ममत्वं अपहाय उपवासं गृह्णीयात्॥१५२॥

अन्वयार्थ - (प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे) उपवास करने के एक दिन पहले उत्तरार्द्ध में (मुक्तसमस्तारम्भः) समस्त आरम्भों को छोड़कर और (देहादौ ममत्वमपहाय) शरीरादि से ममता भाव त्याग करके (उपवासं गृह्णीयात्) उपवास धारण करें।

टीकार्थ - खाद्य, स्वाद्य, लेह्य, पेय इन चारों प्रकार के आहारों का त्याग करना उपवास कहलाता है। प्रोषध

प्रोषध दिन से पूर्व दिन, सायं बेला काल।
तन ममत्व आरम्भ तज, गृहि उपवास संभाल ॥१५२॥

कृत्वा? अपहाय त्यक्त्वा। किंतत् ममत्वं ममेदमहमस्येति परिणामं। कस्मिन् विषये? देहादौ देहः आदि र्येषां वित्तपात्रान्नादीनां तेषां तत्र। किं भवेत् ? मुक्तसमस्तारंभः समस्तश्चासौ आरम्भः कृष्यादिश्च तस्मान्मुक्तो निवृत्तः स तिष्ठेदितिक्रियासम्बन्ध उत्तराऽऽर्यातो योज्यः॥१५२॥

तथा च -

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत्॥१५३॥

मं. टी. - श्रित्वेत्यादि - स च गृहीतव्रतः। श्रित्वा उपलभ्य। किं तत् ? विविक्तवसतिं विविक्ता पूता निश्शलाका वा ''विविक्तौ पूतविजनौ'' इत्यमरः सा चासौ वसतिः ''वर्हिवस्यर्तिभ्यश्च'' इत्यौणादिकोऽति प्रत्ययः। वेश्म चैत्यगृहं वा तामिति। अथवा मुनिजननिवसनाय ग्रामाद् बहिःस्थानं वसतिकोच्यते। किं कृत्वा ? अपनीय त्यक्त्वा। किं तत् ? समस्तसावद्ययोगं सकलपापव्यापारम्। पुनश्च किं भवन् सन् ? सर्वेन्द्रियार्थविरतः सर्वे सम्पूर्णाश्च इन्द्रियार्था ह्रषीकविषयाः तेभ्यो विरतो निवृत्तःसन्। किं कुरुतात् ? तिष्ठेत् एकस्थानमाश्रयेत् ''ष्ठा गतिनिवृत्तौ'' वि.लि. प्रयोगः। काभिः सह ? कायमनोवचनगुप्तिभिः आत्मनो गोपनं गुप्तिः। सा च प्रत्येकमभिसम्बध्येत्। तद्यथा कायगुप्तिः मनोगुप्तिः वचनगुप्तिः ताभिः सहेत्यर्थः॥१५३॥

नाम पर्व का है अर्थात् अष्टमी और चतुर्दशी। उस दिन चारों प्रकार के आहारों का त्याग करना प्रोषधोपवास कहलाता है। अथवा अष्टमी और चतुर्दशी के पूर्व दिन सप्तमी और त्रयोदशी को एक बार भोजन किया जाता है, क्योंकि प्रोषध का अर्थ एकमुक्ति भी होता है इसलिए एक बार भोजन के साथ जो उपवास किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। उपवास कैसे किया जाता है ? ममत्व को छोड़कर अर्थात् यह मेरा है, मैं इसका हूँ, इस प्रकार के परिणामों को और शरीरादि अर्थात् धन, पात्र, अन्नादि के विषय में तथा सम्पूर्ण आरम्भ अर्थात् कृषि आदि से ममत्व को छोड़कर उपवास ग्रहण करें॥१५२॥

उत्थानिका - पुनः उपवास के दिन का कर्त्तव्य बताते हैं -

अन्वयः - विविक्तवसतिं श्रित्वा समस्तसावद्ययोगं अपनीय सर्वेन्द्रियार्थविरतः कामयनोवचनगुप्तिभिः तिष्ठेत्॥

अन्वयार्थ - (विविक्तवसतिं) एकान्त स्थान को (श्रित्वा) प्राप्त होकर (समस्तसावद्ययोगं अपनीय) समस्त हिंसादि पाँच पापों को दूर करके (सर्वेन्द्रियार्थविरतः) सर्व इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होता हुआ (कायमनोवचनगुप्तिभिः) कायगुप्ति, मनोगुप्ति, वचन गुप्ति को धारण करके (तिष्ठेत्) ठहरे।

टीकार्थ - वह व्रती एकान्त स्थान को प्राप्त होकर अर्थात् मन्दिर, घर अथवा मुनिजनों के निवास करने के लिए ग्राम के बाहर बनाये गये स्थान को वसतिका कहते हैं। उनमें सकल पाप के व्यवहार को छोड़कर और सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होते हुए मनवचन काय की गुप्ति द्वारा स्थित होवे।

गुप्ति का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध करना चाहिए जैसे कायगुप्ति, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति इत्यादि॥१५३॥

पंच पाप तज विरत हो, तीन गुप्ति को धार।
निर्जन थल में बैठकर, जिन निज तत्त्व निहार ॥१५३॥

अपरञ्चापि -

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिः।

शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत् स्वाध्यायजितनिद्रः॥१५४॥

मं.टी. - **धर्मेत्यादि** - स च गुप्तिभिः सह किं कुर्यादिति प्रोच्यते धर्मध्यानासक्तः धर्म एव ध्यानं धर्मध्यानं तत्रैवासक्तो विलीनः स तथोक्तः। कैः कृत्वा ? अतिवाह्य नीत्वा। किम् ? वासरं दिवसं सप्तम्यां वा त्रयोदश्यां वार्धदिवसोऽत्र विज्ञेयः। पश्चात् किं विशिष्टः ? विहितसान्ध्यविधिः सायंकाल - सम्बन्धिनी विधिः सान्ध्यविधिः प्रतिक्रमण वन्दनासामायिकादिः स च येन विहितोऽनुष्ठितः सः। तदनन्तरं किं कुर्यादित्याह ? गमयेत् ''गम्लृगतौ'' णिजन्ताद् वि.लि. नयेदित्यर्थः। काम् ? त्रियामां रात्रिं। क्व ? शुचिसंस्तरे पवित्रानुकूलानाकुलासने। कथम्भूतः सन् ? स्वाध्यायजितनिद्रः स्वाध्यायो ज्ञानवैराग्यपरता तेन जिता अप्रभाविता निद्रा स तथोक्तः। अर्थात् तत्रार्धदिवसे सकलार्तरौद्रध्याननिमित्तमपहाय परिणामविशुद्धयेऽप्रमत्ततया संवेगनिर्वेगकथानुचिन्तनपरमेष्ठिध्यानावलम्बनादिद्वारेण प्रथमां रजनीमतिवाहयेत्॥१५४॥

उत्थानिका - और आगे क्या करें?

अन्वयः - विहितसान्ध्यविधिः वासरं धर्मध्यानासक्तः अतिवाह्य स्वाध्यायजितनिद्रः शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्॥

अन्वयार्थ - (विहितसान्ध्यविधिः) पूर्ण कर ली है प्रातःकाल और सन्ध्या कालीन सामायिकादि क्रिया जिसने वह (वासरं) दिन को (धर्मध्यानासक्तः) धर्मध्यान पूर्वक (अतिवाह्य) व्यतीत करके (स्वाध्यायजितनिद्रः) स्वाध्याय या ध्यान आदि के द्वारा निद्रा को जीतते हुए (शुचिसंस्तरे) पवित्र संस्तर पर (त्रियामां) रात्रि को (गमयेत्) व्यतीत करे या पूर्ण करे॥

टीकार्थ - वह गुप्तियों के साथ क्या करे ? इसके लिए कहते हैं कि धर्मध्यान में लीन होते हुए सप्तमी का आधा दिन अथवा त्रयोदशी का आधा दिन व्यतीत करे। बाद में सायंकालीन आवश्यक विधि करे। सायंकाल सम्बन्धी प्रतिक्रमण, वन्दना सामायिक आदि के अनुष्ठान को सांध्य विधि कहते हैं। पुनः रात्रि व्यतीत करे। रात्रि व्यतीत कहाँ पर करे ? पवित्र अनुकूल आसन पर स्थित होकर स्वाध्याय ज्ञान वैराग्य में तत्पर होते हुए निद्राविजयी होवे अर्थात् उस आधे दिन में सम्पूर्ण आर्त्त रौद्र ध्यान के निमित्त को छोड़कर पुनः परिणामों की विशुद्धि के लिए अप्रमत्त रूप से संवेग, निर्वेग आदि की कथाओं का चिन्तन और पंच परमेष्ठी के ध्यान के अवलम्बनादि के द्वारा प्रथम रात्रि को व्यतीत करे॥१५४॥

उस दिन फिर कुछ काज ना, धर्मध्यान में लीन।
समता धर कर ज्ञान से, निद्रा जय निशि कीन ॥१५४॥

इदानीमपरदिने किं करणीयमिति कथयति -

प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकै-र्द्रव्यैः॥१५५॥

मं. टी. - प्रातरित्यादि - ततः एवं विधिना। प्रातः प्रोत्थाय सवितुरुदिते शय्यामुत्सृज्य। तात्कालिकं तत्र काले भवं। क्रियाकल्पं सामायिकादिकम् कृत्वा विधिना विधाय। किं कुर्यात् ? निर्वर्तयेत् ''वृतूङ्वर्तने'' णिजन्तात् वि.लि. सम्पादयेदिति। काम् ? जिनपूजां जिनेन्द्रार्चनां। कया रीत्या ? यथोक्तमार्षे यथा कथितं तया। कैरिति चेत् ? द्रव्यैः अष्टप्रकारैः। किं विशिष्टैः ? प्रासुकैः प्रगता असवः प्राणा यस्मात् ते प्रासवस्तैः प्रासुकैः स्वार्थे क प्रत्ययः॥१५५॥

पश्चाद्विधिं निरूपयन्नाह -

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत् प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य॥१५६॥

उत्थानिका - अब दूसरे दिन क्या करना चाहिए ?

अन्वयः - ततः प्रातः प्रोत्थाय तात्कालिकं क्रियाकल्पं कृत्वा यथोक्तं प्रासुकैः द्रव्यैः जिनपूजां निर्वर्तयेत्॥

अन्वयार्थ - (ततः) रात्रि व्यतीत करने के बाद (प्रातः प्रोत्थाय) प्रातः काल उठकरके (तात्कालिकं क्रियाकल्पं कृत्वा) उस काल सम्बन्धी सभी क्रियाओं को करके (यथोक्तं) आगमानुसार (प्रासुकैः द्रव्यैः) प्रासुक द्रव्यों से (जिनपूजां निर्वर्तयेत्) जिनेन्द्र भगवान की पूजा करे।

टीकार्थ - इस प्रकार रात्रि बिताकर प्रातःकाल होने पर शय्या (आसन) को छोड़कर सामायिक, प्रतिक्रमण आदि उस काल सम्बन्धी सन्ध्याविधि को करके आगमानुसार प्रासुक अष्ट द्रव्यों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करे।

जिससे प्राण निकल गये हैं ऐसे द्रव्य को प्रासु कहते हैं। प्रासु शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय होकर प्रासुक शब्द बना है॥१५५॥

उत्थानिका - उसके बाद करने योग्य विधि का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - ततः उक्तेन विधिना दिवसं नीत्वा च द्वितीयरात्रिं प्रयत्नात् तृतीयदिवसस्य अर्धं च अतिवाहयेत्॥

अन्वयार्थ - (ततः) जिनपूजा आदि करने के बाद (उक्तेन विधिना) कही हुई विधि के अनुसार (दिवसं नीत्वा)

प्रायः उठकर साम्य का, अवलम्बन ले आर्य।
कर पूजा जिनदेव की, प्रासुकता अनिवार्य ॥१५५॥
फिर उस दिन बिन अशन के, दिवस बिता औ रात।
तीजे दिन पूर्वार्ध भी, बिता इसी विध भ्रात ॥१५६॥

मं. टी. - **उक्तेनेत्यादि** - ततः तत्पश्चात्। उक्तेन विधिना प्रागार्याविहितरीत्यां दिवसं तदष्टमीं वा चतुर्दशीं वा। च द्वितीयरात्रिं पर्वदिवसरात्रिं। नीत्वा अतिवाह्य। तृतीयदिवसस्य नवमीपूर्णातिथिवासरस्य। अर्धं पूर्वाह्णकालं। च समुच्चये। प्रयत्नात् सावधानतया। अतिवाहयेत् उन्नयेत्॥१५६॥

किमिति शिक्षाव्रतमिदं परिपालयतः फलमत्रावेदयति -

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।

तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति॥१५७॥

मं. टी. - **इतीत्यादि** - यः प्रोषधोपवासव्रतिकः। कथम्भूतः परिमुक्तसकलसावद्यः समस्तारम्भपरिग्रहात् परिमुक्तो विरतो यः स तथोक्तः। इति कथितविधिना। गमयति परिवाहयति। कान् षोडशयामान् षोडशप्रहरान् होरात्रयाणामेकः प्रहरः स्यात्। तस्य व्रतिनः। तदानीं तत्काले। नियतं निश्चितं। अहिंसाव्रतं पूर्णं भवति तत्कालपर्यन्तं सकलसावद्यविरहान् मुनिरिव प्रवर्तत इत्यर्थः॥१५७॥

दिन को बिता कर (च द्वितीयरात्रिं) और द्वितीय रात्रि को बिताकर (प्रयत्नात्) सावधानी पूर्वक (तृतीयदिवसस्य अर्धं च) तीसरे दिन के पूर्व भाग को (अतिवाहयेत्) बितावे॥

टीकार्थ - जिनेन्द्र भगवान की पूजादि करने के बाद उपर्युक्त विधि के अनुसार अष्टमी या चतुर्दशी के दिन को और अष्टमी या चतुर्दशी की रात्रि को व्यतीत करके तृतीय दिन अर्थात् नवमी अथवा अमावस्या या पूर्णिमा के आधे दिन पूर्वाह्ण काल को सावधानी पूर्वक व्यतीत करे॥१५६॥

उत्थानिका -इस द्वितीय शिक्षाव्रत के पालन करने से क्या फल प्राप्त होता है ?

अन्वयः - इति यः परिमुक्तसकलसावद्यः षोडशयामान् गमयति तस्य तदानीं नियतं पूर्णं अहिंसाव्रतं भवति॥

अन्वयार्थः - (इति) इस प्रकार (यः परिमुक्तसकलसावद्यः) जो सब पापों को छोड़कर (षोडशयामान् गमयति) सोलह पहर व्यतीत करता है (तस्य) उस श्रावक के (तदानीं) उस समय (नियतं) नियम से (पूर्णं अहिंसाव्रतं भवति) पूर्ण अहिंसाव्रत होता है।

टीकार्थ - प्रोषधोपवास करने वाला व्रती समस्त आरम्भ ओर परिग्रह को छोड़कर उपर्युक्त विधि से सोलह प्रहर को व्यतीत करता है। तीन घंटे का एक प्रहर होता है। उस व्रती के उस समय नियम से अहिंसाव्रत पूर्ण होता है। उस काल में सकल पापों का त्याग होने से वह देशव्रती मुनि की तरह प्रवृत्ति करता है॥१५७॥

इस विध सोलह पहर को, बिना दिया जो कोय।
सकल पाप से मुक्त वो, व्रती अहिंसक होय ॥१५७॥

कथं न स्याद्धिंसा तस्य व्रतिकस्येति हेतुरत्रोच्यते -

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम्।

भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः॥१५८॥

मं. टी. - भोगोपभोगेत्यादि - किल निश्चयेन। अमीषां त्रसहिंसात्यागिनां। भवेत् स्यात्। किं तत् ? स्थावरहिंसा एकेन्द्रियजीवघातमात्रार्जितपापम्। कस्मात् कारणात् ? भोगोपभोगहेतोः भोगोपभोगा जीवनोपयोगीपदार्थाः तेषां हेतुः कारणं तस्मात् स्थावरहिंसायाः हेतुर्भोगोपभोगसामग्रीमात्रावशिष्ट इत्यर्थः। तथापि शिक्षाव्रतमिदमङ्गीकृत्य तन्न स्यादित्याह- न भवति नायाति हिंसायाः स्थावरनितायाः। लेशोऽपि लवोऽपि सूक्ष्मोऽपि वा कस्मादिति चेत् ? भोगोपभोगविरहात् तद्व्रस्तुसेवनपरित्यागात्। **यद्येनकारणेनोत्पद्यते तत्तस्याभावे न जायते इति न्यायात्।** केषाम् ? अमीषामेव हानोपादानोपेक्षाफलं कथञ्चिद्भेदेऽपि तदात्मनामेव प्रमाणफलवदश्नुते॥१५८॥

उत्थानिका - उस व्रती के हिंसा क्यों नहीं होती है इसका हेतु कहते हैं -

अन्वयः - अमीषां भोगोपभोगहेतोः किल स्थावरहिंसा भवेत् भोगोपभोगविरहात् हिंसायाः लेशः अपि न भवति॥

अन्वयार्थ - (अमीषां) इन देशव्रती श्रावकों के (भोगोपभोगहेतोः) भोग और उपभोग के कारण ही (किल स्थावरहिंसा भवेत्) वास्तव में स्थावर हिंसा होती है (भोगोपभोगविरहात्) भोग और उपभोग का त्याग कर देने से (हिंसायाः लेशः अपि न भवति) हिंसा का लेश भी नहीं होता है।

टीकार्थ - इन त्रस हिंसा के त्यागी पुरुषों के स्थावर हिंसा का त्याग नहीं होता है, क्योंकि भोगोपभोग अर्थात् जीवनोपयोगी पदार्थों के कारण स्थावर हिंसा होती है इसलिए एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा सम्बन्धी पाप होता है। यह कथन का तात्पर्य है किन्तु इस शिक्षाव्रत को स्वीकार करने वाले व्रतियों के तत् सम्बन्धी अर्थात् एकेन्द्रिय सम्बन्धी पाप भी नहीं होता है। क्योंकि स्थावर हिंसा थोड़ी भी नहीं होती। उस समय भोगोपभोग के सेवन का त्याग होता है। 'जो जिस कारण से उत्पन्न होता है उस कारण का अभाव होने से उसकी उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा न्याय है।' जिस प्रकार प्रमाण और प्रमाण के फल में कथंचित् भेद होने पर भी वह आत्मा को ही प्राप्त होता है उसी प्रकार त्याग, ग्रहण और उपेक्षा फल उसी आत्मा को प्राप्त होता है अन्य को नहीं॥१५८॥

त्रस-त्यागी जो पूर्व से, तजे भोग-उपभोग।
फिर उसके हिंसा कहाँ, ना थावर अघ योग ॥१५८॥

आस्तामहिंसा किन्तु स्तेयादिकं कथं परिहरेयुरित्याशंकां परिहरति -

वाग्गुप्ते - र्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम्।

नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेप्यमूर्च्छस्य॥१५९॥

मं. टी. - वागित्यादि - अमीषामित्यनुवर्तते। अनृतं-ऋच्छति गच्छति जनः प्रत्ययमत्र तदृतं, न ऋतमनृतं मृषादोष इत्यर्थः। नास्ति न सम्भवति ''अस भुवि'' लट्। कस्मात् ? वाग्गुप्तेः वाचो वचनस्य गुप्तिर्यस्य स तस्य यतः उपवासकाले वचनगुप्तेः परिप्राप्तिः। अप्रमत्ततयाऽसद्वचनाभिप्रायनिवृत्तेश्च ध्यानाध्ययनभावनोपेतत्वाच्च वचनगुप्तिः स्यात्। तथा चोक्तम् - ''अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होदि वचिगुत्ती''। न स्तेयं च चौर्यप्रसङ्गोऽपि। समस्तादानविरहतः सर्वग्रहणाकरणस्य। अब्रह्म पशुकर्म। न तदपि नास्ति। मैथुनमुचः मैथुनं मुञ्चतीति मैथुनमुच् तस्य मैथुनत्यागिन इत्यर्थः। न सङ्गः परिग्रहोऽपि नास्ति। अङ्गेऽपि शरीरेऽपि। अमूर्च्छस्य न मूर्च्छा यस्य विद्यते तस्य ममतारहितस्येत्यर्थः॥१५९॥

उत्थानिका - उस व्रती के भोगोपभोग के त्याग से अहिंसा व्रत होवे, किन्तु चोरी आदि का त्याग कैसे हो सकता है ? इस शंका का परिहार करते हैं -

अन्वयः - वाग्गुप्तेः अनृतं नास्ति, समस्तादानविरहतः न स्तेयं, मैथुनमुचः अब्रह्मम न, अङ्गे अपि अमूर्च्छस्य सङ्गः न॥

अन्वयार्थ - (वाग्गुप्तेः अनृतं नास्ति) वचन गुप्ति पालने वाले को झूठ वचन नहीं होता (समस्तादानविरहतः) समस्त द्रव्य का त्याग होने से उसके (न स्तेयं) चोरी नहीं होती (मैथुनमुचः) मैथुन त्याग देने वाले के (अब्रह्म न) कुशील नहीं होता (अंगे अपि अमूर्च्छस्य) शरीर में भी ममत्व भाव का त्याग होने वाले के (सङ्गो न) परिग्रह भी नहीं होता अतः श्रावक प्रोषधोपवास के समय पाँचों पापों से रहित होता है।

टीकार्थ - अमीषां पद की अनुवृत्ति लाना चाहिए। अर्थात् प्रोषधोपवास करने वाले पुरुष के वचन गुप्ति होने से उसको असत्य वचन सम्बन्धी दोष नहीं होता है, क्योंकि प्रमाद रहित अवस्था होने से असत्य वचन के अभिप्राय की निवृत्ति होती है और ध्यान अध्ययन की भावना से युक्त होने से वचन गुप्ति होती है - जैसे कि कहा है - **'असत्यवचन का त्याग अथवा मौन की प्रवृत्ति होना ही वचन गुप्ति है।'**

सब प्रकार के परद्रव्य का त्याग होने से उसको चोरी का प्रसंग ही नहीं आता है। मैथुन का त्याग होने से अब्रह्म अर्थात् कुशील या पशु कर्म भी नहीं होता है। अपने शरीर में भी ममत्व भाव नहीं होने से परिग्रह भी नहीं होता है। निर्ममत्व भाव अमूर्च्छा का कारण है॥१५९॥

वचन गुप्ति से झूठ ना, चोरी ना यदि त्याग।
काम तजा अब्रह्म ना, संग न तन का त्याग ॥१५९॥

एवं व्रतपञ्चकपरिपूर्णादुपचारेण महाव्रतीति संकीर्तन्नाह -

इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।

उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम्॥१६०॥

मं. टी. - इत्थमित्यादि - प्रयाति प्राप्नोति ''या प्रापणे'' लट्। स देशव्रती। कम् ? महाव्रतित्वं महाव्रती सञ्ज्वलनकषायोदयमात्रपतिस्तस्य भावस्तम्। स च किंविशिष्टः ? इत्थं एवमुक्तप्रकारम्। अशेषितहिंसः अशेषिता समाप्ता हिंसा येन स। तथापि स महाव्रतित्वं मौख्येनोत व्यवहारेणाश्नुत इत्युच्यते-उपचारात् ''मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते'' इति वचनात् महाव्रतानां मुख्यताऽभावेऽपि निःशेषीकृतहिंसाप्रदर्शनमेव प्रयोजनम् तस्मात् उपचारादिति सूक्तम्। तथा ''उपसमीपे पृष्ठपोषकत्वेन प्रोत्साहकत्वेन वा चरणं प्रवर्तनं उपचारः'' इति श्रीज्ञानसागरः। कथं सिध्येन्मुख्यताऽभाव इत्युत्तरार्धेनाह-चरित्रमोहे चरित्रमात्मगुणः चरन्ति तेनेति चरित्रं ''लूधूसूखनर्तिसहचरः'' इति सूत्रात् इत्र प्रत्ययः। चरित्रसम्बन्धीमोहः आवरणश्चरित्रमोहः अथवा चरित्रं मुह्यतेऽनेन तच्चरित्रमोहस्तस्मिन् प्रत्याख्यानावरणकषायचतुष्के इत्यर्थः। उदयति उदयतीति उदयन् तस्मिन् शतृप्रत्ययः उदयंगते

उत्थानिका - इस प्रकार पाँच व्रतों की पूर्णता होने से उपचार से महाव्रती कहते हैं -

अन्वयः - इत्थं अशेषितहिंसः सः उपचारात् महाव्रतित्वं प्रयाति तु चरित्रमोहे उदयति संयमस्थानं न लभते॥

अन्वयार्थ - (इत्थं) इस प्रकार (अशेषितहिंसः) सब प्रकार की हिंसा का त्याग करने वाला (सः) वह पुरुष (उपचारात् महाव्रतित्वं प्रयाति) उपचार से महाव्रतपने को प्राप्त होता है (तु) किन्तु (चरित्रमोहे उदयति) चारित्रमोह का उदय होने पर (संयमस्थानं न लभते) संयम स्थान को प्राप्त नहीं होता है।

टीकार्थ - इस प्रकार वह देशव्रती महाव्रतपने को प्राप्त होता है। जिसके सञ्जवलन कषाय मात्र का उदय है उस जैसे भाव को प्राप्त होता है। इस प्रकार उसने हिंसा को समाप्त कर दिया है तो भी वह देशव्रती मुख्यता से महाव्रती है अथवा व्यवहार से ? वह देशव्रती उपचार से महाव्रती है।

''**मुख्य का अभाव होने पर भी प्रयोजन के निमित्त उपचार प्रवृत्त होता है।**'' ऐसा कहा गया है इसलिए महाव्रतों को मुख्यता से अभाव होने पर भी इसने हिंसा समाप्त कर दी है ऐसा प्रदर्शन करना ही प्रयोजन होने से उपचार से महाव्रती कहा जाता है। **मुख्य वस्तु के निकट में होने से पृष्ठपोषक रूप से अथवा प्रोत्साहक रूप से प्रवृत्ति करना उपचार कहलाता है।** ऐसा **आचार्य ज्ञानसागर** जी महाराज ने लिखा है। मुख्यता का अभाव कैसे सिद्ध होता है ? इसका समाधान श्लोक के उत्तरार्द्ध से करते हैं। चारित्र आत्मा का गुण है, उसमें जो चले उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र सम्बन्धी मोह या आवरण चारित्रमोह है अथवा

हिंसा त्यागी पूर्ण है, पर संयम नहिं ठान।
चरितमोह के उदय में महाव्रती सा मान ॥१६०॥

सतीत्यर्थः। तु अवधारणे। न संयमस्थानं लभते स संयमलब्धिस्थानं मात्रसञ्ज्वलनोदयापेक्षिकं न प्राप्नोतीति भावः। संयमस्थानानि कषायाभावनिमित्तानि भवन्तीति ज्ञातव्यानि॥१६०॥

अधुना तृतीयशिक्षाव्रतं भोगोपभोगपरिमाणाख्यं व्याख्यायते -

भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।

अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ॥१६१॥

मं. टी. - **भोगोपभोगेत्यादि** - विरताविरतस्य देशव्रतिनः। हिंसा पापं। भवति इति क्रियाध्याहारः। किं निमित्ता हिंसा ? भोगोपभोगमूला भोगश्चोपभोगश्च भोगोपभोगौ तावेव मूलं निमित्तं यत्र सा। न अन्यतः कस्मादपि न निमित्तात्। अतः किं कार्यमित्याह वस्तुतत्त्वं वस्तुस्वरूपं। अधिगम्य ज्ञात्वा। तावपि भोगोपभोगौ अपि। त्याज्यौ परिहर्तव्यौ। स्वशक्तिं स्वशक्तिमनतिक्रम्य। अपि निश्चयेन॥१६१॥

जो चारित्र को न होने देवे वह चारित्र मोह है। उस प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का उदय होने पर संयम स्थान को प्राप्त नहीं होता है। जो संयम लब्धि स्थान सिर्फ संज्वलन कषाय के उदय की अपेक्षा प्राप्त होता है। संयम स्थान कषाय के अभाव निमित्तक होते हैं ऐसा जानना चाहिए॥१६०॥

उत्थानिका - अब भोगोपभोग परिमाण नामक तृतीय शिक्षाव्रत का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - विरताविरतस्य भोगोपभोगमूला हिंसा अन्यतः न वस्तुतत्त्वं अधिगम्य स्वशक्तिं अपि, तौ अपि त्याज्यौ॥

अन्वयार्थ - (विरताविरतस्य) देशव्रती श्रावक के (भोगोपभोगमूला हिंसा) भोगोपभोग के कारण हिंसा होती है (अन्यतः न) किसी अन्य प्रकार से नहीं होती। (वस्तुतत्त्वं अधिगम्य) वस्तु स्वरूप को जानकर के (स्वशक्तिं अपि) अपनी शक्ति के अनुसार (तौ अपि) उन दोनों को भी अर्थात् भोग और उपभोग को भी (त्याज्यौ) छोड़ देना चाहिए।

टीकार्थ - देशव्रती श्रावक के भोग और उपभोग के निमित्त से हिंसा होती है, अन्य किसी निमित्त से नहीं होती। इसलिए वस्तु स्वरूप को जानकर अपनी शक्ति के अनुसार भोग और उपभोग का भी त्याग करना चाहिए ॥१६१॥

भोग और उपभोग की, हिंसा बची विशेष।
उसका भी तू त्याग कर लख निजशक्ति अशेष ॥१६१॥

किं त्याज्यमित्युपदिशति -

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।

करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्॥१६२॥

मं. टी. - एकमपीत्यादि - निहन्ति घातयन्ति। कान् ? अनन्तसंख्यकान् जीवानित्यर्थः। कस्मादिति चेत् ? यतः यस्मात्। प्रजिघांसुः प्रकर्षेण हन्तुमिच्छुः सः, ''सन्भिक्षा'' इत्यादिना उ प्रत्ययः। एकमपि एकनिगोदजीवमपि। यतश्चैकनिगोदजीवशरीरेऽनन्तानन्तजीवाः समाश्रयन्ति ततश्चैकस्य घातेऽनन्तानां घातदोषः। उक्तञ्च -

एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो सिद्धा।

सिद्धेण अणंतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण॥

तथाहि - ''जत्थेक मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।'' इतिवचनात्। ततः तस्मात्। करणीयं कर्तव्यं। किं तत् ? परिहरणं त्यजनं। अवश्यं निश्चयेन। केषां ? अनन्तकायानां मूलकश्रृङ्गवेरहारिद्रादीनि आर्द्राणि

उत्थानिका -त्याग ने योग्य क्या है, इसका उपदेश करते हैं -

अन्वयः - यतः एकं अपि प्रजिघांसुः अनन्तान् निहन्ति ततः अशेषाणां अनन्तकायानां अवश्यं परिहरणं करणीयं।

अन्वयार्थ - (यतः एकं अपि प्रजिघांसुः) क्योंकि जो एक को भी नष्ट करने की इच्छा करता है वह (अनन्तान् निहंति) अनन्त जीवों को मार डालता है (ततः) इसलिए (अशेषाणां अनन्तकायानां) समस्त अनन्तकाय वाले पदार्थों का (अवश्यं परिहरणं करणीयं) अवश्य त्याग करना चाहिए।

टीकार्थ - जो एक निगोद जीव को भी नष्ट करने का इच्छुक है वह अनन्त जीवों को मारता है क्योंकि एक निगोद जीव के शरीर में अनन्तानन्त जीवों का निवास होता है। इसलिए एक जीव का घात करने पर अनन्त जीवों के घात का दोष लगता है। जैसा कि **जीवकाण्ड** में कहा है ''**समस्त सिद्ध राशि का और सम्पूर्ण अतीत काल के समयों का जितना प्रमाण है द्रव्य की अपेक्षा से उससे अनन्त गुणे जीव एक निगोद शरीर में रहते हैं।**'' और भी कहा है **जहाँ पर एक जीव का मरण होता है, वहाँ अनंत जीवों का मरण हो जाता है।** इसलिए इनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए। कौन-कौन सी वस्तुओं का त्याग करना चाहिए ? अनन्तकायिकों का। मूली, अदरक, गीली हल्दी ये अनन्तकाय संज्ञा वाले कहलाते हैं इसलिए इनका

साधारण तनु पिंड में, जीव अनन्तानन्त।
उनका भक्षण त्याग दे कन्दमूल अघवन्त ॥१६२॥

अनन्तकायव्यपदेशार्हाणि भवन्ति तेषाम्। न चानन्तकायेन साधारणवनस्पतिकायिका ग्राह्यास्तन्मात्रभक्षणाभावात्। प्रत्येक-वनस्पतिकायिका हि सप्रतिष्ठताः खादितुं योग्याः सन्ति। मूलफलशाकादीनि सर्वाणि खलु सप्रतिष्ठित प्रत्येकशरीराणि। तानि हि अनन्तनिगोदजीवेन प्रतिष्ठितत्वादनन्तकायव्यपदेशभाञ्जि समुपचर्यन्ते। प्रत्येकशरीरजीवाः किलासंख्येया भवन्ति तेषामनन्तत्वेनानुपलब्धेः। तथा चोक्तम्-

मूलग्गपोयवीया कन्दा तह खन्दबीज-बीजरुहा।

समुच्छिणाय भणिया पत्तेयाणंतकाया च॥

न चात्र सर्वेषा सप्रतिष्ठितभूतानां प्रत्येकशरीरिणां त्यागायोपदेशः सर्वशाकफलानां परित्यागप्रसक्तेः। तेनानन्तकायानां परिहरणं करणीयमित्युपदेशादार्द्रमूलक-शृङ्गवेरादिकानां ग्रहणं सिद्धं भवति। एवमेव चोक्तं स्वामिना अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि। नवनीतनिम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेयम्॥१६२॥

त्याग अवश्य ही करना चाहिए। अनन्तकाय कहने से साधारण वनस्पति कायिक का ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि मात्र असाधारण वनस्पति खाने के अयोग्य है। सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति खाने के योग्य होती है। मूल, फल, शाक आदि से सभी सप्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर हैं। वे अनन्तनिगोदिया जीवों से प्रतिष्ठित होने से अनन्तकाय कहे जाते हैं। प्रत्येक शरीर जीव निश्चय से असंख्यात होते हैं उनमें अनन्तपने की उपलब्धि नहीं होती है। जैसे कहा है- **''जिन वनस्पतियों का बीज, मूल, अग्र, पर्व, कन्द अथवा स्कन्ध है अथवा जो बीज से उत्पन्न होती है अथवा जो सम्मूर्च्छन है वे सभी वनस्पतियाँ सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की होती है।''**

यहाँ पर सभी सप्रतिष्ठित भूत प्रत्येक शरीरियों के त्याग का उपदेश नहीं है क्योंकि ऐसा होने से सभी शाक, फलों के त्याग का प्रसंग आ जायेगा। इसलिए अनन्तकायों का ही त्याग करना चाहिए, इस उपदेश से आर्द्र (गीली) अदरक, मूली आदि का ग्रहण सिद्ध है अर्थात् इन्हें नहीं खाना चाहिए। जैसा कि समन्तभद्र स्वामी ने कहा है -

''अल्पफल और बहुत त्रस जीवों का विघात होने से मूली, गीली अदरक, मक्खन, नीम के फूल और केवड़ा के फूल तथा इसी प्रकार अन्य पदार्थ भी छोड़ने योग्य हैं।'' ॥१६२॥

नवोद्घृतं परिहरणीयमिति प्रेरयति -

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।

यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित्॥१६३॥

मं. टी. - **नवनीतमित्यादि** - त्याज्यं परिहर्त्तव्यं। च समुच्चये। नवनीतं नवोद्घृतं। किं विशिष्टं भवति तत् ? योनिस्थानं उत्पत्तिस्थानं। केषाम् ? प्रभूतजीवानां अनन्तानन्तजीवानाम्। किं नवनीतं सर्वथाऽशुद्धमाहोस्वित् शुद्धमपि क्वचित्कालपर्यन्तं शुद्धं। अभिधीयते कथ्यते। तथा चोक्तम् -

मधुवन्नवनीतं च वर्जनीयं जिनागमे।

यत्रार्द्धप्रहरादूर्द्धं जायन्ते भूरिशस्त्रसाः॥

क्वचिदन्तर्मुहूर्तात्परतः सूक्ष्मजन्तवः समुत्पद्यन्ते तेन नाद्यमित्यभिहितम्।

उत्थानिका - मक्खन का त्याग करना चाहिए, यह प्रेरणा देते हैं -

अन्वयः - प्रभूतजीवानां योनिस्थानं नवनीतं च त्याज्यं वा पिण्ड शुद्धौ यत् किञ्चित् विरुद्धं अभिधीयते (तत् अपि त्याज्यं)।

अन्वयार्थ - (प्रभूतजीवानां योनिस्थानं) अनेक जीवों का उत्पत्तिस्थान रूप (नवनीतं) मक्खन (च त्याज्यं) त्याग करने योग्य है (वा) अथवा (पिण्डशुद्धौ) आहार की शुद्धि में (यत् किञ्चित्) जो कुछ वस्तु (विरुद्धं) विरुद्ध (अभिधीयते) कही गई है वह भी त्याग करने योग्य है।

टीकार्थ - अनन्तानन्त जीवों की उत्पत्ति स्थान स्वरूप नवनीत का भी त्याग करना चाहिए।

शंका - क्या नवनीत सर्वथा अशुद्ध है अथवा शुद्ध भी है ?

समाधान - यद्यपि पिण्ड शुद्धि में दो मुहूर्त के पहले जीवों की उत्पत्ति नहीं होने से नवनीत कुछ काल तक शुद्ध है, जैसा कि कहा है। ''शहद की तरह नवनीत भी छोड़ने योग्य है क्योंकि अर्धप्रहर अर्थात् डेढ़ घंटा या दो मुहूर्त से ज्यादा काल व्यतीत होने पर उसमें बहुत से त्रस जीव पैदा हो जाते हैं।'' कहीं पर यह भी कहा है कि अन्तर्मुहूर्त पश्चात् ही उसमें जन्तु उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए यह खाने योग्य नहीं है।

यद्यपि नवनीत कुछ शुद्ध है तो भी उसका त्याग करना चाहिए। अन्यथा तीव्र राग का उद्रेक होने से हिंसा

त्रस जीवों की योनि है, मादक है नवनीत।
भले कथंचित् शुद्ध हो, पर अभक्ष्य है मीत ॥१६३॥

अर्थात् यद्यपि किञ्चिच्छुद्धं नवनीतं तदपि सन्त्यजेदन्यथा तीव्ररागोद्रेकदर्शनाद् हिंसा प्रसजेदितिभावः। इयं कालस्य मर्यादा नवनीताद् घृतनिष्कासनार्थमेवावगन्तव्या न च तत्कालाभ्यन्तरे भक्षणार्थमिति। द्वितीयव्याख्यानमुत्तरार्धस्य च सम्भाव्यते तद्यथा वा अथवा पिण्डशुद्धौ पिण्डः आहारस्तस्य शुद्धिर्मर्यादा परिज्ञानं तस्यामाहारशुद्धतायामित्यर्थः। यत्किञ्चित् विरुद्धमभिधीयतेऽनुचितं त्रसयोनिस्थानमवसीयत इत्यर्थः। अपि तत् त्याज्यं परिहर्त्तव्यमिति क्रियाकारकसम्बन्धः॥१६३॥

योग्यमपि वस्तु प्रत्याख्येयमित्याख्याति-

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमवेक्ष्य धीमता त्याज्याः।

अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया॥१६४॥

मं. टी. - अविरुद्धा इत्यादि - त्याज्याः प्रत्याख्यानं कर्त्तव्याः। केन ? धीमता धीर्बुद्धिर्योग्यायोग्यविचारात्मिका यस्य विद्यते स तेन। क इति चेत् ? भोगा अवध्यन्तरपदार्थाः। किंविशिष्टा अपि ? अविरुद्धा अपि - योग्या भक्ष्या

का प्रसंग आ जायेगा। यह काल की मर्यादा मक्खन से घृत निकालने तक ही जानना चाहिए। किन्तु उस काल के भीतर भी वह खाने योग्य नहीं है।

श्लोक के उत्तरार्द्ध का द्वितीय व्याख्यान इस प्रकार भी सम्भव है - जैसे पिण्ड शुद्धि अर्थात् आहार की शुद्धि में जो कुछ भी विरुद्ध कहा है अनुचित है, त्रस जीवों की उत्पत्ति का स्थान है, वह सभी त्याग करने योग्य है ॥१६३॥

उत्थानिका - योग्य वस्तु भी त्याग करने योग्य है - यह कहते हैं -

अन्वयः - धीमता निजशक्तिं अवेक्ष्य अविरुद्धाः अपि भोगाः त्याज्याः अत्याज्येषु अपि एकदिवानिशोपभोग्यतया सीमा कार्य।

अन्वयार्थ - (धीमता) बुद्धिमान पुरुषों के द्वारा (निजशक्तिं) अपनी शक्ति को (अवेक्ष्य) देखकर (अविरुद्धाः) अविरुद्ध (अपि) भी (भोगाः) भोग (त्याज्याः) त्याग करने योग्य हैं (अत्याज्येषु) उचित भोग और उपभोगों का त्याग न हो सके तो उनमें (अपि) भी (एकदिवानिशोपभोग्यतया) एक दिन-रात की उपभोग्यता से (सीमा) मर्यादा (कार्या) करनी चाहिए।

टीकार्थ - योग्य अयोग्य की विचारात्मक शक्ति जिसके पास होती है उसे धीमान् कहते हैं। ऐसे बुद्धिमान जीवों को भोग्य पदार्थ भी भक्ष्य पदार्थ भी त्याग करने चाहिए, यह उत्सर्ग मार्ग है।

शंका - यदि यह उत्सर्ग मार्ग सम्भव न हो सके तो क्या करना चाहिए ?

समाधान - द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अपनी शक्ति को देखकर मर्यादा करनी चाहिए।

बिन दूषण भी भोग जो, उनकी भी कर सीम।
अनुचित तज कर, उचित तज, पाप घटे निस्सीम ॥१६४॥

अपि। इत्युत्सर्गमार्गोपदेशः। यदि नैवं सम्भवेत्तर्हि किं कार्येति चेदाह-अवेक्ष्य आलोच्य। किं? निजशक्तिं स्वद्रव्यक्षेत्रकालभाव निर्भरां शक्तिं। कार्या कर्तव्या। का सा ? सीमा अवधिर्मर्यादा वा। केषु वस्तुषु ? अत्याज्येष्वपि योग्येषु अपि। केन विधिना ? दिवानिशोपभोगतया - दिवा दिवसः निशा रात्रिः तामधिकृत्योपभोगः सेवनं तस्य भावस्तया। अर्थात् भोजन-वाहनशयनासनस्नानवसनप्रभृतिषु योग्यवस्तुषु दिवारजनीपक्षमासायनपर्यन्तं प्रत्याख्यानं नियमरूपेण नियमेन कुर्यादित्यपवादमार्गोपदेशः॥१६४॥

सीमाऽभ्यन्तरेऽपि सीमा रागरतीनां तनूकृतये कार्येति कथयति -

पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।

सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या॥१६५॥

मं. टी. - पुनरपीत्यादि - कर्तव्या भवति विधेयास्ति। का सा ? अन्तरसीमा अपरा मर्यादा। कस्यां सत्यामपि? पूर्वकृतायां सीमनि भोगोपभोगपरिमाणावधौ। पुनरपि पौनः पुन्यम्। प्रतिदिवसं दिवसं दिवसं प्रति। किं कृत्वा ? समीक्ष्य विविच्य। काम् ? निजां शक्तिं स्वात्मबलं। कथम्भूताम् ? तात्कालिकी तत्सामायिकीम्॥१६५॥

शंका - किन-किन पदार्थों की मर्यादा करनी चाहिए ?

समाधान - योग्य पदार्थों में भी एक दिन-रात की उपभोग्यता की अपेक्षा मर्यादा करनी चाहिए। अर्थात् भोजन, वाहन, शयन, आसन, स्नान, वसन आदि योग्य वस्तुओं का एक दिन, रात, पक्ष, माह, छहमाह पर्यन्त नियम रूप से प्रत्याख्यान (त्याग) करना चाहिए, यह अपवाद मार्ग है ॥१६४॥

उत्थानिका - राग रति को कम करने के लिए सीमा के भीतर भी अन्तर सीमा करनी चाहिए, यह कथन करते हैं -

अन्वयः - पुनरपि पूर्वकृतायां सीमनि निजां तात्कालिकीं शक्तिम् समीक्ष्य अन्तरसीमा प्रतिदिवसं कर्त्तव्य भवति॥

अन्वयार्थ - (पुनरपि) फिर भी (पूर्वकृतायां) पहले की हुई (सीमनि) सीमा के भीतर (निजां तात्कालिकीं शक्तिम् समीक्ष्य) अपनी उस काल की शक्ति को अच्छी तरह विचार करके (अन्तरसीमा) दूसरी सीमा (प्रतिदिवसं) प्रतिदिन (कर्त्तव्या भवति) कर लेनी चाहिए।

टीकार्थ - पूर्व में की हुई भोग उपभोग के पदार्थों की सीमा के भीतर पुनः अपनी शक्ति के अनुसार अर्थात् उस समय तात्कालिक अपने आत्म बल को देखकर प्रतिदिन दूसरी सीमा करनी चाहिए ॥१६५॥

सीमा रेखा में पुनः, सीमा का कर ख्याल।
प्रतिदिन का कर्त्तव्य यह, करके बनो निहाल ॥१६५॥

एतत्फलं किं स्यादित्याह -

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।

बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात्॥१६६॥

मं. टी. - इतीत्यादि - यः कश्चिद् देशव्रती। किं करोति ? त्यजति मुञ्चति। कान् ? भोगान् भोगोपभोगान् नामैकदेशेनार्थप्रतिपत्तेः। क्वचित् भोगोपभोगपरिमाणव्रतस्योपभोगपरिभोगव्रतमित्याख्यायते तन्न विरुद्धं वाचकमात्रभेदात्। किं विशिष्टान् ? बहुतरान् अधिकसंख्यकान्। कथम्भूतः सन् ? इति परिमितभोगैः सन्तुष्टः उपर्युक्तसीमन्यन्तर-सीमानमनुसृत्य सीमाभ्यन्तरभोगोपभोगपदार्थेभ्योऽधिकान्नापेक्षते। तथा च त्यक्तविषयाणामनुस्मरणमतिलोलुपतातृष्णादि नानुभवति। तेन किं भवेत् ? अहिंसा विशिष्टा स्यात् प्रागपेक्षयाऽहिंसा विशेषाधिका भवति। कस्य ? तस्य भोगोपभोग-परिमाणव्रतिनः। कस्मात् ? बहुतरहिंसाविरहात् सीम्नि कृतायां पापावलिप्तो न स्यात्तस्मात्॥१६६॥

उत्थानिका - इस भोगोपभोगपरिमाण व्रत का फल क्या है ? सो कहते हैं -

अन्वयः - इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टः बहुतरान् भोगान् त्यजति तस्य बहुतरहिंसाविरहात् विशिष्टा अहिंसा स्यात्।

अन्वयार्थ - (इति) इस प्रकार (यः) जो (परिमितभोगैः) परिमाण किये गये भोगों से (सन्तुष्टः) सन्तुष्ट होता हुआ (बहुतरान् भोगान्) बहुत से भोगों को (त्यजति) छोड़ देता है (तस्य) उसके (बहुतरहिंसाविरहात्) बहुत सी हिंसा के छूटने से (विशिष्टा अहिंसा) विशेष अहिंसा (स्यात्) होती है।

टीकार्थ - कहीं-कहीं भोगोपभोग परिमाण व्रत के स्थान पर उपभोग परिभोग परिमाण व्रत लिखा प्राप्त होता है किन्तु शब्द भेद मात्र से वह विरुद्ध नहीं है अर्थात् दोनों एकार्थवाची हैं। जो देशव्रती श्रावक बहुसंख्यक भोगों और उपभोगों को छोड़ देता है और परिमित भोगों से सन्तुष्ट होता हुआ उपर्युक्त सीमा के भीतर अन्तर सीमा का अनुसरण करके, सीमा के भीतर भोग उपभोग के पदार्थों से अधिक की अपेक्षा नहीं करता है तथा त्यागे हुए विषयों का स्मरण नहीं करता औ अतितृष्णा अतिलोलुपता नहीं रखता है, उसके विशिष्ट अहिंसा व्रत होता है। अर्थात् पहले की अपेक्षा विशेष अधिक अहिंसा व्रत होता है। किसके विशेष अधिक अहिंसाव्रत होता है ?

यह उस भोगोपभोगपरिमाण व्रती के होता है जो बहुतर हिंसा का त्याग करके उसकी सीमा करके पाप से अवलिप्त नहीं होता है ॥१६६॥

भोग और उपभोग व्रत, फल है बहुत विशाल।
घर में भी बहु पाप से, बच जाता तत्काल ॥१६६॥

एतर्हि अतिथिसंविभागशिक्षाव्रतं चतुर्थं प्रकीर्त्यते -

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।

स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः॥१६७॥

मं. टी. - विधिनेत्यादि - अवश्यं कर्त्तव्यः नियमेनाचरितव्यः। किं ? भागः विभागः। कस्य ? द्रव्यविशेषस्य मोक्षमार्गोपयोगभूतद्रव्यस्य। कथं ? विधिना विधिपूर्वकं वक्ष्यमाणलक्षणो विधिस्तेन। कस्मैचित् ? अतिथये संयमविनाशयन्नतति पर्यटति सोऽतिथिस्तस्मै अथवा न यस्य नियततिथिर्गमनागमनास्यास्ति सोऽतिथिस्तस्मै। आतिथ्याभ्यागतयोः किं भेदो न वेति चेत् ? भवत्येव। तत्कथं विज्ञायते ?

उक्तं च -

तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना।

अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः॥

उत्थानिका - अहिंसा की सिद्धि के लिए अतिथिसंविभाग नामक चतुर्थ शिक्षाव्रत का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - दातृगुणवता विधिना जातरूपाय अतिथये स्वपरानुग्रहहेतोः द्रव्यविशेषस्य भागः अवश्यं कर्त्तव्यः

अन्वयार्थ - (दातृगुणवता) दाता के गुणों से युक्त श्रावक के द्वारा (विधिना) विधिपूर्वक (जातरूपाय अतिथये) तत्काल जन्मे बालक की तरह नग्न रूप को धारण करने वाले अतिथि के लिए (स्वपरानुग्रहहेतोः) अपने और पर के उपकार के लिए (द्रव्यविशेषस्य) विशेष शुद्ध और योग्य द्रव्य का (भागः) संविभाग (अवश्यं कर्त्तव्यः) अवश्य करना चाहिए।

टीकार्थ - दाता को विधिपूर्वक मोक्षमार्ग में उपयोगी द्रव्यविशेष का विभाग अवश्य ही करना चाहिए। विधि का लक्षण आगे के श्लोक में कहा जा रहा है। उस विधि से विभाग करना चाहिए। किसके लिए विभाग अर्थात् दान करना चाहिए ? अतिथि के लिए अर्थात् जो संयम का विनाश नहीं करते हुए विहार करते हैं उन अतिथि के लिए विभाग करना चाहिए, अथवा जिनकी गमन आगमन की कोई तिथि निश्चित नहीं होती है उन अतिथि के लिए दान देना चाहिए।

शंका - अतिथि और अभ्यागत में कोई भेद है कि नहीं है ?

समाधान - अतिथि और अभ्यागत में भेद होता ही है।

शंका - वह कैसे जाना जाता है ?

समाधान - ''जिस महापुरुष ने तिथि, पर्व, उत्सव आदि सबका त्याग कर दिया है उसे अतिथि कहते हैं, इसके अलावा शेष सभी अभ्यागत कहलाते हैं।''

दाता गुण से सहित हो, अतिथी को दे दान।
रूप दिगम्बर पात्र है, फल निज-पर-कल्याण ॥१६७॥

तदेवार्थसमर्थनार्थमात्राह - जातरूपाय दिगम्बराय इति विशेषणविशिष्टायातिथये। किमर्थं ? स्वपरानुग्रहहेतोः स्वस्यात्मनः परस्य पात्रस्य तयोरनुग्रह उपकारः स एव हेतुर्निमित्तं तस्मात्। स्वोपकारो भोगभूमिवैमानिकदेवर्द्धि पुरस्सरमार्गोपयोगीपुण्यसञ्चयः परोक्षः, साक्षात्फलं त्वसंख्येयगुणनिर्जरा। परोपकारो ज्ञानाभ्यासोपवासविहार-धर्मोपदेशध्यानादिः पात्रस्य॥१६७॥

यदुक्तं विधिना भागः कार्यस्तत्र न जानीमहे कोऽत्र विधिरिति प्रतिपादनार्थमाह

संग्रहमुच्चास्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।

वाक्कायमनः शुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः॥१६८॥

मं. टी. - संग्रहमित्यादि - आहुः अवदन्। किम् ? विधिं नवधाभक्तिं नवपुण्यैः प्रतिपत्तिं वा। तद्यथा संग्रहं प्रतिग्रहणं। उच्चस्थानं उच्चासनप्रदानम्। पादोदकं पादप्रक्षालनं कृत्वा मूर्ध्नि समायोजनं पाद्यम्। अर्चनं पूजा। च समुच्चये। प्रणामं नमस्कृतिः 'नमोऽस्तु' इति शासनात्। वाक्कायमनः शुद्धिः, मनः शुद्धिः, वचनशुद्धिः, कायशुद्धिरिति समुच्चारणम्। च समुच्चये। एषणशुद्धिः आहारशुद्धिर्वाच्या। तथा चोक्तम् -

---

उसी अर्थ का समर्थन करने के लिए यहाँ पर व्याख्यान करते हैं। 'जातरूपाय' यह विशेषण विशिष्ट अतिथि अर्थात् दिगम्बर मुनिराज के लिए है।

किसलिए विभाग करना चाहिए ? स्व और पर के उपकार के लिए विभाग करना चाहिए। दान स्वयं दाता के और पर अर्थात् पात्र के उपकार का कारण होता है।

स्वोपकार प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है। परोक्ष स्वोपकार जैसे भोगभूमि, वैमानिक देवर्द्धि समन्वित मोक्षमार्ग में उपयोग आने वाले पुण्य का संचय होना है।

प्रत्यक्ष स्वोपकार का फल जैसे दाता के असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है। पात्र के ज्ञानाभ्यास, उपवास, विहार, धर्मोपदेश, आत्मध्यान आदि सम्बन्धी उपकार होते हैं ॥१६७॥

उत्थानिका - आपने जो कहा कि विधिपूर्वक भाग करना चाहिए। मैं नहीं जानता हूँ कि विधि क्या है ? इसका प्रतिपादन करने के लिए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - संग्रहं उच्चस्थानं पादोदकं अर्चनं प्रणामं वाक्कायमनः शुद्धिः च एषणशुद्धिः च विधिं आहुः ॥

अन्वयार्थ - (संग्रहं) प्रतिग्रहण अर्थात् पड़गाहन (उच्चस्थानं) ऊँचा स्थान देना (पादोदकं) पाद प्रक्षालन अर्थात् चरण धोना (अर्चनं) पूजा करना (प्रणामं) प्रणाम करना या नमोऽस्तु (वाक्कायमनः शुद्धिः च) मनः शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि रखना (एषण शुद्धिः च) और भोजन शुद्धि इस प्रकार (विधिं) नवधा भक्ति को विधि (आहुः) कहते हैं।

टीकार्थ - नवधा भक्ति को विधि कहते हैं। यह नवधा भक्ति साधुओं के आहारचर्या के काल में की जाती है। वे नव भक्तियाँ इस प्रकार हैं -

---

आसन दें, कर प्रतिग्रहण, पादोदक ले पूज।
कर प्रणाम त्रय शुद्धि कर, अशन शुद्धि फिर बूझ ॥१६८॥

पडिगहमुच्चट्ठाणं पादोदयमच्चणं च पणमं च।

मणवयणकायसुद्धी एसणशुद्धी य णवविहं पुण्णं॥

किञ्च के दातृगुणा यैर्दानं दीयते साकमिति शासति -

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्ति - र्निष्कपटताऽनसूयत्वं।

अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः॥१६९॥

मं. टी. - ऐहिकेत्यादि - हि निश्चयेन। दातृगुणाः दातुर्गुणाः परिणामाः। सन्तीति क्रियाध्याहारः। के त इत्युच्यन्ते - ऐहिकफलानपेक्षा ऐहिकफलं इहलोकसम्बन्धिलाभपूजादि तस्यानपेक्षा निराकांक्षा। क्षान्तिः क्षमा क्रोधाभावः। निष्कपटता अकुटिलता मनोवाक्कायानामृजुता। अनसूयत्वं असूया ईर्ष्या, न असूया अनसूया तस्य भावः अमात्सर्यमित्यर्थः। अविषादित्वमुदित्वे अविषादित्वं पात्रस्यानागमने आगते वाऽपि निर्गमनं स्यात्तथाप्यखेदवृत्तिः।

---

(१) पडगाहन करना (२) ऊँचा आसन देना (३) पाद प्रक्षालन करके उस पाद्य/गन्धोदक को भक्ति से मस्तक पर लगाना (४) पूजा, अष्ट द्रव्य से पूजा करना (५) प्रणाम नमोऽस्तु करना क्योंकि जिनशासन में 'नमोऽस्तु' कहा जाता है। 'च' समुच्चयवाची है। (६) मन शुद्धि (७) वचन शुद्धि (८) काय शुद्धि (९) आहार पानी शुद्धिः इस प्रकार नवधा भक्ति पूर्वक साधुओं (मुनिराजों) को आहार दिया जाता है। अन्यत्र भी कहा है। प्रतिग्रहण, उच्चस्थान, पादोदक, पूजा, प्रणाम, मन, वचन, काय शुद्धि, आहार जल की शुद्धि यह नवधा भक्ति है ॥१६८॥

उत्थानिका - दाता के वे कौन से गुण हैं जिन गुणों के साथ दान दिया जाता है, इसका कथन करते हैं -

अन्वयः - ऐहिकफलानपेक्षा, क्षान्तिः, निष्कपटता, अनसूयत्वं, अविषादित्वमुदित्वे, निरहङ्कारित्वं, इति हि दातृगुणाः ॥

अन्वयार्थ - (ऐहिकफलानपेक्षा) इस लोक सम्बन्धी फल की अपेक्षा से रहित, (क्षान्तिः) क्षमा, (निष्कपटता) मायाचार से रहित (अनसूयत्वं) ईर्ष्या से रहित, (अविषादित्वमुदित्वे) विषाद अर्थात् खेद से रहित, हर्ष भाव से युक्त (निरहङ्कारित्वं) अहंकार से रहित (इति) इस प्रकार (हि) निश्चय से ये (दातृगुणाः) दाता के गुण हैं।

टीकार्थ - (१)इस लोक सम्बन्धी लाभ, पूजादि की अपेक्षा से रहित (२) क्षमा-क्रोध का अभाव होना (३) निष्कपटता-मन वचन काय की सरलता का होना (४) अनसूयत्व - ईर्ष्या या मात्सर्य से रहित होना (५) अविषादित्व अपने चौके में साधु के नहीं आने पर अथवा आ जाये किन्तु चौके से लौट जाने पर भी खेद नहीं

लोक ख्याति की चाह बिन, क्षमा जलन बिन मान।
छल विषाद बिन हर्ष से, अठ गुण दाता जान ॥१६९॥

मुदित्वं हर्षो धर्मे पात्रे स्वसुकृते च। अविषादत्वं च मुदित्वं च अविषादत्वमुदित्वे। निरहङ्कारित्वं हर्षमुत्पद्यमानेऽपि निर्मदता। इति एवं प्रकारम्॥१६९॥

द्रव्यविशेषस्य इत्युक्ते तत्प्रतिपादयितुमाह -

रागद्वेषासंयम - मददुःखभयादिकं न यत्कुरुते।

द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम्॥१७०॥

मं. टी. - रागेत्यादि - तदेव द्रव्यं दानमाहारकालेऽन्यदानप्रदाने वा। देयं दातव्यं। यत्किम् ? सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरं सुतपो ध्यानपर्यन्तं च स्वाध्यायोऽध्ययनं मनोमर्कटस्य विश्रान्त्यै च तयोर्वृद्धिकरं वर्धनशीलम्। इति विधिपक्षः। प्रतिषेधपक्षोऽपि विज्ञेयः ततश्चाह - न कुरुते न जनयति। किं तत् ? यत् रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं संयमे हानिमित्यर्थः॥१७०॥

करना (६) मुदित्वं धर्म में, पात्र में अपने पुण्य का उदय होने पर हर्ष भाव होना (७) निरहं कारित्व अर्थात् हर्ष के उत्पन्न होने पर भी निर्मदता होना, इस प्रकार निश्चय से दाता के सात गुण होते हैं ॥१६९॥

उत्थानिका - द्रव्य विशेष ऐसा पूर्व सूत्र में कहे जाने पर उस द्रव्य विशेष का प्रतिपादन करने के लिए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - यत् रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न कुरुते सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरं तदेव द्रव्यं देयम्॥

अन्वयार्थ - (यत्) जो (रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं) राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि (न कुरुते) नहीं करता हो, (सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरं) सुतप और स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला हो (तदेव द्रव्यं देयम्) वही द्रव्य देने योग्य है।

टीकार्थ - जो सुतप को अर्थात् अनशन, अवमौदर्य आदि से लेकर ध्यान पर्यन्त छह प्रकार के बहिरंग और छह प्रकार के अन्तरंग तपों की वृद्धि करने वाला हो। मन रूपी बन्दर की विश्रान्ति के लिए जो अध्ययन किया जाता है उसे स्वाध्याय कहते हैं। ऐसे स्वाध्याय की वृद्धि करने वाला हो, यह विधि पक्ष से कथन किया गया। अब प्रतिषेध पक्ष कहते हैं - जो राग - द्वेष असंयम मद दुःख भयादिक को उत्पन्न नहीं करता हो, वही द्रव्य आहारदान में देना चाहिए ॥१७०॥

मद मय पीड़ा द्वेष वा राग असंयम हेतु।
द्रव्य दान ना योग्य है, हो तप संयम सेतु ॥१७०॥

भेदपुरस्सरं पात्रस्वरूपमत्रोद्योतयति -

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।

अविरतिसम्यग्दृष्टि-र्विरताविरतश्च सकलविरतश्च॥१७१॥

मं. टी. - पात्रमित्यादि - उक्तं कथितम्। किं तत् ? पात्रं दानभूमिः। कतिविधम् ? त्रिभेदं त्रिविधप्रकारम्। तद्यथा - अविरतिसम्यग्दृष्टिः चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवो जघन्यपात्रमुच्यते। विरताविरतो देशव्रती पञ्चमगुणस्थानवर्ती मध्यमपात्रम्। च समुच्चये। सकलविरतो महाव्रती उत्तमपात्रं। अत्रापि च समुच्चये। किंविशिष्टः सोऽविरतसम्यग्दृष्ट्यादिः? मोक्षकारणगुणानां संयोगः संवेगनिर्वेगादयो हि मोक्षकारणभूता गुणा भवन्ति तेषां संयोगो युक्तता यत्र स तथाभूतः। तथा चोक्तम्

संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती।

वच्छल्लं अणुकंपा गुणट्ठ संमत्तजुत्तस्स॥

उत्थानिका - भेद पूर्वक तीन प्रकार के पात्रों का स्वरूप प्रकाशित करते हैं -

अन्वयः - मोक्षकारणगुणानां संयोगः अविरतसम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकलविरतश्च इति पात्रं त्रिभेदं उक्तं॥

अन्वयार्थ - (मोक्षकारणगुणानां संयोगः) जिनमें मोक्ष के कारण रूप गुण अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप गुणों का संयोग है ऐसे (अविरतसम्यग्दृष्टिः) चतुर्थगुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि (विरताविरतश्च) पञ्चम गुणस्थान वर्ती देशव्रती (सकलविरतश्च) छठे गुणस्थानवर्ती सकलव्रती (इति पात्रं) इस प्रकार पात्र (त्रिभेदं) तीन प्रकार के (उक्तं) कहे गये हैं।

टीकार्थ - दान की भूमि स्वरूप पात्र तीन प्रकार के होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव जघन्य पात्र हैं। विरताविरत देशव्रती पञ्चम गुणस्थानवर्ती मध्यम पात्र हैं और सकल विरत महाव्रती मुनिराज उत्तम पात्र हैं।

शंका - उन सम्यग्दृष्ट्यादि जीवों में क्या विशेषता है ?

समाधान - वे मोक्ष के कारणभूत गुणों क संयोग अर्थात् संवेग निर्वेगादि गुणों से युक्त होते हैं। जैसा कि कहा है -

संवेग, निर्वेग, निजनिन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण सम्यक्त्व से युक्त जीवों के होते हैं।

शंका - यदि अविरत सम्यग्दृष्टि में सामान्य से ये आठ गुण होते हैं तो उत्तम पात्र के इन गुणों में क्या विशेषता होगी ?

समाधान - ऐसी शंका करना ठीक नहीं है, आठ गुणों का सम्बन्ध सभी में होता है किन्तु उत्तम पात्र में उन

पात्र भेद तो तीन हैं, शिवपथगुण का योग।
समकितदर्शी देशव्रत, सकलव्रती संयोग ॥१७१॥

ननु चैते गुणास्तु सम्यग्दृष्टौ सामान्येऽविरते स्युरुत्कृष्टपात्रे कथमपि विशेषाः? तन्न विरुद्धं, गुणाष्टकानामन्विति हिं परिष्कृतोत्तमपात्रे दृश्यते। सन्ति महाव्रतधारिणामुपशमनिर्वेगसंवेगादयो विशिष्टास्तेन जघन्यादिपात्रेण विशिष्यन्ते तस्माद्मोक्षकारणभूतानामेतेषां गुणानां संयोगः सर्वेषु पात्रेषु भवेदित्यनवद्यम्। त्रिप्रकारेषु पात्रेषु विधिद्रव्यविशिष्टता पात्रयोग्यानुसारिणी विधेयाऽन्यथाऽज्ञानप्रसङ्गत्वम्। न च यथाऽर्चनादिविधिर्महाव्रतिषु स्यात्तथा जघन्यादिष्वपि अव्यवस्थादोषानुषङ्गात्। पात्रविशेषे हि सति विधिविशेषस्तथा द्रव्यविशेषश्च फलति क्षितिविशेषगते बीजवपनवदन्यथा वैयर्थ्यात्॥१७१॥

किमर्थं दानं शिक्षाव्रतमिष्यत इति शङ्कां निरस्यन्नाह -

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।

तस्मादतिथिवितरणे हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम्॥१७२॥

मं. टी. - हिंसाया इत्यादि - यतः यस्मात् कारणात्। अत्र दाने -''अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम्'' इति वचनात् तस्मिन् दाने कृते सतीत्यर्थः। किं भवति ? निरस्यते दूरीक्रियते विमुच्यते वा ''असु क्षेपणे'' भावे लट्।

गुणों का विशेष परिष्कार देखा जाता है। चूँकि जघन्यादि पात्र की अपेक्षा महाव्रतधारियों के उपशम और संवेग, निर्वेग आदि गुण विशिष्ट होते हैं। इसलिए मोक्ष के कारणभूत इन गुणों का संयोग सब पात्रों में होता है। अतः यह कथन निर्दोष है।

तीन प्रकार के पात्रों में विधिविशेष और द्रव्यविशेष पात्र की योग्यतानुसार करना चाहिए अन्यथा अज्ञानता का प्रसंग आ जायेगा। जैसी अर्चनादि विधि महाव्रतियों की होती है वैसी जघन्य पात्रादि में नहीं की जाती है, अन्यथा अव्यवस्था दोष पैदा होता है।

पात्र विशेष के होने पर ही विधिविशेष और द्रव्यविशेष फलवान होते हैं। जिस प्रकार उर्वरा जमीन में बीज के बोने पर ही वह फलवान होता है अन्यथा बीज व्यर्थ चला जाता है ॥१७१॥

उत्थानिका - दान को शिक्षाव्रत क्यों माना जाता है ? इस शंका का निराकरण करते हुए आगे का सूत्र कहते हैं

अन्वयः - यतः अत्र दाने हिंसायाः पर्यायो लोभः निरस्यते तस्मात् अतिथिवितरणे हिंसाव्युपरमणं एव इष्टम् ॥

अन्वयार्थ - (यतः) क्योंकि (अत्र दाने) इस दान में (हिंसायाः पर्यायः) हिंसा की पर्याय (लोभः) लोभ (निरस्यते) का नाश किया जाता है (तस्मात्) इसलिए (अतिथिवितरणे) अतिथिदान में (हिंसाव्युपरमणं एव) हिंसा का त्याग ही (इष्टम्) कहा गया है।

टीकार्थ - 'उपकार के लिए अपनी वस्तु का त्याग करना दान है।' दान में अपना और दूसरे का उपकार होता है तथा उस दान के होने पर लोभ कषाय का विनाश होता है।

लोभ कहो हिंसा कहो, निश्चय से इक जान।
इससे अतिथी दान में हिंसा की ही हान ॥१७२॥

कोऽसौ लोभः लुब्धता। कथम्भूतः ? हिंसायाः पर्यायः हिंसा रागो लोभ इत्यनर्थान्तरमित्युक्तं भवति। तस्मात् कारणात् अतिथिवितरणे अतिथये वितरणं प्रदानं तस्मिन्। हिंसाव्युपरमणं हिंसायाः परिहरणम्। एव निश्चयार्थे। इष्टं प्रवचनं मतमभिमतम्॥१७२॥

विना दानप्रदानं लुब्धताऽवश्यमेवेति नियम्यते

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति॥१७३॥

मं. टी. - **गृहमित्यादि** - न वितरति न प्रदत्ते ''तृ प्लवनतरणयोः'' लट् उपसर्गवशादर्थ-परिवर्तनम्। कः ? यः कोऽपि गृहस्थः। कस्मैचित् ? अतिथये महाव्रतिने। कथम्भूताय ? गृहमागताय भिक्षाचर्यामनुपालयतो गृहमध्ये समायाताय। पुनश्च किं विशिष्टाय ? गुणिने सम्यग्दृग्ज्ञानवृत्तवते। तथा च कथम्भूताय ? मधुकरवृत्त्या परानपीडयते यथा हि मधुकरो पुष्पमनाहत्य पुष्परसमादत्ते तथा हि मुनिपस्तया रीत्या। परान् गृहस्थान्नपीडयतीत्यपीडयन् शतृप्रत्ययः तत्तथोक्तस्तस्मै। स कथं न हि लोभवान् भवति इति काकुः अर्थात् अवश्यमेव भवतीत्यर्थः॥१७३॥

वह लोभ हिंसा की पर्याय माना गया है। हिंसा, राग, लोभ ये सब एकार्थवाची हैं। इसलिए अतिथि के लिए दान देना हिंसा का ही त्याग माना गया है ॥१७२॥

उत्थानिका - दान दिये बिना लोभ कषाय अवश्य ही है, ऐसा नियम है -

अन्वयः - यः गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्या परान् अपीडयते अतिथये न वितरति सः लोभवान् कथं न हि भवति ॥

अन्वयार्थ - (यः) जो गृहस्थ (गृहमागताय) घर पर आये हुए (गुणिने) संयमादि गुणों के धारी (मधुकरवृत्या) भ्रमर के समान वृत्ति वाले (परान्) दूसरों को (अपीडयते) पीड़ा नहीं देने वाले (अतिथये) अतिथि के लिए (न वितरति) आहारादि नहीं देता है (सः) वह (लोभवान्) लोभी (कथं) कैसे (न हि) नहीं (भवति) होता है ? अर्थात् अवश्य होता है।

टीकार्थ - भिक्षाचर्या का पालन करते हुए, घर पर आये हुए, रत्नत्रय से युक्त, मधुकर वृत्ति से दूसरों को पीड़ित नहीं करते हुए अर्थात् जिस प्रकार भ्रमर फूल को नष्ट किये बिना पुष्प के रस को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार मुनिपने की रीति से गृहस्थ को पीड़ित किये बिना आहार ग्रहण करने वाले साधु को जो श्रावक आहारादि नहीं देता है वह लोभी कैसे नहीं है ? अर्थात् अवश्य ही लोभी है। तृ प्लवन धातु का अर्थ कूदना या तैरना होता है। उपसर्ग के वश से देना अर्थ हो गया है। तात्पर्य यह है कि दान नहीं देने वाला लोभी ही है ॥१७३॥

गृह आये गुणि अतिथि तो, लेत भ्रमर सम भोज।
जो उनको नहिं दान दे, क्यों लोभी नहिं खोज ॥१७३॥

अथ दानव्रतमुपसंहरन्नाह -

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितत्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव॥१७४॥

मं. टी. कृतमित्यादि - आत्मार्थं कृतं भक्तं आत्मने निमित्तं भोजनं। ददाति दत्ते। कस्मै ? मुनये। कः ? भावितत्यागः त्यागभावनोपेतो दाता। कथम्भूतः अरतिविषादविमुक्तः दानकार्येऽनिच्छा अरतिश्च, विषादश्च द्रव्यव्ययत्वात् खेदस्तयोर्विमुक्तो रहितः स भवति। पुनश्च किं विशिष्टः ? शिथिलितलोभः लोभो गृद्धिस्तत्पदार्थे दानात् यस्य शिथिलितो विगलितः स भवति। इति एवं प्रकारेण अहिंसा एव भवति अरतिविषादलोभपरित्यागात्। अर्थात् अहिंसाव्रतस्य पुष्टये हि दानविधिरिति। क्वचित् ''भक्तिमतिभावितत्यागः'' इति पाठस्योपगमस्तेनातिभावितत्यागः स भक्तिं नवधा भक्तिं ददातीत्यर्थोऽवसेयः॥१७४॥

उत्थानिका - अब अतिथिसंविभाग व्रत का उपसंहार करते हुए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - आत्मार्थं कृतं भक्तं मुनये ददाति इति भावितत्यागः अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभः अहिंसा एव भवति ॥

अन्वयार्थ - (आत्मार्थं कृतं भक्तं) अपने लिए बनाये हुए भोजन को (मुनये) मुनिराज के लिए (ददाति) देता है (इति) इस प्रकार (भावित्यागः) भाव पूर्वक (अरतिविषादविमुक्तः) अरति (अप्रेम) और विषाद खेद से रहित (शिथिलित लोभः) लोभ को शिथिल करने वाली (अहिंसा एव) अहिंसा ही (भवति) होती है।

टीकार्थ - अपने लिए बनाये हुए भोजन को त्याग की भावना से युक्त दाता, मुनि के लिए अरति विषाद से रहित होकर होता है। दान कार्य में इच्छा नहीं होना अरति है और द्रव्य के खर्च होने से खेद होना विषाद कहलाता है। उन दोनों से रहित होकर जो देता है उसका लोभ शिथिलता को प्राप्त होता है। इस प्रकार अरति विषाद से रहित होकर लोभ का त्याग होना अहिंसा ही है, अर्थात् अहिंसा व्रत की पुष्टि के लिए दान की विधि जाननी चाहिए। कहीं-कहीं भक्तमिति भावितत्यागः के स्थान पर 'भक्तिमतिभावितत्यागः' इस पाठ की भी प्राप्ति होती है। उससे अर्थ निकलता है कि वह श्रावक नवधा भक्ति से आहार देता है ॥१७४॥

जो निजार्थ भोजन बना, उसमें से कुछ दान।
अरति खेद बिन वह गृही, बना अहिंसा शान ॥१७४॥

इदानीं द्वादशव्रतपरिपालनपरस्य विद्यार्थिनो व्रतिनः परीक्षास्थानीयसल्लेखनाव्रतयेऽवश्यं प्रयतितव्यमिति प्रतिपादयति –

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।

सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या॥१७५॥

मं. टी. – **इयमित्यादि** – भावनीया मुहुर्मुहुश्चिन्तनीया। का सा ? पश्चिमसल्लेखना पश्चिमेऽन्ते मरणकाले सल्लेखना सत्समीचीनतया कायकषायाणां लेखना हापना क्रमेण हानिर्वा सा। कया ? भक्त्या रूचिपूर्वकतया। किं मरणकाले हि भावनीया या व्रताचरण कालेऽपीति पृष्टे आह–सततं निरन्तरं प्रतिक्षणं वा। केन विधिना चिन्त्या ? मे मम। धर्मस्वं धर्म एव स्वं धनं तत्। मया समं आत्मना सार्धं। नेतुं वाहितुं। इयं सल्लेखना। एका एकाकिनी। एव निश्चये। समर्था शक्या। इति एवं प्रकारा चिन्तनीया॥१७५॥

उत्थानिका – अब बारह व्रत के पालन करने में तत्पर व्रती को विद्यार्थी की परीक्षा के तुल्य सल्लेखना व्रत के लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए, यह व्याख्यान प्रारम्भ करते हैं –

अन्वयः – इयम् एका एव में धर्मस्वं मया समंनेतुं समर्था इति भक्त्या पश्चिमसल्लेखना सततम् भावनीया ॥

अन्वयार्थ – (इयम्) यह (एका एव) एक ही सल्लेखना (मे) मेरे (धर्मस्वं) धर्मरूपी धन को (मया) मेरे (समं) साथ (नेतुं) ले जाने के लिए (समर्था) समर्थ है (इति) इस प्रकार (भक्त्या) भक्ति से (पश्चिमसल्लेखना) मरण काल में सल्लेखना की (सततम्) निरन्तर (भावनीया) भावना करनी चाहिए।

टीकार्थ – मरण काल में सल्लेखना अर्थात् समीचीन रूप से काय अर्थात् शरीर और कषाय को कृश करना सल्लेखना कहलाती है। उसकी बार–बार भक्ति पूर्वक भावना करनी चाहिए।

शंका – सल्लेखना की भावना क्या मरण काल में ही करनी चाहिए या व्रताचरण के काल में भी करनी चाहिए?

समाधान – प्रतिक्षण निरन्तर सल्लेखना की भावना करनी चाहिए।

शंका – किस प्रकार से चिन्तन करना चाहिए?

समाधान – अकेली सल्लेखना ही मेरे धर्मरूपी धन को मेरे साथ ले जाने में समर्थ है, इस प्रकार का चिन्तन करना चाहिए॥१७५॥

मम आतम के धर्म को, पर भव ले कर जात।
सल्लेखन व्रत अन्त में, भाओ नित हे भ्रात ॥१७५॥

अपि बहुकालविलम्बितं मरणं किमधुना मरणभावनारतेनेति समादधति -

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।

इति भावना - परिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम्॥१७६॥

मं. टी.- मरणान्त इत्यादि - पालयेत् समाचरेत्। किं तत् ? इदं प्रासङ्गिकं। शीलं व्रतं सल्लेखनाख्यकम्। कथम्भूतम् ? अनागतमपि साम्प्रतमनुपस्थितमपि। तत्कथं सम्भवेत् ? भावनापरिणतः यद्भविष्यकालवर्ति कार्यं तस्य सम्प्रति चिन्तनं भावना तया परिणतस्तन्मयो भूत्वेति। सा का ? मरणान्ते मरणकाले विधिना क्रमेणाहारपानादि-प्रत्याख्यानरीत्या नियमयमसमाधिपूर्विकया। अवश्यं नियमेन सत्त्वोत्साहमुदीर्येति। सल्लेखनां करिष्यामि अहं शरीरमिदं सन्त्यक्षामि जागरितो भूत्वा। इति एवं प्रकारम्। तथा चोक्तम् -

गुरुमूले यतिनिचिते चैत्यसिद्धान्तवार्धिसद्घोषे।
मम भवतु जन्मजन्मनि सन्यसनसमन्वितं मरणम्॥

उत्थानिका - मरण का समय अभी बहुत शेष है तो क्या आज से ही मरण की भावना करनी चाहिए ? इसका समाधान करते हैं-

अन्वयः - अहं मरणान्ते विधिना सल्लेखनां अवश्यं करिष्यामि इति भावनापरिणतः अनागतमपि इदं शीलं पालयेत्॥

अन्वयार्थ - (अहं) मैं (मरणान्ते) मरण के समय में (विधिना) विधि पूर्वक (सल्लेखनां अवश्यं करिष्यामि) सल्लेखना को अवश्य ही धारण करूँगा (इति भावनापरिणतः) इस प्रकार की भावना रखने वाले पुरुष को (अनागतमपि) मरण काल प्राप्त होने से पूर्व से ही (इदं शीलं) इस सल्लेखना व्रत को (पालयेत्) पालना चाहिए।

टीकार्थ - मरण काल आने के पहले से ही इस सल्लेखना नामक शीलव्रत का पालन करना चाहिए। यह कैसे संभव है ? जो भविष्यकालवर्ती कार्य है उसे वर्तमान में चिन्तन की भावना से परिणत अर्थात् तन्मय होकर कि मैं मरणकाल में विधिपूर्वक आहार पान आदि के त्याग की रीति से समाधिपूर्वक यम और नियम का पालन करते हुए नियम से सत्त्व अर्थात् धैर्य और उत्साह को प्रकट करते हुए सल्लेखना धारण करूँगा, इस शरीर का जागृत अवस्था में त्याग करूँगा, इस प्रकार की भावना करता है। कहा भी है -

''गुरु के सान्निध्य में, यतियों के समूह में, जिन प्रतिमा तथा सिद्धान्त सागर अर्थात् श्रुतरूपी समुद्र के घोष में जन्म-जन्म में मेरा सन्यास से युक्त मरण होवे।''

मरण समय में नियम से, होय जोश उत्साह।
पृथक करूँगा देह से, आतम बिन परवाह ॥१७०॥

यतश्च भावनावासितमानसे तत्कार्यं प्रत्युसाहनान् मनसि रुचिर्विवर्धते दृढता जायते च ततः प्रत्यूहोपस्थितेऽपि निःशेषतां समायाति। अत्र ध्यातव्यः - मरणान्तेऽहं सल्लेखनां करिष्यामीति ''भावना भवनाशिनी'' देवव्रतिना भाव्या न चाहं मुनिर्भविष्यामीति मुनिव्रतधारणाय प्रागेवासमर्थत्वात्। यतश्च मुनिव्रतानामुपदेशः सूरिणा प्राग्दत्तस्ततश्च मुनिव्रतमेव प्रथमं परिपाल्यम्। यदि क्वचित् कारणात् तत्समये नाङ्गीकृतो मुनिधर्ममवधार्य तदनुसारेणाचरितव्यः पश्चात् समाधये यतितव्यः। आराधनाग्रन्थेषु श्रावकधर्मं परिपालयतः सल्लेखना पृथक्त्वेन प्ररूपिताऽन्यथा सर्वेषां महाव्रतेनैव मरणप्रसक्तिः। तथापि मरणसमये सर्वारम्भपरिग्रहमुत्सृज्यात्मनि निर्ग्रन्थताया भावना करणीया। मुनिसंघमध्ये गृहे वा समाधये प्रयतमानस्य देशव्रतिनो मुनिरिवाख्यातो न तु मुनिरेव। प्रोक्तं चार्षे -

सर्वत्र समतां मैत्रीमनौत्सुक्यं च भावयन्।

सोऽभून्मुनिरिवासङ्गस्त्यक्त - बाह्येतरोपधिः॥

ततश्च नग्नो भूत्वा मरणे महाव्रतसहितमरणाद्भूयान्भेदोऽवगन्तव्यः। तथैव प्रोक्तं चाकलंकदेवैः ''वेश्मपरित्यागेन तु श्रावकत्वेनैव गृहिणः सल्लेखनेत्येवमर्थो भेदेनोपदेशः इति''॥१७६॥

क्योंकि ऐसी भावना से युक्त मन में उस कार्य के प्रति उत्साह होने से रूचि बढ़ती है और दृढ़ता उत्पन्न होती है, इसलिए विघ्न के उपस्थित होने पर भी साधक निःशेषता को प्राप्त होता है अर्थात् सल्लेखना को पूर्ण करता है। ''भावना भवनाशिनी'' यहाँ पर ऐसा ध्यान रखना चाहिए कि मैं मरण के काल में सल्लेखना धारण करूँगा, ऐसी भावना देशव्रती को भाना चाहिए। ''मैं मुनि बनूँगा'' इस प्रकार की भावना नहीं क्योंकि मुनिव्रत धारण करने के लिए तो पहले ही असमर्थता प्रकट कर दी गई थी। चूँकि मुनिव्रत का उपदेश आचार्य अमृतचन्द्रस्वामी ने प्रथम अधिकार में दिया है कि मुनिव्रत प्रथम ही पालन करने योग्य है। यदि किसी कारण से उस समय मुनिधर्म को धारण नहीं कर सका तो बाद में मुनिधर्म को धारण करके उसके अनुसार आचरण करना चाहिए, उसके बाद समाधि के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

आराधना ग्रन्थों में श्रावक धर्म का पालन करने वालों की सल्लेखना का अलग से वर्णन किया है। अन्यथा सभी का महाव्रत से ही मरण का प्रसंग आ जायेगा। तो भी मरण के काल में साधक श्रावक को सभी आरंभ और परिग्रह को छोड़कर अपने में निर्ग्रन्थपने की भावना करनी चाहिए।

मुनि संघ के सान्निध्य में अथवा घर में समाधि के लिए प्रयत्न करने वाले देशव्रती को मुनि की तरह कहा जाता है, न कि वह मुनि ही है, ऐसा कहा जाता है। कहा भी है - ''सभी विषयों में समता, मैत्री तथा उदासीनता की भावना करता हुआ वह (महाकाल का जीव) बाह्य और अन्तरङ्ग उपाधि का त्याग कर मुनि के समान अपरिग्रही हो गया।'', इसलिए नग्न होकर मरण करने में और महाव्रतों को धारण करने के बाद मरण करने में अन्तर जानना चाहिए।

प्रागेव मरणकालाद् भक्तपाननिरोधे किं न खल्वात्मघातस्य प्रसङ्गः प्रसज्येतेत्याकूतमपाकुरुते -

मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे।

रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति॥१७७॥

मं. टी. - मरणेत्यादि - नास्ति न भवति। किं सः ? आत्मघातः शारीरिकमानसिकपीडयाऽऽकुलितस्य बलाद् विषभक्षणयन्त्रकर्तनादिना च्यावितप्रसङ्गः सकषायस्य स्यात्। कस्य ? रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य यस्य शरीरे रागद्वेषौ न स्तस्तस्य। क्व ? अवश्यम्भाविनि मरणे जराऽऽकस्मिकदुर्घटनाऽप्रतीकाररोगधर्माचरणसमाप्तिसंयमहानि-प्रकृतिकृताकालोपसर्गरूपे शरीरप्रच्युतिनिमित्तसमुपस्थिते सति। किं विशिष्टे ? कषायसल्लेखना तनूकरणमात्रे स्वशरीरे रागादिसमुत्पत्तिः कषायस्तस्य सल्लेखना हापना तया तनूकरणमात्रे सूक्ष्मभवने मरण इत्यर्थः। अर्थात् सल्लेखनायां गृहीतधर्मस्य रक्षा मानसिकशान्तिः शारीरिकीनिस्पृहता इहपरलोकविषये निराकांक्षता च सञ्जायते तेनात्मघातरूपपापस्य सर्वथाऽभाव एव। ननु च रोगादिभिः खेदमापन्नस्यात्याकुलितस्य सद्यो हि विषभक्षणादिरीत्या मरणं समाधिना कथं

जैसा कि अकलंक देव के द्वारा कहा गया है -

''घर का त्याग कर देने पर भी उस गृहस्थ की श्रावक व्रत रूप से ही सल्लेखना होती है, अतः इस विशेषता को प्रकट करने के लिए भेद रूप से उपदेश दिया है''॥१७६॥

उत्थानिका - मरण काल से पहले ही भोजनपान का निरोध करने पर क्या आत्मघात का प्रसंग नहीं आयेगा ? इस प्रकार से अभिप्राय का निराकरण करते हुए कहते हैं।

अन्वयः - मरणे अवश्यं भाविनी कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य आत्मघातः न अस्ति ॥

अन्वयार्थ - (मरणे अवश्यं भाविनी) मरण के अवश्यम्भावी होने पर (कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे) कषायों की सल्लेखना और काय को कृश करने मात्र में (रागादिमन्तरेण) राग द्वेष के बिना (व्याप्रियमाणस्य) प्रवृत्ति करने वाले पुरुष के (आत्मघातः न अस्ति) आत्मघात नहीं होता है।

टीकार्थ - जो शारीरिक और मानसिक पीड़ा से आकुलित होकर हठात् विषभक्षण करके या यन्त्रादि से कटकर कषाययुक्त होकर अपना शरीर छोड़ता है उसके आत्मघात का दोष होता है। रागादि के बिना प्रवृत्ति करने वाले साधक के जिस शरीर में राग द्वेष नहीं है उसके निश्चित रूप से होने वाले मरण में अत्यन्त बुढ़ापा आकस्मिक दुर्घटना, अनिवार्य रोग, धर्माचरण की समाप्ति, संयम की हानि, प्रकृति कृत उपसर्ग रूप शरीरत्याग के अनिवार्य निमित्त उपस्थित होने पर सल्लेखना धारण करने पर अर्थात् सल्लेखना ग्रहण करने पर गृहीत धर्म

कर कषाय की हानि जो, रागद्वेष बिन प्राण।
त्यागे आतमघात ना, मिलता भव से त्राण ॥१७७॥

विशिष्यते शरीरपरित्यजनरूपैकोद्देश्यसादृश्यात् ? तन्नुचितमुक्तम्। विषभक्षणादिनामरणे मारणे वा परेषां संक्लेशभावाद्धिंसादोषः प्रसजति। समाधिमरणे तु शरीरस्वभावमनुचिन्त्यात्मगुणप्रकर्षणाय पुनर्जन्ममूलशरीरागगमोचनाय शनैः शनैरायुः क्षयादहिंसाकोषः प्रसरति। कार्यैक-सम्भवेऽपि कारणविशेषात् फलविशेषः खल्वाबालगोपालप्रसिद्धे-र्बीजवृक्षवत्। न च सवेषां सरुग्णानां समाधये प्रारूपः प्रदर्शितः कदलीघात - सम्भवत्वात्। निष्प्रतीकारा रोगिणो हि स्वायुरल्पतामवगम्य तदर्थं प्रयतन्तेऽन्यथा प्रतीकाराभावात्। तथा चोक्तम् -

यावदस्ति प्रतीकारस्तावत्कुर्यात् प्रतिक्रियाम्।
तथाप्यनुपशान्तानामनुद्वेगः प्रतिक्रिया॥१७७॥

की रक्षा, मन की शान्ति, शारीरिक निस्पृहता, इह लोक सम्बन्धी विषयों में और परलोक सम्बन्धी सुख के विषय में अनाकांक्षा रूप भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए आत्मघात रूप पाप का सर्वथा अभाव ही है।

शंका - रोगादि से खेद को प्राप्त अत्यन्त आकुलित जीव के शीघ्र ही विषभक्षण आदि के द्वारा शरीर को छोड़ने और समाधिमरण से शरीर को छोड़ने (इन दोनों) में क्या विशेषता हुई, क्योंकि शरीर के त्याग रूप एक ही उद्देश्य दोनों में समान है।

समाधान - ऐसा कहना ठीक नहीं है। विषभक्षणादि से मरना कथमपि ठीक नहीं है क्योंकि उसमें संक्लेश भाव होने से हिंसा के दोष का प्रसङ्ग आता है।

समाधिमरण में तो शरीर के स्वभाव का चिन्तन करके आत्मा के गुणों को बढ़ाने के लिए, पुनर्जन्म का अभाव करने के लिए, मूल शरीर से राग छोड़ने के लिए शनैः शनैः आयुकर्म के क्षय से अहिंसा धर्म का कोष वृद्धि को प्राप्त होता है। समानकार्य के होने पर भी कारणविशेष से फलविशेष की प्राप्ति होती है यह बात सर्वजन प्रसिद्ध है कि बीज भिन्न होने पर भिन्न वृक्ष की उत्पत्ति होती है। सभी रोगियों को समाधि के लिए नहीं कहा है अन्यथा कदलीघात होना संभव है। जिस रोगी का रोग निःप्रतिकार है वह अपनी आयु की अल्पता जानकर समाधि के लिए प्रयत्न करता है। जैसा कि कहा है -

''जब तक प्रतिकार हो सकता है, तब तक प्रतिकार करना चाहिए। अगर रोग उपशांत नहीं हो तो अनुद्वेग ही उसकी प्रतिक्रिया है।'' ॥१७७॥

कश्च भवत्यात्मघातीति स्पष्टयति -

यो हि कषायाविष्टः कुम्भक - जलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात् सत्यमात्मवधः॥१७८॥

मं. टी. - यो हीत्यादि - व्यपरोपयति हिनस्ति। कान् ? प्राणान् आयुरिन्द्रियादिदशसंख्यकान्। हि निश्चयेन। कः ? यः कषायाविष्टः कोऽपि कषायसहितो जनः। कैः ? कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः। कुम्भकः श्वासनिरोधनमुदरे, जलं नदीसमुद्रादिगतम्, धूमकेतुरग्निः, विषं हालाहलं, शस्त्रमसिछुरिकादिकम्, कुम्भकश्च जलं च धूमकेतुश्च विषं च शस्त्रं चेतरेतर - द्वन्द्ववृत्त्या योज्यं तत्तथोक्तं तैरिति। तस्य जनस्य। सत्यं नूनं। आत्मवधः स्यात् आत्मघातो भवति॥१७८॥

अहिंसाधर्मप्रसिद्धये हि सल्लेखनाव्रतमिति प्रतिपाद्यते -

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम्॥१७९॥

उत्थानिका - आत्मघाती कौन होता है, यह स्पष्ट करते हैं -

अन्वयः - हि यः कषायाविष्टः कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः प्राणान् व्यपरोपयति तस्य आत्मवधः सत्यं स्यात् ॥

अन्वयार्थ - (हि) निश्चय से (यः) जो पुरुष (कषायाविष्टः) कषाय से युक्त होता हुआ (कुम्भकजलधूमकेतु विषशस्त्रैः) श्वास रोकना, जल, अग्नि, विष, शस्त्रों के द्वारा (प्राणान्) प्राणों को (व्यपरोपयति) नष्ट करता है (तस्य) उसके (आत्मवधः सत्यं स्यात्) आत्मवध वास्तव में होता है।

टीकार्थ - जो पुरुष कषाययुक्त होकर पेट में श्वास को रोककर, नदी, समुद्र आदि में गिरकर, अग्नि, विष, तलवार, छुरी आदि से आयु इन्द्रियादि दश प्राणों का घात करता है उस पुरुष के नियम से आत्मघात होता है ॥१७८॥

उत्थानिका - अहिंसा धर्म की प्रसिद्धि के लिए सल्लेखना व्रत का कथन किया है -

अन्वयः - अत्र हिंसायाः हेतवः कषायाः यतः तनुताम् नीयन्ते ततः सल्लेखनामपि अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं प्राहुः॥

अन्वयार्थ - (अत्र) सल्लेखना में (हिंसायाः हेतवः कषायाः) हिंसा की कारणभूत कषायें (यतः तनुताम्

श्वास रोक, जल अग्नि से, विष खा, फन्दन डाल।
मरना आतमघात है, जो डरता वह बाल ॥१७८॥
सल्लेखन व्रत में यतः, घटती जाय कषाय।
अतः अन्त में मरण के, भाव अहिंसा बढ़ाय ॥१७९॥

मं. टी. - नीयन्तेत्यादि - यतः यस्माद्हेतोः। अत्र सल्लेखनायां। नीयन्ते यान्ति ''णीञ् प्रापणे'' लट्। काम्? तनुतां सूक्ष्मतां। के ते ? कषायाः क्रोधादयः। कथम्भूताः ? हिंसाया हेतवः हिंसापर्यायाः। ततः तस्माद् हेतोः। प्राहुः वदन्ति। काम् ? सल्लेखनां समाधिमरणं। किमर्थम् ? अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं अहिंसाधर्मस्य विस्तारार्थम्। अर्थात् कषाया एव हिंसा हिंसानिवृत्तौ अहिंसाप्रवृत्तिः। सल्लेखनाविधाने सर्वं सुघटम्॥१७९॥

सप्तशीलव्रतपरिपालनफलमत्राभिष्टौति -

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।

वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः॥१८०॥

मं. टी. - इतीत्यादि -यः देशव्रती। पालयति समाचरति ''पाल रक्षणे च'' लट्। कानि च तानि ? सकलशीलानि गुणदेशव्रतानि सल्लेखनासहितानि। सततं अनवरतम्। किमर्थं ? व्रतरक्षार्थं पञ्चाणुव्रतमहिंसाव्रतं वा व्रतं तस्य रक्षार्थं परिवर्धनार्थं। तं देशव्रतिनं। वरयति स्वीकरोति ''वर ईप्सायां'' लट्। कथं ? स्वयमेव परप्रेरणां विना। का सा ? शिवपदश्रीः शिवः मोक्षः चोक्तं -

---

नीयन्ते) क्योंकि सूक्ष्म की जाती हैं (ततः सल्लेखनामपि) इसलिए सल्लेखना भी (अहिंसाप्रसिद्ध्यर्थं प्राहुः) अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए है, ऐसा कहते हैं।

टीकार्थ - सल्लेखना में क्रोधादि कषायें कृश की जाती हैं, क्योंकि वे हिंसा की पर्यायें हैं। अहिंसा की प्रसिद्धि के लिए समाधिमरण का विधान सुघट ही है। अर्थात् कषाय ही हिंसा है और हिंसा की निवृत्ति के लिए समाधि का कथन अच्छी तरह से घटित होता है ॥१७९॥

उत्थानिका - सात शीलव्रतों के पालन का फल कहते हैं -

अन्वयः - इति यः व्रतरक्षार्थं सकलशीलानि सततं पालयति तं शिवपदश्रीः उत्सुका पतिंवरा इव स्वयमेव वरयति ॥

अन्वयार्थ - (इति) इस प्रकार (यः) जो (व्रतरक्षार्थं) व्रतों की रक्षा के लिए (सकलशीलानि) समस्त शीलों का (सततं पालयति) निरन्तर पालन करता है (तं) उस पुरुष को (शिवपदश्रीः) मोक्षलक्ष्मी (उत्सुका) उत्सुक होती हुई (पतिंवरा इव) पति को वरण करने वाली कन्या के समान (स्वयमेव वरयति) अपने आप ही वर लेती है ॥१८०॥

टीकार्थ - जो देशव्रती सात शीलों को अर्थात् तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का पाँच अणुव्रतों या अहिंसाणु व्रत की रक्षा के लिए पालन करता है, उस देशव्रती को मोक्षलक्ष्मी बिना प्रेरणा के अर्थात् अपने आप वरण कर लेती है।

इस विध जो सब शील को पाले व्रतरक्षार्थ।
शिव लक्ष्मी उसको स्वयं, वर ले करे कृतार्थ ॥१८०॥

शिवं परमकल्याणं निर्वाणं ज्ञानमक्षयम्।

प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः॥

तस्य पदं स्थानं तदेव श्रीर्लक्ष्मीः सा। कथम्भूता ? उत्सुका आकुलिता सती किमिव ? पतिंवरा इव पतिं वरयतीति पतिंवरा कन्या इवेति॥१८०॥

अधुना सम्यक्त्वमारभ्य सल्लेखनाव्रतपर्यन्तमतिचाराणां संख्याऽऽख्यायते-

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति।

सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः॥१८१॥

मं. टी. - अतिचारा इत्यादि -पञ्च पञ्च इति वीप्सानिर्देशस्तेन सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु च पञ्च पञ्च अतिचारा भवन्ति इति अमी सप्ततिः सङ्कलिताः समायान्ति। ते च कथम्भूताः ? यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनः यथाकथितशुद्ध स्वरूपदूषणकराः। तत एव हेया हातुं योग्याः॥१८१॥

''जिसने शिव को, परमकल्याण को, निर्वाण को, अक्षय ज्ञान को और मुक्ति पद को प्राप्त किया है वह शिव कहलाता है।''

जिस प्रकार आकुलित होती हुई वरने की इच्छा से कन्या पति को स्वीकार करती है उसी तरह सात शीलव्रतों का पालन करने वाले को मोक्षलक्ष्मी शीघ्रता से वरण करती है ॥१८०॥

उत्थानिका - अब सम्यक्त्व से लेकर सल्लेखना व्रत तक के अतिचारों की संख्या का कथन करते हैं -

अन्वयः - सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्च अतिचारा इति अमी सप्ततिः यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनः हेयाः ॥

अन्वयार्थ - (सम्यक्त्वे) सम्यक्त्व में (व्रतेषु) व्रतों में (शीलेषु) शीलों में, (पञ्च पञ्च) पाँच-पाँच (अतिचाराः) अतिचार होते हैं (इति अमी सप्ततिः) इस प्रकार से सत्तर अतिचार (यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनः) जैसी इन व्रत शीलों की आगम में शुद्धि कही है उसमें दोष लगाने वाले हैं इसलिए (हेयाः) छोड़ने योग्य हैं

टीकार्थ - पाँच-पाँच यह वीप्सा अर्थात् द्वित्व अर्थ में निर्देश हुआ है इसलिए सम्यक्त्व, व्रत और सात शीलों के पाँच-पाँच अतिचार होते हैं। इस प्रकार सब मिलाकर सत्तर अतिचार होते हैं। ये अतिचार यथाकथित शुद्ध स्वरूप में दोष करने वाले होने से छोड़ने योग्य हैं ॥१८१॥

समकित में व्रत शील में, पंच पंच अतिचार।
सत्तर सब मिल दोष को, तज मत सोच-विचार ॥१८१॥

सम्यक्त्वस्यातीचारानाह -

शङ्का तथैव कांक्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम्।

मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः॥१८२॥

मं. टी. - शङ्केत्यादि -अतीचाराः दोषाः। कस्य सम्यग्दृष्टेः वेदकसम्यग्दृष्टेः। उपशमक्षायिकसम्यक्त्वे किन्नस्युरिति चेत् न तयोर्हि तत्कारणानुपलब्धेः। किं तत् कारणम् ? सम्यक्त्वप्रकृतिसमुदय एव सम्यक्त्वं दूषयति शङ्कादिभावैः। न मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिमिश्रोदये तस्य सम्भावना तद्विराधनापत्तेः। न चाप्रत्याख्यानकषायोदयः शङ्कादिदोषकरस्तस्य तद्विषयेऽव्याप्रियमाणत्वात्। भवेत् क्षायिकसम्यक्त्वे निरतिचारवृत्तिरुपशमे तु न सम्भवेत् तत्प्रत्यनीकप्रकृतीनामुपलब्धेरिति कश्चित् ? तदपि न युक्तमुक्तम् उपशमसम्यक्त्वेऽपि क्षायिकसम्यक्त्ववद्विशदतासाम्यात्। क्षायिकसम्यग्दृष्टिरपि विषयसौख्यार्थं भूयो यतते दिग्विजयललितललनोद्वाह - भ्रातृकलहाद्यन्यथाऽनुपपत्तेरिति चेत्। तन्न दोषः, पुराकृतसुकृतपाकनियोगः किल भोगोपभोगः। सत्यपि तथा न

उत्थानिका - अब सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचारों का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - शङ्का तथैव कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टीनां संस्तवः मनसा तत्प्रशंसा च सम्यग्दृष्टेः अतीचाराः ॥

अन्वयार्थ - (शङ्का) जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित आगम में शंका करना, (तथैव कांक्षा) उसी प्रकार व्रतों से सांसारिक फल की वांछा करना, (विचिकित्सा) ग्लानि करना, (अन्यदृष्टीनां संस्तवः) मिथ्यादृष्टियों की स्तुति करना, (मनसा तत्प्रशंसा च) मन से उनकी प्रशंसा करना (सम्यग्दृष्टेः अतीचारा) ये सम्यग्दृष्टि के अतिचार हैं।

टीकार्थ -वेदक सम्यग्दर्शन अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के ये अतिचार होते हैं। उपशम और क्षायिक सम्यग्दर्शन में अतिचार क्यों नहीं होते ? नहीं होते हैं क्योंकि उन दोनों सम्यग्दर्शनों में अतिचार के कारण उपलब्ध नहीं होते हैं इसलिए उनमें अतिचार सम्बन्धी दोष उत्पन्न नहीं होते हैं।

शंका - अतिचार के कारण क्या हैं ?

समाधान - सम्यक्त्व प्रकृति का उदय ही शंकादि दोषों का कारण है। मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी कषाय और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय होने पर अतिचार नहीं होते क्योंकि इनका उदय होने पर तो सम्यग्दर्शन की विराधना ही हो जाती है और अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय शंकादि दोषों को उत्पन्न करने वाला नहीं होता है क्योंकि उस कषाय का उन अतिचारों के विषय में व्यापार ही नहीं होता है।

शंका - क्षायिक सम्यग्दर्शन में निरतिचार वृत्ति भले ही होवे लेकिन उपशम सम्यग्दर्शन में तो निरतिचार वृत्ति संभव नहीं होगी, क्योंकि उसकी विरोधी प्रकृति सत्ता में स्थित है ?

समाधान - आपका ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि उपशम सम्यग्दर्शन में भी क्षायिक सम्यक्त्व की तरह विशदता है इसलिए विशुद्धि की अपेक्षा दोनों समान हैं।

शंका कांक्षा औ घृणा, पर-मत-स्तुति गान।
मन से शंसा दोष पन, समदर्शन के मान ॥१८२॥

तत्त्वविषये स्वरूपादिविपर्यासबुद्धिः स्यात् तेन कांक्षादिदोषनुद्भूतिरेव। केनापि बाढं गाढोपसर्गेणान्यमतानुयायिकृतातिशयप्रकर्षेण तस्य मानसं विचलयितुं न शक्यते तेन संस्तवादिदोषप्रसङ्गोऽपि न प्रसज्यते। तस्माद्धि वेदकसम्यग्दृष्टेरेतेऽतीचारा इति सिद्धयन्ति। तत्स्वरूपमाह-शङ्का जिनोपदिष्टेऽहिंसास्वरूपे कर्मवैचित्र्ये सूक्ष्मजीवादिसंसरणे धर्मादिद्रव्ये रत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गे रुचिर्निरश्शङ्कितवृत्तिः। तस्याः क्वचित् कदाचिदभावः शङ्का। तथैव कांक्षा विषयभोगेषु मनोवाञ्छा। विचिकित्सा ग्लानिर्देहेकुष्ठादिरोगादन्तधावना-स्नानकारणोत्पन्नपूतिस्वेदमलालिप्ते स्वकीये परकीये वा पुरीषादिपदार्थे वा। अन्यदृष्टीनां स्याद्वाद-निर्ग्रन्थमतविरुद्धानाम्। संस्तवः सदसद्गुणोद्भावनं वचसा। तत्प्रशंसा तेषां शंसनं मनसा हावभावविलासोद्भावनं वा वपुषा। च समुच्चयार्थम्॥१८२॥

शंका - क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी विषयसुख के लिए बहुत प्रयत्न करता है जैसे - दिग्विजय, सुन्दर स्त्रियों के साथ विवाह करना, भ्रातृ कलह (भाई - भाई में झगड़ा) आदि विषयसुख के बिना उत्पन्न नहीं हो सकते हैं ?

समाधान - यह कोई दोष नहीं है, यह भोगोपभोग पूर्वकृत पुण्य कर्म के उदय का नियोग है। इन सबके होने पर भी तत्त्व के विषय में, आत्म स्वरूप आदि में विपरीत बुद्धि नहीं होती है, इसलिए कांक्षादि दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है।

घोर उपसर्ग और अन्य मतानुयायियों के प्रकर्ष अतिशय भी उसके मन को विचलित करने में समर्थ नहीं है, इसलिए उसको संस्तव आदि दोषों का प्रसंग संभव नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदक सम्यग्दृष्टि को ही ये अतिचार होते हैं अन्य को नहीं। अब उन अतिचारों का स्वरूप कहते हैं।

(१) शंका दोष - जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कथित अहिंसा के स्वरूप में, कर्म की विचित्रता में, सूक्ष्म जीवादि के संस्मरण में, धर्मादि द्रव्यों में, रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग में रूचि होना निश्शंकितवृत्ति है।

उस वृत्ति का क्वचित् कदाचित् अभाव होना शंका नामक अतिचार है।

(२) कांक्षा - पंचेन्द्रियों के विषयों में वाञ्छा होना कांक्षा नामक अतिचार है।

(३) विचिकित्सा - देह में कुष्ठादि रोग के होने पर, दन्त प्रक्षालन नहीं होने पर, अस्नान व्रत होने से उत्पन्न हुई दुर्गन्ध, पसीना आदि से अपना शरीर या पर का शरीर लिप्त होने पर अथवा विष्ठा आदि पदार्थों के देखने पर घृणा होना विचिकित्सा नाम का अतिचार है।

(४) अन्यदृष्टि संस्तव - स्याद्वाद निर्ग्रन्थ मत से विरुद्ध रहने वालों के सद् असद् गुणों को वचन से प्रकट करना अन्यदृष्टि संस्तव नामक अतिचार है।

(५) अन्यदृष्टि प्रशंसा - मन से उनकी प्रशंसा करना और शरीर से हाव-भाव विलास को प्रकट करना अन्य दृष्टि प्रशंसा नाम का अतिचार है ॥१८२॥

अथाहिंसाव्रतस्यातीचारानाचक्षते -

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य।

पानान्न्योश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति॥१८३॥

मं. टी. - छेदेनेत्यादि - अहिंसाव्रतस्य प्रथमाणुव्रतस्य। अतीचाराः इति शेषः। कति ? पञ्च। के ते इत्याह- छेदनताडनबन्धाः कर्णनासिकाद्यवयवानामपनयनं छेदनं, दण्डाङ्कुशकाष्ठपाषाणादिभिर्घातस्ताडनं वधो वोच्यते। स्वाभिप्रेतप्रदेशे बन्धनादगमनं बन्धः। समधिकस्य शक्त्यधिकस्य भारस्यारोपणं द्रव्यवहनम्। च समुच्चये। रोधो निषेधो वारणं वा। कयोः ? पानान्नयोः भोजनपानयोः। इति एवम्॥१८३॥

अथ सत्यव्रतस्यातीचारान्निरूपयन्ति -

मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।

न्यासापहारवचनं साकारकमन्त्रभेदश्च॥१८४॥

उत्थानिका - अब अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार कहते हैं -

अन्वयः - छेदनताडनबन्धाः समधिकस्य भारस्य आरोपणं च पानान्नयोः रोधः इति अहिंसाव्रतस्य पञ्च ॥

अन्वयार्थ - (छेदनताडनबन्धाः) पशुओं के नाक, कान, जीभ आदि का छेदना, लकड़ी आदि से ताड़ना-मारना और इच्छित स्थान में जाने से रोकना या बाँधना, (समधिकस्य भारस्य आरोपणं) शक्ति से अधिक भार लादना (च पानान्नयोः रोधः) अन्न और पानी भरपेट नहीं देना या समय पर नहीं देना (इति अहिंसाव्रतस्य पंच) ये अहिंसा व्रत के पाँच अतिचार हैं।

टीकार्थ - (१) कर्ण, नासिका आदि अवयवों का छेदना या काटना छेदन नाम का अतिचार है। (२) डण्डे, अंकुश, काष्ठ, पाषाण आदि के द्वारा मारना ताड़न (पीड़ित करना) नाम का अतिचार है।

(३) अपने इच्छित स्थान पर नहीं जाने देना बन्ध नाम का अतिचार है।

(४) शक्ति से अधिक भार लादना अतिभारारोपण नाम का अतिचार है।

(५) अन्न पान का निरोध करना, अन्नपाननिरोध नामक पाँचवाँ अतिचार है।

उत्थानिका - अब सत्यव्रत के अतिचारों का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यान कूटलेखकृती न्यासापहारवचनं साकारकमन्त्रभेदश्च ॥१८४॥

अन्वयार्थ - (मिथ्योपदेशदानं) झूठा उपदेश देना (रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती) एकान्त की गुप्त बात या

छेदन बंधन ताड़ना, अधिक भार आरोप।
अन्न पान को रोकना, आदिम व्रत को कोप ॥१८३॥
रहस कथन मिथ्या वचन, कूटलेख अघ कोष।
मन्त्र भेद धन अपहरण, सत्य विरति पन दोष ॥१८४॥

मं. टी. - मिथ्योपदेशेत्यादि - मिथ्योपदेशदानं रागेण वा दोषेण वा मोहेन वा गारवेण वाऽयथार्थतया वस्तुतत्त्वनिरूपणम्। अथवोपदेशदानान्तरं यथार्थावगमनान्मनसि स्वीकृतेऽपि तद्रूपेणैव पुष्टिकरणम्। रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती-रहसः एकान्तस्यानुष्ठितक्रियाविशेषस्य मिथो वार्तालापस्य गुप्तसंवादस्य वाऽभ्याख्यानं प्रकटीकरणं रहसोऽभ्याख्यानं। च कूटलेखकृतिः अन्येनानुक्तमननुष्ठितमपि प्रसङ्गमासज्याग्नौ घृतवत् तेनोक्तमनुष्ठितं वा वञ्चनाविद्वेषनिमित्तं लेखनकरणम्। तयोरितरेतरद्वन्द्वात् तथोक्तः। न्यासापहारवचनं द्रव्यनिक्षेप्तुर्विस्मृतसंख्यस्याल्पसंख्यं धनं द्रव्यं च गृहीतस्येवमेवेति स्वीकृतिवचनम्। साकारकमन्त्रभेदः प्रकरणवशादङ्गविकारभ्रूविक्षेपहस्तेङ्गितादिभिः पराभिप्रायं विज्ञाय श्रुतज्ञानेनाविष्करणम्। च समुच्चये॥१८४॥

इदानीमचौर्याणुव्रतस्यातीचार-प्ररूपणार्थमाह-

प्रतिरूपकव्यवहारःस्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।

राजविरोधातिक्रम-हीनाधिकमानकरणे च॥१८५॥

कार्य को प्रकट करना, झूठा लेख लिखना (न्यासापहारवचनं) धरोहर को हड़प जाना या हड़पने का वचन कहना (साकारकमन्त्रभेदश्च) काय की चेष्टाओं से जानकर दूसरों का अभिप्राय प्रकट करना ये सत्याणुव्रत के पाँच अतिचार हैं।

टीकार्थ - राग से, द्वेष से, मोह से अथवा गारव से वस्तुत्तत्व का विपरीत निरूपण करना **मिथ्योपदेश** है। अथवा उपदेश देने के बाद यथार्थ जानकारी मन में स्वीकार लेने पर भी गलत रूप से पुष्टि करना मिथ्योपदेश है। झूठा लेख आदि लिखना एकान्त में की गई क्रिया विशेष को, परस्पर के वार्तालाप को या गुप्त संवाद को प्रकट कर देना, **रहोभ्याख्यान** है। किसी अन्य के द्वारा न वैसा कहा गया, न किया गया फिर भी प्रसंग को पाकर अग्नि में घी की तरह, उसने ऐसा कहा है या किया है इस प्रकार छल से या द्वेष के निमित्त झूठा ही लिखना **कूटलेखकृति** है। धरोहर रखने वाला अपनी सम्पत्ति की संख्या भूल गया अथवा जितना रखा था उससे कम माँगने लगा तब सेठ ने कहा हाँ जितना रख गये थे उतना ले जाओ यह कहना **न्यासापहार** कहलाता है। प्रकरणवश अंग विकार, भ्रूविक्षेप, हस्तसंकेत आदि के द्वारा, श्रुतज्ञान से दूसरे के अभिप्राय को जानकर दूसरों में प्रकट करना **साकारमन्त्रभेद** कहलाता है। इस प्रकार सत्याणुव्रत के ये पाँच अतिचार हैं ॥१८४॥

उत्थानिका - अब अचौर्याणुव्रत के अतिचारों का कथन करते हैं -

अन्वयः - प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगः तदाहृतादानम् राजविरोधातिक्रमहीनाधिकमानकरणे च।

अन्वयार्थ - (प्रतिरूपव्यवहारः) असली वस्तु में नकली वस्तु मिला देना, (स्तेननियोगः) चोरी का उपाय बताना, (तदाहृतादानं) चोरों के द्वारा लाये हुए द्रव्य को ग्रहण करना, (राजविरोधातिक्रमहीनाधिकामनकरणे च) राजा के नियमों का उल्लंघन करना, नापने, तौलने के गज तराजू कम बढ़ रखना ये अचौर्यव्रत के पाँच **अतिचार** हैं।

हीनाधिक, मिश्रणकरण, हरण ग्रहण व उपाय।
राजनियम ध्यान दे, पन अतिचार बचाय ॥१८५॥

मं. टी. - प्रतिरूपकेत्यादि - प्रतिरूपकव्यवहारः- रूपकाः शुद्धाः स्वर्णघृतादयः, प्रतिरूपकाः समानवर्णस्पर्शगन्धरसवन्तः कृत्रिमाः पदार्थाः कथ्यन्ते। शुद्धवस्तुनि प्रतिरूपकं तत्सदृशं मेलयित्वा शुद्धवस्तुवद्व्यवहरणं वञ्चनाभावेन प्रतिरूपकव्यवहारः कथ्यते। स्तेननियोगः -चौर्यं कुर्वन्तं स्वयमेवाऽन्येन पुंसा वा मनसा वपुषा वचसा कृतकारितानुमोदनैर्वा प्रेरणम्। तदाहृतादानम्-योगत्रयेणाप्रेरिताननुमोदितेन तस्करेणानीतार्थस्यादानं ग्रहणम्। राजविरोधातिक्रमः राजनियमस्य विरोधेनोल्लंघेनोचितमूल्येनाप्यनुचित-द्रव्यादानप्रदानव्यवहारः। हीनाधिकमानकरणं मानोन्मानेन न्यूनं कृत्वा देयमन्यस्मै चाधिकं कृत्वा ग्राह्यं परैरिति। राजविरोधातिक्रमश्च हीनाधिकमानकरणं चेतरेतर-द्वन्द्वात् तथोक्तम्। च समुच्चये॥१८५॥

अथ ब्रह्मव्रतस्याअतीचारानाह -

स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम्।

अपरिगृहीतेतरयो-र्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च॥१८६॥

टीकार्थ - रूपक - शुद्ध स्वर्ण, घी आदि वस्तुएँ तथा प्रतिरूपक - समान वर्ण स्पर्श गन्ध रस वाली कृत्रिम वस्तुएँ प्रतिरूपक कहलाती हैं।

शुद्ध वस्तु में तत्समान वस्तु मिलाकर शुद्ध वस्तु की तरह व्यवहार करना अर्थात् वञ्चना भाव से उसे सही कहना **प्रतिरूपक व्यवहार** कहलाता है।

चोरी करने वाले को स्वयं अथवा अन्य पुरुष के द्वारा मन वचन काय से कृत कारित अनुमोदना से प्रेरणा करना **स्तेननियोग** कहलाता है।

तीनों योगों से न प्रेरित करना और न अनुमोदना करना किन्तु चोर के द्वारा चोरी करके लाई हुई वस्तु को ग्रहण करना **तदाहृतादान** कहलाता है । राज्य के नियम का विरोध या उल्लंघन करना, उचित मूल्य से भिन्न अनुचित लेन -देन का व्यवहार करना राजविरोधातिक्रम कहलाता है। गज-मीटर, तराजू से अन्य के लिए कम करके देना और दूसरों से अधिक लेना यह **हीनाधिकमान करण** कहलाता है॥१८५॥

उत्थानिका - अब ब्रह्मचर्य व्रत के अतिचार कहते हैं -

अन्वयः - स्मरतीव्राभिनिवेशः अनङ्गक्रीडा अन्यपरिणयनकरणं अपरिगृहीतेतरयोः इत्वरिकयोः गमने पञ्च ।

अन्वयार्थ - (स्मरतीव्राभिनिवेशः) काम भोगों में तीव्र इच्छा रखना (अनङ्गक्रीड़ा) निश्चित अंगो को छोड़कर अन्य अंगो से क्रीडा करना (अन्यपरिणयनकरणं) दूसरों का विवाह कराना (अपरिगृहीतेतरयोः) बिना व्याही और विवाही हुई (इत्वरिकयोः) व्यभिचारिणी स्त्रियों से (गमने) सम्बन्ध रखना (पञ्च) ये ब्रह्मचर्य व्रत के पाँच अतिचार हैं।

काम लालसा परिणयन, करण रमें अन-अंग।
सधवा विधवा पुंश्चली, ब्रह्मचर्य व्रत भंग॥१८६॥

मं. टी. -स्मरेत्यादि - स्मरतीव्राभिनिवेशः स्मरस्य कामस्य तीव्रः प्रवृद्धश्चासौ अभिनिवेशोऽभिप्रायस्तथोक्तः। स च ऋतुकालपर्वदिनतीर्थस्थानतीर्थयात्रादिप्रसङ्गेऽपि रिरंसया प्रदर्श्यते। अतिबालपुत्रीभगिनीदीक्षित-स्त्रीतिर्यग्योनिपरिवारवनितादिषु गमनाभिप्रायोऽपि तथा कथ्यते। अनङ्गक्रीडा अङ्गाः मुख्यावयवाः योनिप्रभृतयः, न अङ्गा अनङ्गाः मुखादयस्तेषु क्रीडा केलिस्तथोक्ता। अन्यपरिणयनकरणं विवाहसम्मेलनं तथोच्यते। च समुच्चये। इत्वरिकयोः परान् पुरुषान् एति गच्छतीत्येवंशीला इत्वरी मता। ''स्त्रिण्णशजेष्टन्वरप्'' इति सूत्रात् इत्वरी पश्चात् कुत्सायां के कृते इत्वरिकाः तयोरिति। कयोस्तयोरितिचेदाह- अपरिगृहीतेतरयोः अपरिगृहीता अस्वामिका वाराङ्गनात्वेन पुंश्चलीभावेन वा परपुरुषगमनशीला, इतरा परिगृहीता एकपुरुषभर्तृका सधवा वा विधवा वा। अपरिगृहीता च इतरा च ते तयोर्गमने प्रभूतरागेणाङ्गनिरीक्षणसम्भाषणदुश्चेष्टिते। पञ्च अतीचाराः सन्तीत्यध्याहारः॥१८६॥

अथ परिग्रहपरिमाणव्रतस्याअतीचारानाह-

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधन-धान्यदासदासीनाम्।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रमाः पञ्च॥१८७॥

टीकार्थ - काम का तीव्र बढ़ा हुआ वेग स्मरतीव्राभिनिवेश कहलाता है। ऋतुकाल में, पर्व के दिनों में, तीर्थस्थान, तीर्थयात्रादि के प्रसंग में भी रमण करने की इच्छा होना, अथवा अतिबाल, पुत्री, बहिन, दीक्षित स्त्री, तिर्यञ्च योनि के जीवों में और परिवार की स्त्रियों आदि में गमन के अभिप्राय होना स्मरतीव्राभिनिवेश कहलाता है ।

योनि आदि मुख्य अवयवों को अंग कहते हैं और योनि आदि को छोड़कर मुखादि को अनङ्ग कहते हैं। उन मुखादि में क्रीडा करना अनङ्गक्रीड़ा कहलाती है। विवाह सम्मेलन आदि करना अन्यपरिणयनकरण कहलाता है। परपुरूष का सेवन करना जिसका स्वभाव है उसे इत्वरिका कहते हैं। 'न्स्त्रिण्णशजेष्टस्वरप्' इस सूत्र से इत्वरी बाद में कुत्सा अर्थ में क प्रत्यय होकर इत्वरिका शब्द सिद्ध होता है ।

अस्वामिका स्त्री अपरिगृहीता अर्थात् व्यभिचारी भाव से परपुरूष को सेवन करना जिसका स्वभाव है उसे अपरिगृहीता इत्वरिका कहते हैं।

एक पुरूष जिसका स्वामी है ऐसी सधवा अथवा विधवा स्त्री परिगृहीता कहलाती है। व्यभिचारी भाव से परपुरूष को सेवन करना जिसका स्वभाव है वह परिगृहीता इत्वरिका कहलाती है। इन दोनों प्रकार की स्त्रियों में प्रभूत राग से अंग निरीक्षण, संभाषण, दुश्चेष्टा आदि करना ब्रह्मचर्य व्रत के ये पाँच अतिचार हैं ॥ १८६॥

उत्थानिका - अब परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचार कहते हैं -

अन्वयः - वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनां अपि कुप्यस्य भेदयोः परिमाणतिक्रमाः पञ्च ॥

अन्वयार्थ - (वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनां) घर , खेत, सोना, चाँदी, गाय- भैंसादि, गेहूँ चनादि, नौकर, नौकरानी (अपि कुप्यस्य भेदयोः) कुप्य के दो भेद रेशमी वस्त्र और सूती वस्त्रादि (परिमाणतिक्रमाः पञ्च) इन सबके परिमाण का उल्लंघन करना परिग्रह परिमाण व्रत के पाँच अतिचार हैं ।

वास्तु क्षेत्र सोना रजत, वित्त धान्य परिमाण।
नौकर दासी भांड पट, अतिक्रम से व्रत हान ॥१८७॥

मं. टी. - वास्त्वित्यादि - परिमाणातिक्रमाः परिमाणस्य परिग्रहपरिमाणस्य अतिक्रमाः अतीचाराः। कति ? पञ्च। क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रममित्युक्तेः। क्वचिदतिक्रमातीचारयोर्भेदः स्वीक्रियते। तदपि न विरुद्धं, सूक्ष्मदोषप्ररूपणार्पणात्। के त इत्युच्यन्ते वास्तु गृहं। क्षेत्रं सस्याधिकरणं। अष्टापदं स्वर्णं। ''हेम चाष्टापदं स्वर्ण'' मित्यभिधानात्। हिरण्यं रूप्यदीनारपौण्डादि व्यापारद्रव्यं अथवा ''घटिताघटित स्वर्णरूप्ययो'' रिति वचनात् स्वर्णरूप्याणां कोषोऽक्षयद्रव्यं वोच्यते। धनं गवादि। धान्यं ब्रीह्याद्यष्टादशभेदम्। तथा चोक्तम्-

गोधूमशालियवसर्षपमाषमुद्गाः श्यामाककङ्गुतिलकोद्रवराजमाषाः।
कीनाशनालमरुवैढवमाढकी च सिंवाकुलत्थ चणकादिषु बीजधान्यम्॥

दासदासी भृत्यपुंस्त्री। वास्तु च क्षेत्रं च वास्तुक्षेत्रमित्येकम्, अष्टापदं च हिरण्यं चाष्टापदहिरण्यमिति द्वितीयं, धनं च धान्यं च धनधान्यमिति तृतीयं, दासदासीति चतुर्थम्। इतरेतरद्वन्द्ववृत्त्या प्रयुज्य वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधन-धान्यदासदासीनामिति। अथ पञ्चमोऽतिचारः प्राह-कुप्यस्य भेदयोः अपधातुवस्त्रयोः तत्र अपधातुर्हिरण्य-रजताभ्यामन्यस्ताम्रादिः, वस्त्रं क्षौमकार्पासकौशेयादि। अत्र भाण्डं किं न किलोक्तमितिचेत् ? न कुप्यभेदेऽन्तर्भावात्। वस्त्रग्रहणाद्धि वस्त्रपात्राद्यशेषवाणिज्यवस्तुसंग्रहो ग्राह्यः। अपि चैवमिति॥१८७॥

टीकार्थ - मन की शुद्धि की क्षति होने को अतिक्रम कहते है । कहीं -कहीं अतिक्रम और अतिचार में भेद किया गया है । सूक्ष्म दोष की प्ररूपणा की अपेक्षा वह भेद भी विरूद्ध नहीं है । यहाँ अतिचार को ही अतिक्रम कहा है ।

वास्तु गृह को कहते हैं। जिसमें फसल हो उसे क्षेत्र कहते हैं। अष्टापद स्वर्ण को कहते है। 'हेम अष्टापद स्वर्ण ' ऐसा शब्द कोश में कहा है । हिरण्य-चाँदी, दीनार, पौण्ड आदि व्यापार के द्रव्य है अथवा सोना और चाँदी का कोष अक्षय द्रव्य भी हिरण्य कहा जाता है।धन-गाय आदि। धान्य- ब्रीह्रादि । धान के अठारह भेद है , जैसे कहा है - ''गौधूम गेहूँ , शालि-धान, यव-जवा, सर्षप-सरसों, माष-उड़द, मुद्ग-मूँग, श्यामाक-समा, कङ्गु-तिल-तिली, कोद्रव-कोदो, राजमाषा, कीनाश-आढ की तुअर, सिंवा, कुलत्थ, चना आदि को धान्य कहते हैं । दासदासी, नौकर-नौकरानी। वास्तु आदि चार अतिचारों का इतरेतर योग द्वन्द्व समास किया है।

पञ्चम अतिचार कुप्य के भेद अपधातु और वस्त्र हैं-

सोना और चाँदी से भिन्न ताम्रादि को अपधातु और कार्पास कौशेय आदि को वस्त्र जानना चाहिए ।

शंका - यहाँ पर भाण्ड का उल्लेख क्यों नहीं किया ?

समाधान - नहीं किया, क्योंकि कुप्य के भेद में गर्भित हो गया है । वस्त्र के ग्रहण से वस्त्र पात्रादि सम्पूर्ण वाणिज्य वस्तुओं का संग्रह करना चाहिए । इन सबकी मर्यादा के विषय में मन की शुद्धि की क्षति होना अतिचार कहलाता है । इस प्रकार परिग्रह परिणाम व्रत के पाँच अतिचार हैं ॥१८७॥

अथ दिग्व्रतस्यातिचारान्निरूपयन्नाह -

ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम्।

स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य॥१८८॥

मं.टी. - **ऊर्ध्वमित्यादि** - ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः व्यतिक्रमशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते ऊर्ध्वव्यतिक्रमः अधस्ताद्व्यतिक्रमः तिर्यग्व्यतिक्रमश्चेति। क्षेत्रवृद्धिः लोभवशान् नियमितक्षेत्रस्य सीमाभिवृद्धिः। स्मृत्यन्तरस्य आधानं नियमितावधेर्विस्मृतस्याऽन्यथाकरणमभिवर्धनं वा। इति एवं प्रकाराः। प्रथमशीलस्य दिग्व्रतस्य। पञ्च गदिताः अतीचाराः इति शेषः॥१८८॥

एतर्हि देशव्रतस्याअतीचारानाह-

प्रेष्यस्य सम्प्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।

क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति॥१८९॥

उत्थानिका -अब दिग्व्रत के अतिचारों का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - ऊर्ध्व अधस्तात् तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिः स्मृत्यन्तरस्य आधानं इति प्रथमशीलस्य पञ्च गदिताः ॥

अन्वयार्थ -(ऊर्ध्व अधस्तात् तिर्यग्व्यतिक्रमाः) ऊपर नीचे और तिरछी दिशाओं की सीमा का उल्लंघन करना (क्षेत्रवृद्धिः) क्षेत्र की सीमा बढ़ा लेना (स्मृत्यन्तरस्य आधानं) की हुई मर्यादा को भूल जाना (इति प्रथमशीलस्य पञ्च गदिताः) इस प्रकार प्रथम शीलव्रत के अर्थात् दिग्व्रत के ये पाँच अतिचार कहे गये हैं ।

टीकार्थ - सूत्र में आए हुए व्यतिक्रम शब्द को प्रत्येक के साथ लगाना चाहिए । ऊर्ध्वव्यतिक्रम अधस्ताद्व्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम इत्यादि । क्षेत्रवृद्धि - लोभकषाय के वश मर्यादित क्षेत्र की सीमा बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है ।

स्मृत्यन्तराधान - की हुई मर्यादा को भूल जाना या अन्यथा करना , या सीमा बढ़ा लेना , स्मृत्यन्तराधान है। इस प्रकार प्रथम शीलव्रत दिग्व्रत के पाँच अतिचार हैं ॥ १८८॥

उत्थानिका - अब देशव्रत के अतिचार कहते हैं -

अन्वयः - प्रेष्यस्य सम्प्रयोजनं आनयनं शब्दरूपविनिपातौ पुद्गलानां क्षेपोऽपि इति पञ्च द्वितीय-शीलस्य॥

अन्वयार्थ - (प्रेष्यस्य सम्प्रयोजनं) मर्यादा के बाहर नौकर को भेजना, (आनयनं) मर्यादा के बाहर से वस्तु मँगाना (शब्दरूपविनिपातौ) शब्द सुनाना, रूप दिखाना (पुद्गलानां क्षेपेऽपि) कंकड़ पत्थर आदि का फेंकना भी

ऊर्ध्व अधः तिरछी दिशा, लंघन स्मृति-भंग।
क्षेत्र वृद्धि सीमा बढ़ी, दिग्व्रत होता भंग ॥१८८॥
सीमा बाहर भेजना, और मँगाना वस्तु।
शब्द रूप का पात वा, दोष पात है वस्तु ॥१८९॥

मं. टी. - प्रेष्यस्येत्यादि - द्वितीयशीलस्य देशव्रतस्य। पञ्च ''अतीचाराः सन्तीति'' शेषः। इति तदेवमाह। प्रेष्यस्य भृत्यस्यान्यजनस्य वा। संप्रयोजनं मर्यादाबहिः प्रेषणम्। आनयनं आनयेति समनुज्ञावचनं तस्य। शब्दरूपविनिपातौ शब्दः सीम्नो बहिःस्थितस्य खात्करणादिना संकेतस्तस्य विनिपातः करणं। रूपविनिपातः स्वशरीरं प्रदर्श्योपस्थितिज्ञापनं। शब्दविनिपातश्च रूपविनिपातश्च शब्दरूपविनिपातौ। अपि च। पुद्गलानां प्रस्तरादीनां क्षेपः प्रक्षेपणं॥१८९॥

अथानर्थदण्डव्रतस्यातीचाराः प्ररूप्यन्ते -

कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यं।

असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति॥१९०॥

मं. टी. - कन्दर्प इत्यादि - तृतीयशीलस्य अनर्थदण्डस्य। पञ्च ''अतीचाराः'' इति शेषः। तद्यथा कन्दर्पः रागोद्रेकात् प्रहासाद्दृहासयुक्तोऽसभ्यवाक्प्रयोगः। कौत्कुच्यं कन्दर्पसहितकायचेष्टितम्। भोगानर्थक्यं प्रयोजनीभूत-भोगोपभोगादाधिक्यम्। अपि च समुच्चये। मौखर्यं धृष्टतायुक्तानर्थकप्रलापः। असमीक्षिताधिकरणं असमीक्षिततया अविचारिततया अधिकरणं हीनाधिककार्यकरणम्। इति एवं प्रकारम्॥१९०॥

(इति पञ्च) इस प्रकार ये पाँच अतिचार (द्वितीय शीलस्य) द्वितीय शील अर्थात् देशव्रत के हैं।

टीकार्थ - प्रेष्यस्य - नौकर या अन्य पुरूष को मर्यादा के बाहर भेजना।

आनयन - आज्ञा देकर मर्यादा के बाहर की वस्तु को माँगना।

शब्द विनिपात - खाँसकर ध्वनि संकेत से अपना अभिप्राय यहीं बैठे-बैठे प्रकट करना।

रूपविनिपात - अपने शरीर को दिखाकर उपस्थिति ज्ञापित करना ।

पुद्गलक्षेप - मर्यादा के बाहर कंकड पत्थर आदि फेंक कर अपना अभिप्राय प्रकट करना। ये द्वितीय शील अर्थात् देशव्रत के पाँच अतिचार हैं ॥१८९॥

उत्थानिका - अब अनर्थदण्डव्रत के अतिचारों का वर्णन करते हैं।

अन्वयः - कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगनर्थक्यं अपि च मौर्खर्यं असमीक्षिताधिकरणं इति तृतीयशीलष्य पञ्च ॥

अन्वयार्थ - (कन्दर्पः) हास्य मिश्रित भंड अर्थात् काम के वचन बोलना, (कौत्कुच्यं) शरीर से कुचेष्टा करना, (भोगानर्थक्यं अपि) सीमा से अधिक भोगपभोग का संग्रह करना, (च मौखर्य) निष्प्रयोजन अधिक बोलना (असमीक्षिताधिकरणं) बिना विचारे कार्य करना (इति तृतीयशीलस्य पञ्च) इस प्रकार तृतीय शील अर्थात् अनर्थदण्ड व्रत के ये पाँच अतिचार हैं ॥

टीकार्थ - कन्दर्प - राग के उद्रेक से हास्य या अट्टहास से युक्त असभ्य वचन बोलना कन्दर्प है। कौत्कुच्य - कंदर्प के साथ शरीर की चेष्टा करना कौत्कुच्य है। भोगानर्थक्य - प्रयोजनभूत भोगपभोग से अधिक वस्तुओं को

व्यर्थ भोग वा योग वा, भंड वचन, बड़ बोल।
तन कुचेष्ट तज गुण बढ़ा, गुणव्रत यह अनमोल ॥१९०॥

अथ सामायिकव्रतस्यातीचाराः प्रोच्यन्ते-

वचनमनः कायानां दुःप्रणिधानं त्वनादरश्चैव।

स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य॥१९१॥

मं. टी. - वचनेत्यादि - चतुर्थशीलस्य सामायिकशिक्षाव्रतस्य। पञ्च ''अतीचाराः'' इत्यनुवर्तन्ते। तद्यथा- वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानं एतानि त्रीणि प्रणिधानमुपयोगः परिणामः इत्यनर्थान्तरम्। दुष्टं प्रणिधानं दुष्प्रणिधानम् तत्र अशुद्धार्थव्यञ्जनकवर्णप्रयोगसूत्कारादिकरणं वचनस्य दुष्प्रणिधानम्। मानखण्डनोत्पन्नसङ्कल्पविकल्पजालनिर्मापणं क्रोधावेशात्परस्याहितचिन्तनं कौटिल्यनीतिविचारणं ख्यातिपूजालाभाकांक्षासहितत्वं च मनोदुष्प्रणिधानम्। काकदृष्टिजंघाचालनोन्मादमुद्रावयवास्थिरता कायस्य दुष्प्रणिधानम्। तु अवधारणे। अनादरोऽनुत्साहः समयपूर्तिमात्रम्। चैव निश्चयेन। स्मृत्यनुपस्थानयुताः स्मृतेः चिन्तनध्यानविषयस्यानुपस्थानं विस्मरणमेकाग्रताऽभावात् तद्युक्ताः अतीचाराः इति विज्ञेयाः। स्मृत्यनुपस्थाने तु सच्चिन्तनमारभ्यापि पश्चाद्विस्मरणं भवति किन्तु मनोदुष्प्रणिधाने दुर्ध्यानं कषायाविष्टमार्तरौद्रपरिणमनमिति विशेषः॥१९१॥

रखना भोगनर्थक्य है। मौखर्य - धृष्टतापूवर्क अनर्थक प्रलाप करना मौखर्य है । असमीक्षिताधिकरण - बिना विचार किये काम करना। इस प्रकार ये तृतीय शील अर्थात् अनर्थदण्ड व्रत के पाँच अतिचार हैं ॥ १९०॥

उत्थानिका - अब सामायिक शिक्षाव्रत के अतिचार कहते हैं -

अन्वयः - वचनमनः कायानां दुःप्रणिधानं तु अनादरः च स्मृत्यनुपस्थानयुताः इति पञ्चैव चतुर्थशीलस्य।

अन्वयार्थ - (वचनमनः कायानां) वचन ,मन, और शरीर से (दुःप्रणिधानं) दुःप्रवृत्ति करना (तु अनादरः) और सामायिक में अनादर करना (च स्मृत्यनुपस्थानयुताः) सामायिक पाठ या समय आदि को भूल जाना (इति पञ्चैव चतुर्थशीलस्य) इस प्रकार पाँच ही अतिचार चतुर्थ शील अर्थात् सामायिक शिक्षाव्रत के हैं।

टीकार्थ - वचन, मन और शरीर का दुःप्रणिधान होना, इन तीनों अतिचारों के साथ दुःप्रणिधान लगाना चाहिए। प्रणिधान, उपयोग, परिणाम ये एकार्थवाची हैं। दुष्ट है प्रणिधान जिसका वह दुःप्राणिधान है। सामायिक के समय में अशुद्ध अर्थ , अशुद्ध व्यंञ्जन अर्थात कवर्ण आदि का प्रयोग करना तथा सूत्कार आदि करना वचन दुः प्रणिधान है। अपमान आदि से उत्पन्न होने वाले संकल्प विकल्पों के समूह को रचना और क्रोध के आवेश में दूसरों के अहित का चिन्तन करना, कुटिलनीति विचारना, ख्याति पूजा लाभ आकांक्षा से युक्त होना मनोदुःप्रणिधान है ।

कौए की तरह दृष्टि होना, पैर चलाना या हिलाना, उन्माद की मुद्रा होना, अवयवों में अस्थिरता होना, काय दुःप्रणिधान है।

सामायिक में उत्साह नहीं होना, समय पूर्ति मात्र करना, अनादर नाम का अतिचार है। चैव निश्चय अर्थ में आया है ।

वचन काय मन योग का, दुरूपयोग बिन भाव।
भूल समय की चित्त की, दोष पंच समभाव ॥१९१॥

अथ द्वितीयशिक्षाव्रतस्यातीचारा निगद्यन्ते -

अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः।

स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य॥१९२॥

मं. टी.- अनवेक्षितेत्यादि - उपवासस्य प्रोषधोपवासस्य। अतीचारा इति अनुवर्तनम्। के त इत्याह- अनवेक्षिताप्रमार्जितं चक्षुषाऽवधानतया जीवा अत्र सन्ति न वेति अवेक्षितं। न अवेक्षितं अनवेक्षितम्। मृदुनोपकरणेन जीवानां यत्प्रमार्जनं तत्प्रमार्जितम्। न प्रमार्जितं अप्रमार्जितम्। तदुभयं प्रतिषेधविशेषणं तथोक्तं। तदुभयविशेषणविशिष्टं आदानं कमपि वस्तुग्रहणं प्रथमोऽतिचारः। तदुभयविशेषणविशिष्टं संस्तरः प्रावरणादेरूपक्रमणं द्वितीयः। तथा उत्सर्गः अनवेक्षिताप्रमार्जिततया मूत्रपुरीषादेर्निक्षेपस्तृतीयः। स्मृत्यनुपस्थानं किं मयावश्यकं वन्दनादि कृतं न वेति विस्मरणं चतुर्थः। च समुच्चये। अनादरोऽक्षमक्षुत्तृषादिकारणादावश्यकेष्वनुत्साहो दिवारात्रिव्ययमात्रभावो वा॥१९२॥

चिन्तन - ध्यान के विषय को भूल जाना , एकाग्रता का अभाव होना , इन सबसे युक्त होना स्मृत्यनुपस्थान कहलाता है । स्मृत्यनुपस्थान में समीचीन चिन्तन प्रारम्भ करके बाद में भूल जाता है , किन्तु मनोदुष्प्रणिधान में दुर्ध्यान और कषाय से आविष्ट होकर आर्त रौद्र ध्यान में परिणमन करने लगता है, यह इन दोनों में विशेषता है। इस प्रकार चतुर्थशील सामायिक शिक्षाव्रत के पाँच अतिचार जानना चाहिए । अतिचार शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से लानी चाहिए ॥१९१॥

उत्थानिका - अब द्वितीय शिक्षाव्रत के अतिचार कहते हैं -

अन्वयः - अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरः तथा उत्सर्गः स्मृत्यनुपस्थानं अनादरः च पञ्च उपवासस्य ॥

अन्वयार्थ - (अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं) बिना देखे और बिना मार्जन किये वस्तु को ग्रहण करना (संस्तरः) बिना देखे शोधे स्थान में बिस्तर आदि बिछाना (तथा उत्सर्गः) तथा बिना देखे शोधे वस्तु रखना (स्मृत्यनुपस्थानं) प्रोषधोपवास की तिथि आदि भूल जाना (अनादरः च) उपवास में आदर नहीं होना (पञ्च उपवासस्य) ये पाँच प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार हैं ।

टीकार्थ - अनवेक्षिताप्रमार्जित आदान-चक्षु से अच्छी तरह देखना, जीव हैं या नहीं यह अवेक्षित है, अच्छी तरह नहीं देखना अनवेक्षित है। मृदु उपकरण से जीवों को प्रमार्जन करना वह प्रमार्जित है। प्रमार्जन नहीं करना अप्रमार्जित है। इन दोनों विशेषणों का जहाँ निषेध है वह अनवेक्षिताप्रमार्जित है और उन दोनों विशेषणों से विशिष्ट किसी भी वस्तु का ग्रहण करना **अनवेक्षिताप्रमार्जितादान** नामक प्रथम अतिचार है।

इन दोनों विशेषणों से विशिष्ट बिस्तर या उपकरण बिछाना या उठाना **अनवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तर** नामक

बिन देखे शोधे बिना, ग्रहण वस्तु, मल त्याग।
संस्तर बेमन, याद ना, पन व्रत मल तज जाग ॥१९२॥

अथ तृतीयशिक्षाव्रतस्यातिचारान् कथयन्ति -

आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रः सचित्तसम्बन्धः।

दुःपक्वोभिषवोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य॥१९३॥

मं. टी. -आहार इत्यादि - षष्ठशीलस्य भोगोपभोगपरिमाणव्रतस्य। पञ्च संख्यकं। अमी अतीचाराः सन्ति। तानाह - आहारो भोजनपानादिः। किं विशिष्टः ? सचित्तः सह चित्तेन जीवेन वर्तते यद्द्रव्यं तत्सचित्तमुच्यते तेन सचित्ताहारः प्रथमोऽतिचारः। हि निश्चयेन। सचित्तमिश्रः सचित्तद्रव्येषु व्यतिकीर्णो मिश्रो द्वितीयः। सचित्तसम्बन्धः सचित्तद्रव्यैः संश्लिष्टः आहारस्तृतीयोऽतिचारः। दुःपक्वः असम्यक्पक्वो हीनाधिकपक्व इत्यर्थः तद्विशिष्टः आहारः दुःपक्वाहारः इति तुरीयोऽतिचारः। चापि समुच्चये। अभिषवो द्रववृष्याहारः कथ्यते। तत्र नक्तमन्तिमप्रहरैः प्रक्लिन्नं भोजनं द्रवः स्यात्। तथेन्द्रियबलवर्धनोन्मादोत्तेजनप्रवणाहारो वृष्यः स्यात्। उभयप्रकाराहारसेवनाद् वातादिप्रकोपजठरपीडोदरकृमिशिरः - शूलादिरोगाः सम्भाव्यन्ते तस्मात्तेषां परिहार एव श्रेयानितिभावः॥१९३॥

द्वितीय अतिचार है। तथा बिना देखे शोधे स्थान में मलमूत्रादि का त्याग करना **अनवेक्षितप्रमार्जितोत्सर्ग** नाम का तृतीय अतिचार है। आवश्यक वन्दनादि, मैंने की या नहीं इस प्रकार भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान नाम का चौथा अतिचार है। भूख प्यास आदि के कारण से आवश्यकों में उत्साह नहीं होना, असमर्थ होना, दिन और रात्रि को व्यतीत करने मात्र का जहाँ भाव है वह अनादर नाम का पाँचवा अतिचार है। इस प्रकार ये प्रोषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार हैं। अतिचार शब्द की अनुवृत्ति पूर्व सूत्र से लानी चाहिए ॥१९२॥

उत्थानिका - अब तृतीय शिक्षाव्रत के अतिचार कहते हैं -

अन्वयः - हि सचित्तः आहारः सचित्तमिश्रः, सचित्तसम्बन्धः दुःपक्वः च अभिषवोऽपि अमी पञ्च षष्ठशीलस्य।

अन्वयार्थ - (हि) निश्चय से (सचित्तः आहारः) सचित्त आहार (सचित्तमिश्रः) सचित्त से मिला हुआ अहार (सचित्तसम्बन्धः) सचित्त से संबंधित आहार (दुःपक्वः) अच्छी तरह पका न हो , कम या अधिक पका हो (च अभिषवोऽपि) गरिष्ट आहार (अमी पंच) ये पाँच अतिचार (षष्ठशीलस्य) छठे शील अर्थात् भोगपभोग परिमाण व्रत के अतिचार हैं ॥

टीकार्थ - सचित्ताहार, जीवों के साथ जो द्रव्य है वह सचित्त है । आहार अर्थात् भोजन पानादि। उस सचित्त के साथ जो आहार है वह **सचित्ताहार** है। सचित्त द्रव्यों के साथ मिला हुआ आहार **सचित्त मिश्राहार** है। सचित्त द्रव्यों के साथ सम्बन्ध रखने वाला आहार है वह **सचित्त सम्बन्धाहार** है ।

जो भोजन अच्छी तरह से पका हुआ न हो, कम अथवा अधिक पक गया हो उससे विशिष्ट आहार को दुःपकवाहार कहते हैं ।

सचित्त भोज, मिश्रित रखा, वृष्य दुपक्वाहार।
भोग और उपभोग के, दोष पंच परिहार॥१९३॥

अथ तुरीयशिक्षाव्रतस्यातिचारान् प्रतिपादयन्ति -

परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।

कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने॥१९४॥

मं. टी. - परेत्यादि - परदातृव्यपदेशः परेण दात्रा दत्तदानार्पणं। अथवा परेण भृत्यादिना दापनं, मम कार्यो वर्तत इति भावात्। कथमित्यतीचारः ? स्वहस्तकरणीयक्रियायाः परेण कारितत्वाज्जीविकोपार्जनक्रियासंलग्न-मुख्यत्वादनादरत्वाच्च। काश्चित् क्रियाः स्वैरेव कार्यास्तत्फलस्यान्यथाऽघटनात्। तथा चोक्तं -

भोज्यं भोजनशक्तिश्च रतिशक्तिर्वरस्त्रियः।

विभवो दानशक्तिश्च स्वयं धर्मकृतेः फलम्॥

द्रव और वृष्य (**गरिष्ठ) आहार** को **अभिषव** कहते हैं। रात्रि के अन्तिम प्रहर में गलाया हुआ भोज्य पदार्थ द्रव कहलाता है तथा इन्द्रिय और बल को बढ़ाने वाला उन्माद उत्तेजना पैदा करने वाला आहार वृष्य आहार कहलाता है । द्रव अभिषव इन दोनों प्रकार के आहार के सेवन से वायु आदि का प्रकोप, पेटदर्द, पेट में कृमि (कीड़े) शिर :शूल आदि रोगों की उत्पत्ति की संभावना होती है। इसलिए इनका त्याग करना ही अच्छा है । यह कथन का तात्पर्य है । इस प्रकार षष्ठशील अर्थात् भोगपभोग परिमाण व्रत के ये पाँच अतिचार हैं ॥१९३॥

उत्थानिका - अब चतुर्थ शिक्षाव्रत के अतिचारों का वर्णन करते हैं -

अन्वयः - परदातृव्यपदेशः च सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने कालस्यातिक्रमणं च मात्सर्यं इति अतिथिदाने ॥

अन्वयार्थ - (परदातृव्यपदेशः) दूसरे से दान दिलवाना (च सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने) सचित्त पदार्थ में रखकर भोजन देना तथा सचित्त पदार्थ से ढका हुआ भोजन देना (कालस्यातिक्रमणं) काल का अतिक्रमण करना (च मात्सर्यं) और मात्सर्य रखना (इति अतिथिदाने) इस प्रकार अतिथिसंविभाग व्रत के ये पाँच अतिचार हैं ।

टीकार्थ - परदातृव्यपदेश - दूसरे दाता के द्वारा दी हुई वस्तु देना अथवा मुझे दूसरा काम है इस अभिप्राय से नौकर आदि से दिलवाना । शंका :- यह अतिचार कैसे हुआ ? समाधान :- जीविका उपार्जन की क्रिया में संलग्न होने की मुख्यता से अथवा अनादर भाव के कारण अपने हाथ से करने योग्य क्रिया दूसरे से करवाने के कारण यह अतिचार दोष है। कुछ क्रियायें अपने हाथ से करने पर ही फलवाती होती है अन्यथा फलप्राप्ति सम्भव नहीं है । जैसा कि कहा है -

---

तुम दे दो भोजन सचित, रखा ढका बिन काल।
ईर्ष्या से फिर दान दे, पंच दोष ये टाल ॥१९४॥

सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने सचित्तेऽप्रासुके पुष्पफलपत्रादौ निक्षेपः सचित्तनिक्षेपस्तेन सचित्तनिक्षिप्तवस्तुप्रदानं द्वितीयोऽतिचारः। तत्पिधानं सचित्तेनावृतं तद्वस्तुदानं तृतीयोऽतिचारः। सचित्तनिक्षेपश्च तत्पिधानं चेतरेतरद्वन्द्वात्तथोक्तम्। च समुच्चये। कालस्यातिक्रमणं अतिथेर्गृहागमनकालात् पूर्वं पश्चाद्वा प्रतिगृहणायोपस्थितिः। अथवा रुग्णक्षपकादिपात्रायैतस्यां वेलायां दानं दातव्यमिति विस्मरणम् अथवा किं वस्तु प्रथमं देयं किं च पश्चादिति विस्मृतिरनवबोधो वा। अथवा आहार्यवस्तुष्विदं दत्तं न वा दत्तमिति विस्मृतिः। कथमिति भवेत् ? अज्ञानाद्वा प्रमादाद्वाऽऽगतं प्रत्यादराभावाद्वाऽन्यपात्रव्यवस्थासंलग्नाद्वा। मात्सर्यं अन्यदातृदानगुणासहनं वाऽऽगतं प्रति मात्सर्यादुन्मनस्कतया प्रदानम्। चेति अतिथिदाने अतीचारा विज्ञेयाः इति शेषः॥१९४॥

अथ सल्लेखनाव्रतस्यातीचाराः समुच्यन्ते -

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च।

सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले॥१९५॥

''भोज्य पदार्थ और उनको पचाने की शक्ति, स्त्रियाँ और उनमें रमण करने की शक्ति, वैभव और उसको दान करने की शक्ति यह सब अपने किये हुए धर्म के फल से प्राप्त होती है। ''

अप्रासुक पुष्प फल पत्ते आदि में भोजन रखना सचित्तनिक्षेप है। उस सचित्त में रखकर वस्तु देना सचित्त निक्षेपाहार है।

सचित्त से ढ़की हुई वस्तु देना सचित्तपिधान आहार है।

सचित्तनिक्षेप और सचित्तपिधान का इतरेतर योग द्वंद्व समास है।

काल का अतिक्रमण करना - अतिथि के घर पर आने के समय से लेकर बाद तक अर्थात् पड़गाहन से पूर्ण आहार तक आहार पर्यंत तक दाता का उपस्थित रहना अनिवार्य है। अथवा रूग्ण, क्षपक आदिपात्र के लिए इस बेला में दान देना चाहिए, यह भूल जाना अथवा कौन सी वस्तु पहले देना चाहिए , कौनसी बाद में देना इसको भूल जाना अथवा भोज्य पदार्थो में से यह मैनें दिया, उसको भूल जाना। ऐसा क्यों होता है ?

अज्ञान से अथवा प्रमाद से , या आये हुए साधु के प्रति अनादर होने से या अन्य पात्र की व्यवस्था में संलग्न होने से काल का अतिक्रमण होता है । यह कालातिक्रमण नामक अतिचार है ।

अन्य दाता के गुण सहन नहीं होना , अथवा आये हुए साधु के प्रति मात्सर्य से या मन की खेदखिन्नता से दान देना मात्सर्य है । इस प्रकार अतिथि संविभाग व्रत के पाँच अतिचार जानने चाहिए ॥१९४॥

उत्थानिका - अब सल्लेखना व्रत के अतिचारों का वर्णन करते हैं :-

---

कांक्षा जीवन मृत्यु की, मित्रराग सुखचाह।
कर निदान सल्लेखना, अतीचार की राह ॥१९५॥

मं. टी. - जीवितेत्यादि - भवन्ति सन्ति। किं तत् ? एते अतीचाराः इत्यर्थः। कति ? पञ्च। क्व ? सल्लेखनाकाले समाधिसमये। तद्यथा जीवितमरणाशंसे जीवितं च मरणं च जीवितमरणे तयोर्विषयेऽऽशंसाऽऽकांक्षा तत्तथोक्तं। तत्र मनसि समधिकं जीवनेच्छा सल्लेखनामादायापि सुस्वास्थ्यादायुरधिकाच्छिष्यमोहादावश्यककार्यापूर्णाद्वा सम्भवेत्। मनसि शीघ्रं मरणेच्छा रोगासहनादुपचारकाभावादपवादादतिसंक्लेशाद्वा जायते। इति द्वौ अतिचारौ विज्ञेयौ। सुहृदनुरागः सुहृदां मित्राणां पांशुक्रीड़ापठनपाठनमनोरञ्जनसंकटभोजनादिकाले सदैव सहगामिनामनुभूतप्रीतिविशेषादेकदा दर्शनवार्ताकांक्षाऽनुरागस् तृतीयोऽतिचारोऽवसेयः। च समुच्चये। सुखानुबन्धः पूर्वकालानुष्ठितभोगानां स्मृतिसमन्वाहारश्चतुर्थः। सनिदानः आगामीकालभोगाकांक्षा निदानं तेन सहितः सनिदानः पञ्चमः। कथं निदानमतीचारमात्रमिति चेत्? निदानरहितः क्षपको जघन्येन द्वित्रिभवे चोत्कृष्टतया सप्ताटभवेषु मोक्षप्राप्तेः समर्थो भवतीतरथा कालाभिवर्धनात् सनिदानस्येति दोषादतिचारः॥१९५॥

अन्वय :- जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च सनिदानः एते पञ्च सल्लेखनाकाले भवन्ति।

अन्वयार्थ - (जीवितमरणाशंसे) जीने की आकांक्षा और मरने की आकांक्षा करना (सुहृदनुरागः) मित्रों में अनुराग करना, (सुखानुबंधश्च) सुखों का स्मरण करना, (सनिदानः) निदानबन्ध करना (एते पञ्च) ये पाँच अतिचार (सल्लेखनाकाले भवन्ति) सल्लेखना के काल में होते हैं ॥

टीकार्थ - जीवितमरणाशंसे - सल्लेखना का संकल्प लेकर भी स्वस्थ होने से , आयु अधिक होने से, शिष्यों के मोह से अथवा आवश्यक कार्यो की पूर्ति न होने से मन में अधिक जीने की इच्छा होना जीविताशंसा नामक अतिचार है। रोगों के सहन न होने से या डॉक्टर वैद्य आदि उपचारकों का अभाव होने से या अपवाद के भय से या मन में संक्लेश होने से मन में शीघ्र ही मरने की इच्छा होना **मरणाशंसा** नामक अतिचार है। ये दो अतिचार जानने चाहिए ।

मित्रों की प्रांशु क्रीड़ा, धूलि में साथ-साथ खेलते थे, साथ में पठन-पाठन, मनोरंजन, सुख-दुख में साथ रहते थे और भोजनादि के काल में सदैव सहगामी की अनुभूति के कारण प्रीतिविशेष से एक बार दर्शन या वार्तालाप की आकांक्षा का अनुराग होना **सुहृदनुराग** नाम का तीसरा अतिचार है । पूर्व काल में भोगे हुए भोगों का स्मरण करना **सुखानुबन्ध** नाम का अतिचार है । भविष्यकाल में भोगों की प्राप्ति हो ऐसी इच्छा रखना निदान नामक पाँचवा अतिचार है। निदान अतिचार कैसे हो सकता है ? निदान से रहित क्षपक जघन्य से दो तीन भवों में और उत्कृष्टता से सात आठ भवों में मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । तथा निदान से सहित जीव के संसार काल की वृद्धि होने से निदान अतिचार कहलाता है। इस प्रकार समाधिमरण के समय में पाँच अतिचार होते हैं ॥ १९५॥

अथ निरतिचारव्रतपालनफलमुपदशर्यन्नाह -

इत्येतानतिचारानपि योगी सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य।

सत्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात्॥१९६॥

मं. टी. - इत्येतानतिचारानपि इत्यादि - एति गच्छति प्राप्नोति ''इण् गतौ'' लट्। किं पुरुषार्थसिद्धिं सम्यक्पुरुषार्थस्य फलं। अचिरात् शीघ्रमेव। कोऽसौ ? योगी देशव्रती। किं कृत्वा ? सम्प्रतर्क्य समीचीनतया विचार्याऽनुचिन्त्य वा। कैः ? सम्यक्त्वव्रतशीलैः सम्यक्त्वं च व्रतं च शीलं च सम्यक्त्वव्रतशीलानि तैः। कथम्भूतैः ? अमलैः निर्दोषैरिति। पुनश्च किं कृत्वा ? परिवर्ज्य। कान् ? एतान् अतिचारान् सप्ततिसंख्यकान् अपि। इति पूर्वोदितक्रमेण। ''इत्येतानतिचारानपरानपि संप्रतर्क्य परिवर्ज्य'' इति पाठोऽपि पठ्यते तेनान्यानपि अतिचारान् परिवर्ज्येत्यर्थः।

इति श्री अमृतचन्द्रसूरिविरचितपुरुषार्थसिद्धयुपायग्रन्थस्य मङ्गलाटीकायां देशचारित्रव्यावर्णनमुख्यतया पंचमोऽधिकारः अर्हत-संस्कृति संवाहकाचार्य विद्यासागरस्य शिष्येण मुनि प्रणम्यसागरेण समाप्तः।।

उत्थानिका - अब निरतिचारव्रत पालन करने का फल बताते हुए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - इति एतान् अतिचारान् अपि सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य अमलैः सम्यक्त्वव्रतशीलैः योगी अचिरात् पुरूषार्थ-सिद्धिं एति ॥

अन्वयार्थ - (इति एतान् अतिचारान् अपि) इस प्रकार इन अतिचारों को अर्थात् अतिक्रम व्यतिक्रम आदि दोषों को (सम्प्रतर्क्य) अच्छी तरह विचार कर (परिवर्ज्य) और इन्हें छोड़कर (अमलैः सम्यक्त्वव्रतशीलैः) निर्मल सम्यग्दर्शन पाँच व्रतों और सात शीलों के द्वारा (योगी) देशव्रती (अचिरात्) शीघ्र ही (पुरूषार्थसिद्धिं) पुरूषार्थ की सिद्धि को (एति) प्राप्त होता है।

टीकार्थ - जो देशव्रती अच्छी तरह से विचार कर निर्दोष सम्यग्दर्शन, पाँच व्रतों और सात शीलों का पालन करता है और पूर्वोक्त दोषों को अर्थात् सत्तर संख्या वाले अतिचारों को छोड़कर व्रतों का पालन करता है वह सम्यक् पुरूषार्थ सिद्धि के फल को प्राप्त होता है।

'इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य' यह पाठ भी कहीं -कहीं पढ़ने में आता है, उससे यह अर्थ निकलता है कि अन्य अतिचारों का भी त्याग करना चाहिए ।॥ १९६॥

विशेषार्थ - सम्यग्दर्शन के पाँच अतिचार, पाँच व्रतों के पाँच -पाँच अर्थात् पच्चीस अतिचार और सात शील व्रतों के पाँच -पाँच अतिचार अर्थात् पैंतीस व सल्लेखना के पाँच अतिचार इन सब को मिलाकर कुल सत्तर(५+२५+३५+५) अतिचार होते हैं ।

इस प्रकार श्री अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित पुरूषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थ की मंगलटीका में देश चारित्र के वर्णन की मुख्यता से पञ्चम अधिकार अर्हत-संस्कृति संवाहकाचार्य विद्यासागर के शिष्य मुनि प्रणम्य सागर द्वारा पूर्ण हुआ।

समकित में, व्रत, शील में सल्लेखन में दोष।
तजकर शिवपथ पे चलो, उन्नति का यह कोष ॥१९६॥

अथ सकलचारित्रव्याख्याने तपः करणार्थं प्रोत्साहयन्नाह -

चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम्।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः॥१९७॥

मं. टी. - चारित्रेत्यादि - गदितं कथितं। किं तत् ? तपोऽपि तप्यते कर्म निर्जरार्थमिति तपः। कथम्भूतं ? मोक्षाङ्गं मोक्षस्याङ्गमवयवः स्वरूपं वा यथा सम्यग्दृग्वृत्तज्ञानम्। क्व कथितम् ? आगमे अर्हता जिनेन्द्रभगवता प्रणीते सूत्रे। कुत्र दृश्यते तपो विधानं ''सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'' इत्यभिधानात् ? नैष दोषः सम्यक्चारित्रस्याङ्गत्वात्। यतस्ततः किं कार्यं ? निषेव्यं अनुष्ठेयं करणीयं। तदपि तपोऽपि। कैः ? समाहितस्वान्तैः समाहितं युक्तं च तत् स्वान्तं मनस्तैः प्रणिधानपूर्वकैरित्यर्थः। किं विशिष्टैः ? अनिगूहितनिजवीर्यैः अनिगूहितं प्रकटीकृतमप्रच्छादितं वा निजं वीर्यं स्वशक्तिर्यैस्तैरिति॥१९७॥

उत्थानिका - अब सकलचारित्र के व्याख्यान में तप करने के लिए प्रोत्साहित करते हुए आगे का सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - चारित्रान्तर्भावात् तपः अपि आगमे मोक्षाङ्ग गदितं तदपि अनिगूहितनिजवीर्यैः समाहितस्वान्तैः निषेव्यम् ॥

अन्वयार्थ - (चारित्रान्तर्भावात्) सम्यक् चारित्र में गर्भित होने से (तपः अपि) तप को भी (आगमे मोक्षाङ्गं गदितं) आगम में मोक्ष का अंग कहा है इसलिए (तदपि) वह तप भी (अनिगूहितनिजवीर्यैः) अपनी शक्ति को नहीं छिपाने वाले, (समाहितस्वान्तैः) और मन को वश में रखने वाले पुरूषों के द्वारा (निषेव्यम्) सेवन करने योग्य है ॥

टीकार्थ - कर्मनिर्जरा के लिए जो तपा जाता है वह तप है । वह भी मोक्ष का अंग है। जैसे - सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र अंग हैं। ऐसा जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है । तप का विधान कहाँ पर किया है ? ''सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों की एकता मोक्ष का मार्ग है''। ऐसा तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है। सम्यक्चारित्र का अंग होने से वह तप भी सेवन करने योग्य है। किनके द्वारा तप किया जाना चाहिए ? अपनी शक्ति को छिपाये बिना सावधान चित्त वाले पुरूषों के द्वारा सेवन करने योग्य है , ऐसा कहा है ॥ १९७॥

मोक्ष अंग तप भी कहा, तप चरित्र का अंग।
यथाशक्तिमन साध के, साधक बन निःसंग ॥१९७॥

तत्स्वरूपं भेदप्ररूपणामुख्यतयाऽऽविष्कुर्वन्नाह -

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्यम्॥१९८॥

मं. टी. - अनशनेत्यादि - निषेव्यं आचरणीयं। किं तत् ? बाह्यं तपः षड्विधं अन्यलिङ्गिजनानुचरणान्निर्जराया अनियमाद् बाह्यद्रव्यत्यागमुख्यत्वाद्वा बाह्यमुच्यते। अनशनं संयमसिद्धयर्थं संसारशरीरभोगोदासीनाभिवृद्धयर्थं चतुर्विधाहारस्य सन्त्यजनमभिहितम्। चतुर्विधाहारत्यागस्तु प्रोषधप्रतिमायामपि कथितमिति चेत् ? न, प्रोषधप्रतिमावतस्तूपवासस्तद्व्रते गर्भितो भवति। तमाचर्यापि स्वशक्त्याऽन्यकाले भुक्तिपरित्यागोऽनशनम्। न चानशने भुक्तिमात्रपरित्यागः स्यादन्यथा लंघनप्रसङ्गात्। विषयकषायाणां प्रशमाय मुख्यप्रयोजनाय बाह्यमनशनं साहाय्यकम्। तथा चोक्तम् -

कषायविषयाहारत्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः॥

उत्थानिका - तप के स्वरूप और भेदों की प्ररूपणा की मुख्यता से कथन करते हैं -

अन्वयः - अनशनं अवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः कायक्लेशः वृत्तेः संख्या च इति बाहां तपः निषेव्यम् ॥

अन्वयार्थ - (अनशनं) चारों प्रकार के अहारों का त्याग अनशन है (अवमौदर्य) भरपेट आहार नहीं लेना , ऊनोदर है । (विविक्तशय्यासनं) ध्यान-अध्ययन की सिद्धि के लिए एकान्त में सोना- बैठना विविक्तशय्यासन है (रसत्यागः) रसों का त्याग करना (कायक्लेशः) शरीर को क्लेश देना (वृत्तेः संख्या च) वृत्ति परिसंख्यान करना (इति बाह्यां तपःनिषेव्यम्) ये छह प्रकार के बाह्या तप सेवन करने योग्य हैं ॥

टीकार्थ - बाह्या तप छह प्रकार के हैं। अन्य मत वाले भी बाह्या तप का आचारण करते हैं, तथा बाह्या तप से निर्जरा का नियम नहीं होता है , एवं बाह्या तप बाह्य द्रव्य के त्याग की मुख्यता से होता है इसलिए बाह्या तप कहा जाता है । संयम की सिद्धि के लिए , संसार शरीर और भोगों से उदासीनता की वृद्धि के लिए चारों प्रकार के आहार का त्याग करना अनशन तप कहलाता है ।

शंका - चारों प्रकार के आहार का त्याग तो प्रोषध प्रतिमा में भी कहा है ?

समाधान -नहीं , प्रोषध प्रतिमा वाले के तो उसके व्रत में अन्तर्भाव हो जाता है । उसका पालन करते हुए भी अपनी शक्ति के अनुसार अन्य काल में भी भोजन का त्याग करना अनशन तप है । अनशन में मात्र भोजन का त्याग नहीं होता, अन्यथा लंघन का प्रसंग आ जायेगा । विषयकषायों को शान्त करने का मुख्य प्रयोजन लिए बाह्या अनशन तप आवश्यक है । जैसा कि कहा है -

---

अनशन अवमोदर तथा, शयनाशन एकान्त।
नियति भोज, रस त्याग तन, क्लेश तपे मन शान्त ॥१९८॥

यद्यभ्यन्तरतपोवृद्धयर्थमिहलोकानपेक्षिकमनशनं तर्हि कार्यकारि मोक्षमार्गेऽन्यथाऽन्यलिङ्गित्वेनाविशेषता स्यात्। कथं संयमसिद्धिरनशनतपसीति चेत् ? तपो हि कुर्वतोऽपि समितिष्ववधानचित्तत्वदर्शनात्। अनशनमनुष्ठितस्य यदि सकलारम्भविरहस्यापि समितिषु यद्वा तद्वा प्रवर्तनं भवेत्तर्हि संयमस्यासिद्धिः स्यात्ततः संयमतपसोरपि भेदः स्पष्टः। कथञ्चिदनशनानेषणयोरपि भेदोऽवसेयः। भेदविज्ञानसिद्धस्य प्रमत्ताप्रमत्तस्याहारसेवनेऽप्यनेषणोऽवगन्तव्योऽशनाशा विरहितत्वात्।

जस्स अणेसणमप्पा तं पि तवो तप्पडिच्छगा समणा।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा॥

अवमौदर्यं यावता भोजनसेवनेन तृप्तिस्ततो न्यूनमभ्यवहरणम्। न हि पूर्णोदरे पानीयमात्रसेवने कृतेऽवमौदर्यं क्षुधाऽसहनात्तृप्तिदर्शनाच्च। ततो निराकुलज्ञानध्यानाय क्षुत्तृट्सहनाय मनोविजयायेदं तपोऽनुष्ठेयम्। वातादिदोषप्रशमन-मवांछितस्यापि जायते तेन शरीरस्वास्थ्यं मनः प्रसत्तिश्चान्यत् फलम्। विविक्तशय्यासनं विविक्ते एकान्ते शय्या शयनं च आसनमुपवेशनं च तथोक्तं। रसत्यागः षड्विधरसानां परित्यजनं रसनेन्द्रियविजयार्थम्। रसनेन्द्रियेविजये ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठा वाक्संयमो मनोनियमनञ्चाऽवश्यमेव। कायक्लेशः कामजननीस्पर्शेन्द्रियस्य कष्टप्रदानमिन्द्रियविषयविजयार्थमवसेयः।

''जहाँ पर विषयकषाय के साथ आहार का त्याग किया जाता है, उसे उपवास जानना चाहिए एवं मात्र आहार का त्याग करना लंघन कहा गया है''।

यदि इह लोक की अपेक्षा के बिना और अन्तरंग तप की वृद्धि के लिए अनशन किया जाता है तो वह मोक्षमार्ग में कार्यकारी है अन्यथा अन्य लिङ्गियों की तरह इसमें कोई विशेषता नहीं होती है ।

शंका - अनशन तप करने पर संयम की सिद्धि कैसे होती है ?

समाधान - तप करने वाले के भी निश्चय से समितियों में सावधान मन देखा जाता है । सकल आरम्भ का त्याग कर अनशन तप को करने वाले के यदि समितियों में यद्वा-तद्वा प्रवृत्ति होती है तो उसको संयम की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिए संयम और तप में स्पष्ट भेद है। कथञ्चित अनशन और अनेषण में भी भेद जानना चाहिए । भेदविज्ञान सिद्ध प्रमत्ताप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिराज के आहारसेवन करने पर भी आहार की आशा से रहित होने से अनेषण तप जानना चाहिए ।

''जिसकी आत्मा आहार की इच्छा से रहित है, श्रमणों ने उसको भी तप के रूप में स्वीकार किया है । निराहार आत्मस्वाभाव को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने वाले श्रमणों के अन्य भिक्षा एषणा दोष से रहित होती है , इसलिए वे श्रमण अनाहारी है ''।

जितना भोजन करने से तृप्ति होती है उससे कुछ कम खाना अवमौदर्य तप है। भूख के सहन नहीं होने से भरपेट पानी का सेवन करने पर अवमौदर्य तप नहीं होता क्योंकि पानी मात्र से लेने से तृप्ति हो जाती है। इसलिए निराकुल ज्ञान ध्यान की सिद्धि के लिए , भूख प्यास की बाधा को सहन करने के लिए , मन पर विजय प्राप्त करने हेतु यह तप करना चाहिए। इस तप के करने से वातादि दोषों की शान्ति स्वयमेव हो जाती है । इससे शरीर स्वस्थ और मन प्रसन्न रहता है। यह अवमौदर्य तप का अतिरिक्त फल है। एकान्त में शयन और आसन लगाकर बैठना **विविक्तशय्यासन** तप है। रसना इन्द्रिय की विजय के लिए षड् रस का करना **रसपरित्याग** तप है। रसना इन्द्रिय

''शरीरमपि शोषयप्रथितकायसंक्लेशनैरिति'' वचनात्। च समुच्चये। वृत्तेः संख्या आशापाशनिरासार्थं सङ्कल्पविकल्पमनो-धर्मनिग्रहार्थञ्चेकागारादिविषये वृत्तेर्भोजनप्रवृत्तेः परिसमन्तात् संख्या मर्यादाकरणं वृत्तपरिसंख्यानमुच्यते॥१९८॥

अथान्तरङ्गतपः प्ररूपणायोच्यते -

विनयो वैयावृत्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।

स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति॥१९९॥

मं. टी. - विनय इत्यादि - निषेव्यं भवति सेवितुं योग्यो भवति। किं तत् ? अन्तरङ्गतपः षड्विधम्। तद्यथाविनयो मानस्याप्रदर्शनं मोक्षस्य प्रथमं सोपानं। वैयावृत्यं व्यापत्तिव्यपनोदार्थं गुणरागात् कायवाङ् मनोविधानैः खेदस्यापहरणमनवद्येनोक्तम्। प्रायश्चित्तं प्रमादजनितदोषपरिहरणम्। तथैव एवमेव। च समुच्चये। उत्सर्गः परद्रव्येषु देहमुख्येषु निर्ममत्वभावः। स्वाध्यायो मनोनिग्रहार्थमध्ययनम्। अथ तथा। ध्यानं एकाग्रचित्तता। इति एवं प्रकारम्॥१९९॥

को जीत लेने पर ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा अर्थात् निर्दोष ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, मन पर नियंत्रण अवश्य ही होता है । अतः इन्द्रिय विषयों पर विजय पाने के लिए कायक्लेश तप करना चाहिए । **विशिष्ट कायक्लेश से शरीर का भी शोषण करना चाहिए**। ऐसा आगम में कहा है ।

आशा की निवृत्ति के लिए , मन के संकल्प विकल्पों को रोकने हेतु भोजन के विषय में एक घर आदि की मर्यादा करना **वृत्ति परिसंख्यान तप** है ॥१९८॥

उत्थानिका - अब अन्तरंग तप की प्ररूपणा करते हैं -

अन्वयः - विनयः वैयावृत्यं प्रायश्चितं तथैव उत्सर्गः स्वाध्यायः अथ ध्यानं इति अन्तरङ्गं तपः निषेव्यं भवति ॥

अन्वयार्थ - (विनयः) विनय (वैयावृत्यं) वैयावृत्य (प्रायश्चित्तं) प्रायश्चित्त (तथैव उत्सर्गः) उसी प्रकार कायोत्सर्ग (स्वाध्यायः) स्वाध्याय (अथ ध्यानं) और ध्यान (इति) इस प्रकार (अन्तरङ्ग तपः निषेव्यं) अन्तरङ्ग तप सेवनीय (भवति) है ॥

टीकार्थ - मान कषाय का अभाव होना **विनय** तप है। यह मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी है । गुणों में अनुराग होने से मन वचन काय से विपत्ति को दूर करना **वैयावृत्ति** तप है अर्थात् निर्दोष रीति से खेद का अपहरण करना वैयावृत्ति है। प्रमाद से उत्पन्न दोषों का परिहार करना **प्रायश्चित** तप है । शरीर की मुख्यता वाले पर द्रव्यों में ममत्व छोड़ना उत्सर्ग अर्थात् **कायोत्सर्ग** नामक तप है। मन का निग्रह करने के लिए अध्ययन करना स्वाध्याय नामक तप है । एक विषय में चित्तवृत्ति को रोकना **ध्यान** तप है । इस प्रकार छह प्रकार के अन्तरंग तप सेवन करने योग्य हैं ॥१९९॥

प्रायश्चित, सेवा विनय, ज्ञान ध्यान व्युत्सर्ग।
अंतरंग तप भेद छह, कर इनका संसर्ग ॥१९९॥

अथ गृहमेधिनामपि यतिधर्मः पालयितव्य इत्युपदिशति -

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।

सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि॥२००॥

मं. टी. - जिनपुङ्गवेत्यादि - यदुक्तं यत्कथितं। किं तत् ? आचरणं चारित्रपालनविधानम्। केषाम् ? मुनीश्वराणां निर्ग्रन्थानां यतीनाम्। क्व ? जिनपुङ्गवप्रवचने जिनेषु गणधरदेवेषु तेषां पुङ्गवः प्रधानं श्रेष्ठो वा तीर्थंकरः सयोगिकेवली तस्य प्रवचने दिव्यध्वनिना प्ररूपणे। एतदपि यतिचरित्रं। निषेव्यं सेव्यमाचरणीयं वा। किं कृत्वा ? सुनिरूप्य समालोच्य सुविचार्य। काम् ? निजां पदवीं स्वकीयां प्रतिमां। च तथा। शक्तिं निजां स्वशक्तिम् निरूप्येत्यर्थः॥२००॥

अथ तेषामावश्यकप्ररूपणार्थमाह-

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।

प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्तव्यम्॥२०१॥

उत्थानिका - गृहस्थों को भी मुनिधर्म का पालन करना चाहिए , यह उपदेश देते हैं -

अन्वयः - जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यत् आचरणं उक्तं एतत् अपि निजां पदवीं च शक्तिं सुनिरूप्य निषेव्यम् ॥

अन्वयार्थ -(जिनपुङ्गवप्रवचने) जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित शास्त्र में (मुनीश्वराणां) मुनियों का (यद् आचारणं) जो चारित्र (उक्तं) कहा गया है (एतत् अपि) यह भी (निजां पदवीं) अपनी पदवी को (च शक्तिं) और अपनी शक्ति को (सुनिरूप्य) अच्छी तरह विचार करके (निषेव्यं) सेवन करने योग्य है ॥

टीकार्थ - चारित्र पालन का विधान आचरण है। गणधर देव जिन हैं। उनमें भी प्रधान अथवा श्रेष्ठ तीर्थंकर सयोग केवली हैं। उनकी दिव्यध्वनि ही प्रवचन है । दिव्यध्वनि की प्ररूपणा में निग्रन्थ मुनियों का जो चारित्र कहा है वह चारित्र अपनी पदवी अर्थात् प्रतिमा को और अपनी शक्ति को देखकर सेवन करने योग्य है ॥२००॥

उत्थानिका - अब मुनियों के षड् आवश्यकों की प्ररूपणा करते हैं -

अन्वयः - समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणं प्रत्याख्यानं वपुषः व्युत्सर्गश्च इति इदं आवश्यकं षट्कं कर्त्तव्यम् ॥

अन्वयार्थ - (समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणं) समता, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण (प्रत्याख्यानं) प्रत्याख्यान (वपुषो व्युत्सर्गश्च) कायोत्सर्ग (इति इदं आवश्यकंषट्कं) इस प्रकार ये छह आवश्यक (कर्त्तव्यम्) करने चाहिए ॥

जिनशास्त्रों में जो कहा, मुनिवर का चारित्र।
निज मन बल को देखकर, धारो भव्य पवित्र ॥२००॥
समता थुति प्रभु-वंदना, प्रतिक्रम प्रत्याख्यान।
तन ममत्व का त्याग ही, छह आवश्यक जान ॥२०१॥

मं. टी. - इदमेत्यादि - कर्तव्यं अनुष्ठेयम्। किं तत् ? इदमावश्यकषट्कं एतत् षड्विधं अवशिना मुनिना यत्कृतं तदावश्यकमुच्यते तद्यथा- समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणं तत्र समता मोहक्षोभरहितात्मपरिणामः। स्तवः चतुर्विंशति-तीर्थंकराणां स्तुतिः सहस्रनामोच्चारणं वा। वन्दना एकतीर्थकरनिबद्धा चैत्यपञ्चमहागुरुभक्त्या स्फुरितशब्दा वा। प्रतिक्रमणं पूर्वकृतदोषनिराकरणम्। प्रत्याख्यानं आगतकालदोषत्यागः। वपुषो व्युत्सर्गः कायोत्सर्गो जिनगुणचिन्तनमात्मचिन्तनं वा विधाय देहममत्वनिरासः। च समुच्चये। इति एवं प्रकारम्॥२०१॥

अथ त्रिगुप्तिस्वरूपमपि समासेनावगन्तव्यमिति प्रेरयति -

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम्॥२०२॥

मं. टी. - सम्यगित्यादि - अवगम्यं ज्ञातव्यं। किं तत् ? गुप्तीनां त्रितयं पापादात्मानं गोपनं रक्षणं गुप्तिः अथवा येनात्मा पापाद् गोप्यते सा गुप्तिः। तत्त्रिविधं भवति मनोवाक्कायभेदात्। तत्र वपुषः शरीरस्य सम्यग्दण्डः समीचीनतवा दण्डनमङ्गोपाङ्गानां चलननिरोधनं कायगुप्तिरिष्यते। तथा च एवमेव। वचनस्य सम्यग्दण्डः विकथारूपवचनप्रवृत्तिरोधनं मौनं वा वचोगुप्तिरभिलप्यते। मनसः सम्यग्दण्डः चतुःसंज्ञाऽऽर्तरौद्रध्याननिषेधतया मनोगुप्तिरीर्यते। दण्डनं दण्डो निरोधो वाऽवसेयः॥२०२॥

टीकार्थ - मोह और क्षोभ से रहित आत्म परिणाम को समता कहते हैं । चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति अथवा सहस्रनाम का पाठ करना स्तवन है । एक तीर्थंकर की भक्ति या चैत्य भक्ति, पंचमहागुरू भक्ति करना वन्दना है । पूर्वकृत दोषों का निराकरण करना प्रतिक्रमण है। भविष्यकाल में होने वाले दोषों का त्याग करना प्रत्याख्यान है । जिनगुण चिन्तन करना या आत्म चिन्तन के काल में शरीर के प्रति ममत्व बुद्धि का त्याग करना व्युत्यर्ग है या कायोत्सर्ग है । इस प्रकार मुनि के द्वारा जो अवश्य करने योग्य होते हैं उन्हें आवश्यक कहते हैं । ऐसे इन छह आवश्यकों को अवश्य ही करना चाहिए ॥२०१॥

उत्थानिका - अब संक्षेप में तीन गुप्तियों के स्वरूप को जानना चाहिए ,इसके लिए प्रेरित करते हैं -

अन्वयः - वपुषः सम्यग्दण्डः तथा वचनस्य च सम्यग्दण्डः मनसः सम्यग्दण्डः गुप्तीनां त्रितयं अवगम्यं ॥

अन्वयार्थ - (वपुषः सम्यग्दण्डः) शरीर को अच्छी तरह वश में रखना (तथा वचनस्य च सम्यग्दण्डः) उसी प्रकार वचन को भी अच्छी तरह से वश में रखना (मनसः सम्यग्दण्डः) मन को भी अच्छी तरह वश में रखना (गुप्तीनां त्रितयं) ये तीन गुप्तियाँ (अवगम्यम्) अच्छी तरह जानना चाहिए ॥

टीकार्थ - जो पापों से आत्मा की रक्षा करे उसे गुप्ति कहते हैं अथवा जिससे आत्मा पाप से रक्षित हो वह गुप्ति है। वह गुप्ति मन वचन और काय के भेद से तीन प्रकार की है। शरीर को अच्छी तरह दण्डित करना अर्थात् शरीर के अंगोपांगो को हलन -चलन से अच्छी तरह रोकना काय गुप्ति है। इसी प्रकार विकथा रूप वचन की प्रवृत्ति को रोकना या मौन धारण करना वचन गुप्ति कहलाती है। चार संज्ञाओं और आर्त-रौद्र ध्यान का त्याग करना मनोगुप्ति कहलाती है ॥२०२॥

उत्थानिका - उसी प्रकार पाप से आत्मा की रक्षा के लिए समितियों का भी विधान जानना चाहिए -

---

मन की तन की वचन की, तीन गुप्तियाँ पाल।
आत्मा की रक्षक रहीं, तुम माता मैं बाल ॥२०२॥

तथा च समितिविधानमपि विज्ञेयमित्यावदेयन्नाह -

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक् ।

सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः॥२०३॥

मं. टी. - सम्यगित्यादि - सम्यग्गमनागमनं समीचीनोद्देश्यमार्गालोचनादिसहितं यद्गमनागमनं युगप्रमाण-भूमिं निरीक्ष्येरणमीर्या समितिः कथ्यते। सम्यग्भाषा कर्कशाकटुकापुरुषानिष्ठुरापरकोपिनी मध्यकृशातिमानिन्यनयंकरा-छेदंकरीभूतवधकारिणीति दशविधभाषाप्रयोगमावर्ज्य हितमितप्रियवचनात्मिकागमानुरूपा भाषासमितिरिष्यते। तत्र कर्कशा सन्तापकारी ''तूष्णीं भव'',''न किञ्चिज्जानासि'',''मूर्खोऽसि''। कटुका - उद्वेगकारिणी ''कृपणस्त्वं नीचस्त्वमिति।'' परुषा मर्मभेदिनी त्वमभव्यस्त्वमनेकदोषाकरोऽसीति। निष्ठुरा त्वामामूलं विनाशयामि मारयिष्यामि वेति। परकोपिनी परेषां कोपो रोषो वोत्पादिका तव ज्ञानमनर्थकरं किमनेन तपसा किं शिरोमुण्डनमात्रेण। मध्यकृशा अस्थिनां मध्यमपि कर्तनशीला येन हृदयक्षतिः स्यात्। अतिमानिनी आत्मनो महत्त्वाख्यापनम्। अनयङ्करा विद्वेषकरी कूटनीतियुक्ता।

अन्वयः - सम्यग्गमनागमनं सम्यभाषा तथा सम्यक् एषणा सम्यग्रनिक्षेपौ सम्यव्युत्सर्गः इति समिति : ॥

अन्वयार्थ - (सम्यग्गमनागमनं) अच्छी तरह देखभाल कर गमन आगमन करना (सम्यग्भाषा) हित, मित, प्रिय वचन बोलना (तथा सम्यग् एषणा) योग्य आहार ग्रहण करना (सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ) अच्छी तरह से देख भाल कर वस्तुओं को उठना रखना (सम्यग्व्युत्सर्गः) निर्जन्तु स्थान में मलमूत्रादि का विसर्जन करना (इति समितिः) इस प्रकार इन पाँच समितियों का पालन करना चाहिए।

टीकार्थ-ईर्या समिति -समीचीन उद्देश्य लेकर मार्ग में चार हाथ भूमि को देखकर जो गमनागमन किया जाता है वह ईर्या समिति कहलाती है।

भाषासमिति - कर्कश, कटुक, पुरूष, निष्ठुर, परकोपिनी, मध्यकृशा, अतिमानिनी, अनयंकरा, छेदंकरी, प्राणिवधकरी, इस तरह दस प्रकार की भाषा को छोड़कर, हित, मित, प्रियवचनात्मक, आगम के अनुरूप बोलना भाषा समिति कहलाती है।

(१) **कर्कश भाषा** - संतापकारी वचन कहना जैसे - तुम चुप रहो, तुम कुछ नहीं जानते हो, तुम मूर्ख हो, यह कर्कश भाषा है।

(२) **कटुक भाषा** - उद्वेग करने वाली जैसे - तुम कंजूस हो, तुम नीच हो इस प्रकार बोलना कटुक भाषा है।

(३) **पुरूष भाषा** - मर्मभेदी शब्द जैसे तुम अभव्य हो, तुम अनेक दोषों की खान हो, यह पुरूष भाषा है।

(४) **निष्ठुर भाषा** - जैसे तुम्हारा सत्यानाश कर दूँगा या जड़ से मिटा दूँगा अथवा तुम को जान से मारूँगा यह निष्ठुर भाषा है।

(५) **परकोपिनी भाषा** - दूसरों को रोष उत्पन्न करने वाली जैसे - तुम्हारा ज्ञान अनर्थों को करने वाला है, इस तप से क्या होगा, शिर मुँडाने मात्र से क्या होता है, यह परकोपिनी भाषा है।

सम्यक्भाषा गमन हो, ग्रहण विसर्ग व भुक्ति ।
सम्यक्तन मल छोड़ना, समिति पंच पथ-मुक्ति ॥२०३॥

छेदङ्करी ज्ञानतपःशीलादिगुणानामासादनाकरी सहसा परेषामसद्भूतदोषप्रकटनम्। भूतानां वधकरी प्राणवियोगकरी अथवा भूचाल इव वधकरी प्राणिनाम्। तथा सम्यक् एषणा भिक्षया षट्चत्वारिंशद्दोषान् परिहृत्य श्रावकगृहेऽशनमेषणा-समितिर्भाष्यते। सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ प्रत्यवेक्ष्य सम्प्रमार्ज्य कमपि वस्तु ग्रहणदानमादाननिक्षेपणसमितिराख्यायते। सम्यग्व्युत्सर्गः दिवा दिनकरालोके मलमूत्रादिकोत्सर्जनं व्युत्सर्गसमितिरुच्यते। सर्वत्र सम्यग्शब्दो लोकसत्कारख्यातिपूजालाभवाञ्छानिषेधार्थोऽवसेयः॥२०३॥

दशधर्माणां स्वरूपनिर्देशार्थमाह-

धर्मः सेव्यः क्षान्तिः मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।

आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति॥२०४॥

---

(६) **मध्यकृशा भाषा** - हड्डियों का मध्य भाग काटना जिसका स्वभाव है या जिससे हृदय की क्षति हो वह मध्यकृशा भाषा है।

(७) **अतिमानिनी भाषा** - अपना बड़प्पन बतलाना अतिमानिनी भाषा है।

(८) **अनयङ्करा भाषा** - विद्वेष करने वाली का कूटनीति से युक्त अनयङ्करा भाषा है।

(९) **छेदङ्करी भाषा** - ज्ञान, तप, शीलादिगुणों का आसादन करने वाली भाषा तथा सहसा दूसरों के असद्भूत दोषों को प्रकट करने वाली भाषा छेदंकरी भाषा है।

(१०) **भूतवधकरी भाषा** - जीवों के प्राणों का वियोग करने वाली अथवा भूकंप की तरह जीवों का वध करने वाली भाषा भूतवधकरी भाषा है।

एषणा समिति - छयालीस दोषों को टाल कर श्रावक के घर में आहार करना एषणा समिति कहलाती है।

आदान निक्षेपण समिति - अच्छी तरह देखकर और मार्जन कर किसी भी वस्तु को उठाना या रखना आदान निक्षेपण समिति कहलाती है।

व्युत्सर्ग समिति - दिन में सूर्य के प्रकाश में मलमूत्रादि का त्याग करना व्युत्सर्ग समिति कहलाती है।

सभी समितियों में सम्यक् शब्द लोकसत्कार, ख्याति, पूजा, लाभ, वांछा आदि के निषेध के लिए जानना चाहिए ॥२०३॥

उत्थानिका - अब दश धर्मों का स्वरूप बतलाते हैं -

अन्वयः - क्षान्तिः मृदुत्वं ऋजुता च शौचं अथ सत्यं आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागः च तपः च संयमः च इति धर्मः सेव्यः॥

क्षमा नम्रता सरलता, शौच सत्य निःसङ्ग।
संयम तप परित्याग औ, ब्रह्मचर्य वृष अङ्ग ॥२०४॥

मं. टी. - धर्म इत्यादि - सेव्यः भाव्यः आचरणीयो वा। कोऽसौ ? धर्मो दशलाक्षणिकः। तत्र प्रथमः क्षान्तिः क्षमा स्वस्तब्धतां विमुच्य परक्रोधाग्नेर्विध्यापनम्। एतया शत्रुरपि विजितो भवति। मृदुत्वं मृदोर्भावः स्वयं गुणाधिकोऽपि जिनगुणचिन्तनेन गारवनिरासः सकलवशीकरणमन्त्रः। ऋजुता प्रगुणता सरलता बालकवद्दोषनिवेदनात् परीक्षिता भवति। च समुच्चये। शौचं निर्लोभत्वं ख्यातिपूजालाभानपेक्षितत्वम्। अथ तदनन्तरम्। सत्यं धर्मिषु साधुवचनम्। संयमः प्राणिरक्षाप्रणिधानं। च तथा। तपः इहपरलोकैषणां विना तपश्चरणम्। च तथा। त्यागः इष्टमिष्टस्य प्रत्याख्यानम्। च समुच्चये। आकिञ्चन्यं परेषां स्वप्रभावे करणस्यानीहा। ब्रह्म वनितासु निःस्नेहता। इति एवं प्रकारम्॥२०४॥

अन्वयार्थ - (क्षान्तिः) क्षमा (मृदुत्वं) मार्दव (ऋजुता च) सरलता (शौचं) शौच अर्थात् लोभ का त्याग (अथ सत्यं) और सत्य (आकिञ्चन्यं) परिग्रह से रहितपना (ब्रह्म) ब्रह्मचर्य (त्यागः च) दान (तपश्च) तप (संयमश्च) संयम (इति धर्मः सेव्यः) इस प्रकार दशधर्म सेवन करने योग्य हैं।

टीकार्थ - दश धर्मों का पालन करना चाहिए। **उत्तम क्षमा** - अहंकार को छोड़कर अपनी और दूसरों की क्रोध रूपी अग्नि को शान्त करना **क्षमा** धर्म है। इससे शत्रु भी जीत लिया जाता है।

उत्तममार्दव - मृदुता का भाव मार्दव है। स्वयं गुणों में अधिक होने पर भी भगवान् के अनन्त गुणों का चिंतन करने से गारव का निरास होता है। नम्रता सब लोगों को वश में करने का वशीकरण मंत्र है।

उत्तम आर्जव - सरलता पूर्वक बालक की तरह अपने दोषों को प्रकट करना आर्जव धर्म है। च शब्द समुच्चयार्थक है।

उत्तम शौच - ख्याति पूजा लाभ की अपेक्षा के बिना लोभ कषाय का त्याग करना शौच धर्म है।

उत्तम सत्य - धर्मी जीवों के साथ सम्यक् वचन बोलना उत्तम सत्य धर्म है।

उत्तम संयम - जीवों की रक्षा में उपयोग होना उत्तम संयम धर्म है।

उत्तम तप - इह लोक और परलोक के सुख की आकांक्षा के बिना तपश्चरण करना तप धर्म है।

उत्तम त्याग - इष्ट और मिष्ट वस्तु का त्याग करना त्याग धर्म है।

उत्तम आकिञ्चन्य - अन्य को अपने प्रभाव में करने की इच्छा नहीं होना आकिञ्चन्य धर्म है।

उत्तम ब्रह्मचर्य - स्त्रियों में स्नेह का त्याग होना ब्रह्मचर्य धर्म है। इस प्रकार इन क्षमादि दश धर्मों का पालन करना चाहिए।

उत्थानिका - अब अनुप्रेक्षाओं की व्याख्या प्रारम्भ करते हैं -

अन्वयः - अध्रुवं अशरणं एकत्वं अन्यता अशौचं आस्रवः जन्म लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततं अनुप्रेक्ष्याः॥

इदानीमनुप्रेक्षां व्याख्यातुकाम आह -

अध्रुव-मशरण-मेकत्व-मन्यताशौचमास्त्रवो जन्म।

लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः॥२०५॥

मं. टी. - अध्रुवेत्यादि - अनुप्रेक्ष्याः भावनीयाः। क्व ? सततमनवरतम्। अध्रुवं संसृतिभोगशरीरसम्बन्धाना-मनित्यत्वम्। अशरणं अरक्षकं जन्ममरणात्। जन्म संसारभावना। एकत्वमात्मीयभावनामात्रम्। अन्यता आत्मनोऽ-न्यत्रानात्मीयता। अशौचं देहस्याशुचिताचिन्तनम्। आस्त्रवः पुण्यपापात्मकः। लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः तत्र लोकभावना त्रिलोकसंस्थानादिस्वरूपचिन्तनम्। वृषभावना अहिंसादिलक्षणे धर्मेऽनुरागता। संवरः ज्ञानस्य ज्ञाने भवनम्। निर्जरा एकदेशक्षयः कर्मणाम्। लोकादिनिर्जरापर्यन्तमितरेतरद्वन्द्वविधानेन समासिताः॥२०५॥

अन्वयार्थ - (अध्रुवं) अनित्यभावना (अशरणं) अशरणभावना (एकत्वं) एकत्वभावना (अन्यता) अन्यत्वभावना (अशौचं) अशुचि भावना (आस्त्रवः) आस्त्रव भावना (जन्म) संसार भावना (लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः) लोकभावना, धर्म भावना, बोधिदुर्लभ भावना, संवर भावना, निर्जरा भावना इस प्रकार (सततं अनुप्रेक्ष्याः) इन बारह भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए।

टीकार्थ - **अनित्य भावना** - संसार, शरीर और भोगों की अनित्यता का विचार करना अनित्य भावना है। **अशरण भावना** - इस जीव को जन्म और मरण के दुःखो से बचाने वाला कोई नहीं है, ऐसा विचार करना अशरण भावना है। **संसार भावना** - पंच परावर्तन रूप संसार में जीव अकेला ही परिभ्रमण करता है, ऐसा विचार करना संसार भावना है। **एकत्व भावना** - यह जीव अकेला ही जन्मता है अकेला ही मरण करता है और अकेला ही **सुख-दुःख** भोगता है, ऐसा विचार करना एकत्व भावना है। **अन्यत्व भावना** - जीव संसार के प्रत्येक पदार्थ से भिन्न है, अधिक क्या कहें, अपने शरीर से भी आत्मा पृथक् है ऐसा विचार करना अन्यत्व भावना है। **अशुचि भावना** -शरीर की अपवित्रता का विचार करना अशुचि भावना है। **आस्त्रव भावना** - संसारी जीव निरन्तर पुण्य और पाप कर्मों को ग्रहण करता है ऐसा चिन्तन करना आस्त्रव भावना है। **लोक भावना** - तीनों लोकों के आकार का चिन्तन करना लोक भावना है। **धर्मभावना** - अहिंसा लक्षण वाले धर्म में प्रीति करना धर्म भावना है। **संवर भावना** - ज्ञान का ज्ञान में प्रतिष्ठित होना या कर्मों के आगमन के रोकने का चिंतन करना संवर भावना है। **निर्जरा भावना** - कर्मों के एकदेश क्षय होने का चिंतन करना निर्जरा भावना है। **बोधि दुर्लभ भावना** - रत्नत्रय की दुर्लभता का विचार करना बोधिदुर्लभ भावना है। लोक भावना से निर्जरा भावना तक इतरेतर योग द्वंद्व समास किया गया है। इस प्रकार इन बारह भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करना चाहिए ॥२०५॥

अध्रव, अशरण, एकपन, अन्य, अशुचि, संसार।
आस्त्रव, संवर, निर्जरा, लोक बोधि, वृषधार ॥२०५॥

अथार्यात्रयेण परीषहान् कथयन्ति -

क्षुत्तृष्णा हिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम्॥२०६॥
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषद्या स्त्री॥२०७॥
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन॥२०८॥

मं. टी. - क्षुत्तृष्णेत्यादि - परिषोढव्याः सहनीयाः। काः ताः ? परीषहाः परि आ समन्तात् कष्टसहनम्। कति ? द्वाविंशतिः संख्यकाः। क्व ? सततं निरन्तरम्। अपि चैवम्। केन ? संक्लेशनिमित्तभीतेन संक्लेशो मानसिक-शारीरिककष्टस्तन्निमित्तात् कारणाद् यो भीतः त्रस्तस्तेन। किं विधिना ? संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशेन मुक्तं रहितं मनः

उत्थानिका - अब तीन आर्या छन्दों के द्वारा बाईस परीषहों का व्याख्यान करते हैं।

अन्वय - क्षुत्, तृष्णा, हिमं, उष्णं, नग्नत्वं, याचना, अरतिः, अलाभः, दंशो मशकादीनां, आक्रोशः, व्याधिदुःखं, अङ्गमलं, तृणादीनां स्पर्शः, अज्ञानं, अदर्शन तथा प्रज्ञा, सत्कारपुरस्कारः, शय्या, चर्य्या, वधः, निषद्या, च स्त्री एते द्वाविंशतिः परीषहाः सततं संक्लेशमुक्तमनसा, संक्लेशनिमित्तभीतेन परिषोढव्याः॥

अन्वयार्थ : - (क्षुत्) भूख (तृष्णा) प्यास (हिमं) शीत (उष्णं) गर्मी (नग्नत्वं) नग्नता (याचना) माँगना या चाहना (अरतिः) अरति (अलाभः) अलाभ (मशकादीनां दंशः) मच्छरादिकों का काटना (आक्रोशः) आक्रोश (व्याधिदुःखं) रोग का दुःख (अङ्गमलं) शरीर में मिट्टी, धूल आदि लगना (तृणादीनां स्पर्शः) तृणादि का स्पर्श (अज्ञानं) अज्ञान (अदर्शनं) अदर्शन (तथा प्रज्ञा) प्रज्ञा (सत्कारपुरस्कारः) सत्कार पुरस्कार (शय्या) शय्या (चर्या)चर्या(वधः) वध (निषद्या) बैठने में बाधा होना (च स्त्री) और स्त्री (एते द्वाविंशतिः परीषहाः) ये बाईस परीषह (सततं) निरन्तर (संक्लेशमुक्तमनसा) संक्लेश रहित मन से (संक्लेशनिमित्तभीतेन) संक्लेश के निमित्त अर्थात् संसार से भयभीत साधु को निरन्तर (परिषोढव्याः) सहन करने चाहिए।

टीकार्थ - सब ओर से आने वाले कष्टों को समता पूर्वक सहन करने को परीषह कहते हैं। इन बाईस परीषहों को निरन्तर संक्लेश के निमित्त अर्थात् मानसिक और शारीरिक सांसारिक कष्ट के भय से, संक्लेश रहित मन से

क्षुधा तृषा हिम शीत हो, नग्न याचना खेद।
कोप मशक गद लाभ ना तृण, अजान तन खेद ॥२०६॥
प्रज्ञाऽदर्शन शयन वध चर्या आसन नारि।
परिषह ये बावीस हैं, औ आदर-सत्कार॥२०७॥
बिना क्लेश मन में किये, सहन करो ये क्लेश।
ताकि मिलें जब क्लेश ये, मन ना हो संक्लेश ॥२०८॥

चित्तं तेन विशुद्धियुक्तमनसेत्यर्थः। अर्थात् परीषहैः सर्वे हि जना बिभ्यति स्वभावेन तथापि संक्लेशरहितोभूत्वा मार्गाच्यवननिर्जरार्थं सोढव्यमित्युक्तं भवति। के ते ? एते निर्दिष्टक्रमाः। तद्यथा - क्षुत् क्षुधासहनं। तृष्णा पिपासा-बाधासहनम्। हिमं अतिशीतसहनं। उष्णमग्निवदुष्णतासहनम्। नग्नत्वं यथाजातरूपकृतलज्जादिसहनम्। याचना आवश्यके सत्यप्ययाचितवृत्तिः। अरतिः निर्जनप्रदेशे उन्मनस्कतासहनम्। अलाभः चिरमाहारादिलाभस्य न भवनम्। मशकादीनां मक्षिकामत्कुणपिपीलिकादीनां दंशो दंष्ट्रः सहनम्। आक्रोशः परेषां क्रोधादिसहनम्। व्याधिदुखं शरीरे रोगोद्भवेन जातकष्टं सहनम्। अंगमलं दिगम्बरे शरीरे जल्लमल्ललेपसहनम्। च समुच्चये। तृणादीनां स्पर्शः तृणः आदिर्येषां कण्टकशूलनिशितमृत्तिकादीनां तेषां स्पर्शो निषद्यादिजनितवेदनासहनम्। अज्ञानं चिरकालप्रव्रजितेऽपि क्षयोपशमस्यावृद्धिः। अदर्शनं अन्यदर्शिनां सिद्धिप्रभावादिदर्शनेनापि जिनदर्शने चिरेण तपश्चरणाद्यनुष्ठितस्याश्रद्धानभावाभवनम्। तथा प्रज्ञा ज्ञानातिशयेऽपि निरभिमानता। सत्कार-पुरस्कारः सभादिषु सगुणस्यापि सम्मानसर्वाग्रकरणादिवचनप्रशंसाया अनुपलब्धेरप्यकश्मलमनोवृत्तिः। शय्या शयनपरीषहः। चर्या ईर्यापथगमनपरीषहः। वधः परैरसभ्यजनैः ताडनपीडनादिः। निषद्या उपवेशनम्। स्त्री वनितानां ललितस्मितहास-प्रशंसावचनमदमन्थरगतिविभ्रमकटाक्षादिदर्शनेऽप्यबाधितचित्तत्वम्॥ २०६-२०७-२०८॥

अर्थात् विशुद्ध मन से सहन करना चाहिए। चूँकि परीषहों से सभी लोग स्वभाव से ही डरते हैं, अतः संक्लेश से रहित होकर संवर के मार्ग से च्युत न हो जाँय इसलिए निर्जरा के लिए परीषहों को सहन करना चाहिए। उन परीषहों का क्रम इस प्रकार है :-

क्षुत् अर्थात् भूख की बाधा को सहन करना। **पिपासा** अर्थात् प्यास की बाधा को सहना।

शीत -अति ठण्ड की बाधा को सहन करना। **उष्ण** - अग्नि की तरह, भीषण गर्मी की बाधा को सहन करना।

नग्नत्व - यथाजात रूप होने से लज्जादि की बाधा को सहन करना। **याचना** - आवश्यक वस्तु की आवश्यकता होने पर भी याचना नहीं करना।

अरति - निर्जनस्थान में भी खेद खिन्न नहीं होना। **अलाभ** - कई दिनों तक आहार आदि का लाभ नहीं होने पर भी सहन करना। **दंशमशक** - मक्षिका, खटमल, चींटी आदि के काटने पर सहन करना। **आक्रोश** - दूसरों के क्रोधित होने पर समता रखना।

व्याधिदुःखं - शरीर में रोग के होने पर उस पीड़ा को सहन करना। **अङ्गमल** - निर्वस्त्र शरीर में धूल पसीना आदि के कष्ट को सहन करना। **तृणस्पर्श** - काँटा, तिनका-सुई, मिट्टी आदि के चुभने पर होने वाले कष्ट को सहन करना।

अज्ञान - चिरकाल से दीक्षित होने पर भी अपने में ज्ञान का विकास नहीं होने पर भी सहन करना। **अदर्शन** - अन्य मत वालों के सिद्धि, प्रभाव आदि के देखने पर जिनदर्शन में चिरकाल तक तपश्चरण आदि करने पर भी सिद्धि आदि नहीं होने पर अश्रद्धा भाव नहीं होना। **प्रज्ञा** - ज्ञान का अतिशय होने पर भी अहंकार नहीं होना।

सत्कार पुरस्कार - सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी प्रवचन सभा आदि में सम्मान न मिलने, अग्रणी न बनाने और प्रशंसा नहीं मिलने पर भी मन मलिन नहीं होना। **शय्या** - कंकरीली भूमि आदि में शयन करना।

चर्या - गमनागमन में पथ की बाधाओं को सहना। **वध** - असभ्य पुरूषों के द्वारा मारने पीटने आदि की बाधा को सहन करना। **निषद्या** - बैठने आदि से उत्पन्न पीड़ा को सहन करना। **स्त्री** - स्त्रियों के मनोहर मंदहास, प्रशंसा के वचन, मद मन्थर गति हाव-भाव कटाक्ष आदि दृष्टिगत होने पर भी मन विचलित नहीं होना।

इन बाईस परीषहों को समता पूर्वक सहन करना चाहिए ॥२०६-७-८॥

प्रतिक्षणमेकदेशेनापि रत्नत्रयपालनाय प्रोत्साहयन्नाह -

इति रत्नत्रयमेतत् प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।

परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता॥२०९॥

मं. टी. -इतीत्यादि - परिपालनीयं आचरणीयं। किं तत् ? इति एतत् रत्नत्रयं पूर्वकथितमिदं रत्नत्रयस्वरूपम्। प्रतिसमयं प्रतिक्षणम्। किं विशिष्टम् ? विकलमपि असम्पूर्णमपि एकदेशेनापीत्यर्थः। केन ? गृहस्थेन देशव्रतिना। कथम्भूतेन ? मुक्तिमभिलषिता निःश्रेयससुखमभिवाञ्छिता। कथम्भूतां मुक्तिं ? निरत्ययां अविनश्वरीम्। अनिशं सततमिति॥२०९॥

तदेकदेशव्रतमपि परिपूर्णतया पाल्यमित्युपदिशति -

बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।

पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम्॥२१०॥

उत्थानिका - एकदेश रत्नत्रय भी प्रति समय पालन करने का उपदेश देते हैं -

अन्वय - इति विकलमपि एतत् रत्नत्रयं प्रतिसमयं निरत्ययां मुक्तिं अभिलषिता गृहस्थेन अनिशं परिपालनीयं॥

अन्वयार्थ - (इति) इस प्रकार (विकलमपि) एकदेश भी (एतत् रत्नत्रयं) यह रत्नत्रय (प्रतिसमयं) प्रत्येक समय (निरत्ययां मुक्ति अभिलषिता गृहस्थेन) अविनाशी मुक्ति को चाहने वाले गृहस्थ के द्वारा (अनिशं) निरन्तर (परिपालनीयम्) अच्छी तरह पालन किया जाना चाहिए।

टीकार्थ - पूर्व में जिसका व्याख्यान किया गया है ऐसे रत्नत्रय का अविनाशी मोक्ष के अभिलाषी गृहस्थ को एकदेश भी प्रतिसमय पालन करना चाहिए ॥२०९॥

उत्थानिका - अणुव्रती को महाव्रती बनने की प्रेरणा -

अन्वयः - नित्यं बद्धोद्यमेन बोधिलाभस्य समयं लब्ध्वा च मुनीनां पदं अवलम्ब्य सपदि परिपूर्ण कर्त्तव्यम् ॥

अन्वयार्थ - (नित्यं बद्धोद्यमेन) सदा प्रयत्नशील पुरूष के द्वारा (बोधिलाभस्य समयं लब्ध्वा) रत्नत्रय की प्राप्ति का समय पाकर (च मुनीनां पदं अवलम्ब्य) मुनियों के पद को धारण कर (सपदि) शीघ्र ही (परिपूर्णं कर्त्तव्यम्) परिपूर्ण करना चाहिए।

मुनि का यद्यपि धर्म यह, श्रावक तुम भी धार।
यथाशक्ति तप पालके, हो जा भव से पार ॥२०९॥
विकल चरित जो धारते, सकल चरित नित चाह।
मौका पाके धार ले, कहाँ मिले फिर राह ॥२१०॥

मं. टी. - बद्धोद्यमेनेत्यादि - कर्त्तव्यं करणीयं। किं तत् परिपूर्णं रत्नत्रयस्य पूर्णता। कथं ? सपदि शीघ्रं। केन? बद्धोद्यमेन प्रयत्नपरेण। नित्यं सततं। किं कृत्वा ? लब्ध्वा सम्प्राप्य। किं ? समयं समयः कालोऽवसरो वा तम्। कालमवसरं वा। कस्य? बोधिलाभस्य रत्नत्रयस्य । च एवमेव। पुनश्च किं कृत्वा ? अवलम्ब्य आलम्बनं कृत्वा। किं ? मुनीनां पदं निर्ग्रन्थानां पदवीं। एतावता मुनिपदमङ्गीकारेण विना रत्नत्रयस्य पूर्णता न स्यादिति द्योतितम्॥२१०॥

इति श्री अमृतचन्द्रसूरिविरचितपुरुषार्थसिद्धयुपायग्रन्थस्य मङ्गलाटीकायां सकलवृत्तोत्साहनार्थं षष्ठोऽध्यायः प्रतिभास्थली प्रेरकः राचार्य विद्यासागरस्य शिष्येण मुनि प्रणम्यसागरेण समाप्तः।

टीकार्थ - सतत प्रयत्नशील पुरूष के द्वारा रत्नत्रय की प्राप्ति का अवसर पाकर मुनिपद धारण करके शीघ्र ही रत्नत्रय की पूर्णता करनी चाहिए। इससे यह सिद्ध हुआ कि मुनिपद धारण किये बिना रत्नत्रय की पूर्णता नहीं होती है, यह कथन का तात्पर्य है ॥२१०॥

इति - इस प्रकार श्री अमृतचन्द्र आचार्य द्वारा विरचित पुरूषार्थसिद्धियुपाय ग्रन्थ की मङ्गलाटीका में सकल व्रतों में उत्साह करने वाला छठा अधिकार प्रतिभास्थली प्रेरक आचार्य श्री विद्यासागर के शिष्य मुनि प्रणम्य सागर द्वारा पूर्ण हुआ।

अथापूर्णरत्नत्रयवतो व्रतिनः कर्मबन्धः स्यान्न वा, यदि स्यात्तर्हि स मोक्षदायी कथं भवेद् बन्धस्य संसृतिकारणत्वात्। यदि द्वितीयः पक्षः तन्न सम्भवेन् मोक्षप्रसङ्गादिति कश्चित् तन्निराकरणार्थमत्रोच्यते-

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।

स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥२११॥

मं. टी. - असमग्रमित्यादि- अस्ति भवति। कोऽसौ ? कर्मबन्धः ज्ञानावरणादीनां कर्मणां बन्धनं बन्धः। कस्य? असमग्रं रत्नत्रयं भावयतः अपूर्णरूपं सम्यग्दृग्ज्ञानचारित्रं धारयतः व्रतिनः इत्यर्थः। तेनाऽपूर्णरत्नत्रयवतः कर्मबन्धो भवतीति सूचितः। यः कर्मबन्धोऽस्ति स किं कृतः ? विपक्षकृतः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि हि मोक्षस्य पक्षो मोक्षमार्गस्यान्यथालक्षणाभावात्। तद्विपरीतो विपक्षो रागादिः संसारकारणत्वात् तेन प्रत्याख्यानावरणक्रोध मानमायालोभजनितरागद्वेषादिना विपक्षेण कृतः कर्मबन्धोऽस्तीत्यर्थः। तत्कर्मबन्धो मोक्षस्य संसारस्य वा कारणं भवतीत्यत्राह-मोक्षोपायोऽवश्यं निश्चितं मोक्षस्य उपायो मार्गः स्यादुपेयप्राप्तौ साहाय्यत्वात्। निरतिचारव्रतपालनेन बद्धपुण्येनासंख्येयगुणनिर्जरापूर्वेण मोक्षमार्गोपयोग-साधनानि समुपलब्धानि भवन्ति। न हि भोगाकांक्षानिदानख्याति-

---

उत्थानिका -अब एकदेश रत्नत्रय का पालन करने वाले व्रती के कर्मबन्ध होता है या नहीं, यदि कर्मबन्ध होता है तो वह मोक्ष देने वाला कैसे हो सकता है, क्योंकि कर्म बन्ध संसार का कारण है तथा द्वितीय पक्ष स्वीकार करने पर यदि कर्मबन्ध का कारण न माना जाय तो मोक्ष का प्रसंग आ जायेगा। इसका निराकरण करने के लिए सूत्र कहते हैं-

अन्वय - असमग्रं रत्नत्रयं भावयतः यः कर्मबन्धः अस्ति, सः विपक्षकृतः अवश्यं मोक्षोपायो बन्धनोपायः न॥

अन्वयार्थ - (असमग्रं) एकदेश (रत्नत्रयं भावयतः) रत्नत्रय का पालन करने वाले जीव के (यः कर्मबन्धः अस्ति) जो कर्मबन्ध होता है (सः विपक्षकृतः) वह रत्नत्रय के विपक्षभूत रागद्वेष से होता है। (अवश्यं मोक्षोपायः) वह रत्नत्रय अवश्य ही मोक्ष का उपाय है (बन्धनोपायः न) कर्मबन्ध का उपाय नहीं है।

टीकार्थ - एकदेश सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को धारण करने वाले व्रती के जो ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होता है, वह कर्मों का बन्ध किससे होता है ? वह कर्मों का बन्ध राग, द्वेष से होता है क्योंकि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष के मार्ग है। मोक्ष मार्ग का लक्षण अन्यथा घटित नहीं हो सकता है।

उस रत्नत्रय से विपरीत रागादि संसार के कारण हैं। इसलिए प्रत्याख्यानावरण आदि क्रोध मान माया लोभ से उत्पन्न रागद्वेष रूप विपक्ष से कर्म बन्ध होता है। यह कथन का तात्पर्य है।

वह कर्म का बन्ध मोक्ष का कारण है अथवा संसार का इस कथन को स्पष्ट करते हैं कि वह कर्मबन्ध नियम से मोक्ष का उपाय अर्थात् मार्ग है क्योंकि उपेय की प्राप्ति में सहायक है। व्रत का निरतिचार पालन करने से असंख्यात गुणी निर्जरापूर्वक पुण्यकर्म बन्ध होता है जिससे मोक्षमार्ग के साधन उपलब्ध होते हैं। भोगाकांक्षा अर्थात्

रत्नत्रय यदि पूर्ण ना, होता विधि का बन्ध।
भले राग से बन्ध हो, सुख पाता निर्बन्ध ॥२११॥

पूजालाभरहितेन व्रतपालनेन समुत्पन्नपुण्यकर्म तत्फलं च मोक्षस्य परिपन्थि स्यात् पुण्यानुबन्धिपुण्यत्वाद् भरतादिवत्। तथा चोक्तम् -

एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवदे ण कम्मरयं।
तो सो ण देदि कम्मं विविहे भोगे सुहप्पादे॥

किञ्च -

सम्मादिट्ठी पुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणइ॥

तेन सरागसम्यक्त्वं सरागचारित्रञ्च मोक्षस्य कारणं पारम्पर्येण ज्ञातव्यमन्यथा मोक्षस्यानुपलब्धेः। अतः स कर्मबन्धो बन्धनोपायः संसृति-कारणभूतकर्मणो बन्धस्योपायो मार्गो न स्यात्। अवश्यमिति पदस्य मध्यदीपके सत्यन्याप्यर्थयोजनिका स्यात्। तद्यथा - स कर्मबन्धो विपक्षकृतोऽवश्यं तथापि न बन्धनोपायः प्रत्युत मोक्षोपाय इति विस्मयः स्वयमेवाचार्यदेवैर्ध्वन्यते॥२११॥

निदान, ख्याति, पूजा-लाभादि से रहित, व्रतों के पालन से पुण्य कर्म की प्राप्ति और उसके फल को मोक्ष का विरोधी स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि पुण्यानुबंधिपुण्य होने से भरत चक्रवर्ती आदि की तरह वह संसार का कारण नहीं है। जैसा कि कहा है -

''इस प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव विषयों के लिए कर्मरज का सेवन नहीं करता है, और वह कर्म भी अनेक प्रकार के सुख को उत्पन्न करने वाले भोगों को नहीं देता है।''

तथा **''सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से संसार का कारण नहीं होता है। यदि वह निदान नहीं करता है तो वह मोक्ष का ही हेतु है।''** इसलिए सराग सम्यग्दर्शन और सराग सम्यग्चारित्र परम्परा से मोक्ष के कारण जानने चाहिए अन्यथा मोक्ष की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए वह कर्मबन्ध संसार के कारणभूत कर्म के बन्ध का उपाय अर्थात् मार्ग नहीं है। 'अवश्य' इस पद को मध्य दीपक करने पर अन्य अर्थ भी घटित होता है। जैसे वह कर्मबन्ध विपक्षकृत अवश्य है फिर भी वह बन्ध का उपाय नहीं है बल्कि मोक्ष का उपाय है, ऐसा आचार्यदेव ने स्वयं प्रकट किया है ॥२११॥

मोक्षस्योपायभूते पुण्यकर्मणि सत्यपि तस्य निमित्तं किमित्यत्र स्पष्टयत्यार्यात्रयेण -

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनाशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनाशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१४॥त्रिकम्॥

मं. टी. - येनांशेनेत्यादि - येनांशेन यावताऽवयवेन सुदृष्टिः सम्यग्दर्शनम्, ज्ञानं सम्यग्ज्ञानं, चरित्रं सम्यक्चारित्रं भवति तेनांशेन तावतावयवेन अस्य व्रतिनः बन्धनं नास्ति। तु किन्तु यावतांशेन यावताऽवयवेन रागः

उत्थानिका - मोक्ष के उपायभूत पुण्य कर्म के होने पर भी उसका निमित्त क्या है, इसे यहाँ तीन आर्या छन्दों के द्वारा स्पष्ट करते हैं -

अन्वयः - येन अंशेन सुदृष्टिः तेन अंशेन अस्य बन्धनं नास्ति तु येन अंशेन रागः तेन अंशेन अस्य बन्धनं भवति॥ पेन अंशेन ज्ञानं तेन अंशेन अस्य बन्धनं नास्ति। तु येन अंशेन रागः तेन अंशेन अस्य बन्धनं भवति॥ येन अंशेन चरित्रं तेन अंशेन अस्य बन्धनं नास्ति। तु येन अंशेन रागः तेन **अंशेन अस्य** बन्धनं भवति॥

अन्वयार्थ - (येन अंशेन सुदृष्टिः) जिस अंश से आत्मा में सम्यग्दर्शन है (तेन अंशेन अस्य बन्धनं नास्ति) उस अंश से आत्मा के कर्म बन्ध नहीं होता है। (तु येन अंशेन रागः) किन्तु जिस अंश में राग है (तेन अंशेन अस्य बन्धनं भवति) उस अंश से आत्मा के बन्ध होता है। (येन अंशेन ज्ञानं) जिस अंश से ज्ञान है (तेन अंशेन अस्य बन्धनं नास्ति) उस अंश से आत्मा के कर्मबन्ध नहीं होता है। (तु येन अंशेन रागः) किन्तु जिस अंश में राग है (तेन अंशेन अस्य बन्धनं भवति) उस अंश से आत्मा के कर्म बन्ध होता है (येन अंशेन चरित्रं) जिस अंश से चरित्र है (तेन अंशेन अस्य बन्धनं नास्ति) उस अंश से आत्मा में बन्ध न ही होता है (तु येन अंशेन रागः) किन्तु जिस अंश में राग है (तेन अंशेन

जितना समकित गाढ़ है, उतना ना हो बंध।
रागशेष जितना रहा उससे होता बंध ॥२१२॥
जितना समकित ज्ञान है, उतना ना हो बंध।
रागशेष जितना रहा उससे होता बंध ॥२१३॥
जितना समकित वृत्त है, उतना ना हो बंध।
रागद्वेष जितना रहा उससे होता बंध ॥२१४॥

सञ्ज्वलनदेशघातिस्पर्धकोदयसहितप्रत्याख्यानावरणकषायस्य सर्वघाति-स्पर्धकोदयजनितरागः। अत्र रागेण साकं द्वेषोऽपि गृहीतव्योऽविनाभावित्वात् कषायचतुष्कसद्भावाद्वा। तेनांशेन तावतावयवेन अस्य व्रतिनो बन्धनं भवति अस्ति। अर्थात् सरागसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया पञ्चमगुणस्थाने देशव्रती अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणकषाय-जनितप्रकृतिबन्धाभावे त्रिपञ्चाशत्प्रकृतीनामबन्धको भवति तत्कारणभूतरागाद्यभावात्। तथैवाग्रगुणस्थानेऽप्यवसेयम्। ये केचन मिथ्यात्वानन्तानु-बन्ध्यप्रत्याख्यानावरणकषायाऽभावादुत्पन्नविशुद्धितया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्यांशाः प्रकटितास्तैः कर्मबन्धो नास्ति ज्ञानधाराप्रवहनादसंख्येयगुणनिर्जराप्रभवनाद्वा। तथापि यद्बन्धः स्यात्तत्तु प्रत्याख्यानावरणकषायोदयात् कर्मधाराऽनु-षङ्गित्वादिति। या चास्ति विशुद्धिः सैव शुद्धोपयोगः। स हि ज्ञानधारारूपेण सदा प्रवहति चेतसि। यश्च कर्मबन्धः प्रत्याख्यानोदयप्रभवः स त्वौदयिकभावः। स भावो हि शुभोपयोगस्य हेतुः कषायकारणजनितत्त्वात्। इत्येवं प्रकारेण ये वदन्ति तन्न सम्यक् प्रलपन्ति। यतश्च संयतासंयते गुणस्थाने सर्वदैवैक एव भावः क्षायोपशमिको वर्तते यस्मात्। तत्क्षायोपशमिकभावः अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानकषायाष्टकोदयक्षयात् तेषां सदुपशमाच्च प्रत्याख्यानकषायोदये सञ्ज्वलनकषायस्य देशघातिस्पर्धकोदये यथासम्भवनवनोकषायोदये समुत्पद्यते। तेनैकेनैव भावेन बन्धो निर्जरा चाविर्भवतः। न चेदं विरुध्यते ''एकस्याप्यनेककार्यदर्शनादिति'' वचनात्। यथाग्नौ प्रज्वलिते सति प्रकाशः

अस्य बन्धनं भवति) उस अंश से इस आत्मा के कर्मबन्ध होता है।

टीकार्थ - जिस अंश से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है उस अंश से उस व्रती के बन्ध नहीं होता है। किन्तु जितने अंश से राग है अर्थात् सञ्जवलनकषाय के देशघाति स्पर्धकों के उदय के साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय के सर्वघाति स्पर्धकों के उदय से उत्पन्न राग है, उस अंश से इस व्रती के बन्ध होता है। कषाय चतुष्क का सद्भाव होने से यहाँ पर राग के साथ द्वेष को भी ग्रहण करना चाहिए क्योंकि राग के साथ द्वेष का अविनाभावी सम्बन्ध है। अर्थात् सराग सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा पंचम गुणस्थान में देशव्रती के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण कषायजनित कर्मबन्ध का अभाव होने पर त्रेपन प्रकृतियों के बन्ध का अभाव होता है। क्योंकि उस देशव्रती के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी राग का अभाव है। इसी प्रकार आगे के गुणस्थानों में भी जानना चाहिए।

कुछ लोग कहते हैं मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव से उत्पन्न विशुद्धि से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के जो अंश प्रकट हुए हैं उनसे कर्मबन्ध नहीं होता है, क्योंकि ज्ञानधारा का प्रवाह और असंख्यात गुणी निर्जरा सदा होती रहती है, तो भी कर्मबन्ध होता है वह तो प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से कर्मधारा के संबंध से होता है। इस प्रकार जो विशुद्धि है वही शुद्धोपयोग है और वही आत्मा में ज्ञान धारा रूप से सदा प्रवहमान होता है। और जो कर्मबन्ध है वह प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से उत्पन्न होता है इसलिए वह औदयिक भाव है। वही भाव कषाय के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण शुभोपयोग का हेतु है। इस प्रकार जो कहते हैं वे समीचीन कथन नहीं करते हैं। संयतासंयत गुणस्थान में हमेशा एक ही क्षायोपशमिक भाव होता है। वह क्षायोपशमिक भाव अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण सम्बन्धी आठ कषायों के उदयाभावी क्षय से, उन्हीं के सदवस्था रूप उपशम से और प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय होने पर तथा सञ्जवलन कषाय के देशघाति स्पर्धकों के उदय होने पर यथासंभव नव नोकषाय के उदय होने पर उत्पन्न होता है। इसलिए एक ही भाव से कर्मबन्ध और निर्जरा होती है। यह विरूद्ध भी नहीं है क्योंकि एक कारण से अनेक कार्य देखे जाते हैं ऐसा आगम का वचन है।

प्रकाशविरोधिधूम्रश्चोत्पद्येते। तस्मादेकस्मिन्नेव क्षायोपशमिके भावे यावतांशेन काषायिको भावस्तावतांशेन बन्धनमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यमन्यथा सिद्धान्तविपर्यासः स्यात्। न च तत्र प्रत्याख्यानावरणादिकषायोदयधारया बन्धमात्रः स्यादौदयिकभावप्रसंगात्। न चैवं, क्षयोपशमभावाभ्युपगमात्। यतश्च प्रत्याख्यानकषायाः संयमविरोधिनः सन्ति ततस्तदुदयः संयमासंयमस्या-विरोधकस्ततश्चासंख्येयगुणनिर्जराऽपि न तत्र विरुध्यते, संयमासंयमेन सहाऽसंख्येय-गुणनिर्जराऽविनाभाविसम्बन्धत्वात्। यत्र यत्र संयमासंयमस्तत्र तत्रासंख्येयगुणनिर्जरा सदोपलभ्यते। न च प्रत्याख्यानकषायोदयमात्र एवोदयरूपेण संयमासंयमे स्फुरति सञ्ज्वलनदेशघातिस्पर्धकोदयसहोदीयमानत्वात्। सञ्ज्वलनदेशघातिस्पर्धकोदयेन विना क्षायोपशमिकभावो अनुपलभ्यते। न च रागस्य हानौ सत्यां वीतरागता प्रादुर्भवति किन्तु रागस्य हानिरेव सकृद्धौतवस्त्रवद्। यद्येवं स्यात् तर्हि मिश्रगुणस्थानेऽपि वीतरागतोत्पत्तिप्रसङ्गः प्रसज्यते। तस्माद् यावत्तु आत्मगुणघातिनां सर्वघातिकषायाणामुदयः तावत्तु रागस्य हानिरेव क्रमेण जायते पश्चाद्वीतरागता प्रकटयति। केचिज्जनाः युगपदेव शुभोपयोगशुद्धोपयोगद्वयं संयमासंयमे अविरतसम्यग्दृष्टौ च व्यवस्थापयन्ति। विशुद्धिः शुद्धोपयोगः सैव ज्ञानधारा निर्जरानिमित्ता च तत्प्रतिपक्षकषायः शुभोपयोगः स एव कर्मधारा बन्धनिमित्तेति मन्यमानत्वात्। तन्न युक्तं प्रलपन्ति भूयोविरोधकारणत्वात्। न क्वचिदपि परमागमे सहकाल एवोपयोगद्वयवर्तनं स्वीक्रियते। एकसमय एक

जैसे अग्नि के प्रज्वलित होने पर प्रकाश और प्रकाश का विरोधी धूम्र भी उत्पन्न होता है। इसलिए एक ही क्षायोपशमिक भाव में जितने अंश में काषायिक भाव हैं उतने अंश से बंध होता है, ऐसा मानना चाहिए। अन्यथा आगम से विरोध आ जायेगा। उस क्षायोपशमिक भाव में प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय की धारा से बन्धमात्र नहीं होता है। अगर मात्र बन्ध मानेंगे तो औदयिक भाव का प्रसंग आ जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि वहाँ क्षायोपशमिक भाव स्वीकार किया गया है। चूँकि प्रत्याख्यानावरण कषाय संयम की विरोधी है, इसलिए उसका उदय संयमासंयम का विरोध नहीं करता है अर्थात् प्रत्याख्यान के उदय होने पर भी संयमासंयम भाव होता है और उससे असंख्यात गुणी निर्जरा भी विरोध को प्राप्त नहीं होती है क्योंकि संयमासंयम के साथ असंख्यात गुणी निर्जरा का अविनाभावी सम्बन्ध है। जहाँ-जहाँ पर संयमासंयम है वहाँ-वहाँ पर असंख्यात गुणी निर्जरा सदा ही पायी जाती है। प्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय मात्र से ही संयमासंयम नहीं होता किन्तु सञ्जवलन कषाय के देशघाति स्पर्धकों के उदय के साथ ही संयमासंयम उत्पन्न होता है। क्योंकि सञ्जवलन कषाय के देशघाति स्पर्धकों के उदय के बिना क्षायोपशमिक भाव बनता नहीं है। राग की हानि होने पर वीतरागता प्रकट नहीं होती किन्तु राग की हानि ही होती है, एक बार धोये हुए वस्त्र की तरह। भाव यह है कि जिस प्रकार अत्यन्त गंदा वस्त्र एक बार पानी में डालकर धो देने से उसकी कुछ मलिनता कम होती है, परन्तु वस्त्र का उजलापन प्रकट नहीं हो पाता उसी प्रकार यहाँ राग की हानि पर वीतरागता प्रकट नहीं होती किन्तु राग की हानि हुई है, ऐसा कहा जाता है।

यदि राग की हानि होने पर वीतरागता प्रकट होती है ऐसा मानते हैं तो मिश्र गुणस्थान में भी वीतरागता की उत्पत्ति का प्रसंग आ जायेगा। इसलिए जब तक आत्मगुण घाती सर्वघाती कषायों का उदय है तब तक तो राग की हानि ही क्रम से होती है। बाद में वीतरागता प्रकट होती है। कुछ लोग एक साथ ही शुभोपयोग और शुद्धोपयोग को संयमासंयम और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे विशुद्धि को शुद्धोपयोग कहते हैं, वही ज्ञान धारा है और वही निर्जरा का निमित्त है। उसका प्रतिपक्षभूत कषाय शुभोपयोग है वही कर्म धारा है और वही

एवोपयोगस्य स्वीक्रियमाणत्वादिति प्रथमो विरोधः। न च विशुद्धिर्हि शुद्धोपयोगत्वेनोपगम्यते मिथ्यादृष्टयादावपि तत्प्रसङ्गादिति द्वितीयो दोषः। येन न हि कदापि शुद्धोपयोगऽन्तर्मुहूर्तकालमुल्लंघ्य प्रवर्तते तेन कथं देशव्रतिनः आमरणपर्यन्तं निर्जरा शयनाशनादिसर्वावस्थासु सातत्येन जायेत, तन्मते शुद्धोपयोगस्य निर्जरानिमित्तत्वाभ्युपगमादिति तृतीयो विरोधः। यतः शुद्धोपयोगो गुप्तिरूपनिवृत्तिदशायामेव घटते किन्तु तस्यासंख्येयगुणनिर्जरा सर्वदैव समुत्पद्यते ततः शुद्धोपयोगो हि असंख्येयगुणनिर्जराया हेतुरिति विरुध्यते युक्त्यागमाभ्यामिति चतुर्थो दोषः। भेदाभेदरत्नत्रयस्याविकलरूपस्याधिकरणे शुद्धोपयोगस्य प्रादुर्भूतिः स्यात्तत्तस्यानुपलम्भात् पञ्चमो दोषः। ज्ञानधाराकर्मधारयोर्व्यवस्था परमागमे नोपलभ्यते इति षष्ठो दोषः।

तस्मात् कषायाणां विगमने सति समुत्पन्नदृग्बोधवृत्तं येनांशेन प्रकटितं तन्न बन्धकारणमात्मगुणानां प्रकटनत्वात् तथा येनांशेन कषायाणामुदयः शेषः स एव बन्धकारक इति सिद्धिरविरुद्धा॥२१२-२१३-२१४॥

बन्ध का निमित्त है ऐसा मानते हैं। उनका ऐसा कहना युक्त नहीं है क्योंकि इसमें बहुत विरोध उत्पन्न होते हैं। **प्रथम** विरोध तो यह है कि परमागम में एक समय में एक ही उपयोग होने से कहीं पर भी एक समय में दो उपयोग स्वीकार नहीं किये हैं। विशुद्धि मात्र को शुद्धोपयोग रूप से स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि ऐसा मानने पर मिथ्यादृष्टि में भी शुद्धोपयोग मानना पड़ेगा यह **दूसरा दोष** है।

चूँकि शुद्धोपयोग अन्तर्मुहर्त्त काल से अधिक नहीं रहता है तो उस देशव्रती के जीवन पर्यन्त शयन अशन आदि सब अवस्थाओं में निर्जरा कैसे होगी ? क्योंकि उनके मत में निर्जरा का निमित्त शुद्धोपयोग को ही स्वीकार किया है। अतः यह **तीसरा विरोध** है। चूँकि शुद्धोपयोग गुप्तिरूप निवृत्ति दशा में ही घटित होता है। किन्तु उसके असंख्यात गुणी निर्जरा हमेशा ही होती रहती है इसलिए वास्तव में शुद्धोपयोग असंख्यात गुणी निर्जरा का हेतु है यह युक्ति और आगम दोनों से विरूद्ध है यह **चौथा दोष** है। भेदा भेद रत्नत्रय संकलसंयमी का अधिकरण है। उसी के शुद्धोपयोग की उत्पत्ति होती है, इसलिए संयमासंयमी जीव के भेदाभेद रत्नत्रय उत्पन्न ही नहीं होता तो फिर शुद्धोपयोग कहाँ ? यह **पाँचवाँदोष** है। ज्ञानधारा और कर्मधारा की व्यवस्था परमागम में है ही नहीं और आप मानते हैं यह **छठादोष** है।

इसलिए कषायों के अभाव होने पर उत्पन्न होने वाले सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र जिस अंश में प्रकट होते हैं, वे बंध के कारण नहीं है क्योंकि उससे आत्मा के गुणों का प्रकटन होता है। तथा जिस अंश में कषायों का उदय शेष है वही बंध का कारक है। यह कथन आगमानुकूल है ॥२१२-१३-१४॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि कथं न स्याद् बन्धकारणानीति ब्रूते-

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु।

दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च॥२१५॥

मं. टी. - योगादित्यादि - ''प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशास्तद्विधयः'' इति वचनाच्चतुर्विधो बन्धो भवति। तत्र प्रदेशबन्धः सर्वात्मप्रदेशेषु अनन्तानन्तानां कर्मग्रहणयोग्यपुद्गलानामेकक्षेत्रावगाहस्थितानां संश्लिष्टसम्बन्धरुच्यते। स च कथमिति चेत् ? योगात् ''कायवाङ्मनः कर्मयोगः'' इति वचनात्। भवति अस्ति। अत्र प्रकृतिबन्धोऽपि गृह्यते द्वयोरप्येककारणत्वात् प्रकृतिबन्धेन विना प्रदेशबन्धस्याप्यनुपलभ्यमानत्वाच्च। तु अवधारणे। स्थितिबन्धः सति बन्धे कर्मणः आत्मन्यवस्थानकालः कथ्यते। स च कथम् ? कषायात् कषायभेदभिन्नात्। अत्र स्थितिबन्धेन सहानुभागबन्धोऽपि गृह्यतामविनाभावित्वात्। दर्शनबोधचरित्रं-सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रं। न योगरूपमात्मप्रदेशपरिस्पन्दरूपमित्यर्थः। न च कषायरूपमात्मगुणावरणरूपमित्यर्थः। तेन दर्शनबोधचारित्रेण चतुर्विधप्रकारेषु बन्धेष्वेकतमोऽपि बन्धो न भवतीति सिद्धम्॥२१५॥

उत्थानिका - सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र कर्मबन्ध के कारण क्यों नहीं है ? इसको स्पष्ट करते हैं -

अन्वय - योगात् प्रेदशबन्धः कषायात् स्थितिबन्धः भवति तु दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च।

अन्वयार्थ - (योगात् प्रदेशबन्धः) योग से प्रदेशबंध होता है। (कषायात् स्थितिबन्धः) कषाय से स्थिति बंध (भवति) होता है (तु) किन्तु (दर्शनबोधचरित्रं) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (न योगरूपं कषायरूपं च) न योग रूप हैं और न कषाय रूप हैं।

टीकार्थ - प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध के भेद से चार प्रकार का बन्ध होता है, ऐसा जिनागम में कहा है। आत्मा के सब प्रदेशों में एकक्षेत्रावगाह रूप से स्थिति कर्म ग्रहण के योग्य अनन्तानन्त पुद्गलों का संश्लिष्ट सम्बन्ध होना प्रदेशबन्ध कहा जाता है। वह कैसे होता है ? योग से। ''**मनवचन काय के व्यापार को योग कहते है**'' ऐसा आगम में कहा है। यहाँ पर प्रकृति बन्ध को भी ग्रहण करना चाहिए ? क्योंकि प्रकृति और प्रदेश बन्ध इन दोनों का कारण एक ही है अर्थात् योग से प्रकृति प्रदेशबन्ध होता है तथा प्रकृति बन्ध के बिना प्रदेशबन्ध संभव नहीं है। यहाँ 'तु' अवधारणा अर्थ में जानना चाहिए।

आत्मा में कर्म का बन्ध होने पर उसके अवस्थान काल को स्थितिबन्ध कहते हैं। यह स्थितिबन्ध कषाय से होता है। कषाय अनेक प्रकार की है। यहाँ स्थितिबन्ध के साथ अनुभागबन्ध को भी ग्रहण करना चाहिए,क्योंकि स्थितिबन्ध के साथ अनुभाग बन्ध का अविनाभावी सम्बन्ध है।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र योग रूप नहीं है क्योंकि आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन को योग कहते हैं और कषाय रूप भी नहीं है क्योंकि आत्मा के गुणों को ढकना कषाय है। इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से चार प्रकार के बन्धों में से एक प्रकार का भी बन्ध नहीं होता है, यह सिद्ध हुआ ॥२१५॥

योग प्रदेशी बंध में औ थिति हेतु कषाय।
रत्नत्रय तो बंध का, हेतु समझ ना आय ॥२१५॥

अथ चतुर्विधबन्धेषु कोऽपि बन्धो न कथं भवतीति कारणं प्रतिपादयति -

दर्शनमात्म-विनिश्चित्ति-रात्म-परिज्ञानमिष्यते बोधः।

स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥२१६॥

मं. टी. - दर्शनमित्यादि - आत्मविनिश्चित्तिः आत्मनो दर्शनज्ञानात्मकस्य विनिश्चित्तिः निश्चयेन रुचिः। दर्शनं सम्यग्दर्शनं। इष्यते कथ्यते। आत्मपरिज्ञानं सकलपरद्रव्येभ्यो भिन्नमात्मनोऽनुभवनम्। बोधः सम्यग्ज्ञानं। इष्यते कथ्यते। आत्मनि अत्यन्तविविक्तरूपचिन्मात्राभासिनि स्थितिरविचलता। चारित्रं सम्यक्चारित्रं। इष्यते कथ्यते। कुतः एतेभ्यः सम्यग्दृग्बोधचरित्रैर्बन्धो भवति अर्थात् न भवति रत्नत्रयस्यात्मगुणत्वादात्मविषयकत्वाद्वा। वीतरागरत्नत्रयं परमार्थेन बन्धविषयेऽकिञ्चित्करमित्यर्थः॥२१६॥

उत्थानिका - चार प्रकार के बन्धों में से कोई भी बन्ध क्यों नहीं होता, इसका कारण प्रतिपादित करते हैं-

अन्वयः - आत्मविनिश्चित्तिः दर्शनं, आत्मपरिज्ञानं बोधः, आत्मनि स्थितिः, चारित्रं इष्यते एतेभ्यः कुतः बन्धः भवति ॥

अन्वयार्थ - (आत्मविनिश्चित्तिः) अपनी आत्मा का विनिश्चय (दर्शनं) सम्यग्दर्शन है (आत्मपरिज्ञानं) आत्मा का विशिष्ट ज्ञान (बोधः) सम्यग्ज्ञान है और (आत्मनि स्थितिः) आत्मा में स्थिरता (चारित्रं) सम्यक्चारित्र (इष्यते) माना गया है। (एतेभ्यः) इस रत्नत्रय से (कुतः) कैसे (बन्धः) बन्ध (भवति) होता है ?

टीकार्थ - दर्शन ज्ञानात्मक आत्मा की निश्चय रूचि अर्थात् श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। सकल पर द्रव्यों से भिन्न आत्मा की अनुभूति होना सम्यग्ज्ञान है। अत्यन्त पवित्र रूप चैतन्य मात्र आत्मा में जो अविचल स्थिति है वह सम्यक्चारित्र है। ऐसे इन सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से कैसे बन्ध होता है, अर्थात् बन्ध नहीं होता है। आत्मविषयक होने से रत्नत्रय आत्मा का गुण है। परमार्थ से वीतराग रत्नत्रय बन्ध के विषय में कथमपि कारण नहीं है, यह कथन का तात्पर्य है ॥२१६॥

समकित आत्म प्रतीति है, ज्ञान आत्म परिज्ञान।
आत्म लीनता चरित है, बंध कहाँ दे ध्यान ॥२१६॥

तथापि क्वचिद् दृश्यते रत्नत्रयं बन्धस्य कारणमित्युच्यते -

सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय॥२१७॥

मं. टी. - सम्यक्त्वेत्यादि -बन्धः बन्धनमस्ति। कस्य? तीर्थकराहारकर्मणः तीर्थकरश्चाहारश्च समाहारद्वन्द्वात् तदेव कर्म तत्तस्य। काभ्यामिति चेत् ? सम्यक्त्वचरित्राभ्यां सम्यक्त्वेन तीर्थकरनामकर्मणो बन्धश्च चारित्रेणाप्रमत्त-गुणस्थानवर्तिमुनिना आहारशरीरनामकर्मणो बन्धो जायते। सम्यक्त्वं च चरित्रं च सम्यक्त्वचरित्रे ताभ्याम् समये परमागमे। योऽप्युपदिष्टः बन्धोऽपि कथितः तद्यथा ''आहारदुगं संजमपच्चयं तित्थयरं सम्मतपच्चयं''। स बन्धः। न दोषाय न विरोधाय। अपि निश्चयेन। केषाम् ? नयविदां नयं विदन्ति ते नयविदास्तेषाम्। चारित्रे सति योगकषायौ बन्धप्रत्ययौ स्तः आहारकशरीरनामकर्मणः। सम्यक्त्वे सति हि योगकषायौ बन्धप्रत्ययौ स्तस्तीर्थकरनामकर्मप्रकृतेः। तस्मादाहारकतीर्थकरप्रकृतिबन्धेन सह चारित्रसम्यक्त्वाभ्यामन्वयव्यतिरेकसिद्धिमापन्ने सति ताभ्यां बन्धस्य कारणत्वप्रसिद्धिरनवद्या। ''अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः इति'' न्यायाद् बन्धहेतुत्वमुचितमेव॥२१७॥

उत्थानिका - तथापि कहीं-कहीं रत्नत्रय भी बन्ध का कारण देखा जाता है, सो कहते हैं -

अन्वयः - सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्मणो बन्ध यः अपि समये उपदिष्टः सः अपि नयविदां दोषाय न॥

अन्वयार्थ - (सम्यक्त्वचारित्राभ्यां) सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र से (तीर्थकराहारकर्मणो बन्धः) तीर्थंकर और आहारक प्रकृति का बंध होता है (यः अपि समये उपदिष्टः) जो यह भी आगम में कहा है (सः अपि) वह भी (नयविदां) नयों के जानने वालों को (दोषाय न) दोष के लिए नहीं है।

टीकार्थ - सम्यग्दर्शन से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है और सम्यक्चारित्र से अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनिराज को आहारक शरीर नाम कर्म का बन्ध होता है। सम्यक्त्व और चारित्र से परमागम में बन्ध कहा हैं। जैसे - ''**आहारक शरीर और आहारक मिश्र ये संयम के निमित्त से बन्ध को प्राप्त होते हैं और तीर्थंकर प्रकृति सम्यक्त्व के निमित्त से बन्ध को प्राप्त होती है।**'' नय के जानने वालों को यह कथन दोष के लिए नहीं है। चारित्र के होने पर ही योग और कषाय आहारक शरीर नाम कर्म के बन्ध के कारण होते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर नाम कर्म की प्रकृति सम्यक्त्व के होने पर ही योग और कषाय से बंध को प्राप्त होती है। इसलिए आहारक और तीर्थंकर प्रकृति का बंध चारित्र और सम्यक्त्व के साथ अन्वय व्यतिरेक की सिद्धि को प्राप्त होने पर बंध के कारण में उनकी प्रसिद्धि है, यह कथन निर्दोष है। ''**सर्वत्र कार्य कारण भाव अन्वय व्यतिरेक से जानने योग्य है।** ''इस न्याय से बंध का हेतुपना कहना उचित ही है॥२१७॥

तीर्थंकर आहार द्विक, बंध हेतु दृग वृत्त।
दोषरहित श्रुतदेशना, माने जो जिन भक्त ॥२१७॥

कथं न भवति दोषायेति प्रभाष्यते -

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः।

योगकषायौ तस्मात्तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्॥२१८॥

मं. टी. - सतीत्यादि - भवतः स्तः। तीर्थकराहारबन्धकौ तीर्थकराहार-बन्धस्य कर्त्तारौ। योगकषायौ प्रकृत्यादिबन्धकरौ। यदि योगकषायेनैव बन्धौ भवतस्तर्हि मिथ्यादृशामपि भवेतामितिचेन्न सम्यक्त्वचरित्रे सति सम्यक्त्वस्योपस्थितौ हि तीर्थकरबन्धः, चारित्रस्योपस्थितौ चाहारक बन्ध इति। तस्मात् कारणात्। तत् सम्यक्त्वचारित्रं। अस्मिन् कर्मबन्धप्रसङ्गे। उदासीनं धर्मास्तिकायवदप्रेरकम्। ''योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनमित्यपि'' पाठः पापठ्यते क्वचित्। तदपि युक्तम्। तत्र तीर्थकराहारबन्धकौ योगकषायौ सम्यक्त्वचरित्रे असति न भवतः इत्यर्थो योज्यः। सम्यक्त्वचारित्रयोरुपस्थितिमात्रे सति हि तौ बध्नतः असति नेतिकारणादुदासीनहेतुकत्वं तयोराख्यातम्। हेतुः कारणं प्रत्ययो निमित्तमित्यनर्थान्तरम्। नियमेन मीयते अङ्गीक्रियते तन्निमित्तं सहायकं वस्तु भवति। प्रेरकोदासीनभेदेन तन्निमित्तं द्विविधम्। प्रेरकनिमित्तं द्विप्रकारं सचिदचिद्भेदात्। यथा कुम्भकारो घटनिर्माणे सचित्प्रेरकनिमित्तम्। चक्रभ्रमणं

उत्थानिका - तीर्थंकर और आहारक प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्व और चारित्र से होता है, यह कथन दोष के लिए क्यों नहीं है ? यह बताते हैं -

अन्वयः - सम्यक्त्वचरित्रे सति योगकषायौ तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः तस्मात् तत्पुनः अस्मिन् उदासीनं॥

अन्वयार्थ - (सम्यक्त्वचरित्रे सति) सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के रहने पर (योगकषायौ) योग और कषाय (तीर्थकराहारबन्धकौ भवतः) तीर्थंकर और आहारक प्रकृतियों के बन्धक होते हैं (तस्मात्) इसलिए (तत्पुनः) वे फिर (अस्मिन्) इस बन्ध के विषय में (उदासीनं) उदासीन हैं॥

टीकार्थ - योग और कषाय से ही तीर्थंकर और आहारक प्रकृति का बंध होता है तो मिथ्यादृष्टि जीवों को भी होना चाहिए। इस प्रसंग के निवारण के लिए सम्यक्त्व-चारित्र के होने पर होता है, ऐसा कहा है। सम्यग्दर्शन की उपस्थिति होने पर तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होता है, सम्यक्चारित्र की उपस्थिति होने पर आहारक प्रकृति का बन्ध होता है। इस कारण से वे सम्यक्त्व और चारित्र इस विषय में अर्थात् कर्मबन्ध के विषय में उदासीन हैं जैसे धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गलों की गति में अप्रेरक निमित्त है। ''योगकषायौ नासति'' कहीं कहीं यह पाठ भी प्राप्त होता है। वह भी युक्त है। सम्यक्त्व और चारित्र के नहीं होने पर योग कषाय से तीर्थंकर और आहारक प्रकृति का बंध नहीं होता है। यह अर्थ लगाना चाहिए। सम्यक्त्व और चारित्र की उपस्थिति मात्र होने पर तीर्थंकर और आहारक शरीर का बंध होता है। उनके नहीं होने पर बंध नहीं होता है इसलिए उन दोनों को उदासीन निमित्त कहा है।

हेतु, कारण, प्रत्यय, निमित्त ये सब एकार्थवाची हैं। इसलिए उसके निमित्त जिस सहायक वस्तु को नियम

तीर्थंकर आहार द्विक, बंध हेतु दृग वृत्त।
योग कषायें क्या करें, जब हो हेतु समर्थ ॥२१८॥

तु अचित्- प्रेरकनिमित्तम्। उदासीननिमित्तं चक्राधस्तात्कीलवन्निचेष्टितम् तेन योगकषायौ भवतोऽचित्प्रेरकनिमित्तमस्मिन् प्रसङ्गे। तस्मादेव नयविदां सकलं स्पष्टम्॥२१८॥

एवं मन्यमाने पुनरपि प्रश्नः समुपस्थाप्यते कैश्चिदित्याह -

ननु कथमेवं सिध्यतु देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।

सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम्॥२१९॥

मं. टी. - नन्वित्यादि - ननु इति प्रश्ने। देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः देवायुः विशिष्टपदप्रतिष्ठा वैमानिका देवास्तेषामायुः। प्रभृतिशब्देन लौकान्तिकदेवेन्द्रगणधरादिपदा गृह्यन्ते। देवायुःप्रभृतिरादिर्येषां सत्प्रकृतीनां तेषां बन्धः आस्रवो वा। केषाम् ? मुनिवराणां विशिष्ट - तपोज्ञानसंलीनयतीनां। कथम्भूतानाम् ? रत्नत्रयधारिणां रत्नत्रयं धारयन्ति ये ते तथोक्तास्तेषाम्। सकलजनसुप्रसिद्धः तपोधना हि विशिष्टपदमवाप्नुवन्तीति सर्वसाधारणोक्तेः। कथमेवं सिध्यतु इति सिद्धिः कथं भवेदिति प्रश्नः॥२१९॥

से स्वीकार किया जाता है, वह निमित्त प्रेरक और उदासीन के भेद से दो प्रकार का है। प्रेरक निमित्त भी सचित्त अचित्त के भेद से दो प्रकार का है जैसे - घट के निर्माण में कुम्भकार सचित्त प्रेरक निमित्त है और चाकभ्रमण अचित्त प्रेरक निमित्त है। चाक के नीचे कील निश्चल रहती हुई उदासीन निमित्त है। इस प्रसंग में योग और कषाय अचित्त प्रेरक निमित्त हैं। इसलिए नय के वेत्ताओं को यह सम्पूर्ण कथन स्पष्ट ही हैं॥२१८॥

उत्थानिका - ऐसा मानने पर भी पुनः किसी के द्वारा प्रश्न किया जाता है -

अन्वयः - ननु रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणां सकलजनसुप्रसिद्धः देवायुःप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः एवं कथं सिद्ध्यतु॥

अन्वयार्थ - (ननु) कोई शंका करता है (रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणां) रत्नत्रयधारी मुनिवरों के (सकलजनसुप्रसिद्धः) सकल जनों में प्रसिद्ध (देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः) देवायु आदि शुभ प्रकृतियों का बंध (एवं कथं सिद्धयतु) इस प्रकार कैसे सिद्ध होगा ?

टीकार्थ - देवायु आदि सत्प्रकृतियों का बन्ध रत्नत्रयधारी मुनिवरों के होता है। सकल लोक में प्रसिद्ध जब रत्नत्रय बंध का कारण नहीं है तो फिर देवायु आदि प्रकृतियों का बन्ध उससे कैसे सिद्ध होगा ? आदि शब्द से लौकान्तिक देव, इन्द्र पद, गणधरादि पद ग्रहण करना चाहिए। यह प्रश्न है॥२१९॥

रत्नत्रय से बन्ध ना, क्यों देवायु प्रबन्ध।
सम्यग्दर्शन से कहा, मुनिवर को भी बन्ध ॥२१९॥

तदुत्तरमत्राचष्टे -

रत्नत्रयमिह हेतु-र्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्त्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः॥२२०॥

मं. टी. -रत्नत्रयमित्यादि -भवति अस्ति। इह अस्मिन् प्रसङ्गे। कोऽसौ ? हेतुः प्रत्ययः कारणं वा। कस्य ? निर्वाणस्य मोक्षस्य। किं तत् ? रत्नत्रयं परिपूर्णं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रं निश्चयमभेदात्मकं वा। तत् न अन्यस्य कार्यस्य देवायुरादिकस्येत्यर्थः। तु तथापि। यत्पुण्यं पुण्यकर्मादानं तत्फलं वा। आस्त्रवति आदत्ते। अयमपराधो दोषः। शुभोपयोगः मनोवाक्कायानां शुभप्रणिधानम्। अध्यात्माख्याने शुभोपयोगो मुख्यतया पुण्यस्य कारणं संवरनिर्जरयोर्गौणत्वात् कथ्यते। परमागमविवक्षायां शुद्धोपयोगे पुण्यबन्धनं भूयो भवति शुभोपयोगेऽप्यसंख्येयगुणनिर्जरा। अशेषसंवरपूर्विका निर्जरा परमागमभाषया शुक्लध्यानकालेऽध्यात्मभाषया तु निश्चयरत्नत्रये शुद्धोपयोगे भवति पुण्यविषये कर्तृत्वाभावात् पुण्यस्याबन्धकः पुण्यबन्धनेप्युच्यते॥२२०॥

उत्थानिका - उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर कहते हैं -

अन्वयः - इह रत्नत्रयं निर्वाणस्य एव हेतुः भवति अन्यस्य न तु यत् पुण्यं आस्त्रवति अयं अपराधः शुभोपयोगः॥

अन्वयार्थ - (इह) इस विषय में (रत्नत्रयं निर्वाणस्य एव हेतुः) रत्नत्रय मोक्ष का ही कारण (भवति) होता है (अन्यस्य न) बन्ध का कारण नहीं है (तु) किन्तु (यत् पुण्यं आस्त्रवति) जो पुण्य का आस्त्रव होता है (अयं अपराधः शुभोपयोगः) यह शुभोपयोग का अपराध है।

टीकार्थ - इस प्रसंग में परिपूर्ण सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र अथवा निश्चय अभेदात्मक रत्नत्रय मोक्ष का ही कारण है। वह अन्य का अर्थात् देवायु आदि कर्म प्रकृतियों के बंध का कारण नहीं है। हेतु, प्रत्यय और कारण ये शब्द एकार्थवाची हैं, किन्तु जो पुण्य कर्म का आस्त्रव हो रहा है, यह अपराध शुभोपयोग का है। अध्यात्म के कथन से शुभोपयोग मुख्यता से पुण्य का कारण है और शुभोपयोग संवर निर्जरा का गौणरूप से कारण है। आगम की विवक्षा में शुद्धोपयोग के होने पर बहुत पुण्य बन्ध होता है और शुभोपयोग में भी असंख्यात गुणी निर्जरा होती है। आगम की भाषा में शुक्ल ध्यान के काल में पूर्ण संवर पूर्वक निर्जरा होती है और अध्यात्म की भाषा में निश्चय रत्नत्रय के काल में शुद्धोपयोग में निर्जरा होती है। पुण्य के विषय में कर्तृत्व का अभाव होने से पुण्य का बन्धक होने पर भी पुण्य का अबन्धक है इस प्रकार अध्यात्म में कहा जाता है सिद्धान्त में नहीं। अतः पुण्य का आस्त्रव शुभोपयोग का अपराध है यह कथन अध्यात्म भाषा का है, जो उचित ही है ॥२२०॥

रत्नत्रय तो मोक्ष का, हेतु रहा ना अन्य।
पुण्यास्त्रव अपराध है, शुभ का करता धन्य ॥२२०॥

अथ नयद्वयसमाश्रयेण दृष्टान्तसाहाय्येन च समादधति -

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः॥२२१॥

मं. टी. - एकस्मिन्नित्यादि - हि निश्चयेन। एकस्मिन् द्रव्ये। समवायात् सम्बन्धवशात्। अत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि अत्यन्तविरुद्धयोःशीतोष्णयोः संवरबन्धयोः कार्ययोरित्यर्थः। व्यवहारः व्यवहारनयेन। रूढिं ख्यातिम्। इतः गतः प्राप्तः। तदर्थं दृष्टान्तेन द्रढयति। यथा इह अस्मिन् लोके घृतं उष्णसर्पिः। दहति तादृशः तथाहि बन्धकारणं रत्नत्रयमिति व्यवहारः। अत्यन्त-संयोग-सम्बन्धवशात् पृथग्भूतयोरपि कार्ययोरप्येकत्वेनाख्यानं व्यवहारनयेन न विरुध्यते तन्नयस्य विषयत्वात्। यथा हि घृतं स्वभावेन शैत्यं तथाप्यग्निसंयोगादुष्णीभूतं दहति घृतमिति व्यवहारः सुष्ठु तथा हि सरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमपि बन्धकारणमिति विज्ञेयम्। निश्चयनयेन पुनरग्निरेव दहति, न च घृतं स्वभावत्वात् तथा हि वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रं मोक्षकारणं बन्धस्य तु रागः। तथा चोक्तं पञ्चास्तिकायसमये -

---

उत्थानिका - अब दोनों नयों के आश्रय से और दृष्टांत की सहायता से समाधान करते हैं -

अन्वयः - हि एकस्मिन् समवायात् अत्यन्तविरूद्धकार्ययोः अपि यथा घृतं दहति इति व्यवहारः इह अपि तादृशः रूढिं इतः॥

अन्वयार्थ - (हि) निश्चय से (एकस्मिन्) एक आत्मा में (समवायात्) समवाय होने से (अत्यन्तविरूद्ध कार्ययोः अपि) अत्यन्त विरूद्ध कार्य करने वालों में भी (यथा घृतं दहति) जिस प्रकार घी जलाता है। (इति व्यवहारः) ऐसा व्यवहार (इह) लोक में होता है (अपि तादृशः) उसी प्रकार वैसा व्यवहार (रूढिं इतः) प्रसिद्ध हुआ है।

टीकार्थ - निश्चय से एक द्रव्य में सम्बन्ध के वश से अत्यन्त विरूद्ध कार्यों में भी जैसे शीत - उष्ण परस्पर विरूद्ध कार्य हैं उसी प्रकार संवर-बन्ध के कार्यों में व्यवहार नय रूढ़ि से प्राप्त है। इसी अर्थ को दृष्टान्त पूर्वक समझाते हैं। जैसे इस लोक में गरम घी जलाता है, ऐसा कहा जाता है उसी प्रकार रत्नत्रय बंध का कारण है यह व्यवहार से कहा जाता है। व्यवहार नय का विषय होने से अत्यन्त संयोग सम्बन्ध के वश से पृथक्भूत कार्यों को एक रूप से कहना व्यवहार नय से विरूद्ध नहीं है। जैसे घृत स्वभाव से ठंडा है तो भी अग्नि के संयोग से उष्ण घी जलाता है यह व्यवहार सही है। उसी प्रकार सराग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र बन्ध के कारण हैं, ऐसा कहा जाता है।

निश्चय से अग्नि ही जलाती है, क्योंकि घी का स्वभाव जलाना नहीं है उसी प्रकार वीतराग सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तो मोक्ष के कारण हैं, बन्ध का कारण तो राग है। **पंचास्तिकाय** में कहा है -

---

इक आतम में साथ ही, दो विरूद्ध हों कार्य।
घी से होती दाह है यह व्यवहार सुधार्य ॥२२१॥

दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।
साधूहिं इदं भणिदं तेहिं दु बन्ध मोक्खो वा॥

व्यवहारनयस्य विषयो मृषेत्युदीर्यमाणे निश्चयनयविषयस्यानुपलब्धिरेव साधकसाध्यसम्बन्धात्। ''सरागसंयमसंयमासंयमाकामनिर्जराबालतपांसि दैवस्य, सम्यक्त्वं च'' इत्यादिसूत्राणि न विरुद्धानि भवन्ति सैद्धान्तिकत्वात्। ततो नयद्वयस्य मैत्रीमनुसृत्य दृढाग्रहस्त्यज्यताम्॥२२१॥

अथ व्यवहारनिश्चयनयद्वयमवाप्य हि मोक्षलाभःस्यादिति दृढयन्नाह-

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्॥२२२॥

मं. टी. - सम्यक्त्वेत्यादि - इति एवं प्रकारः। एषः प्रतीयमानः। कोऽसौ मोक्षमार्गः मोक्षस्य मार्गः उपायो वा। किमात्मकः ? सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणः सम्यक्त्वं च बोधो ज्ञानं च चारित्रं च द्वन्द्वात् सम्यक्त्वबोधचारित्राणि तानि एव लक्षणानि यस्य स तथोक्तः। कथम्भूतः ? मुख्योपचाररूपः मुख्यो निश्चयो भूतार्थः इति। उपचारो व्यवहारोऽभूतार्थ इति। मुख्यश्चोपचारश्च मुख्योपचारं तद्रूपं योऽस्ति स तथोक्तः-समग्रासमग्ररूपरत्नत्रयलक्षणः इत्यर्थः। प्रापयति स्थापयति।

''सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं इसलिए इनका सेवन करना चाहिए, इनके द्वारा बन्ध भी होता है और मोक्ष भी होता है।''

साध्य साधक सम्बन्ध होने से व्यवहार नय का विषय झूठा है, ऐसा कहे जाने पर निश्चय नय का विषय उपलब्ध ही नहीं हो सकता है। ''**सराग संयम, संयमासंयम, बाल तप, अकामनिर्जरा आदि देवायु के आस्त्रव के कारण हैं, सम्यग्दर्शन भी देवायु के आस्त्रव का कारण है।**'' इत्यादि सैद्धान्तिक कथन विरूद्ध नहीं है। इसलिए दोनों नयों की मैत्री का अनुसरण करके दुराग्रह का त्याग करना चाहिए ॥२२१॥

उत्थानिका - अब वास्तव में व्यवहार और निश्चय को प्राप्त करने से ही मोक्ष का लाभ होता है, यह दृढ़ करते हुए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणः इति एषः मोक्षमार्गः मुख्योपचाररूपः पुरूषं परं पदं प्रापयति॥

अन्वयार्थ - (सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणः) सम्यग्दर्शन चारित्र है लक्षण जिसका (इति एषः मोक्षमार्गः) यह मोक्षमार्ग (मुख्योपचाररूपः) मुख्य और उपचार स्वरूप से (पुरूषं) पुरूष आत्मा को (परं पदं) उत्कृष्ट पद को (प्रापयति) प्राप्त करा देता है।

टीकार्थ - इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है लक्षण जिसका ऐसा यह मोक्षमार्ग मुख्य अर्थात् निश्चय और उपचार अर्थात् व्यवहार रूप है।

सम्यग्दृग्विद्वृत्त से, तीन रूप इक पाथ।
मुख्य और उपचार से, शिव मग तो इक साथ ॥२२२॥

कम् ? पुरुषं चिदात्मानम्। क्व ? परं उत्कृष्टं पदं स्थानम्॥२२२॥

तत्र परं पदमवाप्य कीदृशो भूत्वा तिष्ठति चिदात्मेति प्रतिपादयति-

नित्यमपि निरुपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरुपघातः।

गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः॥२२३॥

मं. टी. - नित्यमित्यादि - स्फुरति निवसति शोभते वा। क्व ? परमपदे निःश्रेयसे शिवसौख्ये ईषत्प्राग्भारतले वा। कोऽसौ ? परमपुरुषः परमः उत्कृष्टः सर्वश्रेष्ठो महान् वा पुरुषार्थो येन कृतः स तथोच्यते मोक्षपुरुषार्थस्य फलस्य प्राप्तेः। किं विशिष्टः ? नित्यमपि सदैव हि। ''काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या'' इत्यभिधानात्। निरुपलेपः उपलेपः कर्मरजः संश्लेषस्तस्मान्निष्क्रान्तो यः सः। पुनश्च कथम्भूतः ? स्वरूपसमवस्थितः स्वस्थदर्शनज्ञानात्मकस्य रूपे समीचीनतया योऽवस्थितः स तथोक्तः। त्रैकाल्पेऽपि पररूपत्वेनाऽभवनात्। कथं पुनश्च ? निरुपघातः परैरुपघातस्यायोग्यत्वात् तथोच्यते। पुनरपि किं विशिष्टः ? विशदतमः अत्यन्तनिर्मलः। क इव ? गगनमिव आकाशमिव। इव उपमार्थे॥२२३॥

इस प्रकार पूर्ण और अपूर्ण लक्षण वाला रत्नत्रय स्वरूप मोक्षमार्ग आत्मा को उत्कृष्ट स्थान (अर्थात् मोक्ष) को प्राप्त करा देता है।

उत्थानिका - चिदात्मा परं पद को प्राप्त करके किस प्रकार स्थित होते हैं, यह प्रतिपादन करते हैं -

अन्वयः - नित्यं अपि निरूपलेपः स्वरूपसमवस्थितः निरूपघातः विशदतमः परमपुरूषः गगनमिव परमपदे स्फुरति॥

अन्वयार्थ - (नित्यं अपि) सदा ही (निरूपलेपः) कर्म रज से रहित (स्वरूप समवस्थितः) निज स्वरूप में अच्छी तरह से स्थित (निरूपघातः) उपघात से रहित (विशदतमः) अत्यन्त निर्मल (परमपुरूषः) उत्कृष्ट पुरूष अर्थात् परमात्मा (गगनमिव) आकाश के समान (परमपदे) उत्कृष्ट पद में (स्फुरति) स्फुरायमान होता है॥

टीकार्थ - मोक्ष पुरूषार्थ के फल की प्राप्ति से परम पुरूष परमात्मा परमपद में अर्थात् मोक्षसुख में हमेशा निवास करते हैं। जैसा कि कहा है -

''सैकड़ों कल्प काल के बराबर काल के बीत जाने पर भी सिद्धों में विकार दिखाई नहीं देता है।'' कर्म रज से रहित होने से वे निरूपलेप होते हैं। वे दर्शन ज्ञानात्मक स्वरूप में अच्छी तरह से स्थित होते हैं इसलिए स्वरूप समवस्थित होते हैं। तीनों कालों में पररूप परिणमन करने का अभाव होता है। पर के द्वारा घात करने के अयोग्य होते हैं इसलिए निरूपघात कहलाते हैं। वे अत्यन्त निर्मल आकाश की तरह ईषत्प्राग्भार तल में विराजमान होते हैं ॥२२३॥

निरूपलेप है नित्य है स्वस्थ विशद बिन घात।
परमपुरूष उत्कृष्ट पद गगन समा बिन पात ॥२२३॥

तस्मिन् पदे स्थित्वा किं करोति स इत्यावेदयन्नाह-

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।

परमानन्दनिमग्नौ ज्ञानमयो नन्दति सदैव॥२२४॥

मं. टी. - कृतकृत्यः इत्यादि - नन्दति वर्धते सर्वोत्कृष्टतया सन्तिष्ठते। सदैव सर्वकालमेव। कुत्र ? परमपदे स्वात्मपदे। कोऽसौ ? परमात्मा परमश्चासौ आत्मा ज्येष्ठात्मा इत्यर्थः सः। कथम्भूतः ? कृतकृत्यः कृत्यं करणीयं कार्यं कृतं येन स सर्वपुरुषार्थोत्तीर्णः इत्यर्थः। पुनश्च कथम्भूतः ? सकलविषयविषयात्मा सकला विषयाः पदार्था येनात्मना विषयीकृता प्रत्यक्षीकृताः स सर्वपदार्थगोचरात्मा कथ्यते। तथा च किं विशिष्टः ? परमानन्दनिमग्नः परमः उत्कृष्टः स चासौ आनन्दः सुखं चिदुत्थं तस्मिन् निमग्नः संलीनो यः स तथोक्तः। पुनश्च कथम्भूतः ? ज्ञानमयः ज्ञानेन निवृत्तः आत्मा ज्ञानमयत्वात् तथोक्तः॥२२४॥

उत्थानिका - उस पद में स्थित होकर क्या करते हैं ? इसका समाधान करते हैं -

अन्वयः - परमात्मा परमपदे कृतकृत्यः सकलविषयविषयात्मा परमानन्दनिमग्नः ज्ञानमयः सदैव नन्दति॥

अन्वयार्थ - (परमात्मा) कर्मरज से रहित शुद्धात्मा (परमपदे) उत्कृष्ट पद में (कृतकृत्यः) कृतकृत्य होकर ठहरते हैं (सकलविषयविषयात्मा) समस्त पदार्थों को विषय करने वाले बन जाते हैं (परमानन्दनिमग्नः) परमानन्द में लीन होते हैं (ज्ञानमयः) ज्ञान स्वरूप वे परमात्मा (सदैव नन्दति) सदैव आनन्द रूप से रहते हैं।

टीकार्थ - परमात्मा परमपद में सदैव स्थित होते हैं। करने योग्य सभी कार्यों को जिन्होंने कर लिया है अथवा सब पुरूषार्थों को जिन्होंने पार कर लिया है इसलिए वे कृतकृत्य हैं। सकल पदार्थों को जिन्होंने प्रत्यक्ष किया है और आत्मीक उत्कृष्ट सुख में लीन हैं, ज्ञानमयी जिनकी आत्मा है ऐसे परमपद में हमेशा आनन्द रूप से वे निवास करते हैं॥२२४॥

परमात्मा कृतकृत्य है, सकल विषय को जान।
मग्न परम आनंद में, ज्ञान रूप सुख खान ॥२२४॥

सर्वत्र सर्वदा सर्वथा जैनीनीतिर्विजयतादिति भावयन्नाह -

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तु-तत्त्वमितरेण।

अन्तेन जयति जैनीनीति - र्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥२२५॥

मं. टी. - एकेनेत्यादि - जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते। काऽसौ ? जैनीनीतिः कर्मारिजेतारो जिनाः तेषां सम्बन्धिनी नीतिर्न्यायमार्गः स्याद्वादः इत्यर्थः। किं विशिष्टा सती ? आकर्षन्ती आकर्षणमर्पणं कुर्वन्ती। केन ? एकेन केनापि विशिष्टेन अन्तेन धर्मेण। तथा च कथम्भूता सती ? श्लथयन्ती श्लथं कुर्वन्ती। केन ? इतरेणान्येन। अन्तेन धर्मेण। कं कर्मतापन्नम् ? वस्तुतत्त्वं वस्तु पदार्थस्तस्य तत्त्वं स्वभावो नित्यानित्यैकानेकादिविपरीतलक्षणम्। अत्र दृष्टान्तमाह- गोपी वल्लवयोषित्। इव औपम्यार्थे। मन्थाननेत्रं मन्थानो मन्थदण्डकस्तस्य नेत्रं रज्जु। ''**नेत्रं विलोचने वृक्षमूले वस्त्रे गुणे मथि**'' इति विश्वलोचनः। यथा मन्थानस्य गुणः परस्परसापेक्षो मिथःसाहाय्यं कुर्वन् नवनीतमाविष्कुरुते तथा हि वस्तुनो धर्मा विरुद्धप्रतिभासिनोऽपि परस्परापेक्षकत्वेन वस्तु निरूपयन्त्यन्यथाशून्यत्वप्रसङ्गात्।

उत्थानिका - सब जगह सब कालों में और सब ओर से जैनी नीति जयवन्त हो, ऐसी भावना करते हुए सूत्र कहते हैं -

अन्वयः - मन्थाननेत्रं गोपी इव जैनीनीतिः वस्तुतत्त्वं एकेन आकर्षन्ती इतरेण श्लथयन्ती अन्तेन जयति॥

अन्वयार्थ - (मन्थाननेत्रं) मथानी के नेता को (गोपी इव) ग्वालिन की तरह (जैनीनीतिः) जिनेन्द्र भगवान् की स्याद्वाद नीति (वस्तुतत्त्वं) वस्तु के स्वरूप को (एकेन) एक से (आकर्षन्ती) खींचती है (इतरेण श्लथयन्ती) दूसरे से शिथिल करती हुई (अन्तेन जयति) अन्त से अर्थात् दोनों धर्मों की सापेक्षता से जयवन्त होती है।

टीकार्थ - कर्म रूपी शत्रुओं को जीतने वाले जिन कहलाते हैं। उनसे सम्बन्ध रखने वाली नीति अर्थात् न्यायमार्ग या स्याद्वाद पद्धति नीति कहलाती है। एक अन्त से अर्थात् धर्म से आकर्षण करती है और नित्य, अनित्य, एक, अनेक आदि विपरीत लक्षण वाले अन्य धर्म से वस्तु तत्त्व को शिथिल करती है। इसे दृष्टांत पूर्वक समझाते हैं। आँख, वृक्ष की जड़, वस्त्र और मथानी की रस्सी इतने अर्थों में नेत्र शब्द आता है।

जिस प्रकार मथानी की रस्सी परस्पर सापेक्ष होती है एक दूसरे की सहायता करती हुई नवनीत उत्पन्न करती है उसी प्रकार वस्तु का धर्म विरूद्ध प्रतिभासित होता हुआ भी परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा से वस्तु का निरूपण करता है अन्यथा वस्तु की शून्यता का प्रसंग आ जायेगा। जैसा कि कहा है -

जो अंश-धर्म अथवा वस्तु के अवयव परस्पर निरपेक्ष हैं वे पुरूषार्थ के हेतु नहीं हो सकते हैं। जो अंश धर्म परस्पर सापेक्ष हैं वे पुरूषार्थ के हेतु हैं क्योंकि वे उस रूप से देखे जाते हैं। धर्मी धर्म से पृथक्

रस्सी आवत जात है, कभी पास हो दूर।
धर्म गौण मुख वस्तु के त्यों जैनी दस्तूर ॥२२५॥

तथा चोक्तम् -

मिथोऽनपेक्षा पुरुषार्थहेतु - र्नांशा न चांशी पृथगस्ति तेभ्यः।

परस्परेक्षाः पुरुषार्थहेतु - र्दृष्टा नयास्तद्वदसि क्रियायाम्॥२२५॥

इदानीं स्वस्य कर्तृत्वं निरस्योपसंहरन्नाह -

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।

वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥२२६॥

मं. टी. - वर्णैरित्यादि - चित्रै - र्विचित्रैर्नानाविधै-र्वा। वर्णैः अक्षरसमूहैः पदानि सुबन्ततिङ्न्तादीनि ''**सुम्मिङतंपदमि**'' तिवचनात्। कृतानि विरचितानि भवन्ति। तु निश्चये। पदैः पुनरक्षरसमूहनिर्मितैः। वाक्यानि पदानां समूहो वाक्यं तानि। कृतानि निर्मितानि सन्ति। वाक्यैः पदसमूहैः। इदं प्रत्यक्षीभूतम्। शास्त्रं ग्रन्थः। कथम्भूतम् ?

नहीं है। अंश-अंशी की तरह परस्पर सापेक्ष नय असि क्रिया में पुरूषार्थ के हेतु हैं क्योंकि उस रूप में देखे जाते हैं ॥२२५॥

उत्थानिका - अन्त में, अमृतचन्द्राचार्य अपने कर्तृव्य का निराकरण करते हुए उपसंहार करते हैं -

अन्वयः - चित्रैः वर्णैः पदानि कृतानि तु पदैः वाक्यानि कृतानि वाक्यैः इदं पवित्रं शास्त्रं कृतं पुनः अस्माभिः न॥

अन्वयार्थ - (चित्रैः वर्णैः) अनेक प्रकार के वर्णों से अर्थात् स्वर व्यञ्जन आदि से (पदानि कृतानि) पद बनाये गये हैं (तु) और (पदैः) उन पदों से (वाक्यानि कृतानि) वाक्य बनाये गये हैं (वाक्यैः) वाक्यों से (इदं पवित्रं शास्त्रं कृतं) यह पवित्र शास्त्र बनाया गया है (पुनः अस्माभिः) इसमें हमने (अमृतचन्द्र स्वामी ने) (न) कुछ नहीं किया है॥

टीकार्थ - नाना प्रकार के अक्षर समूहों के द्वारा सुबन्त तिडन्त आदि पद रचे गये हैं और पदों के द्वारा अक्षर समूह बने हैं। पदों के समूह से वाक्य बने हैं, उन पदसमूहों से यह पवित्र अर्थात् पापों का प्रक्षालन करने वाला ग्रन्थ रचा है। इसमें हमने कुछ नहीं किया है। यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने अपनी लघुता प्रकट करते हुए अपने कर्तृत्व भाव का निरसन किया है, क्योंकि वर्ण अकृत्रिम हैं इनको किसी ने बनाया नहीं है, अनादि काल से चले आ रहे हैं ऐसा शास्त्रों में कहा है। इसलिए अकृत्रिम वर्ण स्वयं उपादान कारण होने से बनाये गये पद, वाक्य, शास्त्र, उत्तरोत्तर पर्यायभूत होते हैं यह वास्तविकता है। परमशुद्ध निश्चय नय से ग्रन्थ का कर्तृत्व भाव नहीं होता है। एकदेश शुद्ध निश्चय नय से भावश्रुत रूप ग्रन्थ का कर्तृत्व होता है। असद् भूत

वर्णों से अक्षर बने, अक्षर से फिर वाक्य।
वाक्यों से यह शास्त्र है, क्या मेरा निज प्राप्य ॥२२६॥

पवित्रं पापप्रक्षालनहेतुकं शुभं वा। कृतं रचितं भवति। न पुनरस्माभिः मत्सदृशैरेतावता आचार्यवर्यैः स्वस्य लघुतां प्रदर्श्य कर्त्तृत्त्वमपास्तमित्यर्थः। यतश्च वर्णाः अकृत्रिमा अनादिकालेनायाताः ''**सिद्धो वर्णसमाम्नायः**'' इत्यभिधानात् ततस्तन्निर्मितानि पदवाक्यशास्त्राणि उत्तरोत्तरपर्यायभूतानि अपि अकृतानि वर्णस्योपादानकारणत्वाद्भवन्तीति परमार्थः। परमशुद्धनिश्चयनयेन ग्रन्थस्य कर्त्तृत्त्वभावो नास्ति। एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन भावश्रुतरूपं ग्रन्थस्य कर्त्तृत्वम्। असद्भूतव्यवहारनयेन तद्वाचकरूप-शब्दसंघातयोजनेन द्रव्यश्रुतस्य कर्तृता। उपचरितासदभूतव्यवहारनयेन पुनरस्ति एवंविधपरिणामभूतस्य शास्त्रस्य कर्त्तृत्वम्। ततो भूतार्थबोधरुचिशीलानामभूतार्थेन किमिति॥२२६॥

इति श्रीअमृतचन्द्रसूरिविरचिपुरुषार्थसिद्ध्युपायग्रन्थस्य मङ्गलाटीकायां चूलिकारूपः सप्तमोऽधिकारः पूर्णायुः शान्तिधारा योजना प्रेरकः आचार्य विद्यासागरस्य शिष्येण मुनि प्रणम्यसागरेण समाप्तः।

व्यवहार नय से तद्वाचक रूव शब्द समूह की योजना से द्रव्यश्रुत का कर्त्तापना होता है। इस प्रकार के परिणामभूत शास्त्र का कर्त्तापन उपचरित असद् भूत व्यवहार नय से होता है। इसलिए भूतार्थ बोध की रूचि रखना है स्वभाव जिनका ऐसे जीवों को अभूतार्थ से क्या प्रयोजन है। इसलिए इस ग्रन्थ का कर्तृत्व आचार्य देव ने नहीं स्वीकारा है। ॥२२६॥

इस प्रकार अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित पुरूषार्थ सिद्धि उपाय ग्रन्थ की मंगलाटीका में चूलिका रूप व्याख्यान करने वाला सातवाँ अधिकार पूर्णायु शान्तिधारा योजना प्रेरक आचार्य श्री विद्यासागर के शिष्य मुनि प्रणम्य सागर द्वारा पूर्ण हुआ।

मु - मुक्तागिरिसुदीक्षासु सर्वसङ्कल्पवर्जितः।
नि - निर्ग्रन्थोऽभवमत्राहं विद्यार्णवमुनीशतः॥१॥
प्र - प्रवादिगजसंघाते सन्त्रासगर्जनेव सा।
ण - नम्यते जिनसिंहस्य भारती मुखनिर्गता॥२॥
म्य - म्यानात् खड्ग इवात्मा मे देहाद् भिन्नं भवेदरम्।
सा - साम्यावलम्बनाच्चित्ते परकोपस्य विस्मृतिः॥३॥
ग - गमयतु श्रुतासक्तौ कालश्चारित्रपालने।
र - रमयतु मनःकीशस्तपस्थगुणकीर्तने॥४॥

टीकाकार की प्रशस्ति

मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र पर होने वाली दीक्षाओं में आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज से निर्ग्रन्थ होकर मैं समस्त संकल्पों से रहित हूँ ॥१॥

प्रवादी रूपी हाथियों के समूह को त्रस्त करने वाली सिंह गर्जना के समान जिनेन्द्र भगवान के मुख से निर्गत वाणी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२॥

जिस प्रकार म्यान से तलवार भिन्न है उसी प्रकार इस शरीर से मेरी आत्मा भी शीघ्र ही पृथक् हो तथा साम्य भाव के आलम्बन से पर से उत्पन्न क्रोध का विस्मरण हो ॥३॥

मेरा समय शास्त्र के अध्ययन तथा चारित्र के पालन में व्यतीत हो तथा मेरा मन रूपी बन्दर तपस्वियों के गुण कीर्तन में लगे ॥४॥

वि - विद्वान् वृत्तरुचिकः स्यान् मुनयो निष्प्रपञ्चकाः।

र - रमा पतिव्रता भूयात् बालकाःस्युः सुसंस्कृताः॥५॥

चि - चिदानन्दैकसम्भूतिर्विभूतिः सौख्यदायिनी।

त - ततोऽन्यसर्वयत्नानि क्लेशहेतूनि चान्तिमे॥६॥

मं - मंक्षु भवन्तु विश्वस्मिन् निरातङ्काश्च शान्तयः।

ग - गलेयुः पाठकानाञ्च श्रोतृणाञ्च कदाग्रहाः॥७॥

ला - लाभोऽस्तु सर्वलाभेषु संसाराध्रुवभासनः।

टी - टीका या संकृता मन्ये पुत्रेण मातृसज्जनम्॥८॥

विद्वानों की रूचि चारित्रधारण में हो, मुनि लोग प्रपंचों से दूर रहें, स्त्रियाँ पतिव्रता हों एवं बालक सुसंस्कारित हों ॥५॥

आत्मानन्द की उत्पत्ति रूपी विभूति सुख देने वाली है, क्योंकि इसके अलावा सारे पुरुषार्थ अन्त में क्लेश के ही कारण होते हैं ॥६॥

शीघ्र ही सारे संसार में नीरोगता और शान्ति हो तथा वक्ताओं और श्रोताओं के कदाग्रह नष्ट होवें ॥७॥

संसार की अनित्यता का आभास हो जाना ही लाभों में सबसे बड़ा लाभ है तथा मैंने जो यह संस्कृत टीका की है वह मात्र पुत्र के द्वारा माता को सजाने के समान है, ऐसा मैं मानता हूँ ॥८॥

के - केवलं सर्वसौख्याय कर्त्तव्यस्य च पूर्त्तये।
यं - यं समासाद्य साफल्यं जन्मनस्तं विधीयताम्॥९॥
भारतदेशे क्षेत्रे रामटेकाख्ये ग्रीष्मावकाशे।
सिद्धार्थ - भावनातश्चतुरधिक - द्विसहस्त्रेखीष्टे॥१०॥

मैंने यह जो संस्कृत टीका की है वह समस्त प्राणियों के सुख की प्राप्ति के लिए की है तथा अपने कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए की है, इसको पढ़कर सभी लोग अपने मनुष्य जन्म को सफल करें ॥९॥

भारत देश के रामटेक क्षेत्र पर गर्मी की ऋतु में पं. जगन्मोहन लाल शास्त्री के सुपुत्र श्री सिद्धार्थ जैन सतना निवासी की भावना से ई. सन् २००४ में मुनि प्रणम्यसागर विरचित यह संस्कृत **मंगला टीका** पूर्ण हुई ॥१०॥

मंगला संस्कृत टीका में उद्धृत व्याकरण कोश सम्बन्धी अनुक्रमणिका

अ	आर्याछन्द क्रमांक	ग्रन्थ नाम
अन्येष्वपि दृश्यते	६३	पात महाभाष्य ३/२/२०१
अभूत तद्भावे	२५१	कातन्त्र रूप मा ५५९
आतोऽनुपसर्गात्मकः	१२८	कातन्त्र रूप.मा. ५८७
इ		
इदमस्तु	३	लघु सि. कौमुदी पृ. ५०
इवे खु	६९	शब्दा. च. ४/२/२०३
क		
कश्चिद् मृद्नाति	८९	जय ध. पु. १/१२८
कालाध्वन्यविच्छेदे	१३९	जैने. प्र.१/४/४
के प्रत्यये स्त्री	१	कातन्त्र. व्या. सूत्र ३७१
च		
चरेष्टः	२०३	कात. रूप. मा. ६०४
झ		
सिः सुव्वयुद्धयृ	१००	शब्दा. च. १/३/५
त		
तदस्यास्तीति	६७	कात. रूप. मा. ५०५
तव मम ङसि	१११	कात. रूप. मा. ३५८
तादर्थ्ये	४२	कात. व्या. ३९८

ध

धर्मात् केवलादन्	६२	शब्दा. च. ४/२/१६१

न

नक्तं रात्रि	१०३	जैने. व्याकरण ४/२/७६
नडशाडाद्वलः	१४३	
नमि कम्पि	८३	शब्दा. च. २/२/१६१
निंद हिंस	६०	शब्दा. च.

प

पृथग्नाना	६५	का. रूप. ४०४
प्रयोजनं	१४८	जैने. व्या. ३/४/१०२

य

यतोऽपैति	४०	का.व्या. सूत्र ४०१
यत्तदो	९५,१०३,१०४	

र

रोरे लोपं	१०५	का. रूपमाला ११९

ल

लूघूसूखनर्तिसहचरः	१६०	शब्दा. च. १७४

व

वर्त्तमाने शन्तृडान	६०	का. रूपमाला ४९५
वृभ्दृजुषी	४२	का. रूपमाला ५२९
वर्हिवस्यर्ति	१५३	सि. कौमुदी (तत्त्व. व्या.)पृ.६३६ उणादि सूत्र

य

वहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्च	११७	
वा तृतीया सप्तम्यो:	५४	का. रूप. ४५०
वौ चावर्णस्य	१५१	का. रूप ५६०

स

सन्भिक्षाशस्विंदिच्छदु:	१६२	शब्दा. च. २/२/१६२
समयात् प्राप्तात	१४८	शब्दा. च. ३/४/१२०
सर्तेर्घाव:	४६	का. रूप. ७२
स्त्रिण्णश्जष्ट्त्वर्प	१८६	शब्दा. च. २/३/१५९
सिद्धो वर्ण	२२६	का. रूपमाला १
सुम्मिडन्तं	२२६	जैने. व्या. १/२/१०३
स्थेश् भास्पिस्करो	७७	शब्दा. च. २/२/१६६
स्वरवृदृगमि	१०२	का. रूपमाला ७५६

ष

षष्ठी हेतु	१५९	का. रूप. ४०८

श

शीली शिक्षा	६१	शब्दा.च. २/२/२
श्रद्धादिभ्योऽण	७६	शब्दा. च. ३/४/२६

ह

हेतावेवं	१२८	अनेकार्थ नाममाला ३९
हेतौ च	४३	का. रूप. ४०५

मङ्गलाटीका में उद्घृत गाथा श्लोक आदि की अनुक्रमणिका

अ	आर्याछन्द क्रमांक	ग्रन्थ नाम
अज्ञानान्मत्सरा	२७	पद्म. पु. १०६/२३५
अनुग्रहार्थं	१७२	त. सूत्र ७/३८
अनेकान्तात्मक	२	परीक्षा मुख सूत्र ३/८४
धनं प्राणाः	१०३	स. सिद्धि ७/१०
अन्वय व्यतिरेक	२१७	प्रमेय रत्नमाला ३/६३
अभिसंधिकृता	४८	रत्न. श्रावका. ८६
अप्पा कुडदि	१२	पंचास्तिकाय ६५
अरिहंत भासि	२३	श्रुत भ.
अलियादिणिवत्ती	१५९	नियम सार ६९
अल्पफलबहु	१६२	रत्न. श्रावका. ८५
अघ्नन्नपि	५१	यशस्तिलक चम्पू प्र. ३३५
अहिंसा प्रतिष्ठायां	८३	योगसूत्र ३५
अहिंसा भूतानां	११८	स्वयंभू स्तोत्र
आत्मनः प्रतिकूलानि	७९	
आत्मविशुद्धि मात्र	२२	सर्वार्थसिद्धि १/२
अन्धे तमसि	७८	वैदान्तिकमतम्
आपगासागर	२६	रत्न.श्राव. १/२२
आप्तवचनादि	२	प. पु. ३/९४
आहार दुगं	२१७	महाबन्ध पु. ४ पृ. १८६
ओदइया बंधयरा	२०	श्री धवल पु. ७ गाथा

इ

इदमस्मिन्सत्येव	११२	परीक्षा मुख ३/७
इंदियबलमाउ	४३	द्रव्य संग्रह ३

उ

उत्पाद व्यय	९	त. सूत्र ५/३०
उपसमीपे	१६०	समय सार टीका ११२
उवभोज्ज	१६	स. सार. गाथा १९६
ऊर्ध्वगास्युर्बलदेवा:	२४	पर.प्रकाशटीका ५७

ए

एगणिगोद शरीरे	१६२	जीव काण्ड १९६
एकस्यानेक	२१२	सर्वा. सिद्धि ९/३
एमेव सम्मदिट्ठी	२११	स. सार. २२७
एवं ववहारणओ	१२	स. सार. गाथा २७१

क

कम्मत्तणेण	१३	गो. सार कर्मकाण्ड गाथा ६
कम्मं बद्धमबद्धं	४१	स. सार ३/१४२
कषायविषयाहार	१९८	व्रतविधान संग्रह पृ. २७
कायवाग्मन:	२१५	त. सूत्र ६/१
काले कल्पशतेऽपि	२२३	रत्न. श्राव. १३३
क्रोधजेषुत्तिषू	१४६	

ग

गतिकषाय	२०	त. सूत्र २/६
गुण पर्ययवद्	९	त. सूत्र ५/३८

गुरुमूले यतिनिचिते	१७६	समाधिभक्ति
गोधू मशालि	१८७	त. वृत्ति ७/२९
ज्ञानाज्ञान	२०	त. सूत्र २/५
ज्ञानिना	२२	योगसारप्राभृत ४/२३

च

चत्तारि महा		भगवती आरा. २१५
चतुराहारविसर्जन	१५२	रत्न. श्रा. ४/१९
चारित्रस्य न	२०	उ. पु. ५९/३५
चारित्तं णत्थि जदो	१२५	जीव काण्ड १२

ज

जइ जिणमयं	४	आ.ख्या. टीका
जत्थेव चरदि वालो	२६	मूला. ५/३२९
जस्स अणेसणमप्पा	१९८	प्र. सार २२७
ज्योतिरूपं दुरितनिवहं	१	एकीभावस्तोत्र २
जावइया वयणवहा	२	श्री धवला पु. १
जिणणाणदिट्ठि	२०	चरित प्रा. ५
जीवेण कदं कम्मं	१२	स. सार ११२
जो पक्कमपक्कं वा	६८	प्र. सार २२९/२

ण

ण चववहारणओ	५	श्री जय.ध.पु. ८
ण चेवं कारणं	२०	ध.पु. ७ पृ. ८७
णाणी पुण	२२	स.सार गाथा ३१६
णासिय सम्मत्तो सो	१२०	ध. पु. १/१/११/१६६

त

ततो दर्शन कार्य (गद्य)	३४	श्लोक वार्तिक १/६
तत्थ णिदाणं	२४	भग. आरा. १२२३
तत्राविरत (गद्य)	२०	स. सिद्धि ९/३४
त्रसानां तनु	६५	जयो.म २/१२८
तत्त्वार्थे कस्याचेद (गद्य)	३४	श्लोक वार्तिक १/६
तिथिपर्वोत्सवा:	१६७	सागार धर्मा. ५/४२

द

दंसणणाणचरित्ताणि	२२१	पञ्चा. गा. १६४
दंसण मोहोदएण (गद्य)	१२४	श्री धवल पु. ६ पृ. ४२०
दर्शनं ज्ञान	२१	रत्न. श्राव. १/३१
देहोदयेण सहिओ	१३	कर्म. का. गाथा ३
द्वीन्द्रियादय	७३	त. सूत्र २/१४
द्वौ मांसौ	८०	मनुस्मृति ३/२६८

ध

धम्मो दया विसुद्धो	७५	बोध. पा. २५

न

नम: श्री वर्धमानाय	१	रत्न. श्राव. १
नाज्ञो विज्ञत्व	३	इष्ठो ३५
नान्यथा	२३	आला. पद्धति ५
निरुपभोग	९	त. सूत्र २/४४
निश्चय व्यवहाराभ्यां	५	त. सार ९/२०

प

पउमिणि पत्तं	४५	मूला. ५/३२७
पचेन्दिया जीवा (गद्य)	६३	प्रतिक्रमण पाठ
पडिगहमुच्चट्टाणं	१६८	रत्न. श्राव. टीका से उद्धृत
पढमो दंसणघाई	१२४	पंचसंग्रह पृ. २५
पयोव्रतो न	९	आप्त.मी. ६०
पक्केसु अ	६७	प्र.सार २६१
पुव्वत्त तव गुणाणं	१२६	भग. आरा १४५६
पुव्वम्मि पंचमम्हि दु	१	कषाय प्रा. गा. १
पूर्वोत्तरचारिणोः	३३	परीक्षा मुख ३/१३
प्रकृतिस्थित्यनुभव	२१५	त. सूत्र ८/३
प्राणिघातात्	७८	महाभारत ४/३३
प्रमाणप्रमेय	२२	उद्धृत

ब

बन्धश्चास्रव	३४	श्लोकवार्तिक
बोहिलाहो	२४	सिद्धभ.

भ

भवति	८	पु.सि. १/१६
भुक्त्वा परिहातव्यो	१०१	रत्न.श्राव. ८३
भोज्यं भोजनशक्ति	१९८	यश. उ. प्र. ४०५

म

मधुवन्नवनीतं	१६३	
मनसैवकृतं	५२	उद्धृत

महु आसायउ	७०	सा. धम्म दोहा
महोक्षं वा महाजं	८१	याज्ञव. स्मृति आचार १०९
मिथोऽनपेक्षा	२२५	युक्त्यनु ५१
मिच्छत्त वेदराया	११६	वृहत्प्रति. पाठ
मुख्याभावे सति	१६०	आलाप. प.
मूलग्ग पोय वीया	१६२	जीवकाण्ड १८६
मोक्षमार्गस्य नेत्तारं	१	त. सूत्र १
मोहक्खोहविहीणो	४२	प्र. सार ७
य		
यथावरणक्षयोपक्षम	८७	श्लोक वार्तिक
यदेतद् द्रविणं	१०३	राज. वा. ७/१०/२
मरदुव जियदुव	४६	प्र. सार २१७
यत्रैक सूक्ष्म	६७	राज. वा. ५/१५/५
यावदस्ति प्रतीकारः	१७७	आत्मानु. २०७
र		
रागादीण मणुप्पा	४४	स. सिद्धि ७/२२
ल		
लिंगम्मि य इत्थीणं	१०८	प्र. सार २५१
व		
विणयेण सुद	३६	मूला. ५/२८६
विद्या हि सा	११०	
वेश्म परित्यागेन	१७६	राज. वार्तिक ७/२२-१३
व्यतिकीर्ण..	९	न्याय दीपिका १/३
व्यवहरणनय	६	ना. सा. कलश १/५

श

शरीरमपि शोषय	१९८	आत्मानु १९०
शिवं परमकल्याणं	१८०	आप्त स्वरूप २४
श्रद्धानं परमा	२२	रत्न. श्रा. १/४
श्रियं जयद्बोधविधौ	१	द्विसन्धान म. २/१

स

सकलादेशः	२	स. सिद्धि सूत्र ६ की टीका
संभूदो वि	२५	भग. आरा. १२८९
समकालेणु (गद्य)	३४	श्री. ध. पु. ७
समेतमेव	२०	उ.पु. ७४/५४३
स यथानाम	१३	त. सूत्र ९/२२
सरागसंयम	२२१	त. सूत्र ६/२०
संवेओ णिव्वेओ	१७१	भाव. स. २६२
सम्यक्त्वं च	२२१	त. सूत्र ६/२१
सम्यग्दर्शनचौरा	२०	पु.सि. १२४
सम्मादिट्टी पुण्णं	२११	भाव संग्रह गाथा ४०४
सर्वएव प्रमाणः	८	यश चम्पू. आश्वास ८ पृ. ३७३
सर्वत्र च सामयिका	१४८	रत्न. श्राव. ९७
सर्वत्र समतां	१७६	आदि. पु. ५/२३२
सर्वधर्ममयं	१६	आत्मानु. ४१
सव्वे खलु	२२	पंचा ३९
सहकारो हि बन्धुता	५३	जयो. म.का. ३/७०
सावद्य लेशो	७८	स्वयम्भू स्तोत्र
स्याद्वादः सर्वथैकान्त	२	आ.मी.का. १०४
स्वयमेवात्मना	४७	उद्धृत सर्वार्थसिद्धि से
सन्त्येवानन्तशो	६७	आदि पु. ३८/१८

रचयिता – अमृत चन्द्राचार्य

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र॥१॥
परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्ध – सिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥२॥
लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम्॥३॥
मुख्योपचार विवरणनिरस्तदुस्तर विनेयदुर्बोधाः।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्॥४॥
निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः॥५॥
अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥६॥
माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य॥७॥
व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥८॥
अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः॥९॥
परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्ततया।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च॥१०॥

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः॥११॥
जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन॥१२॥
परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्त मात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि॥१३॥
एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम्॥१४॥
विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्धयुपायोऽयम्॥१५॥
अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकीवृत्तिः॥१६॥
बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयानेन बीजेन॥१७॥
यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थ-धर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम्॥१८॥
अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना॥१९॥
एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यम्।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथाशक्तिः॥२०॥
तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च॥२१॥
जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश - विविक्तमात्मरूपं तत्॥२२॥

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्तव्या॥२३॥
इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत्॥२४॥
क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया॥२५॥
लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्त्तव्यममूढदृष्टित्वम्॥२६॥
धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्॥२७॥
कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्॥२८॥
अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमालम्ब्यम्॥२९॥
आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः॥३०॥
इतयाश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन।
आम्राययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः॥३१॥
पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः॥३२॥
सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥३३॥
कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्॥३४॥

कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्य्ययानध्यवसाय-विविक्तमात्मरूपं तत्॥३५॥
ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम्॥३६॥
विगलित - दर्शनमोहैः समञ्जसज्ञान - विदिततत्ववार्थैः।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक् - चारित्रमालम्ब्यम्॥३७॥
न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्॥३८॥
चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोग - परिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत्॥३९॥
हिंसातोऽनृत - वचनात् स्तेयादब्रह्मातः परिग्रहतः।
कात्स्न्यैंकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम्॥४०॥
निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति॥४१॥
आत्मपरिणाम-हिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय॥४२॥
यत्खलुकषाय - योगात्प्राणानां द्रव्यभाव - रूपाणाम्।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥४३॥
अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥४४॥
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव॥४५॥
व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायां।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुवं हिंसा॥४६॥
यस्मात् सकषायः सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु॥४७॥

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम्॥४८॥
सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणाम-विशुद्धये तदपि कार्या॥४९॥
निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः॥५०॥
अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात्॥५१॥
एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके॥५२॥
एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले॥५३॥
प्रागेव फलति हिंसा क्रियमाणा फलति फलति च कृताऽपि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन॥५४॥
एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः॥५५॥
कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम्॥५६॥
हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत्॥५७॥
इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्र - सञ्चाराः॥५८॥
अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्॥५९॥

अवबुध्य हिंस्य - हिंसकहिंसा - हिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैर्निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा॥६०॥
मद्यं मांसं क्षौद्र पञ्चोदुम्बर - फलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरत - कामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव॥६१॥
मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मं।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशंकमाचरति॥६२॥
रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम्॥६३॥
अभिमान - भयजुगुप्साहास्यारति - शोककामकोपाद्याः।
हिंसायाः पर्यायाः सर्वेऽपि च सरकसन्निहिताः॥६४॥
न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा॥६५॥
यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्॥६६॥
आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीसु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्॥६७॥
आमां वा पक्वां वा खादति यः स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचितं पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्॥६८॥
मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यन्तम्॥६९॥
स्वयमेव विगलितं यो गृहणीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिनां घातात्॥७०॥
मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र॥७१॥

योनिरुदुम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोध - पिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा॥७२॥
यानि तु पुनर्भवेयुः कालोच्छिन्नसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात्॥७३॥
अष्टाव - निष्टदुस्तरदुरिता - यतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥७४॥
धर्ममहिंसा - रूपं संश्रृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसा - मसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु॥७५॥
कृतकारितानुमननैर्वाक् कायमनोभिरिष्यते नवधा।
औत्सर्गिकी निवृत्ति र्विचित्ररूपाऽपवादिकी त्वेषा॥७६॥
स्तोकैकेन्द्रिय - घाताद् गृहिणां सम्पन्न - योग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावर - मारणविरमण - मपि भवति करणीयम्॥७७॥
अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसा - रसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलै र्न भवितव्यम्॥७८॥
सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयै र्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः॥७९॥
धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः॥८०॥
पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति सम्प्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम्॥८१॥
बहु सत्त्वघातजनितादशनाद्ध रमेक सत्वघातोत्थं।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्वस्य हिंसनं जातु॥८२॥
रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम्॥८३॥

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरूपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः॥८४॥
बहुदुःखाः संज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तिम्।
इति वासनाकृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः॥८५॥
कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हता सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः॥८६॥
उपलब्धसुगति - साधन - समाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलषता॥८७॥
धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयतां।
झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम्॥८८॥
दृष्टवा परं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि॥८९॥
को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धिमतिः॥९०॥
यदिदं प्रमादयोगा - दसदभिधानं विधीयते किमपि।
तदनृतमपि विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः॥९१॥
स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र॥९२॥
असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन्यथास्ति घटः॥९३॥
वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन्।
अनृतमिदं च तृतीयं विज्ञेयं गौरिति यथाऽश्वः॥९४॥
गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु॥९५॥

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम्॥९६॥
छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते॥९७॥
अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरं।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम्॥९८॥
सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवसरति॥९९॥
हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानां।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम्॥१००॥
भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुं।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु॥१०१॥
अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येयं स्तेयं सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात्॥१०२॥
अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान्॥१०३॥
हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघट एव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः॥१०४॥
नातिव्याप्तिश्च तयोः प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात्॥१०५॥
असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम्॥१०६॥
यद्वेदराग - योगान्मैथुनम - भिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्॥१०७॥
हिंस्यंते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यंते मैथुने तद्वत्॥१०८॥

यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्॥१०९॥
ये निजकलत्रमात्रं परिहर्तुं शक्नुवंति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्॥११०॥
या मूर्च्छा नामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहो ह्येषः।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः॥१११॥
मूर्च्छा - लक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्च्छावान् विनापि किल शेष संगेभ्यः॥११२॥
यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरङ्गः।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम्॥११३॥
एवमिति व्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्च्छाऽस्ति॥११४॥
अति संक्षेपाद द्विविधः स भवेदाभ्यंतरश्च बाह्यश्च।
प्रथम - श्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु॥११५॥
मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः॥११६॥
अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेद्वौ द्वौ।
नैष कदाचित्सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसाम्॥११७॥
उभय - परिग्रहवर्जन - माचार्याः सूचयन्त्य - हिंसेति।
द्विविध - परिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः॥११८॥
हिंसापर्यायत्वात् सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वम्॥११९॥
एवं न विशेषः स्यादुन्दररिपुहरिण - शावकादीनाम्।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छा - विशेषेण॥१२०॥

हरिततृणांकुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा।
उंदरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा॥१२१॥
निर्बाधं संसिध्येत् कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।
औधस्यखण्डयोरिव माधुर्यप्रीतिभेद इव॥१२२॥
माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मंदमाधुर्ये।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यापदिश्यते तीव्रा॥१२३॥
तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौराः प्रथमकषायाश्च चत्वारः॥१२४॥
प्रविहाय च द्वितीयान् देशचरित्रस्य सम्मुखायाताः।
नियतं ते हि कषायाः देशचरित्रं निरुन्धन्ति॥१२५॥
निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामंतरंगसङ्गानाम्।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया॥१२६॥
बहिरंगादपि संगाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा॥१२७॥
योऽपि न शक्तस्त्यक्तुं धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूपं यतस्तत्त्वम्॥१२८॥
रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥१२९॥
रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्ति र्नातिवर्तते हिंसाम्।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न संभवति॥१३०॥
यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा॥१३१॥
नैवं वासरभुक्ते र्भवति हि रागोधिको रजनि-भुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्ते र्भुक्ताविव मांसकवलस्य॥१३२॥

अर्कालोकने विना भुञ्जानः परिहरेत्कथं हिंसां।
अपि बोधिते प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजन्तूनाम्॥१३३॥
किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचन-कायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसा स पालयति॥१३४॥
इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतंते प्रयाति ते मुक्तिमचिरेण॥१३५॥
परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि॥१३६॥
प्रविधाय सुप्रसिद्धै र्मर्यादां सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता॥१३७॥
इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्य।
सकलाऽसंयमविरहाद् भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णं॥१३८॥
तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात्॥१३९॥
इति विरतौ बहुदेशात्तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्।
तत्कालं विमलमतिः श्रयत्यहिंसां विशेषेण॥१४०॥
पापर्द्धि - जयपराजय -संगरपरदार - गमन - चौर्याद्याः।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवलं यस्मात्॥१४१॥
विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव कर्तव्यम्॥१४२॥
भूखननवृक्षमोटन - शाड्वल - दलनांबु - सेचनादीनि।
निःकारणं न कुर्याद् दलफल - कुसुमोच्चयानपि च॥१४३॥
असिधेनु विषहुताशन - लाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात्॥१४४॥

रागादिवर्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि॥१४५॥
सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात् परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्॥१४६॥
एवं विधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते॥१४७॥
रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम्॥१४८॥
राजनीदिनयोरंते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम्॥१४९॥
सामायिकं श्रितानां समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति माहाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य॥१५०॥
सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरीकर्तुं।
पक्षार्धयो र्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः॥१५१॥
मुक्तसमस्तारंभः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहार देहादौ॥१५२॥
श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्य - योगमपनीय।
सर्वेन्द्रियार्थविरतः कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत्॥१५३॥
धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसांध्यविधिः।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत् स्वाध्यायजितनिद्रः॥१५४॥
प्रातः प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिकं क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्तं जिनपूजां प्रासुकै र्द्रव्यैः॥१५५॥
उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत् प्रयत्नादर्धं च तृतीयदिवसस्य॥१५६॥

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्तसकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसाव्रतं भवति॥१५७॥
भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम्।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः॥१५८॥
वाग्गुप्ते र्नास्त्यनृतं न समस्तादानविरहतः स्तेयम्।
नाब्रह्म मैथुनमुचः सङ्गो नाङ्गेष्यमूर्च्छस्य॥१५९॥
इत्थमशेषितहिंसः प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात्।
उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम्॥१६०॥
भोगोपभोगमूला विरताविरतस्य नान्यतो हिंसा।
अधिगम्य वस्तुतत्त्वं स्वशक्तिमपि तावपि त्याज्यौ॥१६१॥
एकमपि प्रजिघांसु र्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम्॥१६२॥
नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित्॥१६३॥
अविरुद्धाअपि भोगा निजशक्तिमवेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया॥१६४॥
पुनरपि पूर्वकृतायां समीक्ष्य तात्कालिकीं निजां शक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवसं भवति कर्तव्या॥१६५॥
इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याऽहिंसा विशिष्टा स्यात्॥१६६॥
विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः॥१६७॥
संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रणामं च।

वाक्कायमनःशुद्धिरेषणशुद्धिश्च विधिमाहुः॥१६८॥
ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्ति र्निष्कपटताऽनसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः॥१६९॥
रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम्॥१७०॥
पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतिसम्यग्दृष्टि र्विरताविरतश्च सकलविरतश्च॥१७१॥
हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणे हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम्॥१७२॥
गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये स कथं न हि लोभवान् भवति॥१७३॥
कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितत्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव॥१७४॥
इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या॥१७५॥
मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि।
इति भावना - परिणतोऽनागतमपि पालयेदिदं शीलम्॥१७६॥
मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनूकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति॥१७७॥
यो हि कषायाविष्टः कुम्भक - जलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात् सत्यमात्मवधः॥१७८॥
नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि ततः प्राहुरहिंसाप्रसिद्धयर्थम्॥१७९॥
इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।

वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः॥१८०॥
अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः॥१८१॥
शङ्का तथैव कांक्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम्।
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः॥१८२॥
छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति॥१८३॥
मिथ्योपदेशदानं रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च॥१८४॥
प्रतिरूपकव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रम - हीनाधिकमानकरणे च॥१८५॥
स्मरतीव्राभिनिवेशोऽनङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम्।
अपरिगृहीतेतरयो र्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च॥१८६॥
वास्तुक्षेत्राष्टापद - हिरण्यधन - धान्यदासदासीनाम्।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रमाः पञ्च॥१८७॥
ऊर्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमाः क्षेत्रवृद्धिराधानम्।
स्मृत्यन्तरस्य गदिताः पञ्चेति प्रथमशीलस्य॥१८८॥
प्रेष्यस्य सम्प्रयोजनमानयनं शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलानां द्वितीयशीलस्य पञ्चेति॥१८९॥
कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यं।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति॥१९०॥
वचनमनः कायानां दुःप्रणिधानं त्वनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य॥१९१॥
अनवेक्षिताप्रमार्जितमादानं संस्तरस्तथोत्सर्गः।

स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्चः पञ्चोपवासस्यु ॥१९२॥
आहारो हि सचित्तः सचित्तमिश्रः सचित्तसम्बन्धः।
दुःपक्वोभिषवोऽपि च पंचामी षष्ठशीलस्य॥१९३॥
परदातृव्यपदेशः सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने॥१९४॥
जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागः सुखानुबन्धश्च।
सनिदानः पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले॥१९५॥
इत्येतानतिचारानपि योगी सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात्॥१९६॥
चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम्।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः॥१९७॥
अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासनं रसत्यागः।
कायक्लेशो वृत्तेः संख्या च निषेव्यमिति तपो बाह्यम्॥१९८॥
विनयो वैयावृत्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति॥१९९॥
जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि॥२००॥
इदमावश्यकषट्कं समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्तव्यम्॥२०१॥
सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगम्यम्॥२०२॥
सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपौ व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः॥२०३॥
धर्मः सेव्यः क्षान्तिः मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।

आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति॥२०४॥
अध्रुवमशरणमेकत्व, - मन्यताशौचमास्रवो जन्म।
लोकवृष बोधिसंवर निर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः॥२०५॥
क्षत्तृष्णाहिममुष्णं नग्नत्वं याचनारतिरलाभः।
दंशोमशकादीनामाक्रोशो व्याधिदुःखमङ्गमलम्॥२०६॥
स्पर्शश्च तृणादीनामज्ञानमदर्शनं तथा प्रज्ञा।
सत्कारपुरस्कारः शय्या चर्या वधो निषद्यास्त्री॥२०७॥
द्वाविंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्तभीतेन॥२०८॥
इति रत्नत्रयमेतत् प्रतिसमयं विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषिता॥२०९॥
बद्धोद्यमेन नित्यं लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्त्तव्यं सपदि परिपूर्णम्॥२१०॥
असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥२११॥
येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनाशेनास्य बन्धनं भवति॥२१३॥
येनांशेन चरित्रं तेनाशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति॥२१४॥
योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च॥२१५॥

दर्शनमात्मविनिश्चित्ति, - रात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥२१६॥
सम्यक्त्वचरित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणो बन्धः।
योऽप्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषायः॥२१७॥
सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवतः।
योगकषायौ तस्मात्तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्॥२१८॥
ननु कथमेवं सिध्यतु देवायुप्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवरणाम्॥२१९॥
रत्नत्रयमिह हेतु - र्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः॥२२०॥
एकस्मिन् समवाया - दत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमितः॥२२१॥
सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम्॥२२२॥
नित्यमपि निरूपलेपः स्वरूपसमवस्थितो निरूपघातः।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फरति विशदतमः॥२२३॥
कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव॥२२४॥
एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनीनीति र्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥२२५॥
वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥२२६॥

जिणवाणी थुदि (स्तुति)

सिरी जिणवाणी जग कल्लाणी
जगजणमदतममोहहरी
जगमणहारी गणहरहारी
जम्मजराभवरोगहरी।
तित्थयराणं दिव्वझुणिं जो
पढइ सुणइ मईए धारइ
णाणं सोक्खमणंतं धरिय
सासद मोक्खपदं पावइ।।